# Chapter एक

## अजामिल के जीवन का इतिहास

पूरे *श्रीमद्भागवत* में दस विषयों के वर्णन मिलते हैं जिनमें सृष्टि, परवर्ती सृष्टि तथा लोक सम्मिलित हैं। *श्रीमद्भागवत* के वक्ता शुकदेव गोस्वामी पहले ही तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम स्कन्धों में सृष्टि, परवर्ती सृष्टि तथा लोकप्रणालियों का वर्णन कर चुके हैं। अब इस छठे स्कन्ध में, जिसमें उन्नीस अध्याय हैं, वे *पोषण* अर्थात् भगवान् द्वारा संरक्षण का वर्णन करेंगे।

प्रथम अध्याय में अजामिल का इतिहास है, जो एक बहुत बड़ा पापी व्यक्ति माना जाता था, किन्तु जब विष्णु के चार दूत यमराज के दूतों से उसे छुड़ाने पहुँचे तो उसे मुक्ति मिल गई। इस अध्याय में इसका पूर्ण विवरण दिया गया है कि अपने पापमय जीवन के फलों से छुटकारा पाने के बाद वह किस तरह मुक्त हुआ। पापकर्म इस जीवन तथा अगले दोनों ही जीवनों में कष्टप्रद होते हैं। हमें यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि समस्त कष्टमय जीवन का कारण पापकर्म है। सकाम कर्म के मार्ग में मनुष्य पापकर्म अवश्य करता है और कर्मकाण्ड की विचारधारा के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों की संस्तुति की जाती है। किन्तु प्रायश्चित्त की ऐसी विधियाँ मनुष्य को उस अज्ञान से मुक्त नहीं करातीं जो पापमय जीवन का मूल है। फलस्वरूप प्रायश्चित्त के बाद भी वह पापकर्म करने के प्रति उसकी प्रवृत्ति बनी रहती है इसलिए यह प्रायश्चित्त शुद्धीकरण के लिए अपर्याप्त है। ज्ञान के मार्ग पर वस्तुओं को यथार्थ रूप में समझने से व्यक्ति पापमय जीवन से मुक्त हो जाता है। इसलिए ज्ञानार्जन को भी प्रायश्चित्त की एक विधि माना जाता है। सकाम कर्म सम्पन्न करते समय मनुष्य तपस्या, ब्रह्मचर्य, मन तथा इन्द्रिय के संयम, सत्यता तथा योगाभ्यास के द्वारा पापमय जीवन के कर्मों से मुक्त बन सकता है। ज्ञान को जाग्रत करके भी व्यक्ति पाप के फलों को निष्प्रभावित कर सकता है। किन्तु इनमें से कोई भी विधि उसे पापकर्म करने की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं कर सकती।

भक्तियोग के द्वारा मनुष्य पापमय जीवन की प्रवृत्ति से पूरी तरह बच सकता हैं; अन्य विधियाँ अधिक उपयोगी नहीं हैं। इसलिए वैदिक साहित्य का निष्कर्ष है; कि *कर्मकाण्ड* तथा *ज्ञानकाण्ड* की विधियों की अपेक्षा *भक्ति* अधिक महत्त्वपूर्ण है। एकमात्र भक्तिमार्ग ही हर एक के लिए कल्याणकारी है। सकाम कर्म तथा चिन्तनपरक ज्ञान स्वतंत्ररूप से किसी को मुक्त नहीं कर सकते, किन्तु कर्म तथा ज्ञान से स्वतंत्र रहते हुए भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि जो व्यक्ति कृष्ण के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर कर लेता है, उसके स्वप्न में भी यमदूत न आने की गारंटी रहती हैं।

भक्ति की शक्ति सिद्ध करने के लिए शुकदेव गोस्वामी ने अजामिल के इतिहास का वर्णन किया। अजामिल कान्यकुब्ज (वर्तमान कन्नौज) का निवासी था। उसके माता-पिता ने उसे वेदों का अध्ययन करके तथा विधि-विधानों का पालन करके पूर्ण ब्राह्मण बनने का प्रशिक्षण दिया था, किन्तु अपने विगत कर्मों के कारण यह युवक ब्राह्मण किसी तरह से एक वेश्या के प्रति आकृष्ट हो गया और उसकी संगति के फलस्वरूप वह अत्यधिक पतित बन गया और उसने सारे विधि विधानों को त्याग दिया। उसने उस वेश्या के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें से अन्तिम का नाम नारायण था। अजामिल की मृत्यु के समय, जब यमदूत उसे लेने आये, तो उसने भयवश जोर से नारायण का नाम पुकारा, क्योंकि वह अपने इस सबसे छोटे पुत्र में बहुत आसक्त था। इस तरह उसने आदि नारायण भगवान् विष्णु का स्मरण किया। यद्यपि उसने पूर्णतया निरपराध होकर नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण नहीं किया था, फिर भी उसका प्रभाव पड़ा। ज्योंही उसने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया, त्योंही भगवान् विष्णु के दूत वहाँ पर प्रकट हुए। अत: भगवान् विष्णु के दूतों तथा यमराज के दूतों के बीच वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ और इस वार्तालाप को सुनकर अजामिल मुक्त हो गया। तब सकाम कर्मों का बुरा प्रभाव उसकी समझ में आया और वह यह भी समझ सका कि भक्ति-विधि कितनी उच्च है।

श्रीपरीक्षिदुवाच

**निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा ।**
**क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; निवृत्ति-मार्गः—मुक्ति का मार्ग; कथितः—वर्णन किया गया; आदौ—प्रारम्भ में; भगवता—आपके द्वारा; यथा—भलीभाँति; क्रम—क्रमशः; योग-उपलब्धेन—योग विधि द्वारा प्राप्त; ब्रह्मणा—ब्रह्मा के साथ ( ब्रह्मलोक पहुँचने के बाद ); यत्—जिस विधि से; असंसृतिः—जन्म तथा मृत्यु के चक्र का अन्त।

**महाराज परीक्षित ने कहा : हे प्रभु! हे शुकदेव गोस्वामी, आप पहले ही ( द्वितीय स्कन्ध में ) मुक्ति-मार्ग ( निवृत्ति मार्ग ) का वर्णन कर चुके हैं। उस मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य निश्चित रूप से क्रमशः सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तक ऊपर उठ जाता है, जहाँ से वह ब्रह्मा के साथ-साथ आध्यात्मिक जगत ( वैकुण्ठ ) जाता है। इस तरह भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है।**

**तात्पर्य :** चूँकि महाराज परीक्षित वैष्णव थे, अतः जब उन्होंने पाँचवें अध्याय के अन्त में जीवन की विभिन्न नारकीय दशाओं का वर्णन सुना तो उन्हें अत्यधिक चिन्ता हुई कि बद्धजीवों को किस तरह माया के पाश से मुक्त किया जाये और भगवद्धाम ले जाया जाये। अतएव उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी को *निवृत्ति मार्ग* अर्थात् मुक्ति के मार्ग का स्मरण दिलाया, जिसे वे द्वितीय स्कन्ध में बता चुके थे। महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे कि मृत्यु के समय उनकी भेंट शुकदेव गोस्वामी से हो गई थी, अतः उन्होंने उनसे इस संकट के काल में मुक्ति मार्ग के विषय में पूछा। शुकदेव गोस्वामी ने उनके इस प्रश्न की मूरि-मूरि प्रशंसा की तथा यह कहते हुए उन्हें बधाई दी—

*वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।*

*आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥*

“हे राजन्! तुम्हारा प्रश्न श्रेष्ठ है, क्योंकि यह सभी तरह के लोगों के लिए अति कल्याणकारी है। इस प्रश्न का उत्तर श्रवण का मुख्य विषय है और समस्त योगियों द्वारा अनुमोदित हैं।” ( *भागवत* २.१.१ )।

परीक्षित महाराज आश्चर्यचकित थे कि बद्धावस्था में जीव इतनी नारकीय यातनाओं को भोगने के बजाय मुक्ति के मार्ग, भक्ति, को क्यों स्वीकार नहीं करते? यह एक वैष्णव का लक्षण है। *वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च*—वैष्णव करुणा का सागर होता है। *पर दु:खदु:खी*—वह अन्यों के दुख से दुखी रहता है। इसलिए नारकीय जीवन भोग रहे बद्धात्माओं के प्रति दयालु होने से परीक्षित महाराज ने सुझाव रखा कि शुकदेव गोस्वामी उस मुक्ति-मार्ग का वर्णन करते रहें, जिसे उन्होंने *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध के आरम्भ में बतलाया था। इस सम्बन्ध में *असंसृति* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *संसृति* द्योतक है जन्म तथा मृत्यु के मार्ग पर बढ़ते जाने का। इसके विपरीत *असंसृति* द्योतक है *निवृत्ति-मार्ग* या मुक्ति के मार्ग का जिसके द्वारा मनुष्य के जन्म तथा मृत्यु बन्द हो जाते हैं और वह धीरे धीरे ब्रह्मलोक की ओर बढ़ता जाता है। जब तक कि कोई शुद्ध भक्त न हो, जो उच्चतर लोकों में जाने की परवाह नहीं करता, अत: वह भक्ति करने से अविलम्ब भगवद्धाम वापस चला जाता है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*)। इसीलिए परीक्षित महाराज बद्धजीव के लिए निवृत्ति-मार्ग के विषय में शुकदेव गोस्वामी से सुनने के लिए उत्कण्ठित थे।

आचार्यों के मतानुसार *क्रमयोगोपलब्धेन* शब्द यह सूचित करता है कि सर्वप्रथम कर्मयोग तथा उसके बाद ज्ञानयोग सम्पन्न करने पर तथा अन्त में भक्तियोग के पद पर आकर मनुष्य मुक्त हो सकता है। किन्तु भक्तियोग स्वयं में इतना शक्तिशाली है कि यह कर्मयोग या ज्ञानयोग पर निर्भर नहीं रहता। भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि एक पापी व्यक्ति भी, जिसके पास कर्मयोग की कोई पूँजी नहीं होती या एक अशिक्षित व्यक्ति भी, जिसके पास ज्ञानयोग की पूँजी नहीं होती, वह निस्सन्देह आध्यात्मिक जगत को प्राप्त कर सकता है, यदि वह भक्तिमार्ग में अटल बना रहता है। *मामेवैष्यस्यसंशय:। भगवद्गीता* (८.७) में कृष्ण कहते हैं कि भक्तियोग की विधि से मनुष्य निस्सन्देह भगवान् के पास आध्यात्मिक जगत में जाता है। किन्तु योगीजन सीधे आध्यात्मिक जगत न जाकर कभी-कभी अन्य लोकों को देखना चाहते हैं, अतएव वे उस लोक में जाते हैं जहाँ ब्रह्मा रहते हैं, जैसाकि यहाँ *ब्रह्मणा* शब्द से सूचित होता है। प्रलय के समय ब्रह्माजी ब्रह्मलोक के

समस्त निवासियों सहित सीधे आध्यात्मिक लोक चले जाते हैं। इसकी पुष्टि वेदों में इस प्रकार हुई है—

*ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।*

*परास्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥*

"जो लोग प्रलय के समय ब्रह्मलोक में रहते हैं, वे अपने उच्च पद के कारण ब्रह्मा के साथ सीधे भगवद्धाम वापस चले जाते हैं।"

**प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने ।**
**योऽसावलीनप्रकृतेर्गुणसर्गः पुनः पुनः ॥ २॥**

### शब्दार्थ

प्रवृत्ति—झुकाव से; लक्षणः—लक्षित; च—भी; एव—निस्सन्देह; त्रै-गुण्य—प्रकृति के तीनों गुण; विषयः—विषयों के रूप में; मुने—हे मुनि; यः—जो; असौ—वह; अलीन-प्रकृतेः—जो माया के पाश से मुक्त नहीं हो पाता उसका; गुण-सर्गः—जिसमें भौतिक शरीरों की सृष्टि होती है; पुनः पुनः—बारम्बार।

**हे मुनि शुकदेव गोस्वामी! जब तक जीव प्रकृति के भौतिक गुणों के संक्रमण से मुक्त नहीं हो लेता, वह विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है जिनमें वह आनन्द या कष्ट पाता है और शरीर के अनुसार उसमें विविध अभिरुचियाँ होती हैं। इन अभिरुचियों का अनुसरण करने से वह प्रवृत्ति मार्ग से होकर गुजरता है, जिससे वह स्वर्गलोक तक ऊपर जा सकता है, जैसा कि आप पहले ( तृतीय स्कन्ध में ) वर्णन कर चुके हैं।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं—

*यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।*

*भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥*

"जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे, जो लोग भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेंगे, जो लोग पितरों की पूजा करते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो लोग मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ निवास करते हैं।" प्रकृति के विभिन्न गुणों

के प्रभाव के कारण जीवों में नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ या लालसाएँ पाई जाती हैं, इसीलिए वे विविध गन्तव्यों को प्राप्त होने के योग्य होते हैं। जब तक मनुष्य भौतिक रूप से आसक्त रहता है तब तक वह भौतिक जगत के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप स्वर्गलोक तक ऊपर उठना चाहता है। किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् घोषणा करते हैं, ''जो लोग मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास आते हैं।'' यदि किसी को परम भगवान् तथा उनके धाम के विषय में जानकारी नहीं होती तो वह केवल उच्च भौतिक स्थिति तक ऊपर उठना चाहता है, किन्तु जब वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस जगत में बारम्बार जन्म-मृत्यु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो वह भगवद्धाम वापस जाने की कोशिश करता है। यदि वह उस गन्तव्य को पा लेता है, तो फिर उसे इस भौतिक जगत में वापस आने की आवश्यकता नहीं रह जाती (*यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*)। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१५१) में श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।*

*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥*

''सारे जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार सारे ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते रहते हैं। उनमें से कुछ उच्चलोकों को जाते हैं, तो कुछ अधोलोकों को प्राप्त होते हैं। ऐसे करोड़ों भ्रमण कर रहे जीवों में से जो अति भाग्यशाली होता है उसे कृष्ण कृपा से प्रामाणिक गुरु की संगति करने का सुअवसर प्राप्त हो पाता है। ऐसा व्यक्ति कृष्ण तथा गुरु दोनों ही की कृपा से भक्ति रूपी लता का बीज प्राप्त करता है।'' सारे जीव ब्रह्माण्ड भर में भ्रमण कर रहे हैं, कभी वे उच्चतर लोकों को जाते हैं कभी निम्न लोकों को प्राप्त होते हैं। यह भवरोग है, जो *प्रवृत्ति-मार्ग* कहलाता है। जब मनुष्य बुद्धिमान बन जाता है, तो वह *निवृत्ति मार्ग* को ग्रहण करता है और तब वह इस भौतिक जगत में भ्रमण करने के बजाय भगवद्धाम को वापस जाता है। यह अनिवार्य है।

**अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः ।**

**मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः ॥ ३॥**

शब्दार्थ

अधर्म-लक्षणाः—अपवित्र कार्यों के लक्षणों से युक्त; नाना—विविध; नरकाः—नरक; च—भी; अनुवर्णिताः—वर्णित किये गये; मनु-अन्तरः—मनुओं का परिवर्तन ( ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं ); च—भी; व्याख्यातः—वर्णन किये गये; आद्यः—आदि; स्वायम्भुवः—ब्रह्माजी के पुत्र; यतः—जिसमें।

**आपने नारकीय जीवन की उन विविध योनियों का भी वर्णन ( पंचम स्कन्ध के अन्त में ) किया है, जो पाप कार्यों से फलित हैं और आपने प्रथम मन्वन्तर का वर्णन ( चतुर्थ स्कन्ध में ) किया है, जिसकी अध्यक्षता ब्रह्मा के पुत्र स्वायम्भुव मनु ने की थी।**

**प्रियव्रतोत्तानपदोर्वंशस्तच्चरितानि च ।**
**द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन् ॥ ४॥**
**धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः ।**
**ज्योतिषां विवराणां च यथेदमसृजद्विभुः ॥ ५॥**

शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत का; उत्तानपदोः—तथा उत्तानपाद का; वंशः—कुल; तत्-चरितानि—उनके गुण; च—भी; द्वीप—विभिन्न लोक; वर्ष—भूभाग; समुद्र—सागर; अद्रि—पर्वत; नदी—नदियाँ; उद्यान—बाग-बगीचे; वनस्पतीन्—तथा वृक्ष; धरा-मण्डल—पृथ्वी; संस्थानम्—स्थिति को; भाग—विभागों के अनुसार; लक्षण—विभिन्न लक्षण; मानतः—तथा मापें; ज्योतिषाम्—सूर्य तथा अन्य प्रकाशपिंडों का; विवराणाम्—निम्नलोकों का; च—तथा; यथा—जिस तरह; इदम्—यह; असृजत्—उत्पन्न किया; विभुः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने।

**हे प्रभु! आपने राजा प्रियव्रत तथा राजा उत्तानपाद के कुलों तथा गुणों का वर्णन किया है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस भौतिक जगत की रचना विविध ब्रह्माण्डों, लोकों, ग्रहों तथा नक्षत्रों, विविध भूभागों, समुद्रों, नदियों, उद्यानों तथा वृक्षों से की जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। ये इस धरालोक, आकाश के प्रकाशपिंडों तथा अधोलोकों में विभाजित हैं। आपने इन लोकों का तथा इनमें रहने वाले जीवों का बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर *यथेदम् असृजद् विभुः* शब्दों से यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि सर्वशक्तिमान भगवान् ने इस सम्पूर्ण भौतिक जगत की सृष्टि विविध प्रकार के लोकों, नक्षत्रों इत्यादि से की। नास्तिक लोग ईश्वर के हाथ को, जो प्रत्येक सृष्टि में उपस्थित रहता है, छिपाना चाहते हैं, किन्तु वे इसकी व्याख्या नहीं कर सकते कि ये सारी सृष्टियाँ बिना किसी दक्ष बुद्धि तथा

सर्वशक्तिमान-बल के कैसे उत्पन्न हुईं। केवल कल्पना करना या चिन्तन करना समय का अपव्यय है। *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्यप्रभव:*—मैं हर वस्तु का उद्गम हूँ। *मत्त:सर्वं प्रवर्तते*—सृष्टि में जो भी विद्यमान है, वह मुझसे उद्भूत है। *इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:*—जब मनुष्य पूरी तरह से यह समझ लेता है कि मैं अपनी सर्वशक्तिमत्ता से हर वस्तु को उत्पन्न करता हूँ तो वह भक्ति में दृढ़ हो जाता है और मेरे चरणकमलों में पूर्णतया समर्पण कर देता है।'' दुर्भाग्यवश अज्ञानी व्यक्ति कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता को तुरन्त नहीं समझ पाते। फिर भी यदि वे भक्तों की संगति करते हैं और प्रामाणिक पुस्तकें पढ़ते हैं, तो वे धीरे-धीरे सही ज्ञान को प्राप्त होते हैं, यद्यपि इसमें अनेकानेक जन्म लग सकते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१९) में कृष्ण कहते हैं—

*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।*
*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ॥*

''जो वास्तव में ज्ञानी होता है, वह अनेक जन्म-जन्मांतर के बाद मुझे समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।'' वासुदेव, कृष्ण हर वस्तु के स्रष्टा हैं और उनकी शक्ति विविध प्रकारों से प्रदर्शित होती है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.४-५) में बतलाया गया है, जीव भौतिक शक्ति (*भूमिरापोऽनलो वायु:*) तथा आध्यात्मिक शक्ति का संयोग है और वह हर सृष्टि में पाया जाता है। अतएव एक ही सिद्धान्त—सर्वोच्च चेतन आत्मा तथा भौतिक तत्त्वों का संयोग—विराट जगत का कारण है।

**अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नर: ।**
**नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

**अधुना**—सम्प्रति; **इह**—इस भौतिक जगत में; **महा-भाग**—हे महान् ऐश्वर्यवान् तथा भाग्यशाली शुकदेव गोस्वामी; **यथा**—जिससे; **एव**—निस्सन्देह; **नरकान्**—नारकीय स्थितियाँ जिनमें अधर्मियों को रखा जाता है; **नर:**—मनुष्य; **नाना**—

अनेक प्रकार के; उग्र—भयावह; यातनान्—यातनाओं या कष्टों को; न ईयात्—नहीं भोगें; तत्—वह; मे—मुझसे; व्याख्यातुम् अर्हसि—कृपा करके वर्णन करें।

**हे परम भाग्यशाली तथा ऐश्वर्यवान् शुकदेव गोस्वामी! अब आप कृपा करके मुझे बतलायें कि मनुष्यों को किस तरह उन नारकीय स्थितियों में प्रवेश करने से बचाया जा सकता है जिनमें उन्हें भीषण यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।**

**तात्पर्य :** पंचम स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय में शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया है कि जो लोग पापकर्म करते हैं, उन्हें नरक लोकों में प्रवेश करने के लिए तथा कष्ट उठाने के लिए बाध्य किया जाता है। चूँकि महाराज परीक्षित भक्त हैं, अत: अब उन्हें चिन्ता है कि इसे किस तरह रोका जा सकता है। वैष्णव *परदु:ख दु:खी* होता है। दूसरे शब्दों में, उसे निजी कष्ट नहीं होता, किन्तु अन्यों को दुखी देखकर वह दुखी होता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा, ''हे प्रभु! मेरी अपनी समस्याएँ नहीं हैं, क्योंकि मैंने आपके दिव्य गुणों का गुणगान करना सीख लिया है, अतएव मैं भाव-समाधि में प्रवेश कर सकता हूँ। किन्तु मेरी एक समस्या है, क्योंकि मैं इन धूर्तों तथा मूर्खों के विषय में सोचता रहता हूँ जो *माया-सुख* अर्थात् क्षणिक सुख में लगे हैं और जिन्हें आपकी भक्ति का कोई ज्ञान नहीं है।'' वैष्णव के समक्ष यही समस्या रहती है। चूँकि वैष्णव पूर्णतया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत होता है, अतएव उसकी अपनी कोई समस्या नहीं रहती, किन्तु पतित बद्धात्माओं के प्रति दयालु होने से वह उनको इस जीवन में तथा अगले जीवन में नारकीय जीवन से बचाने की योजनाओं के विषय में सदैव सोचता रहता है। इसीलिए परीक्षित महाराज ने उत्सुकतापूर्वक शुकदेव गोस्वामी से यह जानना चाहा कि मानवता को किस तरह नरक में गिरने से बचाया जा सकता है? शुकदेव गोस्वामी पहले ही बता चुके थे कि लोग किस तरह नारकीय जीवन में प्रवेश करते हैं और वे यह भी बता सकते हैं कि उन्हें किस तरह से बचाया जा सकता है। बुद्धिमान लोगों को इन उपदेशों का लाभ उठाना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश सम्पूर्ण जगत में कृष्णभावनामृत का अभाव है, अत: लोग घोर अज्ञान से पीड़ित हैं और इस जीवन के बाद के जीवन में विश्वास तक नहीं करते। उनके अगले जीवन के विषय में आश्वस्त कर पाना बहुत कठिन

है, क्योंकि वे भौतिक भोग के पीछे भागने में मदान्धप्राय हो चुके हैं। फिर भी हमारा कर्तव्य है, सारे विज्ञ जनों का कर्तव्य है कि उनको बचाएँ। महाराज परीक्षित उनके प्रतिनिधि हैं, जो उन्हें बचा सकता है।

**श्रीशुक उवाच**

**न चेदिहैवापचितिं यथांहसः**
**कृतस्य कुर्यान्मनउक्तपाणिभिः ।**
**ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति**
**ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥ ७॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा; न—नहीं; चेत्—यदि; इह—इस जीवन में; एव—निश्चय ही; अपचितिम्—प्रतिकार, प्रायश्चित्त; यथा—भलीभाँति; अंहसः कृतस्य—जब मनुष्य पापकर्म कर चुका होता है; कुर्यात्—करता है; मनः—मन से; उक्त—शब्दों से; पाणिभिः—तथा इन्द्रियों से; ध्रुवम्—निश्चित रूप से; सः—वह व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; प्रेत्य—मृत्यु के बाद; नरकान्—नाना प्रकार की नारकीय स्थितियाँ; उपैति—प्राप्त करता है; ये—जो; कीर्तिताः—पहले ही वर्णित की जा चुकी हैं; मे—मेरे द्वारा; भवतः—तुमसे; तिग्म-यातनाः—जिनमें अति भीषण कष्ट है।

**शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया-हे राजन्! यदि मनुष्य अपनी अगली मृत्यु के पूर्व इस जन्म में अपने मन, वचन तथा शरीर से किये गये पाप कर्मों का मनुसंहिता तथा अन्य धर्मशास्त्रों के विवरण के अनुसार समुचित प्रायश्चित्त द्वारा निराकरण नहीं कर लेता है, तो वह मृत्यु के बाद अवश्य ही नरकलोकों में प्रविष्ट होगा और भीषण कष्ट उठायेगा, जैसा कि मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि यद्यपि महाराज परीक्षित शुद्ध भक्त थे फिर भी शुकदेव गोस्वामी ने तुरन्त ही भक्ति की शक्ति के विषय में उन्हें नहीं बतलाया। जैसा कि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

*मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*
*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥*

भक्ति इतनी प्रबल होती है कि यदि कोई पूरी तरह से कृष्ण की शरण ग्रहण कर ले और पूरी

तरह उनकी भक्ति करे तो उसके पापमय जीवन के सारे फल तुरन्त समाप्त हो जाते हैं।

गीता में अन्यत्र (१८.६६) भगवान् कृष्ण मनुष्य को प्रेरित करते हैं कि अन्य सारे कर्मों को त्यागकर उनकी शरण में आयें। और वे वचन देते हैं कि—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मैं तुम्हें सारे पापों के फलों से मुक्त कर दूँगा और तुम्हें मोक्ष प्रदान करूँगा। इसलिए परीक्षित महाराज के प्रश्नों के उत्तर में उनके गुरु शुकदेव महाराज तुरन्त ही भक्तियोग की व्याख्या कर सकते थे, किन्तु परीक्षित महाराज की बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम कर्मकाण्ड के अनुसार प्रायश्चित्त की संस्तुति की। कर्मकाण्ड के लिए अस्सी प्रामाणिक शास्त्र हैं, यथा मनुसंहिता, जो धर्मशास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रों में मनुष्य को अन्य प्रकार के सकाम कर्म करके पापकर्मों का निराकरण करने का परामर्श दिया गया है। शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को सर्वप्रथम इसी मार्ग की संस्तुति करने की सलाह दी है और यह तथ्य है कि जो व्यक्ति भक्ति स्वीकार नहीं करता उसे अपने अपवित्र कर्मों के निराकरण के लिए इन शास्त्रों के निर्णय को मान कर कार्य करना होता है। यही प्रायश्चित्त कहलाता है।

**तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ**
**यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना ।**
**दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा**
**भिषक्चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥ ८ ॥**

## शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; पुरा—पहले; एव—निस्सन्देह; आशु—तुरन्त; इह—इस जीवन में; पाप-निष्कृतौ—पापकर्मों के फल से मुक्त बनने के लिए; यतेत—प्रयत्न करे; मृत्योः—मृत्यु; अविपद्यत—रोग तथा वृद्धावस्था से सताया हुआ नहीं; आत्मना—शरीर से; दोषस्य—पापकर्मों का; दृष्ट्वा—अनुमान करके; गुरु-लाघवम्—भारीपन या हल्कापन; यथा—जिस तरह; भिषक्—वैद्य; चिकित्सेत—उपचार करेगा; रुजाम्—रोग का; निदान-वित्—निदान में निपुण।

**अतः अगली मृत्यु आने के पूर्व, जब तक मनुष्य का शरीर पर्याप्त सशक्त है, उसे शास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि तुरन्त अपनानी चाहिए; अन्यथा समय की क्षति होगी और उसके पापों का फल बढ़ता जायेगा। जिस तरह एक कुशल वैद्य रोग का निदान और उपचार**

**उसकी गम्भीरता के अनुसार करता है, उसी तरह मनुष्य को अपने पापों की गहनता के अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिए।**

**तात्पर्य :** *मनुसंहिता* जैसे धार्मिक शास्त्रों में संस्तुति की गई है कि हत्या करने वाले व्यक्ति को फाँसी देनी चाहिए और प्रायश्चित्त में उसके जीवन की बलि दी जानी चाहिए। पहले सारे विश्व में यह पद्धति अपनाई जाती थी, किन्तु नास्तिक बनते जाने के कारण लोग इस प्राणदण्ड को बन्द कर रहे हैं। यह बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ पर यह कहा गया है कि जो वैद्य रोग का निदान करना जानता है, वह उसी के अनुसार दवा की संस्तुति करता है। यदि रोग अति गम्भीर हो तो दवा को सशक्त होना चाहिए। हत्यारे के पाप का भार बहुत बड़ा होता है, अतएव *मनुसंहिता* के अनुसार हत्यारे का वध कर दिया जाना चाहिए। हत्यारे का वध करके सरकार उस पर कृपा करती है, क्योंकि यदि हत्यारे का इसी जीवन में वध नहीं कर दिया जाता तो अगले जन्मों में उसका अनेक बार वध किया जायेगा और उसे कष्ट भोगने के लिए बाध्य किया जायेगा। चूँकि लोग अगले जीवन तथा प्रकृति की जटिल कार्यशैली के विषय में नहीं जानते, अतएव वे अपने कानून बनाते हैं, किन्तु उन्हें चाहिए कि शास्त्रों द्वारा स्थापित आदेशों का उचित रीति से अवगाहन करें और उन्हीं के अनुसार कर्म करें। भारत में आज भी हिन्दू-समुदाय प्राय: इस विषय में कुशल पंडितों से विचार-विमर्श करता है कि पापकर्मों का निराकरण कैसे किया जाये। ईसाई धर्म में भी पाप कर्म को स्वीकार करने तथा उस का पश्चाताप करने की प्रक्रिया होती है, अतएव प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है और मनुष्य के पापकर्मों की गम्भीरता के अनुसार ही प्रायश्चित्त करना चाहिए।

**श्रीराजोवाच**
**दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।**
**करोति भूयो विवश: प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥ ९ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-राजा उवाच—परीक्षित महाराज ने उत्तर दिया; दृष्ट—देखने से; श्रुताभ्याम्—शास्त्रों या विधि ग्रन्थों से सुनने से भी; यत्—चूँकि; पापम्—पापपूर्ण, अपराध पूर्ण कार्य; जानन्—जानते हुए; अपि—यद्यपि; आत्मन:—स्वयं का; अहितम्—

हानिकर; करोति—करता है; भूयः—पुनः पुनः; विवशः—अपने को नियंत्रित करने में अक्षम; प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्त; अथो—इसलिए; कथम्—क्या लाभ।.

**महाराज परीक्षित ने कहा कि मनुष्य को जानना चाहिए कि पापकर्म उसके लिए हानिकर है, क्योंकि वह वस्तुतः यह देखता है कि अपराधी सरकार द्वारा दण्डित किया जाता है और सामान्य लोगों के द्वारा दुत्कारा जाता है। और वह शास्त्रों तथा विद्वान पंडितों से सुनता भी रहता है कि पापकर्म करने से मनुष्य अगले जीवन में नारकीय अवस्था में फेंक दिया जाता है। फिर भी ऐसा ज्ञान होते हुए मनुष्य को प्रायश्चित्त करने के बावजूद बारम्बार पाप करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अतः ऐसे प्रायश्चित्त का क्या महत्त्व?**

**तात्पर्य :** कुछ धार्मिक सम्प्रदायों में पापी व्यक्ति अपने पाप-कर्मों को कबूलने के लिए तथा जुर्माना देने के लिए पुरोहित के पास जाता है, किन्तु उसके बाद वह पुनः वही पाप करता है और उसे स्वीकारने के लिए पुनः आता है। यह पेशेवर पापी की आदत है। परीक्षित महाराज के कहने से सूचित होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी अपराधियों में अपने अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करने और पुनः उन्हीं अपराधों को करने की प्रथा थी, मानो उनसे ये कराये जा रहे हों, इसलिए अपने व्यावहारिक अनुभव के फलस्वरूप परीक्षित महाराज ने देखा कि बारम्बार पाप करने तथा प्रायश्चित्त करने की विधि व्यर्थ है। कोई कितनी ही बार दण्डित क्यों न किया जाये, यदि वह इन्द्रियभोग के प्रति आसक्त है, तो वह तब तक बारम्बार पापकर्म करेगा जब तक उसे अपनी इन्द्रियों का भोग करने से दूर रहने का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। यहाँ पर *विवश* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो यह सूचित करता है कि जो पापकर्म नहीं करना चाहता उसे भी आदतवश पापकर्म करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इसीलिए महाराज परीक्षित ने मनुष्य को उसके पापकर्मों से बचाने के लिए प्रायश्चित्त-विधि को बहुत ही अल्प महत्त्व का माना। अगले श्लोक में उनके द्वारा इस विधि के तिरस्कार किये जाने की व्याख्या की गई है।

**क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः ।**

**प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; निवर्तते—बन्द कर देता है; अभद्रात्—पापकर्मों से; क्वचित्—कभी; चरति—करता है; तत्—वह ( पापकर्म ); पुनः—फिर; प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्त की विधि; अथो—इसलिए; अपार्थम्—व्यर्थ; मन्ये—मानता हूँ; कुञ्जर-शौचवत्—हाथी के स्नान की ही तरह।

**कभी-कभी ऐसा व्यक्ति, जो पापकर्म न करने के प्रति अत्यधिक सतर्क रहता है पुनः पापमय जीवन के फेर में आ जाता है। इसलिए मैं बारम्बार पाप करने तथा प्रायश्चित्त करने की इस विधि को निरर्थक मानता हूँ। यह तो हाथी के स्नान करने जैसा है, क्योंकि हाथी पूर्ण स्नान करके अपने को स्वच्छ बनाता है, किन्तु स्थल पर वापस आते ही अपने सिर तथा शरीर पर धूल डाल लेता है।**

**तात्पर्य :** जब परीक्षित महाराज ने पूछा कि मनुष्य किस तरह पापककर्मों से अपने को मुक्त कर सकता है, जिससे उसे मृत्यु के बाद नरकलोक में जाने के लिए बाध्य न होना पड़े तो शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया कि पापमय जीवन के निराकरण की विधि तो प्रायश्चित्त है। इस तरह से शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित की बुद्धि की परीक्षा ली और परीक्षित इस विधि को प्रामाणिक मानने से इनकार करके उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अब परीक्षित महाराज अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से दूसरे उत्तर की अपेक्षा कर रहे हैं।

श्रीबादरायणिरुवाच

**कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।**
**अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—व्यासपुत्र शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया; कर्मणा—कर्म से; कर्म-निर्हारः—सकाम कर्मों का निराकरण; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्यन्तिकः—अन्तिम; इष्यते—सम्भव होता है; अविद्वत्-अधिकारित्वात्—ज्ञान हुए बिना; प्रायश्चित्तम्—असली प्रायश्चित्त; विमर्शनम्—वेदान्त का पूर्ण ज्ञान।

**वेदव्यास-पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : हे राजन्! चूँकि अपवित्र कर्मों को निष्प्रभावित करने के उद्देश्य से किये गये कर्म भी सकाम होते हैं, अतएव वे मनुष्य को सकाम कर्म करने की प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं दिला सकते। जो व्यक्ति अपने को प्रायश्चित्त**

**के विधि-विधानों के अधीन बना लेते हैं, वे तनिक भी बुद्धिमान नहीं हैं। अपितु, वे सभी तमोगुण में होते हैं। जब तक मनुष्य तमोगुण से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक एक कर्म का दूसरे से निराकरण करने का प्रयास करना निरर्थक है, क्योंकि इससे मनुष्य की इच्छाओं का उन्मूलन नहीं होगा। इस तरह ऊपर से पवित्र लगने वाला व्यक्ति निस्सन्देह पाप पूर्ण कर्म करने के लिए उन्मुख होगा। अतएव असली प्रायश्चित्त तो पूर्ण ज्ञान अर्थात् वेदान्त में प्रबुद्ध होना है, जिससे मनुष्य परम सत्य भगवान् को समझता है।**

**तात्पर्य :** गुरु शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज की परीक्षा ले ली है और ऐसा लगता है कि राजा ने सकाम कर्म से युक्त प्रायश्चित्त विधि का खण्डन करके परीक्षा की एक अवस्था उत्तीर्ण कर ली है। अब शुकदेव गोस्वामी चिन्तनपरक ज्ञान के पद का सुझाव रख रहे हैं। *कर्मकाण्ड* से *ज्ञानकाण्ड* की ओर अग्रसर होते हुए वे *प्रायश्चित्तं विमर्शनम्*—असली प्रायश्चित्त तो पूर्ण ज्ञान है—का सुझाव रखते हैं। *विमर्शन* चिन्तनपरक ज्ञान के अनुशीलन का द्योतक है। *भगवद्गीता* में ज्ञान से विहीन कर्मियों की तुलना गधों से की गई है। *भगवद्गीता* (७.१५) में कृष्ण कहते हैं—

*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।*
*माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥*

''वे दुष्ट जो नितान्त मूर्ख हैं, मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान माया ने हर लिया है और जो असुरों के नास्तिकतावादी स्वभाव में भागीदार बनते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते।'' इस तरह वे कर्मी जो पापकर्म में लिप्त रहते हैं और जीवन के असली लक्ष्य को नहीं जानते मूढ़ या गधे कहलाते हैं। किन्तु *विमर्शन* की व्याख्या *भगवद्गीता* में भी (१५.१५) हुई है जहाँ पर कृष्ण कहते हैं—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—वैदिक अध्ययन का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना है। यदि कोई वेदान्त का अध्ययन करता है और चिन्तनपरक ज्ञान में ही प्रगति करता है परन्तु परमेश्वर को नहीं समझता तो वह मूढ़ का मूढ़ बना रहता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—जब मनुष्य कृष्ण को समझता है और उनकी शरण में आ जाता है तभी उसे असली ज्ञान प्राप्त

होता है (*बहूनां जन्मनामन्तेज्ञानवान् मां प्रपद्यते*)। इसलिए विद्वान तथा भौतिक कल्मष से मुक्त बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को समझने का प्रयास करे, क्योंकि ऐसा करने से वह समस्त पवित्र तथा अपवित्र कर्मों (पाप-पुण्य) तथा उनके फलों से तुरन्त छूट जाता है।

**नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि ।**
**एवं नियमकृद्राजञ्शनैः क्षेमाय कल्पते ॥ १२ ॥**

**शब्दार्थ**

न—नहीं; अश्नतः—खाने वाला; पथ्यम्—उपयुक्त; एव—निस्सन्देह; अन्नम्—भोजन; व्याधयः—विभिन्न प्रकार के रोग; अभिभवन्ति—घेर लेते हैं; हि—निस्सन्देह; एवम्—इसी प्रकार; नियम-कृत्—नियमों का पालन करने वाला; राजन्—हे राजा; शनैः—धीरे-धीरे; क्षेमाय—कल्याण के हेतु; कल्पते—स्वस्थ हो जाता है।

**हे राजन्! यदि रुग्ण व्यक्ति वैद्य द्वारा बताया गया शुद्ध अदूषित अन्न खाता है, तो वह धीरे-धीरे अच्छा हो जाता है और तब रोग का संक्रमण उसे छू तक नहीं पाता। इसी तरह यदि कोई ज्ञान के विधि-विधानों का पालन करता है, तो वह धीरे-धीरे भौतिक कल्मष से मोक्ष की ओर प्रगति करता है।**

**तात्पर्य :** भले ही मनुष्य ज्ञान का अनुशीलन मानसिक चिन्तन द्वारा करता रहे, किन्तु यदि वह शास्त्रों द्वारा तथा अगले श्लोक में बताये गये विधि-विधानों का पालन करता है, तो वह धीरे-धीरे शुद्ध बन जाता है। इसलिए ज्ञान का पद-कर्म के पद से श्रेयस्कर है। कर्म के पद से नारकीय अवस्थाओं में गिरने की सम्भावना सदा रहती है, किन्तु ज्ञान के पद पर वह नारकीय जीवन से बच जाता है, यद्यपि वह छूत से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ होता। कठिनाई यह है कि ज्ञान के पद पर मनुष्य यह सोचता है कि वह मुक्त हो चुका है और नारायण या भगवान् बन चुका है। अज्ञान का यह दूसरा चरण है।

*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन*

*स्त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धयः।*

*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः*

*पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥*

(भागवत १०.२.३२)

अज्ञानवश मनुष्य अपने को भौतिक कल्मष से मुक्त सोचता है, जबकि वास्तव में वह ऐसा होता नहीं। इसलिए ब्रह्मज्ञान तक ऊपर उठ जाने पर भी मनुष्य नीचे गिर जाता है, क्योंकि वह कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं की होती। तो भी ज्ञानीजन कम से कम यह तो जानते हैं कि क्या पाप है और क्या पुण्य है और वे शास्त्रों के आदेशों के अनुसार अति सतर्कतापूर्वक कर्म करते हैं।

**तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च ।**
**त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन वा ॥ १३ ॥**
**देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः ।**
**क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः ॥ १४ ॥**

**शब्दार्थ**

तपसा—तपस्या या भौतिक भोग का स्वेच्छा से तिरस्कार द्वारा; ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य द्वारा; शमेन—मन को वश में करने से; च—तथा; दमेन—इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने से; च—भी; त्यागेन—स्वेच्छा से उत्तम कार्यों के लिए दान देने से; सत्य—सत्यता से; शौचाभ्याम्—तथा अपने आपको भीतर-बाहर से स्वच्छ रखने के विधानों का पालन करने से; यमेन—शाप देने तथा अहिंसा से बचने से; नियमेन—भगवान् के नाम का नियमित कीर्तन करने से; वा—तथा; देह-वाक्-बुद्धि-जम्—शरीर, वाणी तथा बुद्धि के द्वारा सम्पन्न; धीराः—धीर लोग; धर्म-ज्ञाः—धार्मिक सिद्धान्तों के ज्ञान से पूरित; श्रद्धया अन्विताः—श्रद्धा से युक्त; क्षिपन्ति—नष्ट करते हैं; अघम्—सभी प्रकार के पापकर्मों को; महत् अपि—यद्यपि अति महान् तथा निन्दनीय; वेणु-गुल्मम्—बाँस के वृक्ष के नीचे की सूखी लतर; इव—सदृश; अनलः—अग्नि।

**मन को एकाग्र करने के लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य जीवन बिताना चाहिए और अध:पतित नहीं होना चाहिए। उसे इन्द्रिय-भोग को स्वेच्छा से त्यागने की तपस्या करनी चाहिए। तब उसे मन तथा इन्द्रियों को वश में करना चाहिए, दान देना चाहिए, सत्यव्रती, स्वच्छ तथा अहिंसक होना चाहिए, विधि-विधानों का पालन करना चाहिए और नियमपूर्वक भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए। इस तरह धार्मिक सिद्धान्तों को जानने वाला धीर तथा श्रद्धावान् व्यक्ति अपने शरीर, वचन तथा मन से किये गये सारे पापों से अस्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है। ये पाप बाँस के पेड़ के नीचे की लतरों की सूखी पत्तियों के समान हैं,**

**जिन्हें अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, यद्यपि उनकी जड़ें अवसर पाते ही फिर से उगने के लिए शेष बची रहती हैं।**

**तात्पर्य :** *स्मृति शास्त्र* में *तप:* की व्याख्या इस प्रकार हुई है : *मनसश्चेन्द्रियाणाँ च एकाग्र्यं परमं तप:अवसर*—मन तथा इन्द्रियों का पूर्ण नियंत्रण तथा एक ही प्रकार के कार्य में उनकी पूर्ण एकाग्रता *तप:* कहलाती है। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन लोगों को यह शिक्षा देता है कि मन को भक्ति पर किस तरह एकाग्र करना चाहिए। यह उच्चकोटि का *तप:* है। ब्रह्मचर्य के आठ पक्ष होते हैं—मनुष्य को न तो स्त्रियों के बारे में सोचना चाहिए, न यौन जीवन की चर्चा करनी चाहिए, न स्त्रियों के साथ क्रीडा करनी चाहिए, न स्त्रियों की ओर कामुक होकर देखना चाहिए, न उनसे घनिष्ठतापूर्वक बातें करनी चाहिए, न संभोग में रत होने का निर्णय लेना चाहिए, न ही यौन जीवन के लिए कभी प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को स्त्रियों के बारे में सोचना या उनकी ओर ताकना तक नहीं चाहिए, बातें करना तो दूर रहा। इसे ही उच्चकोटि का ब्रह्मचर्य कहते हैं। यदि कोई ब्रह्मचारी या संन्यासी एकान्त में किसी स्त्री से बातें करता है तो स्वाभाविक है कि बिना किसी के जाने ही यौन जीवन की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए पूर्ण ब्रह्मचारी इसके विपरीत अभ्यास करता है। यदि वह पूर्ण ब्रह्मचारी है, तो वह बहुत आसानी से मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकता है, दान दे सकता है, सत्य बोल सकता है, आदि आदि। किन्तु प्रारम्भ में उसे जीभ तथा खाने पर नियंत्रण करना होगा।

भक्तिमार्ग में मनुष्य को सर्वप्रथम जीभ को नियंत्रित करके दृढ़तापूर्वक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए (*सेवान्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*)। जीभ को वश में किया जा सकता है यदि मनुष्य हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करे, कृष्ण से सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर न बोले तथा ऐसी किसी वस्तु का आस्वादन न करे जो कृष्ण को अर्पित न की गई हो। यदि वह इस तरह जीभ को वश में कर सकता है, तो ब्रह्मचर्य तथा अन्य शुद्ध करने वाली प्रक्रियाएँ स्वत: ही पीछे-पीछे चलेंगी। अगले श्लोक में बतलाया जायेगा कि भक्ति का मार्ग परम

पूर्ण है, अतएव यह कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग से श्रेष्ठतर है। वेदों से उद्धरण देते हुए श्रील वीरराघव आचार्य बतलाते हैं कि जितनी पूर्णता से सम्भावित हो, व्रत रखना तपस्या में सम्मिलित हो जाता है (*तपसानाशकेन*)। श्रील रूप गोस्वामी ने भी *अत्याहार* अर्थात् अधिक भोजन करने को आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में बाधक बतलाया है। यही नहीं, *भगवद्गीता* (६.१७) में कृष्ण कहते हैं—

*युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।*

*युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥*

"जो खाने, सोने, मनोरंजन तथा काम करने की आदतों में नियमित रहता है, वह योगाभ्यास द्वारा समस्त भौतिक क्लेशों को कम कर सकता है।"

श्लोक १४ में *धीराः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "जो सभी परिस्थितियों में अविचल रहते हैं।" *भगवद्गीता* (२.१४) में कृष्ण अर्जुन को बताते हैं—

*मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण-सुखदुःखदाः।*

*आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥*

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।" भौतिक जगत में अनेक उलझनें आती हैं (*अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक*)। जिस व्यक्ति ने सभी परिस्थितियों में इन संकटों को सहन करना सीख लिया है, वह *धीर* कहलाता है।

**केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।**
**अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥ १५॥**

### शब्दार्थ

केचित्—कुछ लोग; केवलया भक्त्या—शुद्ध भक्ति के द्वारा; वासुदेव—सर्वव्यापक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रति; परायणाः—पूर्णतया आसक्त (तपस्या, ज्ञान के अनुशीलन या पुण्यकर्मों पर आश्रित रहे बिना ऐसी सेवा के प्रति); अघम्—सभी प्रकार के पापपूर्ण फल; धुन्वन्ति—विनष्ट करते हैं; कार्त्स्न्येन—पूर्णतया (इसकी) सम्भावना के बिना कि पापपूर्ण इच्छाएँ पुनर्जीवित होंगी; नीहारम्—कुहरा; इव—सदृश; भास्करः—सूर्य।

**कोई विरला व्यक्ति ही, जिसने कृष्ण की पूर्ण शुद्ध भक्ति को स्वीकार कर लिया है, उन पापपूर्ण कार्यों के खरपतवार को समूल नष्ट कर सकता है जिनके पुनरुज्जीवित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। वह भक्तियोग सम्पन्न करके इसे कर सकता है, जिस तरह सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को तुरन्त उड़ा देता है।**

**तात्पर्य :** पिछले श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने यह उदाहरण दिया था कि बाँस के पेड़ के नीचे की लतरों की सूखी पत्तियाँ अग्नि द्वारा पूरी तरह से जलाकर राख कर दी जाती है, यद्यपि लतरें फिर से अंकुरित हो सकती है, क्योंकि उनकी जड़ें अब भी जमीन के भीतर हैं। इसी तरह चूँकि पापपूर्ण इच्छा रूपी जड़ उस मनुष्य के हृदय से विनष्ट नहीं हुई है, जो ज्ञान का तो अनुशीलन कर रहा है, किन्तु जिसमें भक्ति के प्रति रुचि नहीं है, अतः उसकी पापपूर्ण इच्छाएँ पुनः प्रकट होने की सम्भावना रहती है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.४) में कहा गया है—

*श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो*

*क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये॥*

जो चिन्तक पाप तथा पुण्य कर्मों (शुभाशुभ) में अन्तर करते हुए भौतिक जगत का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यधिक श्रम करते हैं, किन्तु भक्ति को प्राप्त नहीं हैं वे भौतिक कार्यों के प्रति उन्मुख रहते हैं। वे नीचे गिर कर सकाम कर्मों में लिप्त हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भक्ति के प्रति आसक्त होता है, तो भौतिक भोग की उसकी इच्छाएँ बिना किसी पृथक् प्रयास के स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं। *भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिर्न्यत्र च*—यदि कोई कृष्णभावनामृत में उन्नत है, तो उसके लिए भौतिक कर्म, पाप तथा पुण्यकर्म दोनों ही, स्वतः स्वादहीन बन जाते हैं। यही कृष्णभावनामृत की परीक्षा है। पाप तथा पुण्यकर्म दोनों ही वास्तव में अज्ञान के कारण होते हैं, क्योंकि कृष्ण के नित्य दास के रूप में जीव को अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं

करना होता। अत: ज्योंही वह भक्ति के पद को प्राप्त करता है, वह पाप तथा पुण्य कर्मों के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर देता है और केवल उसी में रुचि लेता है, जिसमें कृष्ण तुष्ट हों। भक्ति की यह विधि या कृष्ण की भक्ति (*वासुदेव-परायण*) मनुष्य को सारे कर्मफलों से छुटकारा दिलाती है।

चूँकि महाराज परीक्षित महान् भक्त थे, अतएव उनके गुरु शुकदेव गोस्वामी द्वारा *कर्मकाण्ड* तथा *ज्ञानकाण्ड* विषयक दिये गये उत्तर उन्हें तुष्ट नहीं कर सके। इसलिए शुकदेव गोस्वामी ने अपने शिष्य के हृदय की बात जानते हुए भक्ति के दिव्य आनन्द की व्याख्या की। *केचित्* शब्द का यहाँ पर अर्थ है ''कुछ लोग, सभी नहीं।'' हर व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं हो सकता। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.३) में बतलाया है—

*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।*

*यतताम् अपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत: ॥*

''कई हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और इस तरह सिद्धि प्राप्त करने वालों में से मुश्किल से कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।'' व्यावहारिक रूप से: कोई भी व्यक्ति कृष्ण को यथारूप में नहीं जान सकता, क्योंकि कृष्ण को पुण्यकर्मों या सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि द्वारा नहीं समझा जा सकता। वस्तुत: सर्वोच्च ज्ञान तो कृष्ण को समझना है। कृष्ण को न समझ पाने वाले अज्ञानी लोग यह सोचकर गर्व से फूले रहते हैं कि वे मुक्त हो गये हैं या कि वे कृष्ण या नारायण बन चुके हैं। यही अज्ञान है।

भक्ति की शुद्धता को सूचित करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.१.११) में कहा है—

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।*

*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥*

''मनुष्य को चाहिए कि परम भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति समर्पित होकर तथा भौतिक

लाभ या सकाम कर्मों अथवा दार्शनिक चिन्तन के द्वारा लाभ की इच्छा से रहित होकर करे। यही शुद्धभक्ति कहलाती है।'' श्रील रूप गोस्वामी आगे यह भी बतलाते हैं कि *भक्ति क्लेशघ्नी शुभदा* है अर्थात् जो व्यक्ति भक्ति अंगीकार करता है उसके सभी प्रकार के अनावश्यक श्रम तथा भौतिक क्लेश पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं और उसे पूर्ण सौभाग्य प्राप्त होता है। भक्ति इतनी प्रबल है कि यह *मोक्षलघुताकृत* भी कही जाती है। दूसरे शब्दों में, यह मोक्ष की महत्ता को कम करती है।

अभक्तों को भौतिक कष्टों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि उनमें सकाम पापकर्म करने की प्रवृत्ति होती है। उनके हृदय में पापकर्म करने की इच्छा अज्ञान के कारण बनी रहती है। ये पापकर्म तीन कोटियों में विभाजित किये जाते हैं—*पातक, महापातक* तथा *अतिपातक*। इसके दो विभाग भी किये जाते है—*प्रारब्ध* तथा *अप्रारब्ध*। प्रारब्ध उन पापफलों का द्योतक है जिन्हें वर्तमान समय में भोगा जा रहा होता है और *अप्रारब्ध* द्योतक है...सम्भाव्य कष्ट के स्रोतों का। जब भी पापों के *बीज* फलित नहीं होते तो ये फल *अप्रारब्ध* कहलाते है। पापकर्म के ये बीज अदृश्य होते हैं, किन्तु ये असीम होते हैं असीम और इसका कोई भी पता नहीं लगा पाता है कि सर्वप्रथम उन्हें कब बोया गया था। , वे पापफल जो अंकुरित हो चुके हैं और जो प्रारब्ध कहलाते हैं और उनके कारण मनुष्य को या तो निम्न कुल में जन्म लेते या अन्य कष्टों से पीड़ित होते देखा जाता है।

किन्तु जब मनुष्य भक्ति ग्रहण करता है, तो पापमय जीवन की सारी अवस्थाएँ, जिनमें *प्रारब्ध, अप्रारब्ध* तथा *बीज* सम्मिलित हैं, समाप्त हो जाती हैं। *भगवद्गीता* (११.१४.१९) में भगवान् कृष्ण उद्धव को बताते हैं—

*यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।*

*तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥*

''हे उद्धव! मुझसे सम्बन्धित भक्ति उस प्रज्ज्वलित अग्नि के समान है, जो इसमें डाले गये पापकर्म रूपी सारे ईंधन को जलाकर भस्म कर डालती है।'' यह भक्ति जिस तरह से पापमय जीवन के फलों को समाप्त करती है, उसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* (३.३३.६) में एक श्लोक में

हुई है, जो भगवान् कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति को उपदेश देते समय कहा था। देवहूति ने कहा—

*यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्*

*यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।*

*श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते*

*कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥*

"हे प्रभु! यदि चांडालों के परिवार में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी आपके यश को सुनता और बारम्बार उसका कीर्तन करता है, आपको नमस्कार करता है और आपका स्मरण करता है, तो वह ब्राह्मण से बढ़कर है, अतएव यज्ञ करने का पात्र है। इसलिए जिसने आपका साक्षात् दर्शन किया हो उसके विषय में क्या कहा जाए?"

*पद्मपुराण* में एक उक्ति है कि जिन व्यक्तियों के हृदय भगवान् विष्णु की भक्ति के प्रति अनुरक्त हैं, वे जीवन के समस्त पापफलों से तुरन्त मुक्त कर दिये जाते हैं। ये फल सामान्यतया चार अवस्थाओं में रहते हैं। इनमें से कुछ तुरन्त फल देने वाले होते हैं, कुछ बीज रूप में रहते हैं कुछ अव्यक्त रहते हैं और कुछ वर्तमान से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे सारे फल भक्ति द्वारा तुरन्त निरस्त हो जाते हैं। जब किसी के हृदय में भक्ति उपस्थित होती है, तो पापकर्म करने की इच्छाओं के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रह पाता। पापमय जीवन अज्ञान के कारण होता है, जिसका अर्थ है ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाना। किन्तु पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने पर उसे अनुभूति होती है कि वह ईश्वर का नित्य दास है।

इस सन्दर्भ में श्रील गोस्वामी की टीका है कि भक्ति के दो विभाग किये जा सकते हैं (१) *सन्तता*—वह भक्ति जो श्रद्धा तथा प्रेम से निरन्तर चालू रहती है तथा (२) *कादाचित्की*—वह भक्ति जो निरन्तर चालू नहीं रहती, अपितु कभी-कभी जाग्रत होती है। सन्तता भक्ति को भी दो विभागों में बाँटा जा सकता है (१) *किञ्चित् आसक्ति सहित सम्पन्न सेवा (२) रागानुगा भक्ति।*

कादाचित्की भक्ति के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) *रागाभासमयी*—वह भक्ति जिसमें मनुष्य अनुरक्तप्राय होता है (२) *रागाभासशून्य स्वरूपभूता*—भक्ति जिसमें रागानुग प्रेम नहीं होता, किन्तु मनुष्य सेवा करने की स्वाभाविक स्थिति को चाहता है तथा (३) *आभास रूपा*—भक्ति की किञ्चित् झलक। जहाँ तक प्रायश्चित्त की बात है, यदि किसी को भक्ति की किञ्चित् झलक प्राप्त हो जाती है, तो प्रायश्चित्त करने की सभी आवश्यकताएँ नहीं रह जातीं। अतएव जब मनुष्य को रागानुग प्रेम प्राप्त हो चुका हो और उसके साथ प्रेम से लगाव हो, जो कि कादाचित्की की प्रगति के लक्षण है, तो प्रायश्चित्त निश्चित्त रूप से अनावश्यक होता है। यहाँ तक कि *आभासरूपा भक्ति* अवस्था में पापमय जीवन के सारे पाप फलों का उन्मूलन एवं विनाश हो जाता है। श्रील जीव गोस्वामी का मत है कि *कात्स्न्येंय* शब्द का अर्थ है कि पापकर्म करने की इच्छा होने पर भी उस इच्छा का उन्मूलन केवल *आभासरूपा भक्ति* से हो जाता है। *भास्कर* अर्थात् सूर्य का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। भक्ति के आभास रूप की उपमा उषाकाल से दी गई है और पापकर्मों के संचय की उपमा कुहरे से दी गई है। चूँकि कुहरा पूरे आकाश में नहीं छाया रहता, अत: सूर्य को अपनी प्रथम किरणें फैलाने के अतिरिक्त कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती। इससे कुहरा तुरन्त दूर हो जाता है। इसी तरह यदि किसी का भक्ति से थोड़ा-सा भी सम्बन्ध होता है, तो उसके पापमय जीवन का समस्त कुहरा तुरन्त नष्ट हो जाता है।

**न तथा ह्यघवान्राजन्पूयेत तपआदिभि: ।**
**यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी तरह; हि—निश्चय ही; अघ-वान्—पापकर्मों से पूर्ण मनुष्य; राजन्—हे राजा; पूयेत—पवित्र हो सकता है; तप:-आदिभि:—तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा अन्य संस्कारों को सम्पन्न करने से; यथा—जिस तरह; कृष्ण-अर्पित-प्राण:—भक्त जिसका जीवन कृष्णभावनाभावित हो; तत्-पुरुष-निषेवया—कृष्ण के प्रतिनिधि की सेवा में अपना जीवन लगाने से।

**हे राजन्! यदि पापी व्यक्ति भगवान् के प्रामाणिक भक्त की सेवा में लग जाता है और इस तरह यह सीख लेता है कि अपना जीवन किस तरह कृष्ण के चरणकमलों में समर्पित**

**करना चाहिए तो वह पूर्णतया शुद्ध हो सकता है। तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा मेरे द्वारा पहले वर्णित प्रायश्चित्त के अन्य साधनों को सम्पन्न करने मात्र से वह पापी शुद्ध नहीं बन सकता।**

**तात्पर्य :** *तत्पुरुष* द्योतक है कृष्णभावनामृत के प्रचारक का, यथा गुरु का। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है, *छाड़िया वैष्णव सेवा निस्तार पायेछे केबा*—प्रामाणिक गुरु अर्थात् आदर्श वैष्णव की सेवा किये बिना ऐसा कौन है, जिसका माया के पाश से उद्धार हो सके? यही भाव अन्य अनेक स्थानों पर भी व्यक्त हुआ है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई व्यक्ति माया के पाश से मुक्ति चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्त महात्मा की संगति करनी चाहिए। *महात्मा* वह है, जो चौबीसों घंटे भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (९.१३) में कृष्ण कहते है—

*महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः।*
*भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥*

"हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हैं।" इस तरह महात्मा का लक्षण यह है कि कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य व्यस्तता नहीं रहती। पाप फलों से मुक्त होने, आदि कृष्णभावनामृत को जाग्रत करने तथा कृष्ण-प्रेम करने में प्रशिक्षित होने के लिए मनुष्य को वैष्णव की सेवा करनी चाहिए। यह *महात्मा-सेवा* का फल है। निस्सन्देह, यदि कोई शुद्ध भक्त की सेवा में लग जाता है, तो उसके पापमय जीवन के सारे फल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। भक्ति की आवश्यकता पापों के तुच्छ ढेर को नष्ट करने हेतु ही नहीं, अपितु कृष्ण के प्रति हमारे सुप्त प्रेम को जाग्रत करने के लिए भी पड़ती है। जिस तरह सूर्यप्रकाश की पहली झलक पाते ही कुहरा दूर हो जाता है उसी तरह शुद्ध भक्त की सेवा प्रारम्भ करते ही उसके पापफल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। किसी पृथक् प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

*कृष्णार्पित-प्राणः* शब्द उस भक्त का द्योतक है, जो अपना जीवन कृष्ण की सेवा करने में

अर्पित कर देता है, न कि अपने नारकीय जीवन के मार्ग से बचाये जाने के लिए। एक भक्त *नारायण-परायण* या *वासुदेव-परायण* होता है, जिसका अर्थ है, कि वासुदेव-मार्ग या भक्तिमार्ग ही भक्त का जीवन एवं प्राण है। *नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति* (*भागवत* ६.१७.२८)—ऐसा भक्त कहीं भी जाने से भयभीत नहीं होता। एक मोक्ष की ओर जाने उच्च लोकों का मार्ग है और दूसरा नरक लोकों में जाने का है, किन्तु *नारायण-परायण* भक्त को जहाँ भी भेजा जाये वह निडर रहता है। वह जहाँ भी रहे एकमात्र कृष्ण का स्मरण करना चाहता है। ऐसे भक्त को नरक तथा स्वर्ग की चिन्ता नहीं सताती। वह तो केवल कृष्ण की सेवा करने में लीन रहता है। जब भक्त को नारकीय दशा में डाल दिया जाता है, तो वह उसे कृष्ण की कृपा मानता है—*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः* (*भागवत* १०.१४.८)। वह विरोध नहीं करता कि, ''ओह! मैं कृष्ण का इतना बड़ा भक्त हूँ। मुझे इस कष्ट में क्यों रखा गया?'' उल्टे वह सोचता है कि, ''यह कृष्ण की कृपा है।'' ऐसा मनोभाव उसी भक्त के लिए सम्भव है, जो कृष्ण के प्रतिनिधि की सेवा में अपने को लगाता है। सफलता का यही रहस्य है।

**सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।**
**सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥ १७॥**

### शब्दार्थ

**सध्रीचीनः**—उपयुक्त; **हि**—निश्चय ही; **अयम्**—यह; **लोके**—संसार में; **पन्थाः**—मार्ग; **क्षेमः**—मंगलमय, शुभ; **अकुतः-भयः**—निर्भय; **सु-शीलाः**—अच्छे आचरण वाले; **साधवः**—साधु पुरुष; **यत्र**—जहाँ; **नारायण-परायणाः**—जिन्होंने नारायण के मार्ग अर्थात् भक्ति को अपना सर्वस्व मान लिया है।

**सुशील तथा सर्वोत्तम गुणों से युक्त शुद्ध भक्तों के द्वारा पालन किया जाने वाला मार्ग निश्चय ही इस भौतिक जगत का सबसे मंगलमय मार्ग है। यह भय से रहित है और शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है।**

**तात्पर्य :** किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भक्ति अंगीकार करने वाला व्यक्ति वेदों के *कर्मकाण्ड* अनुभाग में संस्तुत अनुष्ठानों को सम्पन्न नहीं कर सकता या कि वह आध्यात्मिक विषयों

पर चिन्तन करने के लिए पर्याप्त शिक्षित नहीं है। मायावादी सामान्यतया यह आरोप लगाते हैं कि *भक्तिमार्ग* स्त्रियों तथा अशिक्षितों के लिए है। यह निराधार आरोप है। *भक्तिमार्ग* का अनुसरण अत्यन्त विद्वान पंडितों, यथा श्री चैतन्य महाप्रभु तथा रामानुजाचार्य जैसे गोस्वामियों, द्वारा किया गया है। *भक्तिमार्ग* के ये ही वास्तविक अनुगामी हैं। कोई चाहे शिक्षित या उच्चकुलीन हो या न हो, उसे इनके ही पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*—मनुष्य को महाजनों के मार्ग का पालन करना चाहिए। *महाजन* वे हैं जिन्होंने भक्ति के मार्ग को ग्रहण किया हैं (*सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः*) क्योंकि ऐसे महापुरुष ही पूर्ण पुरुष होते हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है—

*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना*
*सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।*

''जिसमें भगवान् के प्रति अविचल भक्ति होती है, उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं।'' किन्तु जो अल्पज्ञ हैं वे भक्तिमार्ग का गलत अर्थ लगाते हैं, इसलिए वे यह आरोप लगाते हैं कि भक्ति उन लोगों के लिए है, जो अनुष्ठान नहीं सम्पन्न कर सकते या चिन्तन नहीं कर सकते। जैसाकि यहाँ पर *सध्रीचीनः* शब्द से पुष्टि हुई है भक्ति ही वह मार्ग है, जो उपयुक्त है, कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के मार्ग नहीं। मायावादी भले ही *सुशीलाः साधवः* (अच्छे आचरण वाले साधु पुरुष) हों, किन्तु इसमें सन्देह ही है कि वास्तव में वे प्रगति कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भक्तिमार्ग स्वीकार नहीं किया है। दूसरी ओर, जो लोग आचार्यों के मार्ग का अनुसरण करते हैं वे *सुशीलाः* तथा *साधवः* हैं। किन्तु इतना ही नहीं, उनका मार्ग *अकुतोभयः* है अर्थात् वह भय से रहित हैं। मनुष्य को चाहिए कि निर्भय होकर बारह महाजनों तथा उनकी परम्परा का अनुगमन करे और माया के पाश से मुक्त हो ले।

**प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।**

**न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥ १८ ॥**

शब्दार्थ

प्रायश्चित्तानि—प्रायश्चित्त की विधियाँ; चीर्णानि—अच्छे ढंग से सम्पन्न; नारायण-पराङ्मुखम्—अभक्त; न निष्पुनन्ति—पवित्र नहीं कर सकतीं; राजेन्द्र—हे राजन्; सुरा-कुम्भम्—शराब से भरा पात्र; इव—सदृश; आप-गाः—नदियों का जल।

**हे राजन्! जिस तरह सुरा से सने हुए पात्र को अनेक नदियों के जल से धोने पर भी शुद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह अभक्तों को प्रायश्चित्त की विधियों से शुद्ध नहीं बनाया जा सकता, भले ही वे उन्हें बहुत अच्छी तरह से सम्पन्न क्यों न करें।**

**तात्पर्य :** प्रायश्चित्त की विधियों से लाभ उठाने के लिए मनुष्य को थोड़ा-बहुत निष्ठावान तो होना ही चाहिए, अन्यथा उसके शुद्ध होने की सम्भावना नहीं रहती। इस श्लोक में स्पष्ट है कि वे लोग जो कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का लाभ उठाते हैं, किन्तु किञ्चित् भी भक्ति नहीं करते इन अन्य मार्गों का अनुसरण करने-मात्र से शुद्ध नहीं किये जा सकते। *प्रायश्चित्तानि* शब्द *कर्मकाण्ड* तथा *ज्ञानकाण्ड* दोनों को ही सूचित करने के लिए बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड*। इस तरह वे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के मार्गों की उपमा विष के पात्रों से देते हैं। सुरा तथा विष एक ही कोटि में आते हैं। *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक के अनुसार, जिस व्यक्ति ने भक्तिमार्ग के बारे में काफी सुन रखा है, किन्तु जो उसमें अनुरक्त नहीं है, जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह सुरा के पात्र के तुल्य है। ऐसा व्यक्ति भक्ति के रंच मात्र स्पर्श के बिना शुद्ध नहीं किया जा सकता।

**सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्**
**निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।**
**न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्**
**स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

सकृत्—केवल एक बार; मनः—मन; कृष्ण-पद-अरविन्दयोः—कृष्ण के दो चरणकमलों के प्रति; निवेशितम्—पूर्ण शरणागत; तत्—कृष्ण का; गुण-रागि—जो गुण, नाम, यश तथा साज-सामग्री के प्रति कुछ-कुछ अनुरक्त रहता है; यैः—जिनके द्वारा; इह—इस जगत में; न—नहीं; ते—ऐसे पुरुष; यमम्—मृत्यु के अधिष्ठाता यमराज को; पाश-भृतः—

( पापी पुरुषों को पकड़ने के लिए ) रस्सी ( पाश ) रखने वाले; च—तथा; तत्—उसके; भटान्—आदेश वाहकों या दूतों को; स्वप्ने अपि—स्वप्न में भी; पश्यन्ति—देखते हैं; हि—निस्सन्देह; चीर्ण-निष्कृताः—सही प्रायश्चित्त करने वाले।

**यद्यपि जिन पुरुषों ने कृष्ण का पूर्ण साक्षात्कार नहीं किया है, तो भी यदि एक बार भी उनके चरणकमलों की पूर्णरूपेण शरण ग्रहण कर ली है और जो उनके नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं से आकृष्ट हो चुके हैं, वे सारे पापकर्मों से पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि इस तरह उन्होंने प्रायश्चित्त की सही विधि को स्वीकार किया है। ऐसे शरणागत व्यक्तियों को यमराज या उनके दूत, जो कि पापी को बाँधने के लिए रस्सियाँ लिए रहते हैं, स्वप्न में भी दिखाई नहीं पड़ते।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (१८.६६) में कृष्ण कहते हैं—

*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*

*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥*

"समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।" यहाँ पर इसी सिद्धान्त का वर्णन हुआ है (*सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोः*)। यदि *भगवद्गीता* का अध्ययन करके कोई कृष्ण की शरण ग्रहण करने का निश्चय करता है, तो वह तुरन्त ही सारे पाप-फलों से मुक्त हो जाता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि शुकदेव गोस्वामी *वासुदेव परायण* तथा *नारायणपरायण* शब्दों का कई बार प्रयोग करने के बाद अन्त में *कृष्णपदारविन्दयोः* कहते हैं। इस तरह वे इंगित करते हैं कि नारायण तथा वासुदेव दोनों ही के उद्गम कृष्ण हैं। यद्यपि नारायण तथा वासुदेव कृष्ण से भिन्न नहीं हैं, किन्तु एकमात्र कृष्ण की शरण में जाने से मनुष्य उनके सारे अंशों—यथा नारायण, वासुदेव तथा गोविन्द—को पूर्णतया समर्पित हो जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.७) में कृष्ण कहते हैं—*मत्तः परतरम् नान्यत्*—मुझसे बढ़कर कोई सत्य नहीं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अनेक नाम तथा रूप हैं, किन्तु कृष्ण परम रूप हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। इसलिए कृष्ण नए भक्तों के लिए संस्तुति करते हैं कि वे एकमात्र उन्हीं की शरण में आयें (*माम् एकम्*)। चूँकि नए भक्त यह नहीं समझ सकते कि

नारायण, वासुदेव तथा गोविन्द रूप क्या हैं, इसलिए कृष्ण प्रत्यक्ष कहते हैं *मामेकम्*। यहाँ पर इसका समर्थन *कृष्णपदारविन्दयोः* शब्द से भी होता है। नारायण स्वयं नहीं बोलते, किन्तु कृष्ण या वासुदेव बोलते हैं—*भगवद्गीता* इसका उदाहरण है। अतएव *भगवद्गीता* के निर्देश का पालन करने का अर्थ है कृष्ण की शरण ग्रहण करना। और इस तरह से शरण ग्रहण करना ही भक्तियोग की सर्वोच्च सिद्धि है।

परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा था कि मनुष्य को नारकीय जीवन की विविध दशाओं में गिरने से किस तरह बचाया जा सकता है। इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी यह उत्तर देते हैं कि जिस आत्मा ने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है, वह नरक नहीं जा सकता। वहाँ जाने की बात दूर, वह अपने स्वप्नों में भी न तो यमराज को, न ही उनके दूतों को, जो मनुष्य को ले जाने में समर्थ हैं, देखता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई नरक में गिरने से अपने को बचाना चाहता है, तो उसे पूरी तरह से कृष्ण की शरण में जाना चाहिए। *सकृत* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि यदि कोई निष्ठापूर्वक एक बार भी कृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो वह बचा लिया जाता है, भले ही पापकर्म करने के कारण संयोगवश वह नीचे गिर रहा हो। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.३०) में कृष्ण कहते हैं—

*अपिचेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यमा।*
*साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥*

"यदि कोई जघन्यतम कर्म भी करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह समुचित विधि से अवस्थित हो गया है।" यदि मनुष्य क्षण-भर के लिए भी कृष्ण को नहीं भूलता तो वह सुरक्षित है, चाहे वह पापकर्म करने से संयोगवश नीचे क्यों न गिर गया हो।

*भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय (२.४०) में भगवान् यह भी कहते हैं—

*नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।*

*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥*

''इस प्रयास में न तो हानि होती है, न ही ह्रास, अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर सकती है।''

*गीता* में अन्यत्र (६.४०) भगवान् कहते हैं—*न हि कल्याणकृत कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति*—जो व्यक्ति शुभकार्य करता है, वह कभी बुराई से परास्त नहीं होता। सर्वोच्च कल्याण (शुभ कार्य) तो कृष्ण की शरण में जाना है। नारकीय जीवन में गिरने से अपने को बचाने का यही एकमात्र मार्ग है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने इसकी पुष्टि इस प्रकार से की है—

*कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकापुष्पायते*

*दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खात दंष्ट्रायते।*

*विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते*

*यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः॥*

जिस व्यक्ति ने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है उसके पापकर्मों की उपमा उस सर्प से दी गई है, जिसके विषदन्त निकाल दिये गये हैं (*प्रोत्खात दंष्ट्रायते*)। ऐसे सर्प से आगे कोई डर नहीं रहता। वस्तुतः, मनुष्य को कृष्ण की शरण ग्रहण करने के बलबूते पर पापकर्म नहीं करने चाहिए। किन्तु यदि कृष्ण के शरणागत हुआ कोई व्यक्ति अपनी पुरानी आदतों के कारण कोई पापकर्म कर बैठता है, तो ऐसे पापकर्मों का कोई विनाशकारी प्रभाव नहीं होता। इसलिए मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों में दृढ़ता से लग जाना चाहिए और गुरुजनों के निर्देशन में उनकी सेवा करनी चाहिए। इस तरह वह सभी परिस्थितियों में *अकुतोभय* अर्थात् भय से रहित होगा।

**अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।**
**दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे ॥ २० ॥**

### शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; च—भी; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—यह; इतिहासम्—( अजामिल का ) इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; दूतानाम्—दूतों का; विष्णु—भगवान् विष्णु के; यमयोः—तथा यमराज के; संवादः—बातचीत; तम्—उसको; निबोध—समझने का प्रयास करो; मे—मुझसे।.

**इस सम्बन्ध में विद्वान जन तथा सन्त पुरुष एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक घटना का वर्णन करते हैं जिसमें भगवान् विष्णु तथा यमराज के दूतों के बीच संवाद हआ था। कृपा करके इसे मुझसे सुनिये।**

**तात्पर्य :** कभी-कभी उन मूर्खों द्वारा पुराणों या पुरातन इतिहास की उपेक्षा की जाती है, जो उनके विवरणों को काल्पनिक मानते हैं। वस्तुतः पुराण अथवा ब्रह्माण्ड के प्राचीन इतिहास कालक्रमानुसार न होते हुए भी तथ्यात्मक हैं। पुराण उन मुख्य घटनाओं को अंकित करते हैं, जो लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व न केवल इस लोक में, अपितु ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में घटित हुई हैं। इसलिए सारे विद्वान तथा अनुभवी वैदिक पंडित पुराणों की घटनाओं का सन्दर्भ देकर बात कहते हैं। श्रील रूप गोस्वामी पुराणों को वेदों के ही समान महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में वे *ब्रह्म यामल* का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

*श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।*
*ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥*

"ऐसी भगवद्भक्ति जो उपनिषदों, पुराणों तथा नारद पञ्चरात्र जैसे प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों की अवज्ञा करती है, समाज में अनावश्यक उत्पात है।" कृष्णभक्त को न केवल वेदों का, अपितु पुराणों का भी सन्दर्भ देना चाहिए। पुराणों को मूर्खतावश काल्पनिक नहीं मानना चाहिए। यदि वे काल्पनिक होते तो शुकदेव गोस्वामी अजामिल के जीवन से सम्बद्ध प्राचीन ऐतिहासिक घटना को सुनाने का कष्ट न उठाते। अब यह इतिहास निम्नवत् प्रारम्भ होता है।

**कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः ।**
**नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥ २१ ॥**

**शब्दार्थ**

कान्य-कुब्जे—कान्यकुब्ज नगर में ( कानपुर के निकट का नगर कन्नौज ); द्विजः—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; दासी-पतिः—निम्न श्रेणी की स्त्री या वेश्या का पति; अजामिलः—अजामिल; नाम्ना—नामक; नष्ट-सत्-आचारः—जो अपने सारे ब्राह्मण-गुणों को खो चुका था; दास्याः—दासी या वेश्या की; संसर्ग-दूषितः—संगति से दूषित।

**कान्यकुब्ज नामक नगर में अजामिल नाम का एक ब्राह्मण था, जिसने एक वेश्या दासी से विवाह करके उस निम्न श्रेणी की स्त्री की संगति के कारण अपने सारे ब्राह्मण-गुण खो दिये।**

**तात्पर्य :** स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध होने का दोष यह है कि इससे सारे ब्राह्मण-गुण जाते रहते हैं। भारत में अब भी दासों की एक श्रेणी है, जो शूद्र कहलाती है, जिनकी दासी पत्नियाँ शूद्राणियाँ कहलाती हैं। कभी-कभी ऐसे लोग, जो अत्यधिक कामुक होते हैं, ऐसी दासियों तथा झाड़ू देने वाली स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, क्योंकि समाज के उच्चतर तबकों में वे स्त्री-आखेट की आदत में लिप्त नहीं हो सकते, क्योंकि सामाजिक परम्परा के अनुसार इसका कड़ाई से निषेध है। अजामिल नामके एक सुयोग्य ब्राह्मण-युवा ने एक वेश्या की संगति के कारण अपने सारे ब्राह्मण-गुण गँवा दिये, किन्तु अन्ततोगत्वा उसे बचा लिया गया, क्योंकि उसने भक्तियोग की विधि शुरू कर दी थी। इसीलिए पिछले श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने ऐसे व्यक्ति के विषय में कहा है, जिसने केवल एक बार भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण किया हो (*मनः कृष्णपदारविन्दयोः*) या जिसने भक्तियोग विधि अभी-अभी शुरू की हो। भक्तियोग की शुरूआत *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* से अर्थात् भगवान् विष्णु के नाम के श्रवण तथा कीर्तन से होती है जैसाकि महामंत्र—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—में है। कीर्तन भक्तियोग की शुरुआत है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु घोषित करते हैं—

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।*

*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥*

"कलह तथा पाखण्ड के इस युग में उद्धार का एकमात्र उपाय भगवन्नाम का कीर्तन है। इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य कोई उपाय नहीं है।" भगवन्नाम

के कीर्तन की विधि सदैव अतीव प्रभावशाली है, किन्तु इस कलियुग में यह विशेष रूप से प्रभावशाली है। इसकी व्यावहारिक प्रभावशीलता की व्याख्या अब शुकदेव गोस्वामी द्वारा अजामिल के इतिहास के माध्यम से की जायेगी, जिसे यमदूतों के हाथों से इसीलिए छुड़ाया गया कि उसने नारायण के नाम का उच्चारण किया था। परीक्षित महाराज का मूल प्रश्न था कि नरक में गिरने से या यमदूतों के हाथों में गिरने से कैसे बचा जा सकता है। इसके उत्तर में शुकदेव गोस्वामी भक्तियोग की शक्ति के विषय में परीक्षित महाराज को आश्वस्त करने के लिए यह प्राचीन ऐतिहासिक उदाहरण दे रहे हैं, जिसकी शुरुआत केवल भगवन्नाम के उच्चारण करने से होती है। भक्तियोग के सारे बड़े बड़े अधिकारी कृष्णनाम के कीर्तन से प्रारम्भ होने वाली भक्ति विधि की संस्तुति करते हैं (*तन्नामग्रहणादिभिः*)।

**बन्द्यक्षैः कैतवैश्चौर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः ।**
**बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः ॥ २२॥**

### शब्दार्थ

बन्दी-अक्षैः—व्यर्थ ही बन्दी बनाकर; कैतवैः—जुआ खेलने या पासा फेंकने में धोखा देकर; चौर्यैः—चोरी करके; गर्हिताम्—निन्दनीय; वृत्तिम्—पेशों में; आस्थितः—जिसने अपना रखा है (वेश्या की संगति के कारण); बिभ्रत्—पालन करते हुए; कुटुम्बम्—आश्रित पत्नी तथा बच्चों को; अशुचिः—अत्यन्त पापी होने से; यातयाम् आस—कष्ट पहुँचाता था; देहिनः—अन्य जीवों को।

**यह पतित ब्राह्मण अजामिल अन्यों को बन्दी बनाकर उन्हें जुए में धोखा देकर या सीधे उन्हें लूट कर कष्ट पहुँचाता था। इस तरह से वह अपनी जीविका चलाता था और अपनी पत्नी तथा बच्चों का भरण-पोषण करता था।**

**तात्पर्य :** यह श्लोक संकेत करता है कि वेश्या के साथ अवैध यौन में लिप्त रहने से ही मनुष्य कितना पतित हो जाता है। सती या उच्चकुलीन स्त्री के साथ अवैध यौन सम्भव नहीं, ऐसा केवल कुल्टा शुद्र स्त्रियों के साथ सम्भव है। समाज वेश्यावृत्ति तथा अवैध यौन की जितनी अधिक अनुमति देता है, उतना ही अधिक प्रोत्साहन ठगों, चोरों, लुटेरों, शराबियों तथा जुआ खेलने वालों

को मिलता है। इसलिए हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सारे शिष्यों को सर्वप्रथम अवैध यौन से बचने की सलाह देते हैं, क्योंकि यह घृणित जीवन की शुरुआत है, जिसके बाद मांसाहार, जुआ खेलना तथा नशा करना क्रमश: एक के बाद एक आते हैं। वस्तुत:, इन पर रोक बहुत कठिन है, किन्तु यदि पूर्णतया कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली जाये तो यह सम्भव है, क्योंकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए ये गर्हित आदतें धीरे-धीरे अरुचिकर बन जाती हैं। किन्तु यदि समाज में अवैध यौन के बढ़ाने की छूट दे दी जाये तो सारा समाज घृणास्पद बन जायेगा, क्योंकि तब यह धूर्तों, चोरों, ठगों इत्यादि से भर जायेगा।

**एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान् ।**
**कालोऽत्यगान्महान्राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः ॥ २३॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; निवसतः—रहते हुए; तस्य—उस ( अजामिल ) के; लालयानस्य—पालन-पोषण का; तत्—उस ( शूद्राणी ) के; सुतान्—पुत्रों को; कालः—समय; अत्यगात्—बीत गया; महान्—पर्याप्त; राजन्—हे राजा; अष्टाशीत्या—अट्ठासी; आयुषः—आयु के; समाः—वर्ष।

**हे राजन्! इस तरह अनेक पुत्रों वाले अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए घृणास्पद पापपूर्ण कार्यों में अपना जीवन बिताते हुए उसके जीवन के अट्ठासी वर्ष बीत गये।**

**तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः ।**
**बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

तस्य—उस ( अजामिल ) का; प्रवयसः—अत्यन्त वृद्ध; पुत्राः—पुत्र; दश—दस; तेषाम्—उनमें से; तु—लेकिन; यः—एक जो; अवमः—सबसे छोटा; बालः—बालक; नारायणः—नारायण; नाम्ना—नाम वाला; पित्रोः—माता-पिता का; च—तथा; दयितः—प्रिय; भृशम्—अत्यधिक।

**उस वृद्ध अजामिल के दस पुत्र थे, जिनमें से सबसे छोटे का नाम नारायण था। चूँकि नारायण सबसे छोटा पुत्र था, अतः स्वाभाविक है कि वह अपने पिता तथा माता दोनों का ही अत्यन्त लाड़ला था।**

**तात्पर्य :** *प्रवयस:* शब्द अजामिल के पापाचार का सूचक है, क्योंकि अट्ठासी वर्ष का होते

हुए भी उसके एक नन्हा सा पुत्र था। वैदिक संस्कृति के अनुसार ज्योंही मनुष्य पचास वर्ष की आयु प्राप्त कर ले उसे घर का त्याग कर देना चाहिए। उसे घर पर रहकर बच्चे पैदा नहीं करते रहना चाहिए। यौन जीवन की छूट पच्चीस-वर्षों तक अर्थात् पच्चीस से पैंतालीस या अधिक से अधिक पचास वर्ष की आयु के बीच, के लिए, है। इसके बाद यौन जीवन की आदत त्याग देनी चाहिए और तब *वानप्रस्थ* के रूप में घर छोड़कर उचित रीति से संन्यास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु वेश्या की संगति के कारण अजामिल ने अपनी सारी ब्राह्मण-संस्कृति खो दी थी और वह अपने तथाकथित गृहस्थ जीवन में भी अत्यन्त पापी बन चुका था।

**स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।**
**निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥ २५ ॥**

**शब्दार्थ**

**सः**—वह; **बद्ध-हृदयः**—अत्यधिक लिप्त; **तस्मिन्**—उस; **अर्भके**—छोटे बच्चे के प्रति; **कल-भाषिणि**—तोतली भाषा में बोलने वाला; **निरीक्षमाणः**—देखते हुए; **तत्**—उसकी; **लीलाम्**—क्रीड़ाएँ ( यथा चलना तथा पिता से बातें करना ); **मुमुदे**—आनन्द लेता; **जरठः**—वृद्ध व्यक्ति; **भृशम्**—अत्यधिक।

**बालक की तोतली भाषा तथा लड़खड़ाती चाल से वृद्ध अजामिल उसके प्रति अत्यधिक अनुरक्त था। वह उस बालक की देखरेख करता तथा उसकी क्रीड़ाओं का आनन्द लेता।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि बालक नारायण इतना छोटा था कि वह न तो ठीक से बोल पाता था, न चल पाता था। चूँकि वह वृद्ध व्यक्ति उस बच्चे से अत्यधिक लिप्त था, अत: वह बच्चे की क्रीड़ाओं से आनन्दित होता था और चूँकि बालक का नाम नारायण था, अत: वह वृद्ध व्यक्ति सदैव नारायण के नाम का उच्चारण करता रहता था। यद्यपि वह आदि नारायण को नहीं, बल्कि उस छोटे बालक को पुकारता था, किन्तु नारायण नाम इतना शक्तिशाली है कि अपने बालक का नाम पुकारने पर भी वह शुद्ध बनता जा रहा था ( *हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*)। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने घोषणा की है कि यदि मन किसी तरह से भी कृष्ण के नाम के

प्रति आकृष्ट हो जाये (*तस्मात् केनाप्युपायेन मन: कृष्णे निवेशयेत्*), तो वह मुक्ति के मार्ग पर होता है। हिन्दू समाज में यह प्रथा है कि माता पिता अपने बच्चों के नाम कृष्णदास, गोविन्द दास, नारायण दास तथा वृन्दावन दास आदि रखते हैं। इस तरह वे कृष्ण, गोविन्द, नारायण तथा वृन्दावन के नामों का उच्चारण करते हैं और शुद्ध होने का अवसर प्राप्त करते हैं।

**भुञ्जानः प्रपिबन्खादन्बालकं स्नेहयन्त्रितः ।**
**भोजयन्पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

भुञ्जानः—खाते समय; प्रपिबन्—पीते हुए; खादन्—चबाते हुए; बालकम्—बालक को; स्नेह-यन्त्रितः—स्नेह द्वारा बँधा हुआ; भोजयन्—खिलाते हुए; पाययन्—पीने के लिए कुछ देते हुए; मूढः—मूर्ख व्यक्ति; न—नहीं; वेद—जान पाया; आगतम्—आ गयी है; अन्तकम्—मृत्यु।

**जब अजामिल भोजन करता तो वह बालक को खाने के लिए पुकारता और जब वह कुछ पीता तो उसे भी पीने के लिए बुलाता। उस बालक की देखरेख करने तथा उसका नाम पुकारने में सदा लगा रहकर अजामिल यह न समझ पाया कि उसका समय अब समाप्त हो चुका है और मृत्यु उसके सिर पर है।**

**तात्पर्य :** पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् बद्धजीव पर दयालु रहते हैं। यद्यपि यह व्यक्ति नारायण को पूरी तरह भूल चुका था, किन्तु अपने बच्चे को यह कहकर पुकारता रहता, ''नारायण! आकर भोजन कर लो। नारायण! आकर यह दूध पी लो।'' इसलिए वह किसी न किसी रूप में नारायण के नाम से जुड़ा रहा था। यह *अज्ञात-सुकृति* कहलाता है। यद्यपि वह पुकारता अपने पुत्र को था, किन्तु अनजाने में वह नारायण का नाम लेता था और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पवित्र नाम अलौकिक स्तर पर इतना शक्तिशाली है कि उसका वह पुकारना कीर्तन करना माना जा रहा था।

**स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते ।**
**मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥ २७॥**

### शब्दार्थ

सः—वह अजामिल; एवम्—इस प्रकार; वर्तमानः—जीवित; अज्ञः—मूर्ख; मृत्यु-काले—जब मृत्यु का समय; उपस्थिते—आ गया; मतिम् चकार—अपना मन एकाग्र किया; तनये—अपने पुत्र पर; बाले—बालक; नारायण-आह्वये—जिसका नाम नारायण था।

**जब मूर्ख अजामिल की मृत्यु का समय आ गया तो वह एकमात्र अपने पुत्र नारायण के विषय में सोचने लगा।**

**तात्पर्य :** *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध (२.१.६) में शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

*एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।*

*जन्मलाभ: पर: पुंसाम् अन्ते नारायणस्मृति: ॥*

"पदार्थ तथा आत्मा के पूर्ण ज्ञान, योग शक्ति की उपलब्धि या अपने वृत्तिपरक कर्तव्य की सम्पन्नता द्वारा प्राप्त, मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि जीवन के अन्त समय भगवान् के नाम का स्मरण करना है।" जैसे भी हो, अजामिल ने जाने-अनजाने मृत्यु के समय नारायण नाम का उच्चारण किया (*अन्ते नारायण स्मृति:*), अत: नारायण के नाम पर अपने मन को एकाग्र करने मात्र से वह परम पूर्ण बन गया।

इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अजामिल, जोकि ब्राह्मण पुत्र था, अपनी युवावस्था में नारायण की पूजा करने का अभ्यस्त था, क्योंकि प्रत्येक ब्राह्मण के घर में *नारायण-शिला* की पूजा होती है। आज भी यह प्रथा भारत में विद्यमान है। कट्टर ब्राह्मण के घर में *नारायण-सेवा* की जाती है। यद्यपि दूषित अजामिल अपने पुत्र को पुकारता था, किन्तु नारायण के पवित्र नाम पर अपने मन को एकाग्र करने से वह उन नारायण का स्मरण करता जिनकी पूजा उसने युवावस्था में बड़ी ही श्रद्धापूर्वक की थी।

इस सन्दर्भ में श्रील श्रीधर स्वामी ने अपने निर्णय को इस प्रकार व्यक्त किया है—*एतच्च तदुपलालनादिश्रीनारायणनामोच्चारणमाहात्म्येन तद्भक्तिरेवाभूदिति सिद्धान्तोपयोगित्वेनापि द्रष्टव्यम्*—"भक्ति सिद्धान्त के अनुसार यह विश्लेषण किया जा सकता है कि चूँकि अजामिल अपने पुत्र नारायण के नाम का निरन्तर उच्चारण करता था, इसलिए वह भक्ति न जानते हुए भी

भक्ति पद को प्राप्त हुआ।'' इसी तरह श्रील वीरराघव आचार्य यह मत व्यक्त करते हैं—*एवं वर्तमान: स द्विज: मृत्युकाले उपस्थिते सत्यज्ञो नारायणाख्ये पुत्र एव मतिं चकार मतिम् आसक्ताम् अकरोदित्यर्थ:*—''यद्यपि मृत्यु के समय वह अपने पुत्र के नाम का उच्चारण कर रहा था फिर भी वह अपने मन को नारायण के पवित्र नाम पर एकाग्र किये हुए था।'' श्री विजयध्वज तीर्थ ने ऐसा ही मत व्यक्त किया है—*मृत्युकाले देहवियोगलक्षणकाले मृत्यो: सर्वदोषपापहरस्य हरेरनुग्रहात् काले दत्तज्ञानलक्षणे उपस्थिते हृदि प्रकाशिते तनये पूर्णज्ञाने बाले पञ्चवर्षकल्पे प्रादेशमात्रे नारायणाह्वये मूर्तिविशेषे मतिं स्मरणसमर्थं चित्तं चकार भक्तयास्मरदित्यर्थ:।*

वस्तुत: अजामिल ने मृत्यु के समय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से नारायण का स्मरण किया (*अन्ते नारायणस्मृति:*)

**स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषानतिदारुणान् ।**
**वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥ २८ ॥**
**दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम् ।**
**प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रिय: ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

स:—वह व्यक्ति (अजामिल); पाश-हस्तान्—उनके हाथों में रस्सियाँ लिए; त्रीन्—तीन; दृष्ट्वा—देखकर; पुरुषान्—पुरुषों को; अति-दारुणान्—अत्यन्त भयावह सूरत वाले; वक्र-तुण्डान्—टेढ़े मुखों वाले; ऊर्ध्व-रोम्ण:—खड़े रोमों वाले; आत्मानम्—स्वयं को; नेतुम्—ले जाने के लिए; आगतान्—आये हुए; दूरे—थोड़ी दूरी पर; क्रीडनक-आसक्तम्—खेल में लगे; पुत्रम्—पुत्र को; नारायण-आह्वयम्—नारायण नाम के; प्लावितेन—अश्रुपूर्ण नेत्रों से; स्वरेण—वाणी से; उच्चै:—अत्यन्त ऊँची; आजुहाव—पुकारा; आकुल-इन्द्रिय:—चिन्ता से पूरित होकर।

**तब अजामिल ने तीन भयावह व्यक्तियों को देखा जिनके शरीर वक्र, भयानक और मुख टेढ़े थे तथा शरीर पर रोम खड़े हुए थे। वे अपने हाथों में रस्सियाँ लिए हुए उसे यमराज के धाम ले जाने के लिए आये थे। जब उसने उन्हें देखा तो वह अत्यधिक विमोहित था और कुछ दूर पर खेल रहे अपने बच्चे के प्रति आसक्ति के कारण अजामिल उसका नाम लेकर जोर- जोर से पुकारने लगा। इस तरह अपनी आँखों में आँसू भरे हुए किसी तरह से उसने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया।**

**तात्पर्य :** जो व्यक्ति पापकर्म करता है, वह अपने शरीर, मन तथा वाणी से करता है। अतएव अजामिल को यमराज के धाम ले जाने के लिए यमराज के तीन दूत आये। सौभाग्यवश, यद्यपि अजामिल अपने पुत्र का नाम ले रहा था, किन्तु उसने *हरिनाम* नारायण के चार अक्षरों का उच्चारण किया, इसलिए नारायण के दूत, विष्णुदूत, भी तुरन्त वहाँ आ गये। चूँकि अजामिल यमराज की रस्सियों से अत्यधिक भयभीत था, अतएव उसने अश्रुपूरित नेत्रों से भगवान् के नाम का उच्चारण किया। किन्तु वास्तव में उसका मन्तव्य नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण करना न था। वह तो अपने पुत्र को पुकार रहा था।

**निशम्य म्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्तनम् ।**
**भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन् ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; म्रियमाणस्य—मरणासन्न व्यक्ति के; मुखतः—मुख से; हरि-कीर्तनम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन; भर्तुः नाम—अपने स्वामी का पवित्र नाम; महा-राज—हे राजा; पार्षदाः—विष्णु के दूत; सहसा—तुरन्त; आपतन्—आ गये।

**हे राजन्! जब विष्णुदूतों ने मरणासन्न अजामिल के मुख से अपने स्वामी के पवित्र नाम को सुना, जिसने निश्चित ही पूर्ण उद्विग्नता में निरपराध भाव से उच्चारण किया था, तो वे तुरन्त वहाँ आ गये।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि *हरिकीर्तनं निशम्यापतन्, कथम् भूतस्य भर्तुर्नाम ब्रुवतः*—विष्णु के दूत इसलिए आये, क्योंकि अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था। उन्होंने इस पर विचार नहीं किया कि वह क्यों उच्चारण कर रहा है। नारायण नाम का उच्चारण करते समय अजामिल वास्तव में अपने पुत्र के विषय में सोच रहा था, किन्तु विष्णुदूतों ने अजामिल को भगवन्नाम का कीर्तन करते सुना तो वे तुरन्त अजामिल की रक्षा हेतु आ गये। *हरिकीर्तन वस्तुतः* भगवान् के नाम, रूप, लीला तथा गुणों के गान के लिए होता है। किन्तु अजामिल ने भगवान् के रूप, गुण या साज-सामग्री का गुणगान नहीं किया था, उसने तो

पवित्र नाम का उच्चारण-मात्र किया था। फिर भी वह उच्चारण उसके सारे पापकर्मों को धो डालने के लिए पर्याप्त था। जैसे ही विष्णुदूतों ने अपने स्वामी के नाम का कीर्तन होते सुना, वे झट से आ गये। इस संदर्भ में श्रील विजयध्वज तीर्थ की टिप्पणी है—*अनेन पुत्रस्नेहम् अन्तरेण प्राचीनादृष्टबलाद् उद्‌भूतया भक्त्या भगवन्नामसङ्कीर्तन कृतम् इति ज्ञायते*—"अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन किया, क्योंकि वह अपने पुत्र के प्रति अत्यधिक आसक्त था। फिर भी अपने विगत सौभाग्य के कारण, क्योंकि उसने नारायण की भक्ति की थी, उसने पूर्ण भक्ति में तथा निरपराध भाव से पवित्र नाम का कीर्तन किया।"

**विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् ।**
**यमप्रेष्यान्विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥ ३१ ॥**

### शब्दार्थ

**विकर्षतः**—छीनते हुए; **अन्तः हृदयात्**—हृदय के भीतर से; **दासी-पतिम्**—वेश्या के पति; **अजामिलम्**—अजामिल को; **यम-प्रेष्यान्**—यमराज के दूतों को; **विष्णु-दूताः**—विष्णु के दूतों ने; **वारयाम् आसुः**—मना किया; **ओजसा**—गूंजती वाणी में।.

**यमराज के दूत वेश्यापति अजामिल के हृदय के भीतर से आत्मा को खींच रहे थे, किन्तु भगवान् विष्णु के दूतों ने गूंजती वाणी में उन्हें ऐसा करने से मना किया।**

**तात्पर्य :** एक वैष्णव अर्थात् उस व्यक्ति की, जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले ली है, विष्णुदूतों के द्वारा सदैव रक्षा की जाती है। चूँकि अजामिल ने नारायण के नाम का उच्चारण किया था, अतएव विष्णुदूत न केवल उस स्थान पर तुरन्त आ गये, अपितु उन्होंने यमदूतों को तुरन्त आदेश दिया कि वे उसको हुएँ भी नहीं। गरजती वाणी में बोलते हुए विष्णुदूतों ने यमदूतों को यह धमकी दी कि यदि वे अजामिल की आत्मा को उसके हृदय से सींचना जारी रखा, तो वे दण्डित होंगे। यमराज के दूतों का कार्यक्षेत्र सभी पापी जीवों तक ही व्याप्त है, किन्तु विष्णुदूत किसी को भी दण्ड देने में सक्षम हैं, जिसमें यमराज भी सम्मिलित हैं, यदि वह किसी वैष्णव के साथ बुरा करें।

भौतिकतावादी विज्ञानी यह नहीं जानते कि वे अपने भौतिक यंत्रों के द्वारा शरीर के भीतर आत्मा की खोज कहाँ करें, किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा हृदय के भीतर होता है। यमदूत अजामिल की आत्मा हृदय के भीतर से निकाल रहे थे। इसी तरह हम यह जान पाते हैं कि परमात्मा विष्णु भी हृदय के भीतर स्थित हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। उपनिषदों में कहा गया है कि परमात्मा तथा आत्मा दोनों ही शरीर रूपी एक ही वृक्ष में दो मित्र पक्षियों के रूप में रहते हैं। परमात्मा मित्रवत् कहे जाते हैं, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् आदि आत्मा पर इतने दयालु हैं कि जब यह आदि आत्मा एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करता है, तो भगवान् उसके साथ-साथ जाते हैं। यही नहीं, व्यष्टि आत्मा की इच्छा तथा कर्म के अनुसार भगवान् माया के माध्यम से उसके लिए दूसरा शरीर उत्पन्न करते हैं।

शरीर का हृदय एक यांत्रिक व्यवस्था है। *भगवद्गीता* (१८.६१) में भगवान् कहते हैं—

*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।*

*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥*

''हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और वे भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र में सवार की भाँति बैठे समस्त जीवों को अपनी माया से घुमा (भरमा) रहे हैं।'' *यन्त्र* का अर्थ है मशीन—यथा स्वतोचालित मशीन। शरीररूपी यंत्र का चालक व्यष्टि आत्मा है, जो इसका निर्देशक या स्वामी भी है, किन्तु परम स्वामी तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं। मनुष्य का शरीर माया के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है (*कर्मणा दैवनेत्रेण*) और इस जीवन के कर्मों के अनुसार दूसरा यंत्र उत्पन्न किया जाता है और वह भी दैवी माया के निरीक्षण में (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*)। उपयुक्त समय पर मनुष्य के अगले शरीर का तत्काल चुनाव किया जाता है और व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही उस शरीर रूपी यंत्र में प्रवेश कर जाते हैं। यह देहान्तरण की विधि है। एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानन्तरण के समय यमराज के दूत आत्मा को निकाल कर उसे विशेष प्रकार के नारकीय जीवन में रखते हैं जिससे वह उस दशा में रहने का अभ्यस्त हो ले

जिसमें उसे अगले शरीर में रहना है।

**ऊचुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः ।**
**के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम् ॥ ३२॥**

शब्दार्थ

ऊचुः—उत्तर दिया; निषेधिताः—मना किये जाने पर; तान्—विष्णुदूतों को; ते—वे; वैवस्वत—यमराज के; पुरः-सराः—सहायक या दूत; के—कौन; यूयम्—तुम सब; प्रतिषेद्-धारः—कौन विरोध कर रहे हो; धर्म-राजस्य—धर्म के राजा, यमराज का; शासनम्—राज्य अधिकार क्षेत्र।

**जब सूर्य के पुत्र यमराज के दूतों को इस प्रकार मना किया गया तो उन्होंने कहा, ''महाशय! आप कौन हैं जिन्होंने यमराज के अधिकार-क्षेत्र को ललकारने की धृष्टता की है?**

**तात्पर्य :** अजामिल अपने पापकार्यों के अनुसार, यमराज के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था, क्योंकि यमराज को समस्त जीवों के पापों पर विचार करने के लिए परम न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त किया गया है। जब अजामिल को स्पर्श करने से यमराज के दूतों को रोका गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ, क्योंकि आज तक उन्हें तीनों लोकों में अपना कार्य करने में कभी किसी ने बाधा नहीं पहुँचाई थी।

**कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ ।**
**किं देवा उपदेवा या यूयं किं सिद्धसत्तमाः ॥ ३३॥**

शब्दार्थ

कस्य—किसके सेवक; वा—अथवा; कुतः—कहाँ से; आयाताः—तुम आये हो; कस्मात्—किस कारण से; अस्य—इस अजामिल का ( ले जाना ); निषेधथ—हम मना कर रहे हैं; किम्—क्या; देवाः—देवता; उपदेवाः—तथा उपदेवता; याः—जो; यूयम्—तुम सभी; किम्—क्या; सिद्ध-सत्-तमाः—सिद्धों या शुद्ध भक्तों में सर्वश्रेष्ठ।

**महाशयो! तुम किसके सेवक हो, कहाँ से आये हो और अजामिल का शरीर छूने से हमें क्यों मना कर रहे हो? क्या तुम लोग स्वर्गलोक के देवता हो, उपदेवता हो या कि सर्वश्रेष्ठ भक्तों में से कोई हो?**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में प्रयुक्त सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द *सिद्ध-सत्तमाः* है, जिसका अर्थ है

"सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ।" *भगवद्गीता* (७.३) में कहा गया है—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये:* लाखों पुरुषों में कोई एक सिद्ध—अथवा दूसरे शब्दों में स्वरूपसिद्ध बनने का प्रयास करता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जानता है कि वह शरीर नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। आजकल प्राय: सारे लोग इस तथ्य से अनजान हैं, किन्तु जो इसे समझता है, वह सिद्धि प्राप्त कर चुका होता है, अत: *सिद्ध* कहलाता है। जब मनुष्य समझता है कि वह सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा का भिन्नांश है और तब सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा की भक्ति में अपने को लगाता है, तो वह *सिद्ध-सत्तम* बन जाता है। तब वह वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक में रहने का पात्र बन जाता है। इस प्रकार 'सिद्ध-सत्तम' शब्द मुक्त शुद्ध भक्त को वर्णित करता है।

चूँकि यमदूत यमराज के सेवक हैं, जो कि स्वयं *सिद्धसत्तमों* में से एक हैं, अत: वे जान गये कि *सिद्ध सत्तम* देवताओं तथा उपदेवताओं से ऊपर है और इतना ही नहीं, इस जगत के सारे जीवों से ऊपर है। अतएव यमदूतों ने विष्णुदूतों से पूछा कि वे लोग उस स्थान पर कैसे उपस्थित हैं जहाँ एक पापी मनुष्य मरने वाला है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि अजामिल अभी मरा नहीं था, क्योंकि यमदूत उसके हृदय से आत्मा निकालने का प्रयास कर रहे थे, व आत्मा को निकाल नहीं सके थे, अतएव अजामिल अभी मरा नहीं था। इसका उद्घाटन बाद के श्लोकों में होगा। जब यमदूतों तथा विष्णुदूतों के मध्य वाद-विवाद चल रहा था, तो अजामिल अचेतन अवस्था में था। वाद-विवाद से इस बात का निर्णय होना था कि अजामिल की आत्मा पर किसका दावा होगा।

**सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः ।**
**किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः ॥ ३४॥**
**सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।**
**धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥ ३५॥**
**दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन तेजसा ।**

**किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान्नो निषेधथ ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ

सर्वे—आप सभी; पद्म-पलाश-अक्षाः—कमल के फूल की पंखड़ियों जैसी आँखों वाले; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वाससः—वस्त्र पहने हुए; किरीटिनः—मुकुट पहने; कुण्डलिनः—कान में कुंडल पहने; लसत्—चमचमाते; पुष्कर-मालिनः—कमल की माला पहने; सर्वे—आप सभी; च—भी; नूत्न-वयसः—अत्यन्त तरुण; सर्वे—आप सभी; चारु—अत्यन्त सुन्दर; चतुः-भुजाः—चार भुजाओं वाले; धनुः—धनुष; निषङ्ग—तरकस; असि—तलवार; गदा—गदा; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; अम्बुज—कमल का फूल; श्रियः—से सुशोभित; दिशः—सारी दिशाएँ; वितिमिर—अंधकाररहित; आलोकाः—असामान्य प्रकाश; कुर्वन्तः—प्रकट करते हुए; स्वेन—अपने; तेजसा—तेज से; किम् अर्थम्—क्या प्रयोजन है; धर्म-पालस्य—धर्म के पालनकर्ता यमराज के; किङ्करान्—सेवकों को; नः—हम; निषेधथ—मना कर रहे हो।

**यमदूतों ने कहा : आप सभी की आँखें कमल के फूल की पंखडियों के समान हैं। पीला रेशमी वस्त्र पहने, कमल की मालाओं से सुसज्जित तथा अपने सिरों में अत्यन्त आकर्षक मुकुट पहने एवं अपने कानों में कुंडल धारण किये तुम सभी नवयौवन से पूर्ण प्रतीत हो रहे हो। आप सभी की चार लम्बी भुजाएँ धनुष तथा तरकस, तलवार, गदा, शंख, चक्र तथा कमल के फूलों से अलंकृत हैं। आपके तेज ने इस स्थान के अंधकार को अपने असामान्य प्रकाश से भगा दिया है। तो महोदय आप हमें क्यों रोक रहे हैं?**

**तात्पर्य :** कोई मनुष्य किसी बाहरी व्यक्ति से परिचित कराये जाने के पहले ही उसकी वेशभूषा, शारीरिक बनावट तथा स्वभाव से परिचित हो जाता है और इस तरह उसकी स्थिति को समझ सकता है। अतः जब यमदूतों ने पहले पहल विष्णुदूतों को देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा "अपनी शारीरिक बनावट से तुम लोग अतीव भद्र पुरुष प्रतीत होते हो और तुममें ऐसी स्वर्गिक शक्ति है कि तुमने अपने तेज से इस भौतिक जगत का अंधकार मिटा दिया है। तो फिर आप हमें अपना कार्य करने से रोकने का प्रयास क्यों कर रहे हो?" आगे यह बतलाया जायेगा कि यमदूतों ने गलती से अजामिल को पापी मान लिया था। उन्हें यह ज्ञात न था कि यद्यपि वह अपने सारे जीवन भर पापी रहा, किन्तु नारायण के पवित्र नाम का निरन्तर उच्चारण करते रहने से वह शुद्ध हो चुका था। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई स्वयं वैष्णव न हो वह दूसरे वैष्णव के कार्यों को नहीं समझ सकता।

इन श्लोकों में वैकुण्ठलोक के निवासियों की वेशभूषा तथा शारीरिक बनावट का सही-सही

वर्णन हुआ है। वैकुण्ठ के निवासी मालाओं तथा पीले रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित रहते हैं और उनकी चार भुजाएँ होती हैं जिनमें वे विभिन्न शस्त्र धारण किये रहते हैं। इस तरह वे भगवान् विष्णु से अत्यधिक सादृश्य रखते हैं। उनकी शारीरिक बनावट (स्वरूप) नारायण जैसी ही होती है, क्योंकि उन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई रहती है। किन्तु फिर भी वे सेवकों का कार्य करते हैं। वैकुण्ठलोक के सारे निवासी यह जानते हैं कि उनके स्वामी नारायण अथवा कृष्ण हैं और वे सब उन्हीं के सेवक हैं। वे सभी स्वरूपसिद्ध आत्माएँ हैं, जो कि नित्यमुक्त हैं। यद्यपि वे अपने को प्रामाणिक रूप से नारायण या विष्णु घोषित कर सकते हैं, किन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। वे सदैव कृष्णभावनाभावित रहते हैं और अतीव श्रद्धापूर्वक भगवान् की सेवा करते हैं। वैकुण्ठ लोक का वातावरण ऐसा है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के माध्यम से भगवान् कृष्ण की श्रद्धापूर्ण सेवा करना सीख जाता है, वह सदैव वैकुण्ठलोक में रहता है। उसे भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

**श्रीशुक उवाच**

**इत्युक्ते यमदूतैस्ते वासुदेवोक्तकारिणः ।**
**तान्प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्ह्रादया गिरा ॥ ३७॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्ते—कहे जाने पर; यमदूतैः—यमदूतों के द्वारा; ते—वे; वासुदेव-उक्त-कारिणः—भगवान् वासुदेव के आदेशों को पूरा करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहने वाले ( भगवान् विष्णु के निजी संगी जिन्हें सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो चुकी है ); तान्—उनको; प्रत्यूचुः—उत्तर दिया; प्रहस्य—हँसकर; इदम्—यह; मेघ-निर्ह्रादया—गरजने वाले बादल के समान गूँजती; गिरा—वाणी से।

**शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : यमराज के दूतों द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर वासुदेव के सेवक मुसकाये और उन्होंने गर्जना करते हुए बादलों की ध्वनि जैसी गम्भीर वाणी में निम्नलिखित शब्द कहे।**

**तात्पर्य :** यमदूतों को यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि विष्णुदूत शिष्ट होकर भी यमराज के शासन में बाधा पहुँचा रहे हैं। इसी तरह विष्णुदूत भी आश्चर्यचकित थे कि अपने को धर्म के परम

निर्णायक के सेवक होने का दावा करने वाले यमदूत धार्मिक कर्म के सिद्धान्तों से परिचित नहीं हैं। अत: यह सोचकर विष्णुदूत हँसने लगे, ''ये लोग यह क्या बकवास कर रहे हैं? यदि ये लोग सचमुच यमराज के सेवक हैं, तो इन्हें यह जानना चाहिए था कि अजामिल उनके द्वारा ले जाये जाने के लिए उपयुक्त पात्र नहीं है।''

**श्रीविष्णुदूता ऊचुः**
**यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः ।**
**ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्चाधर्मस्य लक्षणम् ॥ ३८ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-विष्णुदूताः ऊचुः—भगवान् विष्णु के अहोभाग्य दूतों ने कहा; यूयम्—तुम सभी; वै—निस्सन्देह; धर्म-राजस्य—धर्म के ज्ञाता यमराज के; यदि—यदि; निर्देश-कारिणः—आज्ञापालक; ब्रूत—तो कहो; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; नः—हमसे; तत्त्वम्—सत्य; यत्—जो; च—भी; अधर्मस्य—अधार्मिक कार्यों का; लक्षणम्—लक्षण।

**अहोभाग्य विष्णुदूतों ने कहा : यदि तुम लोग सचमुच ही यमराज के सेवक हो तो तुम्हें हमसे धार्मिक सिद्धान्तों के अर्थ तथा अधर्म के लक्षणों की व्याख्या करनी चाहिए।**

**तात्पर्य :** यमदूतों से विष्णुदूतों की यह जिज्ञासा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सेवक को अपने स्वामी के आदेशों को जानना चाहिए। यमराज के सेवक यमराज के दूत होने का दावा कर रहे थे, अत: विष्णुदूतों ने बहुत ही बुद्धिमानी से उनसे धर्म तथा अधर्म के लक्षणों की व्याख्या करने के लिए कहा। एक वैष्णव इन सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण जानता है, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के आदेशों से भलीभाँति अवगत होता है। परम भगवान् कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। इसलिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाना ही धर्म का वास्तविक सिद्धान्त है। जिन लोगों ने कृष्ण की शरण ग्रहण करने के बजाय भौतिक प्रकृति के सिद्धान्तों की शरण ले रखी है वे सब अपवित्र हैं, चाहे उनका भौतिक पद कुछ भी हो। वे धर्म के सिद्धान्तों से अनजान रहकर कृष्ण की शरण में नहीं जाते, अतएव वे पापी धूर्त, मनुष्यों में अधम तथा समस्त ज्ञान से विहीन मूर्ख समझे जाते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१५) में कृष्ण कहते हैं—

*न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा: ।*

*माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता: ॥*

"जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण करने वाले हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।" जिसने कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं की वह धर्म के असली सिद्धान्त को नहीं जानता, अन्यथा वह शरण ग्रहण कर चुका होता।

विष्णुदूतों द्वारा पूछा गया प्रश्न अति सटीक था। जो किसी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहा हो उसे उस व्यक्ति के मन्तव्य (मिशन) को जानना चाहिए। इसलिए कृष्णभावनामृत के भक्तों को कृष्ण तथा श्री चैतन्य महाप्रभु के मिशन से पूर्णतया अवगत होना चाहिए, अन्यथा वे मूर्ख समझे जायेंगे। सारे भक्तों, विशेषतया प्रचारकों को कृष्णभावनामृत का दर्शन जानना चाहिए, जिससे प्रचार करते समय उन्हें उलझन तथा अपमान न सहना पड़े।

**कथं स्विद्ध्रियते दण्ड: किं वास्य स्थानमीप्सितम् ।**
**दण्ड्या: किं कारिण: सर्वे आहो स्वित्कतिचिन्नृणाम् ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

कथम् स्वित्—किस साधन से; ध्रियते—लगाया जाता है; दण्ड:—दण्ड; किम्—क्या; वा—अथवा; अस्य—इसका; स्थानम्—स्थान; ईप्सितम्—वांछित; दण्ड्या:—दण्डनीय; किम्—क्या; कारिण:—सकाम कर्मी; सर्वे—समस्त; आहो स्वित्—अथवा कि; कतिचित्—कुछ; नृणाम्—मनुष्यों का।

**दूसरों को दण्ड देने की विधि क्या है? दण्ड के वास्तविक पात्र कौन हैं? क्या सकाम कर्मों में लगे सारे कर्मी दण्डनीय हैं या उनमें से केवल कुछ ही हैं?**

**तात्पर्य :** जिसके पास दूसरों को दण्ड देने का अधिकार हो उसे चाहिए कि हर किसी को दण्ड न दे। जीव तो असंख्य हैं जिनमें से अधिकांश आध्यात्मिक जगत में हैं और *नित्यमुक्त* हैं। इन मुक्त जीवों के विषय में निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। थोड़े से ही, शायद एक चौथाई, जीव भौतिक जगत में रहते हैं और भौतिक जगत के जीवों का प्रमुख अंग—८४,००,०००

जीवयोनियों में से ८० लाख जीव योनियाँ—तो मनुष्यों से निम्न हैं। ये जीव योनियाँ दण्डनीय नहीं हैं, क्योंकि प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत वे स्वत: विकास कर रही हैं। चेतना में उन्नत मनुष्य उत्तरदायी जीव हैं, किन्तु उनमें से सभी दण्डनीय नहीं हैं। जो लोग उच्च पवित्र कार्यों में लगे हैं, वे दण्ड से परे हैं। जो लोग पापकर्मों में लगे हुए हैं, वे ही दण्डनीय हैं। इसलिए विष्णुदूतों ने विशेष रूप से यह पूछा कि कौन दण्डनीय है और क्यों यमराज को यही भेदभाव करने के लिए नियुक्त किया गया है कि कौन दण्डनीय है और कौन नहीं है? किसी के विषय में किस तरह निर्णय किया जाये? अधिकार का मूल सिद्धान्त क्या है? विष्णुदूतों ने इन्हीं प्रश्नों को उठाया।

**यमदूता ऊचु:**
**वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय: ।**
**वेदो नारायण: साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ॥ ४० ॥**

### शब्दार्थ

यमदूता: ऊचु:—यमदूतों ने कहा; वेद—चारों वेदों (साम, यजु, ऋग तथा अथर्व) से; प्रणिहित:—स्वीकृत, संस्तुत; धर्म:—धार्मिक सिद्धान्त; हि—निस्सन्देह; अधर्म:—अधार्मिक सिद्धान्त; तत्-विपर्यय:—उसके विपरीत (जो वैदिक आदेशों द्वारा समर्थित नहीं है); वेद:—ज्ञान के ग्रन्थ, वेद; नारायण: साक्षात्—प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (नारायण के शब्द होने से); स्वयम्-भू:—स्वत: जन्मा, आत्मनिर्भर (नारायण की श्वास से प्रकट होने वाला तथा अन्य किसी से न सीखा हुआ); इति—इस प्रकार; शुश्रुम—हमने सुना है।

**यमदूतों ने उत्तर दिया: जो वेदों द्वारा संस्तुत है, वही धर्म है और इसका विलोम अधर्म है। वेद साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, नारायण हैं और स्वयं उत्पन्न हुए हैं। हमने यमराज से यह सुना है।**

**तात्पर्य :** यमराज के सेवकों ने एकदम सही उत्तर दिया। उन्होंने धर्म या अधर्म के नियमों को गढ़ने की बजाए यमराज के मुख से जो सुना था उसे बतला दिया। *महाजनो येन गत: स पन्था:*। मनुष्य को चाहिए कि *महाजन* अर्थात् प्रामाणिक व्यक्ति का अनुसरण करे। यमराज बारह अधिकारियों (महाजनों) में से एक हैं। इसलिए यमराज के सेवकों अर्थात् यमदूतों ने पूर्ण स्पष्टता के साथ उत्तर दिया कि हमने सुना है (*शुश्रुम*)। आधुनिक सभ्यता के सदस्य मनगढ़ंत दोषपूर्ण धार्मिक सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। यह धर्म नहीं है। वे यह जानते ही नहीं कि धर्म क्या है और अधर्म

क्या है। इसीलिए, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*धर्म: प्रोज्झितकैतवोऽत्र*—वह धर्म जिसका समर्थन वेद नहीं करते *श्रीमद्भागवत धर्म* में अमान्य है। *भागवतधर्म* में उतना ही रहता है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा प्रदत्त होता है। भागवतधर्म तो *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज* है—मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सत्ता स्वीकार करके उनकी शरण में जाना चाहिए और वे जो कुछ कहते है, मानना चाहिए। यही धर्म है। उदाहरणार्थ अर्जुन यह सोच कर कि हिंसा अधर्म है, युद्ध करने से इनकार कर रहा था, किन्तु कृष्ण ने उसे युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। अर्जुन ने कृष्ण के आदेश का पालन किया, अतएव वह वास्तव में धर्मी है, क्योंकि कृष्ण का आदेश धर्म है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*—वेद अर्थात् ज्ञान का असली उद्देश्य मुझे जानना है। जो कृष्ण को पूरी तरह जान लेता है, वह मुक्त है। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण कहते हैं—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।*
*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥*

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुन:जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।" जो कृष्ण को समझता है और उनके आदेश का पालन करता है, वह घर को लौटने अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने का पात्र है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म उसका द्योतक है, जिसका वेदों में आदेश हुआ है और अधर्म वह है, जो वेदों द्वारा समर्थित नहीं है।

वस्तुत: धर्म नारायण द्वारा गढ़ा हुआ नहीं है। वेदों में कहा गया है—*अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेद: इति*—धर्म के आदेश परम पुरुष नारायण की श्वास से निकलते हैं। नारायण शाश्वत विद्यमान रहते हैं और शाश्वत श्वास लेते हैं, अतएव धर्म अर्थात् नारायण के आदेश भी शाश्वत विद्यमान रहते हैं। मध्व-गौड़िय-सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

*वेदानां प्रथमो वक्ता हरिरेव यतो विभु: ।*

*अतो विष्ण्वात्मका वेदा इत्याहुर्वेदवादिनः ॥*

वेदों के दिव्य शब्द पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के मुख से निकले हैं। अतएव वैदिक सिद्धान्तों को वैष्णव सिद्धान्त समझना चाहिए, क्योंकि वेदों के उद्गम विष्णु हैं। वेदों में विष्णु के आदेशों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और जो वैदिक सिद्धान्तों का पालन करता है, वह वैष्णव है। वैष्णव इस जगत द्वारा गढ़े हुए जनसमुदाय का सदस्य नहीं होता। वैष्णव तो वेदों का असली ज्ञाता होता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है ( *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः* )।

**येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः ।**
**गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम् ॥ ४१ ॥**

**शब्दार्थ**

येन—जिस ( नारायण ) के द्वारा; स्व-धाम्नि—यद्यपि अपने स्थान अर्थात् आध्यात्मिक जगत में; अमी—ये सब; भावाः—अभिव्यक्तियाँ; रजः-सत्त्व-तमः-मयाः—भौतिक प्रकृति के तीन गुणों ( सतो, रजो तथा तमो ) द्वारा उत्पन्न; गुण—गुण; नाम—नाम; क्रिया—कार्यकलाप; रूपैः—तथा रूपों से; विभाव्यन्ते—विविध रूप में प्रकट हैं; यथा-तथम्—सही सही।

**समस्त कारणों के परम कारण रूप नारायण आध्यात्मिक जगत में अपने धाम में स्थित हैं तथापि वे भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—के अनुसार सम्पूर्ण विराट जगत का नियंत्रण करते हैं। इस तरह विभिन्न जीवों को भिन्न-भिन्न गुण, नाम ( यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ), वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कार्य तथा रूप प्रदान किये जाते हैं। नारायण सम्पूर्ण विराट जगत के कारणस्वरूप है।**

**तात्पर्य :** वेद हमें सूचित करते हैं—

*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*

*न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते।*

*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*

*स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥*

( *श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८ )

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण सर्वशक्तिमान हैं। उनकी शक्तियाँ विविध हैं, अतएव वे अपने धाम में बने रहने में समर्थ हैं और बिना प्रयत्न के वे तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—की अन्योन्य क्रिया के माध्यम से सम्पूर्ण विराट जगत का अधीक्षण तथा संचालन कर सकते हैं। इन क्रियाओं से विभिन्न रूप, शरीर, कार्य तथा परिवर्तन उत्पन्न होते रहते हैं और वे भलीभाँति घटित होते हैं। चूँकि भगवान् पूर्ण हैं, इसलिए हर कार्य इस तरह चलता रहता है मानो वे प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण कर रहे हों तथा उसमें भाग ले रहे हों। किन्तु नास्तिक लोग तीन गुणों से प्रच्छन्न होने के कारण नारायण को समस्त कार्यों के परम कारण के रूप में नहीं देख सकते। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१३) में कृष्ण कहते हैं—

*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।*

*मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥*

''तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता।'' चूँकि मूर्ख संशयवादी *मोहित* हैं—तीनों गुणों द्वारा मोहग्रस्त हैं, अतएव वे यह नहीं समझ पाते कि नारायण या कृष्ण ही समस्त कार्यों के परम कारण हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में कहा गया है—

*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।*

*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥*

''गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सभी के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं, क्योंकि वे समस्त कारणों के परम कारण हैं।''

**सूर्योऽग्निः खं मरुद्देवः सोमः सन्ध्याहनी दिशः ।**
**कं कुः स्वयं धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ॥४२॥**

## शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्यदेव; अग्निः—अग्नि; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; देवः—देवता; सोमः—चन्द्रमा; सन्ध्या—सायंकाल; अहनी—दिन तथा रात; दिशः—दिशाएँ; कम्—जल; कुः—पृथ्वी; स्वयम्—स्वयं; धर्मः—यमराज या परमात्मा; इति—इस प्रकार; हि—निस्सन्देह; एते—ये सभी; दैह्यस्य—जीव के भौतिक तत्त्वों के शरीर में; साक्षिणः—साक्षी, गवाह।

**सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, देवगण, चन्द्रमा, संध्या, दिन, रात, दिशाएँ, जल, स्थल तथा स्वयं परमात्मा—ये सभी जीव के कार्यों के साक्षी हैं।**

**तात्पर्य :** कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के सदस्य विशेष रूप से ईसाई कर्म के फलों में विश्वास नहीं करते। एक बार हमने एक विद्वान ईसाई प्रोफेसर से विचार-विमर्श किया, तो उसने यह तर्क दिया कि यद्यपि लोगों को उनके दुष्कर्मों के लिए तब दण्ड दिया जाता है जब साक्षियों से सबूत मिल जाते हैं, किन्तु ये साक्षी किसी के विगत कर्मों के फलों के लिए कष्ट पाने के लिए जिम्मेदार कहाँ हैं? ऐसे व्यक्ति के लिए यहाँ पर यमदूतों ने उत्तर दिया है। बद्धजीव यह सोचता है कि वह चोरी-चुपके कार्य कर रहा है और उसके पापकर्मों को कोई नहीं देख सकता, किन्तु शास्त्रों से हमें यह समझ लेना चाहिए कि साक्षी अनेक हैं यथा सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, चन्द्रमा, देवता, संध्या, दिन, रात, दिशाएँ, जल, स्थल तथा स्वयं परमात्मा जो प्रत्येक हृदय में आत्मा के रूप में स्थित है। साक्षियों की कमी कहाँ है? साक्षी तथा परमेश्वर दोनों विद्यमान हैं, इसीलिए अनेक जीवों को या तो उच्च लोकों में लाया जाता है या नरक जैसे निम्नलोकों में नीचे गिरा दिया जाता है। इसमें कोई त्रुटि नहीं हो पाती, क्योंकि हर वस्तु की व्यवस्था परमेश्वर के प्रबन्ध द्वारा की जाती है (*स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च*)। इस श्लोक में जिन साक्षियों का उल्लेख हुआ है वे अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी वर्णित हैं—

*आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च*
*द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।*
*अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये*
*धर्मोऽपि जानाति नरस्य वृत्तम्॥*

एतैरधर्मो विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते ।
सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इन सबों ( सूर्य इत्यादि साक्षियों ) के द्वारा; अधर्मः—विधि विधानों से विचलन; विज्ञातः—ज्ञात है; स्थानम्—उचित स्थान; दण्डस्य—दंड का; युज्यते—के रूप में स्वीकार किया जाता है; सर्वे—समस्त; कर्म-अनुरोधेन—सम्पन्न कार्यों पर विचार करते हुए; दण्डम्—दण्ड; अर्हन्ति—योग्यता रखते हैं; कारिणः—पापकर्म करने वाले।

**दण्ड के पात्र वे हैं जिसकी पुष्टि इन अनेक साक्षियों ने की है कि वे निर्दिष्ट नियमित कार्यों से विचलित हुए हैं। सकाम कर्मों में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने पापकर्मों के अनुसार दण्ड दिये जाने के लिए उपयुक्त होता है।**

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः ।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान्न ह्यकर्मकृत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सम्भवन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह; भद्राणि—शुभ, पवित्र कार्य; विपरीतानि—बिल्कुल उल्टे ( अशुभ, पापकर्म ); च—भी; अनघाः—हे पापरहित वैकुण्ठवासियों; कारिणाम्—सकाम कर्मियों का; गुण-सङ्गः—प्रकृति के तीन गुणों का कल्मष; अस्ति—है; देह-वान्—इस भौतिक शरीर को स्वीकार करने वाला, देहधारी; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अकर्म-कृत्—कर्म किये बिना।

**हे वैकुण्ठवासियों! तुम लोग निष्पाप हो, किन्तु इस भौतिक जगत के भीतर रहने वाले सारे वासी कर्मी हैं, चाहे वे शुभ कर्म कर रहे हों या अशुभ। ये दोनों प्रकार के कर्म उनके लिए सम्भव हैं, क्योंकि वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा कलुषित रहते हैं और उन्हें तदनुसार कर्म करना पड़ता है। जिसने भी भौतिक शरीर अपनाया है, वह निष्क्रिय नहीं हो सकता और प्रकृति के तीन गुणों के अधीन कर्म करने वाले के लिए पापकर्म से बच पाना असम्भव है। इसलिए इस जगत के सारे जीव दण्डनीय हैं।**

**तात्पर्य :** मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों में यही अन्तर है कि मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह वेदों के आदेश के अनुसार कर्म करे। दुर्भाग्यवश मनुष्य वेदों की परवाह न करते हुए कर्म की अपनी शैली गढ़ लेते हैं। इसीलिए वे सभी लोग पापकर्म करते हैं और दण्डनीय हैं।

**येन यावान्यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः ।**
**स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै ॥ ४५ ॥**

**शब्दार्थ**

येन—जिस व्यक्ति द्वारा; यावान्—जिस हद तक; यथा—जिस रीति से; अधर्मः—अधार्मिक कार्य; धर्मः—धार्मिक कार्य; वा—अथवा; इह—इस जीवन में; समीहितः—सम्पन्न हुए; सः—वह व्यक्ति; एव—निस्सन्देह; तत्-फलम्—उसका विशेष फल; भुङ्क्ते—आनन्द लेता है या कष्ट उठाता है; तथा—उसी तरह से; तावत्—उसी हद तक; अमुत्र—अगले जीवन में; वै—निस्सन्देह।

**इस जीवन में अपने धार्मिक या अधार्मिक कार्यों की मात्रा के अनुपात में मनुष्य अपने अगले जीवन में अपने कर्म के अनुरूप फलों का भोग करता है या कष्ट उठाता है।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (१४.१८) में कहा गया है कि—

*ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।*

*जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥*

जो लोग सतोगुणी होते हैं, वे देवता बनने के लिए उच्चतर लोकों में भेज दिये जाते हैं, जो सामान्य रीति से कर्म करते हैं और अत्यधिक पापकर्म नहीं करते वे इस मध्यलोक में रहते हैं तथा जो अत्यन्त घ्रणित पाप कर्म करते हैं, उन्हें नारकीय जीवन में नीचे जाना पड़ता है।

**यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते ।**
**भूतेषु गुणवैचित्र्यात्तथान्यत्रानुमीयते ॥ ४६ ॥**

**शब्दार्थ**

यथा—जिस तरह; इह—इस जीवन में; देव-प्रवराः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; त्रै-विध्यम्—तीन प्रकार के गुण; उपलभ्यते—प्राप्त किये जाते हैं; भूतेषु—सारे जीवों के मध्य; गुण-वैचित्र्यात्—तीन गुणों के द्वारा कल्मष की विविधता के कारण; तथा—उसी तरह; अन्यत्र—अन्य स्थानों में; अनुमीयते—अनुमान लगा लिया जाता है।

**हे देवश्रेष्ठो! हम विभिन्न प्रकार के तीन जीवन देखते हैं, जो प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष के कारण हैं। इस तरह जीव शान्त, अशान्त तथा मूर्ख; सुखी, दुःखी या इन दोनों के बीच; तथा धार्मिक, अधार्मिक या अर्धधार्मिक जाने जाते हैं। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अगले जीवन में ये तीन प्रकार की प्रकृतियाँ इसी प्रकार से कर्म करेंगी।**

**तात्पर्य :** प्रकृति के तीन गुणों के कार्य तथा फल इसी जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं।

उदाहरणार्थ, कुछ लोग अतीव सुखी हैं, कुछ अत्यधिक पीड़ित हैं और कुछ सुख तथा दुख की मिली जुली स्थिति में हैं। यह प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुण—के साथ विगत संगति का परिणाम है। चूँकि ये विविधताएँ इस जीवन में दृष्टिगोचर होती हैं, अतः हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सारे जीव प्रकृति के विभिन्न गुणों के संसर्ग के अनुसार अपने अगले जीवनों में भी सुखी, दुखी या इन दोनों के बीच में होंगे। इसलिए सबसे अच्छी नीति तो यह है कि अपने को प्रकृति के तीन गुणों से विलग कर लिया जाये और उनके कल्मष से सदैव परे रहा जाये। ऐसा तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने को भगवान् की भक्ति में पूरी तरह लगा दे। जैसा कि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कृष्ण पुष्टि करते हैं—

*मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*

*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥*

''जो समस्त परिस्थितियों में एकान्तिक भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के पद तक पहुँच जाता है।'' भगवान् की सेवा में पूरी तरह से लीन हुए बिना मनुष्य प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष से प्रभावित होता रहता है, अतः वह दुख या सुख तथा दुख के मिले-जुले रूप को भोगता है।

**वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा ।**
**एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम् ॥ ४७॥**

### शब्दार्थ

वर्तमानः—वर्तमान; अन्ययोः—भूत तथा भविष्य का; कालः—समय; गुण-अभिज्ञापकः—गुणों को प्रकट कराते हुए; यथा—जिस तरह; एवम्—इस प्रकार; जन्म—जन्म; अन्ययोः—भूत तथा भावी जन्मों का; एतत्—यह; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त; अधर्म—अधार्मिक सिद्धान्त; निदर्शनम्—सूचित करते हुए।

**जिस तरह वर्तमान वसन्त काल भूत तथा भविष्य काल के वसन्त कालों को सूचित करता है, उसी तरह सुख, दुःख या दोनों से मिश्रित यह जीवन मनुष्य के भूत तथा भावी जीवनों के धार्मिक तथा अधार्मिक कार्यों के विषय में साक्ष्य प्रस्तुत करता है।**

**तात्पर्य :** हमारे लिए भूत तथा भविष्य को समझ पाना बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि काल प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष के अधीन होता है। वसन्त ऋृतु के आगमन के साथ ही विविध प्रकार के फल-फूल स्वत: प्रकट हो जाते हैं, अत: हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भूतकाल में वसन्त इसी तरह के फलों तथा फूलों से अलंकृत थी और भविष्य में भी रहेगी। हमारे जन्म-मृत्यु का चक्र काल के भीतर चल रहा है और प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अनुसार हम विविध प्रकार के शरीर प्राप्त करते हैं और विविध स्थितियों के अनुकूल बनते हैं।

**मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति ।**
**अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥ ४८ ॥**

शब्दार्थ

मनसा—मन से; एव—निस्सन्देह; पुरे—अपने धाम में या परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में; देवः—यमराज देव ( दिव्यातीत देवः, जो सदैव तेजोमय तथा दीप्त रहे वह देवता कहलाता है ); पूर्व-रूपम्—विगत धार्मिक या अधार्मिक स्थिति; विपश्यति—पूरी तरह देखते भालते हैं; अनुमीमांसते—वह विचार करता है; अपूर्वम्—भावी स्थिति; मनसा—अपने मन से; भगवान्—जो सर्वशक्तिमान है; अजः—ब्रह्मा के ही समान।

**सर्वशक्तिमान यमराज ब्रह्माजी के ही समान हैं, क्योंकि जब वे अपने निजी धाम या परमात्मा की भांति हर एक के हृदय में स्थित होते हैं, वे मन के द्वारा जीव के विगत कार्यों का अवलोकन करते हैं और यह समझ जाते हैं कि जीव अगले जीवन में किस तरह कर्म करेगा।**

**तात्पर्य :** यमराज को सामान्यजीव नहीं मानना होगा। वे ब्रह्माजी के ही समान हैं। उन्हें प्रत्येक हृदय में वास करने वाले परम भगवान् का पूर्ण सहयोग प्राप्त है, अत: वे परमात्मा की कृपा से जीव के भीतर से उसके भूत, वर्तमान तथा भविष्य को देख सकते हैं। *अनुमीमांसते* शब्द का अर्थ है कि वे परमात्मा से विचार-विमर्श करके निर्णय ले सकते हैं। *अनु* का अर्थ है ''अनुसरण करते हुए।'' जीवों के अगले जीवनों के विषय में वास्तविक निर्णय परमात्मा द्वारा लिये जाते हैं और यमराज द्वारा उनको पूरा किया जाता है।

**यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि ।**
**न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा ॥ ४९ ॥**

### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अज्ञः—मूर्ख जीव; तमसा—निद्रा में; युक्तः—लगा हुआ; उपास्ते—के अनुसार कार्य करता है; व्यक्तम्—स्वप्न में प्रकट शरीर; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; न वेद—नहीं जानता; पूर्वम्—विगत शरीर; अपरम्—अगला शरीर; नष्ट—नष्ट; जन्म-स्मृतिः—जन्म लेने का स्मरण; तथा—उसी प्रकार।

**जिस तरह सोया हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न में प्रकट हुए शरीर के अनुसार कार्य करता है और उसे स्वयं मान लेता है उसी तरह मनुष्य अपने वर्तमान शरीर से अपनी पहचान बनाता है, जिसे उसने अपने विगत धार्मिक या अधार्मिक कार्यों के कारण प्राप्त किया है और वह अपने विगत या भावी जीवनों को जान पाने में असमर्थ रहता है।**

**तात्पर्य :** मनुष्य पापकर्मों में इसलिए प्रवृत्त होता है, क्योंकि वह यह नहीं जानता कि उसने अपने वर्तमान बद्ध शरीर को प्राप्त करने के लिए विगत जीवन में क्या किया था, जो तीन प्रकार के कष्टों से प्रभावित होता रहता है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.४) में ऋषभदेव कहते हैं—*नूनं प्रमत्तःकुरुते विकर्म*—इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे पागल रहने वाला मनुष्य पाप करने में कोई संकोच नहीं करता। *यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति*—वह एकमात्र इन्द्रिय-तृप्ति के लिए पापकर्म करता है। *न साधु मन्ये*—यह अच्छी बात नहीं। *यत् आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद् आस देहः*—ऐसे पापकर्मों के कारण मनुष्यों को दूसरा शरीर प्राप्त होता है, जिसमें उसे कष्ट भोगना होता है, जिस तरह अपने विगत पापकर्मों के कारण वह वर्तमान शरीर में कष्ट पाता है।

यह समझ लेना होगा कि जिस व्यक्ति को वैदिक ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानवश इस बात को नहीं जानता कि उसने भूतकाल में क्या किया है, वर्तमान में क्या कर रहा है और भविष्य में वह किस तरह कष्ट उठायेगा। वह पूर्णतया अंधकार में रहता है। इसीलिए वैदिक आदेश है—*तमसि मा*—अंधकार में मत रहो। *ज्योतिर्गम*—प्रकाश में जाने का प्रयास करो। यह प्रकाश वैदिक ज्ञान है, जिसे वह या तो सतोगुण पद पर पहुँच कर समझ सकता है या जब वह गुरु तथा परमेश्वर की भक्ति में लगे रहने से सतोगुण को लाँघ जाता है। इसका वर्णन *श्वेताश्वत उपनिषद्* (६.२३) में हुआ

है—

*यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।*

*तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥*

''जिन महात्माओं को भगवान् तथा गुरु दोनों पर पूर्ण श्रद्धा होती है, उन्हें वैदिक ज्ञान के सारे आशय स्वत: प्रकट हो जाते हैं।'' वेदों का आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु के पास जाये जिसे वेदों का पूर्ण ज्ञान होता है और भगवद्भक्त बनने के लिए उससे श्रद्धापूर्वक निर्देशन प्राप्त करे। तब वेदों का ज्ञान प्रकट होगा। वैदिक ज्ञान प्रकट हो जाने पर भौतिक प्रकृति के अंधकार में रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

जीव को प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमोगुणों—के साथ संसर्ग के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। सतोगुण से संसर्ग करने वाले का उदाहरण एक योग्य ब्राह्मण है। ऐसा ब्राह्मण भूत, वर्तमान तथा भविष्य जानता है, क्योंकि वह वैदिक साहित्य कि सम्मति लेता है और शास्त्रों को आँखों से देखता है (*शास्त्र-चक्षुः*)। वह यह समझ सकता है कि उसका विगत जीवन क्या था, वह वर्तमान शरीर में क्यों है और वह दूसरा भौतिक शरीर न प्राप्त करते हुए माया के पाश से किस तरह मुक्ति प्राप्त कर सकता है और दूसरा भौतिक शरीर स्वीकार नहीं करता। ऐसा तभी सम्भव है जब वह सतोगुण को प्राप्त हो। किन्तु सामान्यतया सारे जीव रजो तथा तमो गुणों में उलझे रहते हैं।

प्रत्येक दशा में मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परमात्मा की इच्छा के अनुसार निम्न या श्रेष्ठ शरीर प्राप्त होता है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है—

*मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति।*

*अनुमीमांसतेऽपूर्वम् मनसा भगवान् अजः ॥*

हर बात भगवान् अथवा *अजः* अर्थात् अजन्मा पर निर्भर करती है। अच्छा शरीर पाने के लिए कोई भगवान् को क्यों नहीं प्रसन्न करता? उत्तर है *अज्ञस्तमसा*—निपट अज्ञान के कारण। जो पूर्ण

अंधकार में रहता है, वह यह नहीं जानता कि उसका विगत जीवन क्या था या उसका अगला जीवन क्या होगा? वह तो अपने वर्तमान शरीर में ही रुचि लेता है। यद्यपि उसको मनुष्य का शरीर मिला रहता है, किन्तु जो मनुष्य तमोगुण में रहता है, वह पशु के समान है, जो अपने वर्तमान शरीर में ही रुचि रखता है, क्योंकि एक पशु अज्ञान से प्रच्छन्न होने के कारण यह सोचता है कि जीवन का चरम लक्ष्य तथा सुख यथासम्भव भोजन करना है। मनुष्य को शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह अपने विगत जीवन को समझे तथा यह समझे कि भविष्य में अच्छे जीवन के लिए वह किस तरह प्रयास करे। *भृगुसंहिता* नामक एक ग्रन्थ भी है, जो मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य जीवन को ज्योतिष गणनाओं के अनुसार बतलाता है। जैसे भी हो, मनुष्य को अपने भूत, वर्तमान तथा भविष्य के विषय में प्रबुद्ध होना चाहिए। जो एकमात्र अपने वर्तमान शरीर में रुचि लेता है और जो अपनी इन्द्रियों का जी-भर कर भोग करना चाहता है, वह तमोगुण में उलझा समझा जाता है। उसका भविष्य अत्यन्त अंधकारमय होता है। निस्सन्देह, जो अज्ञान से बुरी तरह प्रच्छन्न रहता है उसके लिए भविष्य सदा अंधकारमय रहता है। विशेषतया इस युग में, मानव-समाज तमोगुण से प्रच्छन्न है इसलिए हर व्यक्ति, अपने भूत तथा भविष्य पर विचार किए बिना वर्तमान शरीर को सब कुछ मानता है।

**पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान्पञ्च वेदाथ पञ्चभिः ।**
**एकस्तु षोडशेन त्रीन्स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥ ५० ॥**

### शब्दार्थ

पञ्चभिः—पाँच कर्मेन्द्रियों ( वाणी, बाहें, पांव, गुदा तथा जननांग ) से; कुरुते—करता है; स्व-अर्थान्—अपनी इच्छित रुचियाँ; पञ्च—पाँच इन्द्रियविषय ( ध्वनि, रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद ); वेद—जानता है; अथ—इस प्रकार; पञ्चभिः—पाँच ज्ञान की ( सुनना, देखना, सूँघना, आस्वादन करना तथा अनुभव करना ) इन्द्रियों के द्वारा; एकः—एक; तु—लेकिन; षोडशेन—इन पन्द्रहों तथा मन, सोलह के द्वारा; त्रीन्—अनुभव की तीन कोटियाँ ( सुख, दुख तथा दोनों का मिश्रण ); स्वयम्—वह, स्वयं जीव; सप्तदशः—सत्रहवीं वस्तु; अश्नुते—भोग करता है।

**पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच इन्द्रियविषयों के ऊपर मन होता है, जो सोलहवाँ तत्त्व है। मन के ऊपर सत्तरहवाँ तत्त्व आत्मा स्वयं जीव है, जो अन्य सोलह के**

**सहयोग से अकेले भौतिक जगत का भोग करता है। जीव तीन प्रकार की स्थितियों का भोग करता है, यथा सुख दु:ख तथा मिश्रित सुख-दु:ख।**

**तात्पर्य :** हर व्यक्ति अपने हाथों, पाँवों तथा अन्य इन्द्रियों से काम में लगा रहता है, जिससे उसके मनोरथों के अनुसार निश्चित लक्ष्य प्राप्त हो सके। वह पाँच इन्द्रियविषयों का अर्थात् रूप, ध्वनि, स्वाद, गंध तथा स्पर्श का आनन्द बिना यह जाने लेना चाहता है कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, जो कि परमेश्वर को प्रसन्न करना है। परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण ही मनुष्य को भौतिक स्थितियों में रखा जाता है और तब वह मनमाने ढंग से अपनी स्थिति को सुधारना चाहता है, किन्तु वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के आदेशों का पालन करना नहीं चाहता। फिर भी परमेश्वर इतने दयालु हैं कि वे मोहग्रस्त जीव को यह उपदेश देने के लिए स्वयं आते हैं कि किस तरह आज्ञाकारी बनकर कर्म करना चाहिए और क्रमश: भगवद्धाम लौटना चाहिए, जहाँ वह आनन्द तथा ज्ञान का नित्य शान्तिमय जीवन प्राप्त कर सके। जीव के शरीर होता है, जो भौतिक तत्त्वों का अत्यन्त जटिल संयोग है और इस शरीर से वह अकेले संघर्ष करता है जैसाकि इस श्लोक में *एकस्तु* शब्दों द्वारा इंगित किया गया है। उदाहरणार्थ, यदि कोई समुद्र में संघर्ष कर रहा है, तो उसे अकेले ही तैर कर उसे पार करना होता है। यद्यपि अन्य अनेक मनुष्य तथा जलचर समुद्र में तैरते रहते हैं, किन्तु उन्हें अपनी देखभाल स्वयं करनी होती है, क्योंकि अन्य कोई उनकी सहायता नहीं करेगा। इसलिए यह श्लोक इंगित करता है कि सत्तरहवीं वस्तु आत्मा को अकेले ही कर्म करना होगा। यद्यपि वह समाज, मैत्री तथा प्रेम उत्पन्न करना चाहता है, किन्तु कृष्ण अर्थात् परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उसकी सहायता नहीं कर सकेगा। अतएव उसकी एकमात्र चिन्ता यही होनी चाहिए कि कृष्ण को किस तरह तुष्ट किया जाये। कृष्ण भी यही चाहते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। भौतिक स्थितियों से मोहग्रस्त लोग एक होना चाहते हैं और वे मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच एकता के लिए प्रयास भी करते हैं, किन्तु उनके सारे प्रयास व्यर्थ हैं। हर व्यक्ति को प्रकृति के अनेक तत्त्वों के साथ अपने अस्तित्व के लिए अकेले ही संघर्ष

करना चाहिए। अतएव उसकी एकमात्र आशा कृष्ण की शरण ग्रहण करना है, जैसाकि कृष्ण मंत्रणा देते हैं, क्योंकि वे अज्ञान के सागर से मुक्त होने में सहायता कर सकते हैं। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रार्थना की है—

*अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।*

*कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥*

"हे कृष्ण, हे नन्द महाराज के लाड़ले! मैं आपका नित्यदास हूँ, किन्तु न जाने कैसे इस अज्ञान के सागर में गिर गया हूँ। यद्यपि मैं अत्यधिक संघर्ष कर रहा हूँ, किन्तु अपने को बचाने का कोई उपाय नहीं है। यदि आप मुझे निकाल लें और अपने चरणकमलों में धूल के एक कण की तरह मुझे टिका लें तो उससे मेरी रक्षा हो जायेगी।"

इसी तरह भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—

*अनादि करम-फले, पड़ि' भवार्णव-जले,*

*तरिबारे ना देखि उपाय*

"हे प्रभु! मुझे स्मरण नहीं है कि कब मैं इस अज्ञान के सागर में किसी तरह से गिर गया और अब अपनी रक्षा करने का मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा।" हमें स्मरण रखना चाहिए कि हर व्यक्ति अपने जीवन के लिए जिम्मेदार है। यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है तब तो वह अज्ञान के सागर से उबार लिया जाता है।

**तदेतत्षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत् ।**
**धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम् ॥ ५१ ॥**

### शब्दार्थ

तत्—इसलिए; एतत्—यह; षोडश-कलम्—सोलह अंशों से बना (यथा दस इन्द्रियाँ, मन तथा पाँच इन्द्रिय-विषय); लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर; शक्ति-त्रयम्—प्रकृति के तीन गुणों का प्रभाव; महत्—दुर्लंघ्य; धत्ते—देता है; अनुसंसृतिम्—विभिन्न प्रकार के शरीरों में निरन्तर भ्रमण तथा देहान्तरण; पुंसि—जीव में; हर्ष—हर्ष; शोक—शोक; भय—भय; आर्ति—कष्ट; दाम्—देने वाला।

**सूक्ष्म शरीर सोलह अंगों से समन्वित होता है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच**

**इन्द्रियतृप्ति के विषय तथा मन। यह सूक्ष्म शरीर प्रकृति के तीन गुणों का प्रभाव है। यह दुर्लंघ्य प्रबल इच्छाओं से बना हुआ है, अतएव यह जीव को मनुष्य-जीवन, पशु-जीवन तथा देवता-जीवन में एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण कराता है। जब जीव को देवता का शरीर प्राप्त होता है, तो वह निश्चित रूप से हर्षित होता है; जब उसे मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, तो वह शोक करता है और जब उसे पशु-शरीर मिलता है, तो वह सदैव भयभीत रहता है। किन्तु सभी स्थितियों में वह वस्तुतः दुःखी रहता है। उसकी यह दुःखित अवस्था *संसृति* या भौतिक जीवन में देहान्तरण कहलाती है।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में भौतिक बद्ध जीवन के सार की व्याख्या की गई है। जीव, जो सत्तरहवाँ तत्त्व है, जन्म-जन्मांतर अकेले ही संघर्षरत रहता है। यह संघर्ष *संसृति* या भौतिक बद्ध जीवन कहलाता है। *भगवद्गीता* में यह कहा गया है कि भौतिक प्रकृति की शक्ति दुर्लघंनीय रूप से प्रबल है (*दैवी ह्येषागुणमयी मम माया दुरत्यया*)। भौतिक प्रकृति जीव को विभिन्न शरीरों में कष्ट देती है, किन्तु यदि जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह इस झमेले से मुक्त हो जाता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। इस तरह उसका जीवन सफल हो जाता है।

**देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन्कर्माणि कार्यते ।**
**कोशकार इवात्मानं कर्मणाच्छाद्य मुह्यति ॥ ५२ ॥**

### शब्दार्थ

देही—देहधारी आत्मा; अज्ञः—पूर्णज्ञान से रहित; अजित-षट्-वर्गः—जिसने अनुभवेन्द्रियों तथा मन को वश में नहीं किया; न इच्छन्—न चाहते हुए; कर्माणि—भौतिक लाभ के लिए कर्म; कार्यते—करवाया जाता है; कोशकारः—रेशम का कीड़ा; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं; कर्मणा—सकाम कर्मों से; आच्छाद्य—आवृत करके; मुह्यति—मोहित हो जाता है।

**अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में करने में अक्षम मूर्ख देहधारी जीव अपनी इच्छाओं के विरुद्ध प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य होता है। वह उस रेशम के कीड़े के समान है, जो अपनी लार का प्रयोग बाह्य कोश बनाने के लिए करता है**

**और फिर उसी में बँध जाता है, जिसमें से बाहर निकल पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। जीव अपने ही सकाम कर्मों के जाल में अपने को बन्दी कर लेता है और तब अपने को छुड़ाने का कोई उपाय नहीं ढूँढ़ पाता। इस तरह वह सदैव मोहग्रस्त रहता है और बारम्बार मरता रहता है।**

**तात्पर्य :** जैसाकि पहले बताया जा चुका है प्रकृति के गुणों का प्रभाव अति प्रबल है। विभिन्न प्रकार के सकाम कर्मों में फँसा जीव बाह्य कोश में बन्दी रेशम के कीड़े के समान है। जब तक कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उसकी सहायता नहीं करते, इससे मुक्त हो पाना अत्यन्त कठिन होता है।

**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।**
**कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् ॥ ५३ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; कश्चित्—कोई; क्षणम् अपि—एक क्षण के लिए भी; जातु—किसी भी समय; तिष्ठति—रहता है; अकर्म-कृत्—कुछ भी न करते हुए; कार्यते—करवाया जाता है; हि—निस्सन्देह; अवशः—स्वतः; कर्म—सकाम कर्म; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; स्वाभाविकैः—पिछले जन्मों में अपनी ही प्रवृत्तियों से उत्पन्न; बलात्—बलपूर्वक।

**एक भी जीव बिना कार्य किये क्षणभर भी नहीं रह सकता। उसे प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा कर्म करना ही पड़ता है, क्योंकि यह स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे एक विशेष ढंग से कार्य करने के लिए बाध्य करती है।**

**तात्पर्य :** कर्म में स्वाभाविक अर्थात् मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो सेवा करने की है, क्योंकि जीव ईश्वर का नित्य दास होता है। जीव सेवा तो करना चाहता है, किन्तु परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण वह भौतिक प्रकृति के विविध गुणों के अधीन सेवा करता है और विविध सेवा के रूप गढ़ता है यथा समाजवाद, मानवतावाद तथा उपकारवाद। किन्तु मनुष्य को *भगवद्गीता* के उपदेशों से ज्ञान ग्रहण करना चाहिए और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के इस आदेश को स्वीकार करना चाहिए कि मनुष्य विभिन्न नामों से भौतिक सेवा की सारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का परित्याग कर दे और भगवान् की

सेवा स्वीकार करे। मनुष्य की आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति तो कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत कर्म करने की है, क्योंकि मनुष्य का असली स्वभाव आध्यात्मिक है। मनुष्य का कर्तव्य है कि इसे समझे, क्योंकि वह मूलत: आत्मा है, अत: उसे आध्यात्मिक प्रवृत्ति का पालन करना चाहिए और भौतिक प्रवृत्तियों के द्वारा बहकना नहीं चाहिए। इसीलिए श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने गाया है—

*(मिछे) मायार वशे; याच्छा भेसे'*

*खाच्छा हाबुडुबु, भाइ।*

''मेरे भाइयों! तुम लोग भौतिक शक्ति की तरंगों द्वारा ले जाये जा रहे हो और अनेक दुखमय स्थितियों को भोग रहे हो। कभी तुम भौतिक प्रकृति की तरंगों में डूबते हो तो कभी समुद्र में संघर्ष कर रहे तैराक की तरह उछाल दिये जाते हो।'' भक्तिविनोद ठाकुर ने ठीक ही कहा है, माया की तरंगों द्वारा थपेड़े खाने की मनुष्य की यह प्रवृत्ति उनकी आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति में जो आध्यात्मिक है, बदली जा सकती है , जब जीव यह समझ जाता है कि वह कृष्ण का नित्य दास (कृष्णदास) है।

*(जीव) कृष्ण-दास, एइ विश्वास,*

*कर्ले त' आर दु:ख नाइ*

विभिन्न नामों से माया की सेवा करने के बजाय यदि मनुष्य अपनी सेवा-प्रवृत्ति को परम भगवान् की ओर मोड़ता है, तो वह सुरक्षित रहता है और फिर कोई कठिनाई नहीं आती। यदि वैदिक वाङ्मय में कृष्ण द्वारा दिये गये पूर्ण ज्ञान को समझकर मनुष्य-जीवन में कोई अपनी आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति में लौट आता है, तो उसका जीवन सफल है।

**लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत ।**
**यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥५४॥**

**शब्दार्थ**

लब्ध्वा—प्राप्त करके; निमित्तम्—कारण; अव्यक्तम्—अदृश्य, अथवा पुरुष को अज्ञात; व्यक्त-अव्यक्तम्—व्यक्त तथा अव्यक्त या स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर; भवति—उत्पन्न होता है; उत—निश्चय ही; यथा-योनि—माता के ही सदृश; यथा-बीजम्—पिता के ही सदृश; स्व-भावेन—स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा; बलीयसा—जो अत्यन्त शक्तिशाली है।

**सजीव प्राणी जो भी सकाम कर्म करता है, वे चाहे पवित्र हों या अपवित्र, वे उसकी इच्छाओं की पूर्ति के अदृश्य कारण होते हैं। यह अदृश्य कारण ही जीव के विभिन्न शरीरों की जड़ है। जीव अपनी उत्कट इच्छा के कारण किसी विशेष परिवार में जन्म लेता है और ऐसा शरीर प्राप्त करता है, जो या तो उसकी या उसके पिता माता जैसा होता है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर उसकी इच्छा के अनुसार उत्पन्न होते हैं।**

**तात्पर्य :** स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर की उपज है। *भगवद्गीता* (८.६) में कहा गया है—

*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*

*तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥*

"हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह निश्चित रूप से उस-उस भाव को प्राप्त होता है।" मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का वातावरण स्थूल शरीर के कार्यों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इस तरह स्थूल शरीर आजीवन कर्म करता है और सूक्ष्म शरीर मृत्यु के समय कार्य करता है। सूक्ष्म शरीर, जिसे *लिंग* या इच्छा का शरीर कहते हैं, किसी विशेष प्रकार के स्थूल शरीर के विकास के लिए पृष्ठभूमि होती है, जो या तो किसी की माता के सदृश या उसके पिता के सदृश होता है। ऋग्वेद के अनुसार, यदि मैथुन के समय माता का स्राव पिता के स्राव से अधिक होता है, तो शिशु को लड़की का शरीर प्राप्त होता है और यदि पिता का स्राव माता के स्राव से अधिक होता है, तो लड़के का शरीर प्राप्त होता है। ये प्रकृति के सूक्ष्म नियम हैं, जो जीव की इच्छा के अनुसार क्रियाशील होते हैं। यदि मनुष्य को कृष्णभावनामृत का विकास करके उसके सूक्ष्म शरीर को बदलने की शिक्षा दी जाये तो मृत्यु के समय यह सूक्ष्म शरीर ऐसे स्थूल शरीर को जन्म देगा जिसमें वह कृष्ण का भक्त होगा या फिर यदि वह अधिक पूर्ण हुआ तो वह दूसरा भौतिक शरीर नहीं ग्रहण करेगा, अपितु तुरन्त आध्यात्मिक शरीर पाकर घर को अर्थात्

भगवद्धाम लौट जायेगा। आत्मा के देहान्तरण की यही विधि है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए समझौतों द्वारा मानव-समाज को संयुक्त करने का प्रयास करने के बजाय, अच्छा यही होगा कि लोगों को यह शिक्षा दी जाये कि किस तरह कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्धाम वापस जाया जाये। यह आज सत्य है और निस्सन्देह किसी भी समय सत्य रहेगा।

**एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्यय: ।**
**आसीत्स एव न चिरादीशसङ्गाद्विलीयते ॥ ५५ ॥**

**शब्दार्थ**

**एष:**—यह; **प्रकृति-सङ्गेन**—भौतिक प्रकृति के साथ संगति होने से; **पुरुषस्य**—जीव का; **विपर्यय:**—विस्मृति की स्थिति या विषम स्थिति; **आसीत्**—आ गई; **स:**—वह स्थिति; **एव**—निस्सन्देह; **न**—नहीं; **चिरात्**—दीर्घ काल तक; **ईश-सङ्गात्**—परम ईश्वर ( परमेश्वर ) की संगति से; **विलीयते**—समाप्त हो जाती है।

**चूँकि जीव की संगति भौतिक प्रकृति से रहती है, अतएव वह बड़ी विषम स्थिति में होता है, किन्तु यदि उसे मनुष्य जीवन में यह शिक्षा दी जाती है कि किस तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् या उनके भक्त की संगति की जाये तो इस स्थिति पर काबू पाया जा सकता है।**

**तात्पर्य :** *प्रकृति* का अर्थ है भौतिक प्रकृति तथा *पुरुष* भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को द्योतित करने वाला हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की स्त्री-शक्ति *प्रकृति* के साथ अपना संसर्ग बनाये रखना चाहता है और इस भ्रम में रहकर कि वह प्रकृति का भोग कर सकेगा, अपने को कृष्ण से विलग कर ले तो उसे बद्ध जीवन में बने रहना पड़ेगा। किन्तु यदि वह अपनी चेतना बदल लेता है और परम आदि पुरुष ( *पुरुषं शाश्वतम्*) से या उनके संगियों से संगति करता है, तो वह भौतिक प्रकृति के पाश से बाहर निकल सकता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि हुई है *जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:* मनुष्य को परम पुरुष कृष्ण को उनके रूप, नाम, कार्य तथा लीलाओं के रूप में केवल समझना होता है। इससे वह सदा कृष्ण की संगति में बना रहेगा। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* इस प्रकार अपने इस स्थूल शरीर को त्यागने के बाद मनुष्य दूसरा स्थूल शरीर नहीं ग्रहण करता, अपितु आध्यात्मिक शरीर ग्रहण करता है, जिससे

वह भगवद्धाम वापस जा सके। इस तरह भौतिक शक्ति की संगति से उत्पन्न उसके कष्ट का अन्त हो जाता है। संक्षेपतः जीव भगवान् का नित्य दास है, किन्तु वह भौतिक जगत में आता है और प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण वह भौतिक स्थितियों द्वारा बँध जाता है। मुक्ति का अर्थ है इस झूठी चेतना को त्यागकर ईश्वर के प्रति अपनी आदि सेवा को पुनरुज्जीवित करना। आदि जीवन में यह वापसी *मुक्ति* कहलाती है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में हुई है ( *मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः* )।

**अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः ।**
**धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवाङ्मन्त्रविच्छुचिः ॥ ५६ ॥**
**गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुरनहङ्कृतः ।**
**सर्वभूतसुहृत्साधुर्मितवागनसूयकः ॥ ५७ ॥**

### शब्दार्थ

अयम्—यह व्यक्ति ( अजामिल नामक ); हि—निस्सन्देह; श्रुत-सम्पन्नः—वैदिक ज्ञान में सुशिक्षित; शील—अच्छे चरित्र; वृत्त—अच्छे चाल-चलन; गुण—तथा अच्छे गुण का; आलयः—आगार; धृत-व्रतः—वैदिक आदेशों को सम्पन्न करने में दृढ़; मृदुः—अत्यन्त विनीत; दान्तः—मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने वाला; सत्य-वाक्—सदैव सत्यव्रती; मन्त्र-वित्—वैदिक मंत्रों के उच्चारण की विधि को जानने वाला; शुचिः—सदैव अत्यन्त स्वच्छ; गुरु—गुरु; अग्नि—अग्नि; अतिथि—अतिथि; वृद्धानाम्—तथा घर के बड़े बूढ़ों का; शुश्रूषुः—आदरपूर्वक सेवा में लगा रहने वाला; अनहङ्कृतः—गर्व या झूठी प्रतिष्ठा से रहित; सर्व-भूत-सुहृत्—सारे जीवों का मित्र; साधुः—अच्छे स्वभाव वाला ( उसके चरित्र में कोई दोष नहीं निकाल सका ); मित-वाक्—बात करते समय यह ध्यान रखने वाला कि व्यर्थ न बोला जाये; अनसूयकः—ईर्ष्यारहित।

**प्रारम्भ में अजामिल नामक उस ब्राह्मण ने सारे वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वह अच्छे चरित्र, अच्छे चाल-चलन तथा अच्छे गुणों का आगार था। वह सारे वैदिक आदेशों को सम्पन्न करने में दृढ़ था, वह अत्यन्त मृदु तथा सुशील था और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता था। यही नहीं, वह सदा सच बोलता था, वह जानता था कि वैदिक मंत्रों का उच्चारण करना होता है तथा वह अत्यन्त शुद्ध भी था। अजामिल अपने गुरु, अग्निदेव, अतिथियों तथा घर के वृद्धजनों का अतीव आदर करता था। निस्सन्देह वह झूठी प्रतिष्ठा से मुक्त था। वह सरल, सभी जीवों के प्रति उपकार करने वाला तथा शिष्ट था।**

**वह न तो व्यर्थ की बातें करता था, न किसी से ईर्ष्या करता था।**

**तात्पर्य :** यमदूत पाप तथा पुण्य की वास्तविक स्थिति तथा इस जगत में जीव किस तरह फँसता है, इसकी व्याख्या कर रहे हैं। अजामिल के जीवन-इतिहास का वर्णन करते हुए यमदूत बताते हैं कि प्रारम्भ में वह वैदिक साहित्य का विद्वान था। वह अच्छे आचरण वाला, स्वच्छ तथा हर एक के प्रति अतीव दया करने वाला था। वस्तुतः उसमें सारे सद्गुण थे। दूसरे शब्दों में, वह एक पूर्ण ब्राह्मण के सदृश था। ब्राह्मण से आशा की जाती है कि वह पूर्णतया पवित्र हो, सभी विधि-विधानों का पालन करे और समस्त सद्गुणों से युक्त हो। इन श्लोकों में पुण्य के लक्षण बतलाये गये हैं। श्रील वीरराघव आचार्य टीका करते हैं कि *धृत-व्रत* का अर्थ है—*धृतं व्रतं स्त्री-संगराहित्यात्मक-ब्रह्मचर्य रूपम्*। दूसरे शब्दों में, अजामिल पूर्ण *ब्रह्मचारी* के रूप में *ब्रह्मचर्य* के विधि-विधानों का पालन करता था और वह अत्यन्त दयालु, सच्चा, स्वच्छ तथा शुद्ध था। इन गुणों के होते हुए भी वह कैसे पतित हुआ और यमराज द्वारा दण्ड दिये जाने के लिए धमकाया गया, इसका वर्णन अगले श्लोकों में किया जायेगा।

**एकदासौ वनं यातः पितृसन्देशकृद्द्विजः ।**
**आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान् ॥ ५८ ॥**
**ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया ।**
**पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया ॥ ५९ ॥**
**मत्तया विश्लथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम् ।**
**क्रीडन्तमनुगायन्तं हसन्तमनयान्तिके ॥ ६० ॥**

### शब्दार्थ

एकदा—एक बार; असौ—यह अजामिल; वनम् यातः—जंगल में गया; पितृ—अपने पिता का; सन्देश—आदेश; कृत्—पूरा करने के लिए; द्विजः—ब्राह्मण; आदाय—एकत्र करके; ततः—उस जंगल से; आवृत्तः—लौटते हुए; फल-पुष्प—फल फूल; समित्-कुशान्—समित तथा कुश नामक दो प्रकार के तृण; ददर्श—देखा; कामिनम्—अत्यन्त कामी; कञ्चित्—किसी; शूद्रम्—चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति, शूद्र; सह—साथ; भुजिष्यया—सामान्य दासी या वेश्या के; पीत्वा—पीकर; च—भी; मधु—अमृत; मैरेयम्—सोम पुष्पों से बना; मद—नशे से; आघूर्णित—घुमाती हुई; नेत्रया—अपनी आँखें; मत्तया—मदमत्त; विश्लथत्-नीव्या—शिथिल वस्त्रों वाली; व्यपेतम्—सही आचरण से गिरी हुई; निरपत्रपम्—जनता के मत के भय से रहित; क्रीडन्तम्—भोग में लगी; अनुगायन्तम्—गाते हुए; हसन्तम्—हँसते हुए; अनया—उसके साथ; अन्तिके—पास ही।

**एक बार यह ब्राह्मण अजामिल अपने पिता का आदेश पालन करते हुए जंगल से फल, फूल तथा समित् और कुश नामक दो प्रकार की घासें लाने जंगल गया। घर वापस आते समय उसे एक अत्यन्त कामुक, चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति शूद्र मिला जो निर्लज्ज होकर एक वेश्या का आलिगंन तथा चुम्बन कर रहा था। यह शूद्र इस तरह हँसते, गाते हुए आनन्द ले रहा था मानो यही उचित आचरण हो। यह शूद्र तथा वेश्या दोनों ही सुरापान किये हुए थे। वेश्या की आँखें नशे से घूम रही थीं और उसके वस्त्र शिथिल पड़ गये थे। अजामिल ने उन्हें ऐसी दशा में देखा।**

**तात्पर्य :** रास्ते में आते हुए अजामिल को एक चतुर्थ वर्ण का पुरुष तथा एक वेश्या मिली जिनका यहाँ पर स्पष्टता से वर्णन हुआ है। पुराने युगों में भी कभी-कभी मदोन्मत्तता प्रकट होती थी, किन्तु बहुत आम न थी। किन्तु इस कलियुग में ऐसा पाप सर्वत्र देखा जाता है, क्योंकि सारे संसार में लोग निर्लज्ज हो चुके हैं। बहुत काल पूर्व जब अजामिल ने उन्मत्त शूद्र तथा वेश्या का दृश्य देखा था, तो पूर्ण ब्रह्मचारी होते हुए भी वह प्रभावित हो गया। आजकल ऐसा पाप अनेक स्थानों में दृष्टिगोचर होता है और हमें उस ब्रह्मचारी छात्र की स्थिति पर विचार करना चाहिए जो ऐसे आचरण को देखता है। यदि वह यम-नियमों के पालन में अत्यन्त सुदृढ़ न हो तो ऐसे ब्रह्मचारी के लिए स्थिर रह पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी यदि कोई कृष्णभावनामृत को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार करे तो वह पाप द्वारा उत्पन्न उत्तेजना का सामना कर सकता है। हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। कलियुग में एक शराब पी हुई अर्धनग्न स्त्री द्वारा किसी उन्मत्त पुरुष का आलिंगन करते हुए देखे जाना एक सामान्य दृश्य है, विशेषतया पाश्चात्य देशों में और ऐसा दृश्य देखने के बाद अपने को रोक पाना अति कठिन है। फिर भी यदि कृष्ण-कृपा से कोई व्यक्ति विधि-विधानों में दृढ़ रहता है और हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करता है, तो कृष्ण उसकी रक्षा निश्चित रूप से करेंगे। दरअसल, कृष्ण कहते हैं कि उनके भक्त का कभी नाश नहीं होता (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः*

*प्रणश्यति*)। अतएव कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने वाले सारे शिष्यों को आज्ञापूर्वक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए और भगवन्नाम का कीर्तन करने में स्थिर रहना चाहिए। तब डरने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अन्यथा मनुष्य की स्थिति विशेषतया इस कलियुग में अत्यन्त भयावह है।

**दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम् ।**
**जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः ॥ ६१ ॥**

### शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; ताम्—उस ( वेश्या ) को; काम-लिप्तेन—कामेच्छाओं को उद्दीप्त करने के लिए हल्दी लगाये हुए; बाहुना—बाँह से; परिरम्भिताम्—आलिंगित; जगाम—चला गया; हृत्-शय—हृदय के भीतर कामेच्छाओं का; वशम्—वशीभूत; सहसा—एकाएक; एव—निस्सन्देह; विमोहितः—मोहित हुआ।

**यह शूद्र हल्दी के चूर्ण से अपनी बाहें चमकाए हुए था और उस वेश्या का आलिंगन कर रहा था। जब अजामिल ने उसे देखा तो उसके हृदय में सुप्त कामेच्छाएँ जाग्रत हो उठीं और वह सम्मोहित होकर उनके वश में हो लिया।**

**तात्पर्य :** कहा जाता है कि यदि शरीर में हल्दी लगी हो तो यह विपरीत लिंग की कामेच्छाओं को आकृष्ट करता है। *कामलिप्तेन* शब्द सूचित करता है कि वह शूद्र अपना शरीर हल्दी के लेप से अलंकृत किए था।

**स्तम्भयन्नात्मनात्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम् ।**
**न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥ ६२ ॥**

### शब्दार्थ

स्तम्भयन्—वश में करने का प्रयास करते हुए; आत्मना—बुद्धि से; आत्मानम्—मन को; यावत् सत्त्वम्—यथासम्भव उसके लिए; यथा-श्रुतम्—आदेश का ( ब्रह्मचर्य का, स्त्री को देखने तक का ) स्मरण करके; न—नहीं; शशाक—समर्थ था; समाधातुम्—रोक पाने के लिए; मनः—मन; मदन-वेपितम्—कामदेव या कामेच्छाओं द्वारा चलायमान।

**उसने धैर्यपूर्वक स्त्री को न देखने के शास्त्रों के आदेश स्मरण करने का यथासम्भव प्रयास किया। इस ज्ञान तथा अपनी बुद्धि के बल पर उसने अपनी कामेच्छाओं को वश में करने का प्रयास किया, किन्तु अपने भीतर कामदेव का वेग होने से वह अपने मन को साध**

**न सका।**

**तात्पर्य :** जब तक कोई ज्ञान, धैर्य तथा उचित शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक आचरण में अत्यन्त प्रबल न हो तब तक उसके लिए अपनी कामेच्छाओं को वश में कर पाना अतीव कठिन है। अत: किसी पुरुष द्वारा एक युवती का आलिंगन किया जाना तथा संभोग के लिए अपेक्षित प्रत्येक कार्य सम्पन्न होते देखकर, ऊपर वर्णित एक पूर्णयोग्य ब्राह्मण भी अपनी कामेच्छाओं को वश में नहीं कर सका और उनसे अपने को रोक नहीं पाया। भौतिकतावादी जीवन के वेग के कारण तब तक आत्मसंयम रख पाना दुष्कर है जब तक कोई व्यक्ति भक्ति के माध्यम से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में न हो।

**तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः ।**
**तामेव मनसा ध्यायन्स्वधर्माद्विरराम ह ॥ ६३ ॥**

शब्दार्थ

तत्-निमित्त—उसे देखने से उत्पन्न; स्मर-व्याज—उसके विषय में लगातार सोचते रहने का लाभ उठाकर; ग्रह-ग्रस्तः—ग्रहण द्वारा पकड़ा हुआ; विचेतनः—अपनी असली स्थिति को पूरी तरह भूलकर; ताम्—उसको; एव—निश्चय ही; मनसा—मन से; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; स्व-धर्मात्—ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले अनुष्ठानों को; विरराम ह—उसने पूरी तरह बन्द कर दिया।

**जिस तरह सूर्य तथा चन्द्रमा एक क्षुद्र ग्रह द्वारा ग्रसित हो जाते हैं, उसी तरह उस ब्राह्मण ने अपना सारा उत्तम ज्ञान खो दिया। इस स्थिति का लाभ उठाकर वह सदैव उस वेश्या के विषय में सोचता रहता और थोड़े समय बाद ही उसने उसे अपने घर में नौकरानी के रूप में रख लिया तथा ब्राह्मण के सारे अनुष्ठानों का परित्याग कर दिया।**

**तात्पर्य :** यह श्लोक कह कर शुकदेव गोस्वामी पाठक के मन पर यह प्रभाव छोड़ना चाहते हैं कि वेश्या की संगति से ब्राह्मण के रूप में अजामिल का उच्च पद समाप्त हो गया, यहाँ तक कि वह अपने सारे ब्राह्मण-कर्म भूल गया। तो भी जीवन के अन्त में नारायण नाम के चार अक्षरों का उच्चारण करने से वह पतित होने के गम्भीरतम खतरे से बचा लिया गया। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्* थोड़ी सी भी भक्ति मनुष्य को बड़े-से-बड़े खतरे से बचा सकती है।

भगवन्नाम का कीर्तन करने से प्रारम्भ होने वाली भक्ति इतनी बलशाली होती है कि यदि कोई यौन में लिप्त हो जाने के कारण ब्राह्मण के उच्च पद से नीचे गिरता भी है, तो वह सारी विपत्तियों से बचाया जा सकता है, यदि वह किसी तरह भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। भगवान् के पवित्र नाम की यह असाधारण शक्ति है। इसीलिए *भगवद्गीता* में परामर्श दिया गया है कि मनुष्य क्षण-भर के लिए भी पवित्र नाम का कीर्तन करना न भूले—*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः*। इस भौतिक जगत में अनेकानेक खतरे हैं जिससे मनुष्य किसी भी समय उच्च पद से नीचे गिर सकता है। फिर भी यदि कोई हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन द्वारा अपने को सदैव शुद्ध तथा स्थिर रखता है, तो वह निस्सन्देह सुरक्षित रहेगा।

**तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता ।**
**ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा ॥ ६४॥**

### शब्दार्थ

ताम्—उसको ( वेश्या को ); एव—निस्सन्देह; तोषयाम् आस—उसने प्रसन्न करने का प्रयास किया; पित्र्येण—अपने पिता की गाढ़ी कमाई से प्राप्त; अर्थेन—धन से; यावता—यथासम्भव; ग्राम्यैः—भौतिक; मनः-रमैः—उसके मन को सुहावना लगने वाले; कामैः—इन्द्रिय भोग के लिए उपहारों द्वारा; प्रसीदेत—उसे तुष्ट करना होगा; यथा—जिससे; तथा—उस तरह से।

**इस तरह अजामिल अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त जो भी धन था उसे अपने विविध उपहारों द्वारा उस वेश्या को तुष्ट करने में खर्च करने लगा, जिससे वह उससे प्रसन्न बनी रहे। उसने उस वेश्या को तुष्ट करने के लिए अपने सारे ब्राह्मण-कर्म भी छोड़ दिये।**

**तात्पर्य :** विश्व में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें एक शुद्ध व्यक्ति भी वेश्या द्वारा आकृष्ट हो जाने पर उत्तराधिकार में प्राप्त सारा धन खर्च कर देता है। वेश्या का संग इतना निन्दनीय है कि वेश्या के साथ सम्भोग की इच्छा से व्यक्ति अपना चरित्र नष्ट कर सकता है, अपना उच्च पद खो सकता है और अपना सारा धन गँवा सकता है। इसलिए अवैध यौन का पुरजोर निषेध किया गया है। मनुष्य को अपनी विवाहिता पत्नी से तुष्ट रहना चाहिए, क्योंकि थोड़े से विचलन से ही सर्वनाश हो सकता है। एक कृष्णभावनाभावित गृहस्थ को इसका सदैव स्मरण रहना चाहिए। उसे

एक पत्नी से सदैव तुष्ट रहना चाहिए और केवल हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके शान्त रहना चाहिए। अन्यथा किसी भी क्षण वह अपने उत्तम पद से नीचे गिर सकता है, जिसका ज्वलन्त उदाहरण अजामिल है।

**विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम् ।**
**विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः ॥ ६५ ॥**

### शब्दार्थ

विप्राम्—ब्राह्मण की पुत्री; स्व-भार्याम्—अपनी पत्नी को; अप्रौढाम्—अधिक आयु वाली नहीं ( युवती ); कुले—परिवार से; महति—अतीव सम्माननीय; लम्भिताम्—विवाहिता; विससर्ज—त्याग दिया; अचिरात्—तुरन्त ही; पापः—पापी होने से; स्वैरिण्या—वेश्या की; अपाङ्ग-विद्ध-धीः—कामयुक्त चितवन से बिधी हुई उसकी बुद्धि।

**चूँकि उसकी बुद्धि वेश्या की कामपूर्ण चितवन से बिंध चुकी थी, अतः शिकार हुआ ब्राह्मण अजामिल उसकी संगति में पापकर्म करने लगा। उसने अपनी अति सुन्दर तरुण पत्नी तक का साथ छोड़ दिया जो अति सम्मानित ब्राह्मण कुल से आई थी।**

**तात्पर्य :** प्रथा के अनुसार हर व्यक्ति अपने पिता का उत्तराधिकार पाने का पात्र है और अजामिल ने भी अपने पिता का धन उत्तराधिकार में पाया। किन्तु उसने इस धन से क्या किया? उसने यह धन कृष्ण की सेवा में न लगाकर वेश्या की सेवा में लगा दिया। अतएव उसकी निन्दा हुई और वह यमराज द्वारा दण्डनीय हुआ। यह सब कैसे हुआ? वह एक वेश्या की घातक कामयुक्त चितवन का शिकार हो गया।

**यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् ।**
**बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥ ६६ ॥**

### शब्दार्थ

यतः ततः—जहाँ भी और जैसे भी सम्भव; च—तथा; उपनिन्ये—उसे मिला; न्यायतः—उचित रीति से; अन्यायतः—अनुचित रीति से; धनम्—धन; बभार—भरण-पोषण किया; अस्याः—उसके; कुटुम्-बिन्याः—अनेक पुत्रियों तथा पुत्रों वाला; कुटुम्बम्—परिवार; मन्द-धीः—समस्त बुद्धि से रहित; अयम्—इस व्यक्ति ( अजामिल ) ने।

**यद्यपि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न था, किन्तु वेश्या की संगति के कारण बुद्धि से विहीन उस धूर्त ने जैसे-तैसे करके धन कमाया चाहे वह उचित रीति से हो या अनुचित रीति से और**

**उसको वेश्या के पुत्रों तथा पुत्रियों के भरण-पोषण में लगाया।**

**यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यतिगर्हितः ।**
**अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात् ॥ ६७॥**

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; असौ—यह ब्राह्मण; शास्त्रम् उल्लङ्घ्य—शास्त्र के नियमों का उल्लंघन करके; स्वैर-चारी—मनमाने ढंग से कार्य करते हुए; अति-गर्हितः—अत्यधिक निन्दनीय; अवर्तत—बिताया; चिरम् कालम्—दीर्घकाल; अघ-आयुः—जिसका जीवन पापकर्मों से पूर्ण था; अशुचिः—अस्वच्छ; मलात्—गंदगी के कारण।.

**इस ब्राह्मण ने पवित्र शास्त्रों के विधि-विधानों का उल्लंघन करके, अपव्यय करने तथा वेश्या द्वारा बनाया भोजन करने में बड़े ही अनुत्तरदायित्त्व पूर्ण ढंग से अपनी दीर्घ आयु बिताई। इसीलिए वह पापों से पूर्ण है। वह अस्वच्छ है और निषिद्ध कर्मों में लिप्त रहता है।**

**तात्पर्य :** किसी अस्वच्छ, पापी पुरुष या स्त्री के द्वारा, विशेषतया वेश्या द्वारा बनाया गया भोजन अत्यन्त संक्रामक होता है। अजामिल ने ऐसा ही भोजन किया, अतएव उसे यमराज द्वारा दण्डित होना पड़ा।

**तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् ।**
**नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुद्ध्यति ॥ ६८ ॥**

शब्दार्थ

ततः—इसलिए; एनम्—उसको; दण्ड-पाणेः—यमराज के, जिसे दण्ड देने का अधिकार है; सकाशम्—समक्ष; कृत-किल्बिषम्—जिसने नियमित रूप से सारे पापकर्म किये हैं; नेष्यामः—हम ले जायेंगे; अकृत-निर्वेशम्—जिसने प्रायश्चित्त नहीं किया हो; यत्र—जहाँ; दण्डेन—दण्ड द्वारा; शुद्ध्यति—शुद्ध बना दिया जायेगा।.

**इस अजामिल ने कोई प्रायश्चित्त नहीं किया। अतः उसके पापी जीवन के कारण हम इसे दण्ड देने के लिए यमराज के समक्ष ले जायेंगे। वहाँ यह अपने पापकर्मों की मात्रा के अनुसार दण्डित होगा और इस तरह शुद्ध बनाया जायेगा।**

**तात्पर्य :** विष्णुदूतों ने अजामिल को यमराज के पास ले जाने से यमदूतों को रोक दिया था, अतएव यमदूतों ने बताया कि ऐसे व्यक्ति को यमराज के पास ले जाना उचित है। चूँकि अजामिल ने अपने पापकर्मों के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं किया था, अतः उसे शुद्ध बनाने के लिए यमराज के

पास ले जाया जाना था। जब कोई व्यक्ति हत्या करता है, तो वह पापी बन जाता है, अत: उसका भी वध कर दिया जाना चाहिए, अन्यथा मृत्यु के बाद उसे तमाम पापफल भोगने होंगे। इसी तरह अत्यधिक गर्हित पापी व्यक्तियों को यमराज द्वारा दण्ड दिया जाना शुद्धि की विधि है। अतएव यमदूतों ने विष्णुदूतों से अनुनय-विनय की कि वे अजामिल को यमराज के पास ले जाने से न रोकें।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''अजामिल के जीवन का इतिहास'' नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter दो

# विष्णुदूतों द्वारा अजामिल का उद्धार

इस अध्याय में वैकुण्ठ के दूत यमदूतों को भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की महिमा बतलाते हैं। विष्णुदूतों ने कहा, ''अब तो भक्तों की सभा में भी अपवित्र कर्म किये जाते हैं, क्योंकि जो व्यक्ति दण्डनीय नहीं है, वह यमराज की सभा में दण्डित होने जा रहा है। लोग असहाय हैं और वे अपनी सुरक्षा के लिए सरकार पर निर्भर रहते हैं, किन्तु यदि सरकार इसका लाभ उठाकर नागरिकों को हानि पहुँचाती है, तो फिर वे कहाँ जायेंगे? हम अच्छी तरह देख रहे हैं कि अजामिल को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, यद्यपि तुम लोग इसे दण्ड देने के लिए यमराज के पास लिए जाने का प्रयास कर रहे हो।''

अजामिल अपने द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम की महिमा के गायन से ही अदण्डनीय हो गया था। विष्णुदूतों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की: ''यह ब्राह्मण मात्र एक बार नारायण का नाम उच्चारण करने से पापी जीवन के फलों से मुक्त हो गया है। यह न केवल इस जन्म के पापों से मुक्त हो गया है, अपितु कई हजारों अन्य जीवनों के पापों से भी मुक्त हो गया है। उसने पहले ही अपने पाप-कर्मों का प्रायश्चित्त कर लिया है, जो कोई शास्त्रों के निर्देशानुसार प्रायश्चित्त करता है,

वह वस्तुतः पापकर्मों के फलों से मुक्त नहीं होता, किन्तु यदि वह भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो ऐसे कीर्तन की एक परछाई मात्र से वह सारे पापों से तुरन्त मुक्त हो जाता है। भगवान् के नाम की महिमा का कीर्तन सारे सौभाग्य का उदय कराता है। अतएव इसमें संदेह नहीं है कि सारे पापकर्मों के फलों से पूर्णतया मुक्त होने के कारण अजामिल को यमराज द्वारा दण्ड नहीं मिलना चाहिए।''

जब वे यह कह रहे थे तो विष्णुदूतों ने अजामिल को यमदूतों के पाश से छुड़ा दिया और वे अपने धाम को चले गये। किन्तु ब्राह्मण अजामिल ने विष्णुदूतों को सादर नमस्कार किया। तब उसकी समझ में आया कि वह कितना भाग्यशाली था कि उसने अपने जीवन के अन्त में नारायण के नाम का उच्चारण किया। निस्सन्देह वह अपने सौभाग्य का पूर्ण महत्त्व अनुभव कर सका। यमदूतों तथा विष्णुदूतों के बीच हुए वाद-विवाद को भलीभाँति समझने के बाद वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का शुद्ध भक्त बन गया। उसने अत्यधिक पश्चात्ताप किया कि वह कितना बड़ा पापी था और बारम्बार अपने को कोसा।

अन्ततः विष्णुदूतों की संगति से अपनी मूल चेतना के जाग्रत हो जाने पर अजामिल ने सर्वस्व त्याग दिया और हरिद्वार चला गया जहाँ वह अविचल भाव से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन करते हुए भक्ति में लग गया। तब विष्णुदूत वहाँ पहुँचे और उन्होंने उसे सोने के सिंहासन पर बैठाया और फिर उसे वैकुण्ठलोक ले गये।

संक्षेप में, यद्यपि पापी अजामिल अपने पुत्र को पुकारता था, किन्तु नारायण का पवित्र नाम, प्रारम्भिक अवस्था (नामाभास) में उच्चारण किये जाने पर भी, उसे मुक्ति दिला सका। इसलिए जो व्यक्ति श्रद्धा तथा भक्ति से भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता है, वह निश्चित रूप से महान् है और उसकी रक्षा उसके भौतिक बद्ध जीवन में भी की जाती है।

**श्रीबादरायणिरुवाच**

**एवं ते भगवद्दूता यमदूताभिभाषितम् ।**
**उपधार्याथ तान्राजन्प्रत्याहुर्नयकोविदाः ॥ १ ॥**

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ते—वे; भगवत्-दूताः—भगवान् विष्णु के सेवक; यमदूत—यमराज के सेवकों द्वारा; अभिभाषितम्—कहा गया; उपधार्य—सुनकर; अथ—तब; तान्—उनसे; राजन्—हे राजन्; प्रत्याहुः—ठीक से उत्तर दिया; नय-कोविदाः—उत्तम नीति में पटु होने से।

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! भगवान् विष्णु के दूत नीति तथा तर्कशास्त्र में अति पटु होते हैं। यमदूतों के कथनों को सुनने के बाद उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया।**

श्रीविष्णुदूता ऊचुः
**अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम् ।**
**यत्रादण्ड्येष्वपापेषु दण्डो यैर्ध्रियते वृथा ॥ २ ॥**

शब्दार्थ

श्री-विष्णुदूताः ऊचुः—विष्णुदूतों ने कहा; अहो—हाय; कष्टम्—कितना दुखदायी है; धर्म-दृशाम्—धर्मपालन करने में रुचि लेने वाले पुरुषों को; अधर्मः—अधर्म; स्पृशते—प्रभावित कर रहा है; सभाम्—सभा को; यत्र—जिसमें; अदण्ड्येषु—न दण्डित होने वाले पुरुषों पर; अपापेषु—पापरहित; दण्डः—दण्ड; यैः—जिनके द्वारा; ध्रियते—निर्धारित किया जाता है; वृथा—व्यर्थ ही।

**विष्णुदूतों ने कहा : हाय! यह कितना दुःखद है कि ऐसी सभा में जहाँ धर्म का पालन होना चाहिए, वहाँ अधर्म को लाया जा रहा है। दरअसल, धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने के अधिकारी जन एक निष्पाप एवं अदण्डनीय व्यक्ति को व्यर्थ ही दण्ड दे रहे हैं।**

**तात्पर्य :** विष्णुदूतों ने यमदूतों पर आरोप लगाया कि वे दण्ड देने के लिए अजामिल को यमराज के पास घसीट कर ले जाने का प्रयास करके धार्मिक सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहे हैं। यमराज वह अधिकारी है, जिसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने धार्मिक तथा अधार्मिक सिद्धान्तों का निर्णय करने तथा अधार्मिक लोगों को दण्ड देने के लिए नियुक्त किया है। किन्तु यदि पूर्णतया निष्पाप लोग दण्डित होते हैं, तो यमराज की पूरी सभा दूषित होती है। यह नियम न केवल यमराज की सभा पर लागू होता है, अपितु सम्पूर्ण मानव-समाज पर भी लागू होता है।

मानव-समाज में धार्मिक सिद्धान्तों का सही ढंग से पालन करना राजन् के दरबार का या सरकार का कर्तव्य है। दुर्भाग्यवश इस कलियुग में धार्मिक सिद्धान्तों में हस्तक्षेप किया जाता है

और सरकार यह ठीक से निर्णय नहीं ले पाती कि कौन दण्डनीय है और कौन नहीं। कहा जाता है कि कलियुग में यदि न्यायालय में धन नहीं व्यय किया जाये तो न्याय नहीं मिल पाता। निस्सन्देह न्यायालयों में प्राय: पाया जाता है कि अनुकूल निर्णयों के लिए मैजिस्ट्रेटों को रिश्वत दी जाती है। कभी-कभी कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का प्रचार करने वाले धार्मिक लोगों को बन्दी बनाकर पुलिस तथा न्यायालयों द्वारा सताया जाता है, जो सम्पूर्ण जनता के लाभार्थ कार्य करते हैं। विष्णुदूत, जो कि वैष्णव थे, इन्हीं शोचनीय तथ्यों के लिए शोक कर रहे थे। वैष्णवजन समस्त पतितात्माओं के प्रति अपनी आध्यात्मिक करुणा के कारण धार्मिक सिद्धान्तों की मानक विधि के अनुसार प्रचार करने बाहर जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश, कलियुग के प्रभाव से जिन वैष्णवों ने भगवान् की महिमा का प्रचार करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया है वे कभी-कभी सताये जाते हैं और शान्ति भंग करने के झूठे आरोपों पर न्यायालयों द्वारा दण्डित किये जाते हैं।

**प्रजानां पितरो ये च शास्तार: साधव: समा: ।**
**यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजा: ॥ ३ ॥**

### शब्दार्थ

प्रजानाम्—नागरिकों के; पितर:—रक्षक, अभिभावक (राजा या सरकारी नौकर); ये—जो; च—तथा; शास्तार:—कानून तथा व्यवस्था का आदेश देने वाले; साधव:—समस्त सद्गुणों से युक्त; समा:—हर एक के तुल्य; यदि—यदि; स्यात्—है; तेषु—उनमें से; वैषम्यम्—पक्षपात; कम्—किसकी; यान्ति—जायेंगे; शरणम्—शरण में; प्रजा:—नागरिक।

**राजा या सरकारी शासक को इतना सुयोग्य होना चाहिए कि वह स्नेह और प्रेम के साथ नागरिकों के पिता, पालक तथा संरक्षक के रूप में कार्य कर सके। उसे मानक शास्त्रों के अनुसार नागरिकों को अच्छी सलाह तथा आदेश देने चाहिए और हर एक के प्रति समभाव रखना चाहिए। यमराज ऐसा करता है, क्योंकि वह न्याय का परम स्वामी है और उसके पदचिन्हों पर चलने वाले भी वैसा ही करते हैं, किन्तु यदि ऐसे लोग दूषित हो जायँ और निर्दोष तथा अबोध व्यक्ति को दण्डित करके पक्षपात प्रदर्शित करें तो फिर सारे नागरिक अपने भरण-पोषण तथा सुरक्षा के लिए शरण लेने हेतु कहाँ जायेंगे?**

**तात्पर्य :** राजा अथवा आधुनिक काल में सरकार को चाहिए कि नागरिकों को जीवन के सही लक्ष्य की शिक्षा देकर उनके अभिभावक के रूप में कार्य करे। यह मनुष्य-जीवन विशेषतया स्वयं को तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की अनुभूति के निमित्त है, क्योंकि पशु-जीवन में इसकी अनुभूति नहीं की जा सकती। इसलिए सरकार का कर्तव्य है कि वह सारे नागरिकों को प्रशिक्षण देने का भार अपने ऊपर इस तरह से ले कि धीरे-धीरे वे आध्यात्मिक पद तक उठ सकें और आत्मा तथा ईश्वर से अपने सम्बन्ध की अनुभूति कर सकें। इस सिद्धान्त का पालन महाराज युधिष्ठिर, महाराज परीक्षित, श्रीरामचन्द्र, महाराज अम्बरीष तथा प्रह्लाद महाराज ने किया। सरकार के नेताओं को अत्यन्त ईमानदार तथा धार्मिक होना चाहिए, अन्यथा राज्य के सारे कामकाज बाधित होंगे। दुर्भाग्यवश, प्रजातंत्र के नाम पर चोर-उचक्के अन्य चोर-उचक्कों को ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सरकारी पदों के लिए चुन रहे हैं। हाल ही में अमेरिका में यह सिद्ध हो चुका है जहाँ राष्ट्रपति को निन्दित होना पड़ा तथा नागरिकों द्वारा उसे अपने पद से नीचे उतार देना पड़ा। यह कोई अकेला मामला नहीं है, बल्कि ऐसे अनेक मामले हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की महत्ता के कारण लोगों को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और ऐसे किसी व्यक्ति को वोट नहीं देना चाहिए जो कृष्णभावनाभावित न हो। राज्य में तब वास्तविक शान्ति और समृद्धि होगी, जब कोई भी वैष्णव सरकार में कुव्यवस्था देखता है, तो उसके हृदय में अपार करुणा उमड़ती है और वह अपने बल पर हरे कृष्ण आन्दोलन का विस्तार करके स्थिति को शुद्ध बनाने का प्रयास करता है।

**यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते ।**
**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ४॥**

### शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; आचरति—सम्पन्न करता है; श्रेयान्—धार्मिक सिद्धान्तों की पूरी जानकारी से युक्त उच्चकोटि का व्यक्ति; इतरः—अधीन व्यक्ति; तत् तत्—वही वही; ईहते—करता है; सः—वह ( महापुरुष ); यत्—जो जो; प्रमाणम्—

प्रमाण या सही बात के रूप में; कुरुते—स्वीकार करती है; लोकः—आम जनता; तत्—वही; अनुवर्तते—अनुसरण करती है।

**आम जनता समाज में नेता के उदाहरण का अनुगमन और उसके आचरण का अनुसरण करती है। नेता जो भी मानता है उसे आप जनता प्रमाण रूप में स्वीकार करती है।**

**तात्पर्य :** यद्यपि अजामिल दण्डनीय नहीं था, फिर भी यमदूत उसे दण्ड देने के लिए यमराज के पास ले जाने की जिद्द कर रहे थे। यह *अधर्म* था अर्थात् धार्मिक सिद्धान्तों के विपरीत था। विष्णुदूतों को भय था कि यदि ऐसे अधार्मिक कार्यों की अनुमति दी जाती है, तो मानव-समाज की व्यवस्था बिगड़ जायेगी। आधुनिक काल में, कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानव-समाज की व्यवस्था के सही सिद्धान्त को चालू कर रहा है, किन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि कलियुग की सरकारें हरे कृष्ण आन्दोलन का समुचित रूप से समर्थन नहीं करतीं, क्योंकि वे इस आन्दोलन की मूल्यवान सेवाओं को समझ नहीं पा रहीं। हरे कृष्ण आन्दोलन मानव-समाज की पतित अवस्था को सुधारने के लिए सही आन्दोलन है, इसलिए सरकारों तथा विश्व के प्रत्येक भाग के जन-नेताओं को मानवता की पापपूर्ण स्थिति को पूरी तरह से संशोधित करने में अपना समर्थन देना चाहिए।

**यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः ।**
**स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः ॥ ५ ॥**
**स कथं न्यर्पितात्मानं कृतमैत्रमचेतनम् ।**
**विस्रम्भणीयो भूतानां सघृणो दोग्धुमर्हति ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्के—गोद में; शिरः—सिर; आधाय—रखकर; लोकः—आम जनता; स्वपिति—सोती है; निर्वृतः—शान्ति से; स्वयम्—स्वयं; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्त या जीवन-लक्ष्य; अधर्मम्—अधार्मिक सिद्धान्त; वा—अथवा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; वेद—जानते हैं; यथा—जिस तरह; पशुः—पशु; सः—ऐसा व्यक्ति; कथम्—कैसे; न्यर्पित-आत्मानम्—उस जीव के प्रति जिसने पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दिया है; कृत-मैत्रम्—श्रद्धा तथा मैत्री से समन्वित; अचेतनम्—अविकसित चेतना वाला, मूर्ख; विस्रम्भणीयः—श्रद्धा का विषय बनने के योग्य; भूतानाम्—जीवों का; स-घृणः—सारे लोगों के कल्याण हेतु मृदु हृदय रखने वाला; दोग्धुम्—कष्ट देने के लिए; अर्हति—समर्थ है।

**सामान्य लोग ज्ञान में इतने उन्नत होते है कि धर्म तथा अधर्म में भेदभाव कर सकें।**

**अबोध, अप्रबुद्ध नागरिक उस अज्ञानी पशु की तरह है, जो अपने स्वामी की गोद में सिर रख कर शान्तिपूर्वक सोता रहता है और श्रद्धापूर्वक अपने स्वामी द्वारा अपने संरक्षण पर विश्वास करता है। यदि नेता वास्तव में दयालु हो तथा जीव की श्रद्धा का भाजन बनने योग्य हो तो वह किसी मूर्ख व्यक्ति को किस तरह दण्ड दे सकता है या जान से मार सकता है, जिसने श्रद्धा तथा मैत्री में पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दिया हो?**

**तात्पर्य :** श्रद्धा या विश्वास को तोड़ने वाले को संस्कृत में *विश्वस्त-घात* द्योतित करता है। जनसमूह को सदैव इसलिए सुरक्षित अनुभव करना चाहिए, क्योंकि उसे सरकारी सुरक्षा प्राप्त रहती है। अतएव कितना खेदजनक है यदि सरकार स्वयं विश्वासघात करे और नागरिकों को राजनीतिक कारणों से कठिनाई में डाल दे। हमने भारत के विभाजन के दिनों में वास्तव में देखा कि यद्यपि हिन्दू तथा मुसलमान शान्तिपूर्वक साथ-साथ रह रहे थे, किन्तु राजनीतिज्ञों के छलकपट से उनके बीच सहसा घृणा की भावना उत्पन्न हो गई और हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने राजनीति के कारण एक दूसरे की हत्या कर दी। यह कलियुग का लक्षण है। इस युग में पशुओं को ठीक से आश्रय दिया जाता है और उन्हें पूर्ण विश्वास रहता है कि उनके मालिक उनकी रक्षा करेंगे, किन्तु दुर्भाग्यवश ज्योंही वे तगड़े (मोटे) हो जाते हैं, उन्हें तुरन्त वध के लिए कसाईखाने भेज दिया जाता है। विष्णुदूत जैसे वैष्णव ऐसी क्रूरता की निन्दा करते हैं। दरअसल, जिन नारकीय दशाओं का पहले वर्णन हो चुका है, वे ऐसी यातना देने वाले पापी मनुष्यों की प्रतीक्षा करती रहती हैं। जो मनुष्य किसी जीव के साथ चाहे यह जीव मनुष्य हो या पशु, विश्वासघात करता है, जिसने अच्छे भाव से उसकी शरण ले रखी है, वह अतीव पापी है। चूँकि अब ऐसे विश्वासघात सरकार द्वारा अदण्डित रहते हैं इसलिए पूरा मानव-समाज बुरी तरह से दूषित है। इसलिए इस युग के लोगों को *मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।* ऐसी पापमयता के फलस्वरूप लोग निन्दित होते हैं (*मन्दाः*) उनकी बुद्धि विमल नहीं रहती (*सुमन्दमतयः*) वे अभागे होते हैं (*मन्दभाग्याः*), अतएव वे अनेक समस्याओं द्वारा सदैव उद्विग्न रहते हैं (*उपद्रुताः*)। यह तो इस जीवन में उनकी स्थिति है

और मृत्यु के बाद उन्हें नारकीय दण्ड दिया जाता है।

**अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।**
**यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥ ७॥**

### शब्दार्थ

अयम्—यह व्यक्ति ( अजामिल ); हि—निस्सन्देह; कृत-निर्वेशः—सभी तरह के प्रायश्चित्त किये हैं; जन्म—जन्मों का; कोटि—करोड़ों; अंहसाम्—पापकर्मों के लिए; अपि—भी; यत्—क्योंकि; व्याजहार—उच्चारण किया है; विवशः—असहाय अवस्था में; नाम—पवित्र नाम; स्वस्ति-अयनम्—मोक्ष का साधन; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ।

**अजामिल पहले ही अपने सारे पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त कर चुका है। दरअसल, उसने न केवल एक जीवन में किये गये पापों का प्रायश्चित्त किया है, अपितु करोड़ों जीवनों में किये गये पापों के लिए किया है, क्योंकि उसने असहाय अवस्था में नारायण-नाम का उच्चारण किया है। यद्यपि उसने शुद्धरीति से यह उच्चारण नहीं किया, किन्तु उसने अपराधरहित उच्चारण किया है इसलिए अब वह पवित्र है और मोक्ष का पात्र है।**

**तात्पर्य :** यमदूतों ने अजामिल की केवल बाह्य स्थिति पर ही विचार किया था। चूँकि वह आजीवन अत्यधिक पापी था, अत: उन्होंने सोचा कि उसे यमराज के पास ले चलना चाहिए। वे यह नहीं जानते थे कि वह अपने समस्त पापों के फलों से मुक्त हो चुका था। इसलिए विष्णुदूतों ने आदेश दिया कि चूँकि उसने मृत्यु के समय नारायण नाम के चार अक्षरों का उच्चारण किया था, अत: वह सारे पापफलों से मुक्त कर दिया गया था। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *स्मृति शास्त्र* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

*नाम्नो हि यावती शक्ति: पापनिर्हरणे हरे: ।*

*तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नर: ॥*

''हरि का एक पवित्र नाम लेने मात्र से पापी मनुष्य जितने पाप कर सकता है उससे अधिक पापों के फलों का निराकरण कर सकता है।'' ( *बृहद्विष्णु पुराण*) ।

*अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकै: ।*

*पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥*

''यदि कोई असहायअवस्था में या अनिच्छा से ही क्यों न हों भगवन्नाम का उच्चारण करे तो उसके पापमय जीवन के सारे फल उसी तरह मिट जाते हैं जिस तरह सिंह की दहाड़ से सारे छोटे-छोटे पशु डर कर भग जाते हैं।'' ( *गरूड़ पुराण*)

*सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।*

*बद्धपरिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥*

''हरि के दो अक्षरों *ह* तथा *रि* के एक बार उच्चारण करने से मनुष्य का मोक्ष का मार्ग सुनिश्चित हो जाता है।''( *स्कन्द पुराण*)

ये कुछ कारण हैं जिससे विष्णुदूतों ने यमदूतों को अजामिल को यमराज के न्यायालय में ले जाने से मना किया।

**एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।**
**यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥ ८ ॥**

### शब्दार्थ

एतेन—इस ( कीर्तन ) से; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; अघोनः—पापपूर्ण फलों वाला; अस्य—इस ( अजामिल ) का; कृतम्—किया हुआ; स्यात्—है; अघ—पापों का; निष्कृतम्—पूर्ण प्रायश्चित्त; यदा—जब; नारायण—हे नारायण ( उसके पुत्र का नाम ); आय—कृपया आइये; इति—इस प्रकार; जगाद—उच्चारण किया; चतुः-अक्षरम्—चार अक्षर ( ना-रा-य-ण )।

**विष्णुदूतों ने आगे कहा : यहाँ तक कि पहले भी, खाते समय तथा अन्य अवसरों पर यह अजामिल अपने पुत्र को यह कहकर पुकारा करता, ''प्रिय नारायण! यहाँ तो आओ।'' यद्यपि वह अपने पुत्र का नाम पुकारता था, फिर भी वह ना, रा, य तथा ण इन चार अक्षरों का उच्चारण करता था। इस प्रकार केवल नारायण नाम का उच्चारण करने से उसने लाखों जन्मों के पापपूर्ण फलों के लिए पर्याप्त प्रायश्चित्त कर लिए हैं।**

**तात्पर्य :** पहले जब अजामिल अपने परिवार के पालन हेतु पापकर्मों में लगा रहता तो वह नारायण का नाम निरपराध होकर लेता था। केवल अपने पापकर्मों के निवारणार्थ भगवान् के पवित्र

नाम का कीर्तन करना या पवित्र नाम के कीर्तन के बल पर पापकर्म करना अपराधमय है ( *नाम्नो बलादस्य हि पाप बुद्धिः*)। यद्यपि अजामिल पापकर्मों में लगा रहता था, किन्तु इनके निवारणार्थ उसने कभी नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन नहीं किया। वह अपने पुत्र को बुलाने के लिए नारायण का नाम लिया करता था। इसलिए उसका कीर्तन प्रभावोत्पादक था। इस तरह से नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन करने से वह अनेकानेक जीवनों के संचित पापमय फलों को पहले ही विनष्ट कर चुका था। प्रारम्भ में वह पवित्र था, किन्तु बाद में चाहे उसने अनेक पापकर्म किये; फिर भी वह अपराधरहित था, क्योंकि उसने उनके निवारणार्थ कभी नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन नहीं किया था। जो व्यक्ति बिना अपराध के भगवन्नाम का सदैव कीर्तन करता है, वह सदैव पवित्र रहता है। जैसाकि इस श्लोक में पुष्टि हुई है अजामिल पहले से निष्पाप था और चूँकि वह नारायण के नाम का उच्चारण करता था, अतएव वह निष्पाप बना रहा। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा कि वह अपने पुत्र को बुलाता था। नाम स्वयं में प्रभावकारी था।

**स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।**
**स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥ ९॥**
**सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।**
**नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥ १०॥**

### शब्दार्थ

स्तेनः—चुराने वाला; सुरा-पः—शराबी; मित्र-ध्रुक्—अपने मित्र या सम्बन्धी का विरोधी; ब्रह्म-हा—ब्राह्मण का वध करने वाला; गुरु-तल्प-गः—अपने गुरु की पत्नी के साथ संभोग करने वाला; स्त्री—स्त्रियाँ; राज—राजा; पितृ—पिता; गो—गौवों का; हन्ता—हत्यारा; ये—जो; च—भी; पातकिनः—पापकर्मे किए; अपरे—अन्य सारे; सर्वेषाम्—उन सबका; अपि—भी; अघ-वताम्—अनेक पाप कर चुके व्यक्ति; इदम्—यह; एव—निश्चय ही; सु-निष्कृतम्—पूर्ण प्रायश्चित्त; नाम-व्याहरणम्—नाम का कीर्तन; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; यतः—जिससे; तत्-विषया—पवित्र नाम का उच्चारण करने वाले पर; मतिः—उनका ध्यान।

**भगवान् विष्णु के नाम का कीर्तन सोना या अन्य मूल्यवान वस्तुओं के चोर, शराबी, मित्र या सम्बन्धी के साथ विश्वासघात करने वाले, ब्राह्मण के हत्यारे अथवा अपने गुरु अथवा अन्य श्रेष्ठजन की पत्नी के साथ संभोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त की सर्वोत्तम**

**विधि है। स्त्रियों, राजा या अपने पिता के हत्यारे, गौवों का वध करने वाले तथा अन्य सारे पापी लोगों के लिए भी प्रायश्चित्त की यही सर्वोत्तम विधि है। भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का केवल कीर्तन करने से ऐसे पापी व्यक्ति भगवान् का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं और वे इसीलिए विचार करते हैं** कि, **''इस व्यक्ति ने मेरे नाम का उच्चारण किया है, इसलिए मेरा कर्तव्य है कि उसे सुरक्षा प्रदान करूँ।''**

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान्व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

न—नहीं; निष्कृतैः—प्रायश्चित्त की विधियों द्वारा; उदितैः—निर्धारित; ब्रह्म-वादिभिः—मनु जैसे विद्वान पंडितों द्वारा; तथा—उस सीमा तक; विशुद्ध्यति—शुद्ध हो जाता है; अघ-वान्—पापी व्यक्ति; व्रत-आदिभिः—व्रत तथा अन्य अनुष्ठानों का पालन करने से; यथा—जिस तरह; हरेः—भगवान् हरि का; नाम-पदैः—नाम के अक्षरों से; उदाहृतैः—उच्चरित; तत्—वह; उत्तमश्लोक—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गुण—दिव्य गुणों का; उपलम्भकम्—किसी को स्मरण दिलाते हुए।

**वैदिक कर्मकाण्डों का पालन करने अथवा प्रायश्चित्त करने से पापी लोग उस तरह से शुद्ध नहीं हो पाते जिस तरह एक बार भगवान् हरि के पवित्र नाम का कीर्तन करने से शुद्ध बनते हैं। यद्यपि आनुष्ठानिक प्रायश्चित्त मनुष्य को पापफलों से मुक्त कर सकता है, किन्तु यह भक्ति को जाग्रत नहीं करता जिस तरह परम भगवान् के नाम का कीर्तन मनुष्य को भगवान् के यश, गुण, लक्षण, लीलाओं तथा साज-सामग्री का स्मरण कराता है।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि भगवान् के कीर्तन का विशेष महत्त्व है, जो कठोर, कठोरतर या कठोरतम पापकर्मों के प्रायश्चित्त के वैदिक कर्मकाण्डों से इसे पृथक् करने वाला है। बीस प्रकार के धार्मिक वाङ्मय हैं, जो धर्मशास्त्र कहलाते हैं यथा *मनुसंहिता, पराशरसंहिता* इत्यादि, किन्तु यहाँ पर इस पर बल दिया गया है कि यद्यपि मनुष्य इन शास्त्रों के धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने से सर्वाधिक पापकर्मों के फलों से मुक्त हो सकता है, किन्तु

इनसे पापी व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति की अवस्था तक नहीं पहुँच सकता। दूसरी ओर भगवन्नाम का एक बार भी कीर्तन करने से मनुष्य न केवल बड़े से बड़े पापों के फलों से तुरन्त मुक्त हो जाता है, अपितु यह कीर्तन उसे उत्तमश्लोक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमाभक्ति करने के पद तक उठाता है। इस तरह मनुष्य भगवान् के स्वरूप, गुण तथा लीलाओं का स्मरण करके उनकी सेवा करता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि यह सब एकमात्र भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से सम्भव है, क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। जिसे वैदिक कर्म-काण्डों को सम्पन्न करके प्राप्त नहीं किया जा सकता उसे भगवान् के पवित्र नाम के जप से सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। पवित्र नाम का कीर्तन करने और भावविभोर होकर नाचने की विधि इतनी सरल तथा भव्य है कि एकमात्र इसी का पालन करने से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के सारे लाभ प्राप्त कर सकता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु घोषित करते हैं—*परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्*—श्रीकृष्ण *सङ्कीर्तन* की जय हो! हमने जो संकीर्तन आन्दोलन चलाया है, वह समस्त पापफलों से शुद्ध होने तथा तुरन्त ही आध्यात्मिक जीवन के पद को प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि प्रदान करता है।

**नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते**
**मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।**
**तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-**
**र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥ १२॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; ऐकान्तिकम्—पूरी तरह स्वच्छ किया हुआ; तत्—हृदय; हि—क्योंकि; कृते—अत्यन्त सुन्दर ढंग से सम्पन्न; अपि—यद्यपि; निष्कृते—प्रायश्चित्त; मनः—मन; पुनः—फिर; धावति—दौड़ता है; चेत्—यदि; असत्-पथे—भौतिक कार्यों के मार्ग पर; तत्—इसलिए; कर्म-निर्हारम्—भौतिक कर्मों के सकाम फलों का अन्त; अभीप्सताम्—उनके लिए जो गम्भीरतापूर्वक चाहते हैं; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; गुण-अनुवादः—महिमा का निरन्तर कीर्तन; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व-भावनः—वास्तव में जीवन को शुद्ध करने वाला।

**धार्मिक शास्त्रों में संस्तुत किये गये प्रायश्चित्त के कर्मकाण्ड हृदय को पूरी तरह स्वच्छ बनाने में अपर्याप्त होते हैं, क्योंकि प्रायश्चित्त के बाद मनुष्य का मन पुनः भौतिक कर्मों की**

**ओर दौड़ता है। फलस्वरूप, जो व्यक्ति भौतिक कार्यों के सकाम फलों से मुक्ति चाहता है, उसके लिए हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन या भगवान् के नाम, यश तथा लीलाओं की महिमा का गायन प्रायश्चित्त की सबसे पूर्ण विधि के रूप में संस्तुत किया जाता है, क्योंकि ऐसे कीर्तन से मनुष्य के हृदय में संचित धूल स्वच्छ हो जाती है।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक के कथनों की पुष्टि पहले ही *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में हो चुकी है—

*शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्य श्रवणकीर्तन: ।*
*हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ।*

"भगवान् कृष्ण, जो कि प्रत्येक के हृदय में परमात्मा हैं और सच्चे भक्त के उपकारी हैं उस भक्त के हृदय से भौतिक भोग की इच्छा को धो डालते हैं, जो उनके सन्देशों का आस्वादन करता है, जो ठीक से सुने जाने तथा कीर्तन किये जाने पर स्वयं में शुभ गुणों से अलंकृत (पवित्र) हैं।" यह तो परम भगवान् की विशेष कृपा होती है कि ज्योंही वे यह जान जाते हैं कि कोई उनके नाम, यश तथा गुणों का महिमागान कर रहा है, तो वे स्वयं उसके हृदय की धूल को हटाने में सहायता करते हैं। इसलिए मात्र ऐसे गुणानुवाद से मनुष्य न केवल शुद्ध बनता है, अपितु पुण्यकर्मों का फल भी प्राप्त करता है। (*पुण्यश्रवणकीर्तन*)। *पुण्यश्रवणकीर्तन भक्ति* का द्योतक है। यदि कोई भगवान् के नाम, लीलाओं या गुणों को न भी समझता हो तो वह मात्र उनके श्रवण या कीर्तन से शुद्ध हो जाता है। ऐसी शुद्धि *सत्त्व-भावन* कहलाती है।

मनुष्य का मुख्य उद्देश्य अपने जीवन को शुद्ध बनाना तथा मुक्ति प्राप्त करना होना चाहिए। जब तक मनुष्य का भौतिक शरीर रहता है, वह अशुद्ध समझा जाता है। ऐसी अशुद्ध भौतिक दशा में मनुष्य वास्तविक आनन्दमय जीवन का भोग नहीं कर सकता, यद्यपि हर कोई उसकी खोज में है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (५.५.१) में कहा गया है—*तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येत*—मनुष्य को अपने जीवन को शुद्ध करने हेतु *तपस्या* करनी चाहिए ताकि वह आध्यात्मिक पद तक

आ सके। भगवान् के नाम, यश तथा गुणों के कीर्तन तथा गुणानुवाद की *तपस्या* अत्यन्त सरल शुद्धकारी विधि है, जिससे हर एक सुखी बन सकता है। अत: हर व्यक्ति को जो अपने हृदय को स्वच्छ बनाना चाहता है यह विधि ग्रहण करनी चाहिए। अन्य विधियाँ, यथा कर्म, ज्ञान तथा योग हृदय को पूरी तरह स्वच्छ नहीं बना सकतीं।

**अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् ।**
**यदसौ भगवन्नाम म्रियमाण: समग्रहीत् ॥ १३ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—इसलिए; एनम्—उसको ( अजामिल को ); मा—मत; अपनयत—ले जाने का प्रयास करो; कृत—पहले किया हुआ; अशेष—असीम; अघ-निष्कृतम्—उसके पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त; यत्—क्योंकि; असौ—उसने; भगवत्-नाम—भगवान् का पवित्र नाम; म्रियमाण:—मरते समय; समग्रहीत्—पूर्णरूपेण उच्चारण किया।

**इस अजामिल ने मृत्यु के समय असहाय होकर तथा अत्यन्त जोर-जोर से भगवान् नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया है। एकमात्र उसी उच्चारण ने पूरे पापमय जीवन के फलों से उसे पहले ही मुक्त कर दिया है। इसलिए हे यमराज के सेवको! तुम उसे नारकीय दशाओं में दण्ड देने के लिए अपने स्वामी के पास ले जाने का प्रयास मत करो।**

**तात्पर्य :** विष्णुदूतों ने श्रेष्ठ अधिकारी होने के नाते यमदूतों को आदेश दिया जो यह नहीं जानते थे कि अजामिल को अब उसके विगत पापों के लिए नारकीय जीवन में यातना नहीं दी जानी है। यद्यपि उसने अपने पुत्र के सम्बन्ध में नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था, किन्तु पवित्र नाम दिव्य रूप से इतना शक्तिशाली है कि अजामिल स्वत: मुक्त कर दिया गया, क्योंकि उसने मरते समय पवित्र नाम का उच्चारण किया था। (अन्ते नारायण स्मृत:) *भगवद्गीता* (७.२८) में कृष्ण पुष्टि करते हैं—

*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।*
*ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता: ॥*

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का

पूर्णतया उच्छेदन हो चुका है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो चुके हैं, तब वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।" जब तक कोई सारे पापकर्मों से मुक्त नहीं हो जाता, वह भक्ति के पद तक नहीं उठ सकता। *भगवद्गीता* में अन्यत्र (८.५) कहा गया है—

*अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।*

*यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥*

यदि कोई मृत्यु के समय कृष्ण या नारायण का स्मरण करता है, तो वह निश्चित रूप से तुरन्त ही घर वापस जाने अर्थात् भगवद्धाम जाने का पात्र बन जाता है।

**साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।**
**वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥ १४॥**

शब्दार्थ

साङ्केत्यम्—संकेत के रूप में; पारिहास्यम्—हँसी मजाक में; वा—अथवा; स्तोभम्—संगीतमय मनोरंजन में; हेलनम्—उपेक्षा भाव से; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; वैकुण्ठ—भगवान् का; नाम-ग्रहणम्—पवित्रनाम का कीर्तन; अशेष—असीम; अघ-हरम्—पापमय जीवन के प्रभाव को दूर करने वाला; विदुः—उन्नत योगी जानते हैं।

**जो व्यक्ति भगवन्नाम का कीर्तन करता है उसे तुरन्त अनगिनत पापों के फलों से मुक्त कर दिया जाता है। भले ही उसने यह कीर्तन अप्रत्यक्ष रूप में (कुछ अन्य संकेत करने के लिए), परिहास में, संगीतमय मनोरंजन के लिए अथवा उपेक्षा भाव से क्यों न किया हो। इसे शास्त्रों में पारंगत सभी विद्वान पंडित स्वीकार करते हैं।**

**पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः ।**
**हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाः ॥ १५॥**

शब्दार्थ

पतितः—गिरा हुआ; स्खलितः—फिसला हुआ; भग्नः—टूटी हड्डियों वाला; सन्दष्टः—काटा हुआ; तप्तः—ज्वर या ऐसी ही पीड़ादायक स्थिति से बुरी तरह आक्रान्त; आहतः—चोट खाया; हरिः—भगवान् कृष्ण; इति—इस प्रकार; अवशेन—अकस्मात्; आह—कीर्तन करता है; पुमान्—मनुष्य; न—नहीं; अर्हति—योग्य है; यातनाः—नारकीय दशाएँ।

**यदि कोई हरिनाम का उच्चार करता है और तभी किसी आकस्मिक दुर्भाग्य से यथा छत से गिरने, फिसलने या सड़क पर यात्रा करते समय हड्डी टूट जाने, सर्प द्वारा काटे जाने,**

**पीड़ा तथा तेज ज्वर से आक्रान्त होने या हथियार से घायल होने से, मर जाता है, तो वह कितना ही पापी क्यों न हो नारकीय जीवन में प्रवेश करने से वह तुरन्त मुक्त कर दिया जाता है।**

**तात्पर्य :** जैसा कि *भगवद्गीता* (८.६) में कहा गया है—

*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।*

*तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥*

''हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस-उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।'' यदि कोई कृष्ण मंत्र के कीर्तन का अभ्यास करता है, तो जब वह किसी दुर्घटना से ग्रस्त होता है, तो स्वभावत: आशा की जाती है कि वह हरे कृष्ण कीर्तन करेगा। किन्तु ऐसे अभ्यास के बिना भी यदि दुर्घटनाग्रस्त होते समय या मरते समय कोई किसी भी रूप में भगवान् (हरे कृष्ण) का कीर्तन करता है, तो वह मृत्यु के बाद नारकीय जीवन से बचा लिया जाता है।

**गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च ।**
**प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभि: ॥ १६ ॥**

**शब्दार्थ**

गुरूणाम्—भारी; च—तथा; लघूनाम्—हल्के; च—तथा; गुरूणि—भारी; च—तथा; लघूनि—हल्के; च—भी; प्रायश्चित्तानि—प्रायश्चित्त की विधियाँ; पापानाम्—पापकर्मों की; ज्ञात्वा—ठीक से जानकर; उक्तानि—नियत की गई है; महा-ऋषिभि:—बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा।

**प्राधिकृत विज्ञ पंण्डितों तथा महर्षियों ने बड़ी ही सावधानी के साथ यह पता लगाया है कि मनुष्य को भारी से भारी पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रायश्चित की भारी विधि का तथा हल्के पापों के प्रायश्चित्त के लिए हल्की विधि का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु हरे-कृष्ण-कीर्तन सारे पापकर्मों के प्रभावों को, चाहे वे भारी हों या हल्के, नष्ट कर देता है।**

**तात्पर्य :** इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक घटना का वर्णन किया है, जो

तब घटी जब साम्ब को कौरवों के दण्ड से बचाया गया था। साम्ब दुर्योधन की पुत्री से प्रेम हो गया था और चूँकि क्षत्रिय प्रथा के अनुसार क्षत्रिय की कन्या किसी को तब तक नहीं प्रदान की जाती जब तक प्रेमी अपना शौर्य न दिखाए, अत: साम्ब ने उसका अपहरण कर लिया। फलस्वरूप वह कौरवों द्वारा बन्दी बना लिया गया। बाद में जब भगवान् बलराम उसे छुड़ाने आये तो साम्ब की रिहाई को लेकर वाद-विवाद हुआ। चूँकि कोई समझौता नहीं हो पाया, अतएव बलराम ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे सारा हस्तिनापुर डगमगाने लगा और ऐसा लगा कि किसी बहुत बड़े भूकम्प से वह विनष्ट हो जायेगा। तब सारा मामला तय हुआ और साम्ब का विवाह दुर्योधन की पुत्री से कर दिया गया। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण-बलराम की शरण लेनी चाहिए जिसकी सुरक्षात्मक शक्ति इतनी महान् है कि इसकी तुलना इस जगत में किसी से नहीं की जा सकती। किसी के पापों के फल कितने ही प्रबल क्यों न हों यदि वह हरि, कृष्ण, बलराम या नारायण के नाम का कीर्तन करता है, तो ये पाप तुरन्त नष्ट हो जायेंगे।

**तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।**
**नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥ १७॥**

### शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; तानि—वे सब; अघानि—पापकर्म तथा उनके फल; पूयन्ते—विनष्ट हो जाते हैं; तपः—तपस्या; दान—दान; व्रत-आदिभिः—व्रतों तथा अन्य कार्यों के द्वारा; न—नहीं; अधर्म-जम्—अधार्मिक कार्यों से उत्पन्न; तत्—उसका; हृदयम्—हृदय; तत्—वह; अपि—भी; ईश-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमलों की; सेवया—सेवा द्वारा।

**यद्यपि तपस्या, दान, व्रत तथा अन्य विधियों से पापमय जीवन के फलों का निरसन किया जा सकता है, किन्तु ये पुण्यकर्म किसी के हृदय की भौतिक इच्छाओं का उन्मूलन नहीं कर सकते। किन्तु यदि वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है, तो वह तुरन्त ही ऐसे सारे कल्मषों से मुक्त कर दिया जाता है।**

**तात्पर्य :** जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.२.४२) में कहा गया है—*भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च*—भक्ति इतनी प्रबल होती है कि भक्ति करने वाला तुरन्त ही पापेच्छाओं से मुक्त हो

जाता है। भौतिक जगत में सारी इच्छाएँ पापपूर्ण हैं, क्योंकि भौतिक इच्छा का अर्थ ही है इन्द्रियतृप्ति, जिसमें ऐसा कर्म निहित होता है, जो न्यूनाधिक पापपूर्ण होता है। किन्तु शुद्धभक्ति तो *अन्याभिलाषिताशून्य* होती है। दूसरे शब्दों में, यह उन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होती है, जो कर्म तथा ज्ञान से प्रतिफलित होती हैं। जो भक्तिपद को प्राप्त होता है उसमें भौतिक इच्छाएँ नहीं रहतीं, अतएव वह पापमय जीवन से परे होता है। भौतिक इच्छाओं को पूरी तरह से रोक देना चाहिए। अन्यथा, भले ही किसी की तपस्या तथा दान कुछ समय के लिए उसे पाप से मुक्त करा सकें, किन्तु उसकी इच्छाएँ पुनः प्रकट होंगी, क्योंकि उसका हृदय अशुद्ध रहता है। इस तरह वह पापकर्म करेगा और कष्ट उठायेगा।

**अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।**
**सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥ १८ ॥**

**शब्दार्थ**

अज्ञानात्—अज्ञानवश; अथवा—या; ज्ञानात्—जानकर; उत्तमश्लोक—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; नाम—पवित्रनाम; यत्—जो; सङ्कीर्तितम्—संकीर्तन किया गया; अघम्—पाप; पुंसः—मनुष्य का; दहेत्—जलाकर क्षार कर देता है; एधः—सूखी घास; यथा—जिस तरह; अनलः—अग्नि।

**जिस तरह अग्नि सूखी घास को जला कर राख कर देती है, उसी तरह भगवन्नाम, चाहे वह जाने-अनजाने में उच्चारण किया गया हो, मनुष्य के पापकर्मों के सभी फलों को निश्चित रूप से जलाकर राख कर देता है।**

**तात्पर्य :** आग अपना काम करती है चाहे उसे कोई अबोध बालक छुये या इसकी शक्ति से परिचित अन्य कोई। उदाहरणार्थ, यदि तिनकों वाले खेत में या सूखी घास में आग लगा दी जाये, चाहे वह किसी ऐसे वृद्ध व्यक्ति द्वारा लगाई जाये जो आग की शक्ति को जानता है या अज्ञानी बालक द्वारा, घास जलकर राख हो जाएगी। इसी तरह हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन की शक्ति को चाहे कोई जानता हो या न भी जानता हो, किन्तु यदि वह पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो समस्त पापफलों से मुक्त हो जायेगा।

**यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यद‍ृच्छया ।**
**अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥ १९ ॥**

**शब्दार्थ**

यथा—जिस तरह; अगदम्—दवा; वीर्य-तमम्—अत्यन्त तेज; उपयुक्तम्—उचित रीति से ली गई; यद‍ृच्छया—किसी-न-किसी तरह; अजानतः—ज्ञान से विहीन पुरुष द्वारा; अपि—भी; आत्म-गुणम्—अपनी शक्ति से; कुर्यात्—प्रकट करता है; मन्त्रः—हरे कृष्ण मंत्र; अपि—भी; उदाहृतः—उच्चारण किया गया।

**यदि किसी दवा की प्रभावकारी शक्ति से अनजान व्यक्ति उस दवा को ग्रहण करता है या उसे बलपूर्वक खिलाई जाती है, तो वह दवा उस व्यक्ति के जाने बिना ही अपना कार्य करेगी, क्योंकि उसकी शक्ति रोगी के जानकारी पर निर्भर नहीं करती हैं। इसी तरह, भगवन्नाम के कीर्तन के महत्त्व को न जानते हुए भी यदि कोई व्यक्ति जाने या अनजाने में उसका कीर्तन करता है, तो वह कीर्तन अत्यन्त प्रभावकारी होगा।**

**तात्पर्य :** पाश्चात्य देशों में, जहाँ हरे कृष्ण आन्दोलन विस्तार कर रहा है, विद्वान पंडित तथा अन्य विचारवान् व्यक्ति इसकी प्रभावोत्पादकता का अनुभव कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, एक विद्वान पंडित डा. जे. स्टिलसन जुडाह इस आन्दोलन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हुए हैं, क्योंकि उन्होंने वस्तुतः यह देखा है कि नशीली दवाओं के व्यसनी हिप्पियों को यह शुद्ध वैष्णवों में बदल रहा है और वे स्वेच्छा से कृष्ण तथा मानवता के सेवक बन रहे हैं। यहाँ तक कि कुछ वर्ष पूर्व ऐसे हिप्पी जो हरे कृष्ण मंत्र को जानते तक न थे, अब उसका कीर्तन करके शुद्ध वैष्णव बन रहे हैं। इस तरह वे समस्त पापकर्मों—यथा अवैध मैथुन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने—से मुक्त हो रहे हैं। हरे कृष्ण आन्दोलन के प्रभावोत्पादकता का व्यावहारिक प्रमाण है, जिसका समर्थन इस श्लोक में हुआ है। कोई व्यक्ति हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन के महत्त्व को जाने या न जाने, किन्तु यदि वह किसी भी तरह से उसका कीर्तन करता है, तो वह तुरन्त शुद्ध हो जायेगा जिस तरह प्रभावकारी दवा खाने पर रोगी को उसका प्रभाव अनुभव हो जाएगा, चाहे वह उस दवा को जानकर ले या अजनाने ही।

श्रीशुक उवाच

**त एवं सुविनिर्णीय धर्मं भागवतं नृप ।**
**तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन् ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—वे ( विष्णुदूत ); एवम्—इस प्रकार; सु-विनिर्णीय—सुनिश्चित करके; धर्मम्—असली धर्म; भागवतम्—भक्ति के रूप में; नृप—हे राजा; तम्—उसको ( अजामिल को ); याम्य-पाशात्—यमदूतों के पाश से; निर्मुच्य—छुड़ाकर; विप्रम्—ब्राह्मण को; मृत्योः—मृत्यु से; अमूमुचन्—बचा लिया।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्! तर्क-वितर्कों द्वारा भक्ति के सिद्धान्तों का पूरी तरह से निर्णय कर चुकने के बाद विष्णु के दूतों ने अजामिल को यमदूतों के पाश से छुड़ा दिया और उसे आसन्न मृत्यु से बचा लिया।**

**इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिकम् ।**
**यमराज्ञे यथा सर्वमाचचक्षुररिन्दम ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; प्रत्युदिताः—( विष्णुदूतों द्वारा ) उत्तर पाकर; याम्याः—यमराज के सेवक; दूताः—दूत; यात्वा—जाकर; यम-अन्तिकम्—यमराज के धाम; यम-राज्ञे—यमराज के पास; यथा—भलीभाँति; सर्वम्—सारी बातें; आचचक्षुः—विस्तार से सूचित किया; अरिन्दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता।

**हे राजा परीक्षित! हे समस्त शत्रुओं के दमनकर्ता! जब यमराज के सेवकों ने विष्णुदूतों से उत्तर पा लिया, तो वे यमराज के पास गये और जो कुछ घटित हुआ था, सब कह सुनाया।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *प्रत्युदितः* शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। यमदूत इतने शक्तिशाली हैं कि उनके कार्य में कहीं भी कोई बाधा नहीं डाल सकता, किन्तु इस समय वे उस व्यक्ति को यमलोक ले जाने से रोक दिये गये, जिसे वे पापी समझते थे। अत: वे निराश होकर तुरन्त यमराज के पास लौट गये तथा उनको सारी घटना जो घटी थी, वर्णित कर दी।

**द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः ।**
**ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान्दर्शनोत्सवः ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

द्विजः—ब्राह्मण ( अजामिल ); पाशात्—फंदे से; विनिर्मुक्तः—छोड़ दिये जाने पर; गत-भीः—भय से मुक्त; प्रकृतिम् गतः—होश में आया, चेत हुआ; ववन्दे—अपना सादर प्रणाम अर्पित किया; शिरसा—अपना सिर झुकाकर; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; किङ्करान्—सेवकों को; दर्शन-उत्सवः—उन्हें देखकर अतीव प्रसन्न।

**यमराज के सेवकों के फन्दे से छुड़ा दिये जाने पर ब्राह्मण अजामिल अब भय से मुक्त होकर होश में आया और तुरन्त ही उसने विष्णुदूतों के चरणकमलों पर शीश झुकाकर उन्हें नमस्कार किया। वह उनकी उपस्थिति से अत्यन्त प्रसन्न था, क्योंकि उसने यमराज के दूतों के हाथों से उन्हें अपना जीवन बचाते देखा था।**

**तात्पर्य :** वैष्णव भी विष्णुदूत हैं, क्योंकि वे कृष्ण के आदेशों का पालन करते हैं। भगवान् कृष्ण उन समस्त बद्ध आत्माओं के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं कि जो इस भौतिक जगत में सड़ रहे हैं, वे उनकी शरण में आयें और इस जीवन के भौतिक कष्ट से तथा मृत्यु के बाद नारकीय स्थिति के दण्ड से बचाये जा सकें। इसीलिए एक वैष्णव बद्ध आत्माओं को उनके होश में लाने का प्रयास करता है। जो अजामिल की तरह भाग्यशाली होते हैं, वे या तो विष्णुदूतों द्वारा या वैष्णवों द्वारा बचा लिये जाते हैं और इस प्रकार वे भगवद्धाम वापस जाते हैं।

**तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः ।**
**सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

तम्—उसको ( अजामिल को ); विवक्षुम्—बोलने की इच्छा करते हुए; अभिप्रेत्य—समझ कर; महापुरुष-किङ्कराः—भगवान् विष्णु के दूत; सहसा—एकाएक; पश्यतः तस्य—उसके देखते-देखते; तत्र—वहाँ; अन्तर्दधिरे—अन्तर्धान हो गये; अनघ—हे निष्पाप महाराज परीक्षित।

**हे निष्पाप महाराज परीक्षित! पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुदूतों ने देखा कि अजामिल कुछ कहना चाह रहा था, अतः वे सहसा उसके समक्ष से अन्तर्धान हो गये।**

**तात्पर्य :** शास्त्रों का कथन है—

*पापिष्ठा ये दुराचारा देवब्राह्मणनिन्दकाः ।*

*अपथ्यभोजनास्तेषां अकाले मरणं ध्रुवम् ॥*

"जो लोग *पापिष्ठ* अर्थात् अत्यन्त पापी तथा *दुराचार* या गन्दी आदतों वाले अथवा दुराचारी

होते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्त्व के विरुद्ध हैं, जो वैष्णवों तथा ब्राह्मणों का अनादर करते हैं और सर्वभक्षी हैं उनकी असामयिक मृत्यु निश्चित है।'' कहा जाता है कि कलियुग में मनुष्य की अधिकतम आयु एक सौ वर्षों की होती है, किन्तु ज्यों-ज्यों लोग अधम होते जाते हैं, उनकी आयु घटती जाती है (*प्रायेणाल्पायुषः*)। चूँकि अब अजामिल सारे पापफलों से मुक्त था, इसलिए उसकी आयु बढ़ा दी गई थी, यद्यपि उसे तुरन्त मरना था। जब विष्णुदूतों ने देखा कि अजामिल उनसे कुछ कहना चाह रहा है, तो वे उसे परम भगवान् का गुणगान करने का अवसर देने के उद्देश्य से अन्तर्धान हो गये। चूँकि उसके सारे पापफल नष्ट हो चुके थे, अतः अब वह परम भगवान् की महिमा का गायन करने के लिए तत्पर था। दरअसल, जब तक कोई सारे पापकर्मों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाता वह भगवान् का महिमागायन नहीं कर सकता। इसकी पुष्टि स्वयं कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२८) में की है :—

*येषां त्वन्तगतं पापं ज्ञानानां पुण्यकर्मणाम्।*
*ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥*

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।'' विष्णुदूतों ने अजामिल को भक्ति से अवगत कराया जिससे वह तुरन्त भगवद्धाम वापस जाने के योग्य बन सके। भगवान् का गुणगान करने के लिए उसकी उत्सुकता बढ़ाने के उद्देश्य से वे अन्तर्धान हो गये जिससे उनकी अनुपस्थिति में वह वियोग का अनुभव कर सके। वियोगावस्था में भगवान् का गुणगान अति तीव्र हो जाता है।

**अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य दूतानां यमकृष्णयोः ।**
**धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैवेद्यं च गुणाश्रयम् ॥ २४॥**
**भक्तिमान्भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः ।**
**अनुतापो महानासीत्स्मरतोऽशुभमात्मनः ॥ २५॥**

## शब्दार्थ

अजामिलः—अजामिल ने; अपि—भी; अथ—तत्पश्चात्; आकर्ण्य—सुनकर; दूतानाम्—दूतों का; यम-कृष्णयोः—यमराज तथा भगवान् कृष्ण का; धर्मम्—वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त; भागवतम्—जैसाकि श्रीमद्भागवत में वर्णित है अथवा जीव तथा पूर्ण पुरुषोत्त्म भगवान् के बीच सम्बन्ध विषयक; शुद्धम्—शुद्ध; त्रै-वेद्यम्—तीनों वेदों में उल्लिखित; च—भी; गुण-अश्रयम्—प्रकृति के गुणों के अधीन भौतिक धर्म; भक्ति-मान्—शुद्ध भक्त ( भौतिक गुणों से शुद्ध किया हुआ ); भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति; आशु—तुरन्त; माहात्म्य—नाम, यश आदि का गुणगान.; श्रवणात्—सुनने से; हरेः—भगवान् के; अनुतापः—खेद; महान्—अत्यधिक; आसीत्—था; स्मरतः—स्मरण करता हुआ; अशुभम्—समस्त अशुभ कर्म; आत्मनः—अपने द्वारा किये हुए।.

**यमदूतों तथा विष्णुदूतों के बीच हुए वार्तालापों को सुनकर अजामिल उन धार्मिक सिद्धान्तों को समझ सका जो भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अधीन कार्य करते हैं। ये सिद्धान्त तीन वेदों में उल्लिखित हैं। वह उन दिव्य धार्मिक सिद्धान्तों को भी समझ सका जो भौतिक प्रकृति के गुणों से ऊपर हैं और जो जीव तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बीच के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। इतना ही नहीं, अजामिल ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम, यश, गुणों तथा लीलाओं के गुणगान को सुना। इस तरह वह पूरी तरह शुद्ध भक्त बन गया। तब उसे अपने विगत पापकर्मों का स्मरण हुआ और उसे अत्यधिक पछतावा हुआ कि उसने ये पाप क्यों किये।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* ( २.४५ ) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।*

*निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥*

“वेदों में मुख्यत: प्रकृति के तीन गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों, हानि-लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्मपरायण बनो।” वैदिक सिद्धान्त निश्चय ही आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठने के लिए क्रमिक विधि की संस्तुति करते हैं, किन्तु यदि कोई वैदिक सिद्धान्तों में ही आसक्त रहता है, तो पूरे आध्यात्मिक जीवन तक उठ पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसलिए कृष्ण अर्जुन को भक्ति करने की सलाह देते हैं, क्योंकि दिव्य धर्म की यही विधि है। भक्ति के दिव्य पद की पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में भी ( १.२.६ ) की गई है। *स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। भक्ति परोधर्मः* अर्थात् दिव्य धर्म है। यह कोई

भौतिक धर्म नहीं है। सामान्यत: लोग यही सोचते हैं कि धर्म का पालन भौतिक लाभ के लिए करना चाहिए। यह उन लोगों के लिए उपयुक्त हो सकता है, जो भौतिक जीवन में रुचि रखते हैं, किन्तु जो आध्यात्मिक जीवन में रुचि रखता हो उसे *परोधर्म* अर्थात् उस धर्म के प्रति अनुरक्त होना चाहिए जिससे मनुष्य परम भगवान् का भक्त बनता है (*यतो भक्तिरधोक्षजे*)। भागवत धर्म यह शिक्षा देता है कि भगवान् तथा जीवों में नित्य सम्बन्ध है और जीव का कर्तव्य है कि वह भगवान् की शरण ग्रहण करे। जब कोई व्यक्ति भक्ति के पद पर स्थित होता है, तो वह सारे अवरोधों से मुक्त हो जाता है और पूर्ण तुष्ट हो जाता है (*अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति*)। उस पद तक ऊपर उठकर अजामिल अपने विगत भौतिकतावादी कार्यों के लिए पश्चात्ताप तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम, यश, रूप तथा लीलाओं का गुणगान करने लगा।

**अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः ।**
**येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायतात्मना ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरी; परमम्—अत्यधिक; कष्टम्—दुखी अवस्था; अभूत्—हो गई; अविजित-आत्मनः—क्योंकि मेरी इन्द्रियाँ अनियंत्रित थीं; येन—जिनके द्वारा; विप्लावितम्—विनष्ट; ब्रह्म—मेरे सारे ब्राह्मणगुण; वृषल्याम्—एक शूद्राणी या दासी से; जायता—उत्पन्न हुए; आत्मना—मेरे द्वारा।

**अजामिल ने कहा : हाय! अपनी इन्द्रियों का दास बनकर मैं कितना अधम बन गया! मैं अपने सुयोग्य ब्राह्मण पद से नीचे गिर गया और मैंने एक वेश्या के गर्भ से बच्चे उत्पन्न किये।**

**तात्पर्य :** उच्चजाति के लोग—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—निम्न जाति की स्त्रियों के गर्भ से सन्तानें उत्पन्न नहीं करते। अत: वैदिक समाज की यह रीति है कि विवाह के लिए लड़की तथा लड़के की कुण्डलियों की जाँच-पड़ताल यह देखने के लिए की जाती है कि उनका संयोग अनुकूल तो है। वैदिक ज्योतिष यह बताता है कि कोई व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार विप्र वर्ण में, क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य वर्ण में या शूद्र वर्ण में उत्पन्न है। इसकी जाँच आवश्यक है,

क्योंकि विप्र वर्ण के बालक तथा शूद्रवर्ण की लड़की के साथ विवाह अनमेल होता है। इससे पति तथा पत्नी दोनों ही का विवाहित जीवन दुखमय हो जाता है। अत: लड़के को उसी वर्ण की लड़की के साथ विवाह करना चाहिए। वस्तुत:, यह *त्रैगुण्य* है—अर्थात् वेदों के अनुसार भौतिक गणना है। किन्तु यदि लड़का तथा लड़की दोनों ही भक्त हों, तो ऐसे विचारों की आवश्यकता नहीं रह जाती। भक्त दिव्य होता है, अतएव भक्तों के बीच विवाह होने से लड़के तथा लड़की का अत्यन्त सुखी मेल (संयोग) बनता है।

**धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम् ।**
**हित्वा बालां सतीं योऽहं सुरापीमसतीमगाम् ॥ २७॥**

### शब्दार्थ

धिक् माम्—मुझे धिक्कार है; विगर्हितम्—निन्दनीय; सद्भिः—ईमानदार व्यक्तियों द्वारा; दुष्कृतम्—पापकर्म करने वाला; कुल-कज्जलम्—जिसने कुल की परम्परा को कलंकित किया हो; हित्वा—त्यागकर; बालाम्—युवा पत्नी को; सतीम्—सती-साध्वी; यः—जो; अहम्—मैंने; सुरापीम्—शराब पीने वाली स्त्री के साथ; असतीम्—असाध्वी; अगाम्—संभोग किया।.

**हाय! मुझे धिक्कार है। मैंने इतना पापपूर्ण कार्य किया है कि अपनी मैने कुल-परम्परा को लज्जित किया है। दरअसल, मैंने शराब पीने वाली पतित वेश्या के साथ संभोग करने के लिए अपनी सती तथा सुन्दर युवा पत्नी को त्याग दिया है। धिक्कार है मुझे।**

**तात्पर्य :** यह उसकी मानसिकता है, जो शुद्ध भक्त बन रहा हो। जब भगवान् तथा गुरु की कृपा से कोई भक्ति-पद को प्राप्त होता है, तो वह पहले अपने विगत पापकर्मों पर पश्चात्ताप करता है। इससे उसे आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने में सहायता मिलती है। विष्णुदूतों ने अजामिल को शुद्ध भक्त बनने का अवसर प्रदान किया था और शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि वह अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने जैसे अपने विगत पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करे। उसे न केवल अपनी पुरानी गन्दी आदतें त्याग देनी चाहिए, अपितु अपने विगत पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करना चाहिए। शुद्धभक्ति का यही मानक है।

**वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ ।**
**अहो मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत् ॥ २८ ॥**

### शब्दार्थ

वृद्धौ—वृद्ध; अनाथौ—जिनकी देखरेख करने वाला कोई न हो; पितरौ—अपने माता-पिता; न अन्य-बन्धू—जिनके कोई अन्य मित्र नहीं था; तपस्विनौ—जिन्होंने बड़े कष्ट सहे थे; अहो—हाय; मया—मेरे द्वारा; अधुना—सम्प्रति; त्यक्तौ—त्यागे हुए; अकृत-ज्ञेन—अकृतज्ञ द्वारा; नीच-वत्—सबसे निन्दनीय व्यक्ति की तरह।

**मेरे माता-पिता वृद्ध थे और उनकी देखरेख करने वाला कोई अन्य पुत्र या मित्र न था। चूँकि मैंने उनकी देखभाल नहीं की, अतएव उन्हें बहुत ही कष्ट में रहना पड़ा। हाय! एक निन्दनीय निम्न जाति के पुरुष की तरह मैंने उस स्थिति में अकृतज्ञतापूर्वक उन्हें छोड़ दिया।**

**तात्पर्य :** वैदिक सभ्यता के अनुसार हर व्यक्ति पर ब्राह्मणों, वृद्धों, स्त्रियों, बालकों तथा गौवों की देखरेख करने का उत्तरदायित्त्व होता है। यह हर एक का, विशेषतया उच्च जाति के मनुष्य का, कर्तव्य है। अजामिल ने वेश्या की संगति के कारण अपने सारे कर्तव्यों का परित्याग कर दिया। इस पर पश्चात्ताप करते हुए अब वह अपने को पूरी तरह पतित मान रहा था।

**सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे ।**
**धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

सः—ऐसा व्यक्ति; अहम्—मैं; व्यक्तम्—अब स्पष्ट है; पतिष्यामि—नीचे गिरूँगा; नरके—नरक में; भृश-दारुणे—अत्यन्त कष्टमय; धर्म-घ्नाः—धार्मिक सिद्धान्तों को तोड़ने वाले; कामिनः—अत्यधिक कामुक; यत्र—जहाँ; विन्दन्ति—सहते हैं; यम-यातनाः—यमराज द्वारा दी जाने वाली कष्टमय दशाएँ।

**अब यह स्पष्ट है कि ऐसे कर्मों के फलस्वरूप मुझ जैसे पापी व्यक्ति को उस नारकीय अवस्था में फेंक दिया जाना चाहिए जो धार्मिक सिद्धान्तों को तोड़ने वाले लोगों के निमित्त होती है और मुझे वहाँ घोर कष्ट सहने चाहिए।**

**किमिदं स्वप्न आहो स्वित्साक्षाद्दृष्टमिहाद्भुतम् ।**
**क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन्पाशपाणयः ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

किम्—क्या; इदम्—यह; स्वप्ने—स्वप्न में; आहो स्वित्—अथवा; साक्षात्—प्रत्यक्ष; दृष्टम्—देखा हुआ; इह—यहाँ; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; क्व—कहाँ; याताः—चले गये; अद्य—अभी; ते—वे सभी; ये—जो; माम्—मुझको; व्यकर्षन्—घसीट रहे थे; पाश-पाणयः—अपने हाथों में पाश लिये हुए।

**क्या मैंने यह सपना देखा था या यह सच्चाई थी? मैंने भयावह पुरुषों को हाथ में रस्सी लिये मुझको बन्दी बनाने के लिए आते और मुझे दूर घसीटकर ले जाते हुए देखा। वे कहाँ चले गये हैं?**

**अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः ।**
**व्यामोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः ॥ ३१ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—इसलिए; ते—वे व्यक्ति; क्व—कहाँ; गताः—चले गये; सिद्धाः—मुक्त; चत्वारः—चारों व्यक्ति; चारु-दर्शनाः—देखने में अतीव सुन्दर; व्यामोचयन्—उन्होंने छोड़ दिया; नीयमानम्—ले जाये जा रहे मुझे; बद्ध्वा—बन्दी बनाकर; पाशैः—रस्सियों से; अधः भुवः—नीचे नरक क्षेत्र को।

**और वे मुक्त तथा अति सुन्दर चार पुरुष कहाँ चले गये जिन्होंने मुझे बन्धन से मुक्त किया और मुझे नारकीय क्षेत्रों में घसीट कर ले जाये जाने से बचाया?**

**तात्पर्य :** जैसाकि पाँचवें स्कन्ध के विवरणों से हम जान चुके हैं नरकलोक इस ब्रह्माण्ड के निचले हिस्सों में स्थित हैं। इसीलिए वे *अधो भुवः* कहलाते हैं। अजामिल समझ गया था कि यमदूत उसी हिस्से से आये थे।

**अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने ।**
**भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥ ३२ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—इसलिए; अपि—यद्यपि; मे—मुझ; दुर्भगस्य—इतने अभागे का; विबुध-उत्तम—उच्च भक्तों का; दर्शने—दर्शन करने से; भवितव्यम्—होगा; मङ्गलेन—शुभ कार्य; येन—जिससे; आत्मा—आत्मा; मे—मेरी; प्रसीदति—वास्तव में सुखी होती है।

**निश्चय ही मैं अति निन्दनीय तथा अभागा हूँ कि पापकर्मों के समुद्र में डूबा हुआ हूँ, किन्तु फिर भी अपने पूर्व आध्यात्मिक कर्मों के कारण मैं उन चार महापुरुषों का दर्शन कर सका जो मुझे बचाने आये थे। उनके आने से अब मैं अत्यधिक सुखी अनुभव करता हूँ।**

**तात्पर्य :** जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.५४) में कहा गया है—

*'साधु-संग', 'साधु-संग'—सर्व-शास्त्रे कय।*

*लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥*

"सभी शास्त्र भक्तों की संगति की संस्तुति करते हैं, क्योंकि एक क्षण की भी ऐसी संगति से सभी सिद्धियों के बीज प्राप्त हो सकते हैं।" अजामिल अपने जीवन के प्रारम्भ में निश्चित रूप से शुद्ध था और वह भक्तों तथा ब्राह्मणों की संगति करता था। अपने उसी पुण्यकर्म के फलस्वरूप पतित होते हुए भी उसे अपने पुत्र का नाम नारायण रखने की प्रेरणा मिली थी। निश्चय ही यह उस नेक सलाह के कारण था, जो उसे अपने भीतर से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा दी गई थी। जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं हर व्यक्ति के हृदय के भीतर स्थित हूँ और मुझ से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।" प्रत्येक हृदय में स्थित भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि किसी ने कभी उनकी सेवा कि हो, तो वे उसे भुलाते नहीं। इस तरह भगवान् ने अजामिल को भीतर से अवसर प्रदान किया कि वह अपने सबसे छोटे पुत्र का नाम नारायण रखे जिससे स्नेहवश वह उसे निरन्तर "नारायण" "नारायण" कहकर पुकारा करे और इस तरह अपनी मृत्यु के समय सबसे भयावह तथा घातक स्थिति से बच सके। कृष्ण की कृपा ऐसी ही होती है। *गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति लता-बीज*—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से मनुष्य को भक्ति का बीज मिलता है। यह संगति भक्त को बड़े से बड़े भय से बचाती है। हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में भक्त का नाम ऐसे रूप में बदल देते हैं, जो उसे विष्णु का स्मरण कराये। यदि भक्त अपनी मृत्यु के समय अपना ही नाम, यथा कृष्णदास या गोविन्ददास स्मरण कर सके, तो वह महानतम संकट से बच सकता है। इसीलिए दीक्षा के समय नाम-परिवर्तन अति आवश्यक है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इतना सतर्क है कि यह किसी-न-किसी रूप में कृष्ण का स्मरण करने का सुअवसर प्रदान करता है।

**अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः ।**
**वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥ ३३ ॥**

### शब्दार्थ

अन्यथा—अन्यथा, नहीं तो; म्रियमाणस्य—मरणासन्न व्यक्ति का; न—नहीं; अशुचेः—अत्यन्त मलिन; वृषली-पतेः—वेश्यागामी; वैकुण्ठ—वैकुण्ठ के भगवान् का; नाम-ग्रहणम्—पवित्र नाम का कीर्तन; जिह्वा—जीभ; वक्तुम्—कहने में; इह—इस स्थिति में; अर्हति—समर्थ है।

**यदि मैने विगत में भक्ति न की होती तो मुझ मलिन वेश्यागामी को, जो मरणासन्न था किस तरह वैकुण्ठपति के पवित्र नाम का उच्चारण करने का अवसर मिल पाता? निश्चय ही ऐसा सम्भव न हो पाता।**

**तात्पर्य :** वैकुण्ठपति का अर्थ है ''आध्यात्मिक लोक के स्वामी'' जो वैकुण्ठ नाम से भिन्न नहीं है। अजामिल, जो अब स्वरूपसिद्ध आत्मा था यह समझ सका कि अपने विगत आध्यात्मिक भक्तिमय कार्यों के कारण ही वह मृत्यु के समय अपनी भयावह स्थिति में वैकुण्ठपति के नाम का उच्चारण करने का अवसर प्राप्त कर सका।

**क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः ।**
**क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम् ॥ ३४ ॥**

### शब्दार्थ

क्व—कहाँ; च—भी; अहम्—मैं; कितवः—वंचक, ठग; पापः—मूर्त रूप में सारे पाप; ब्रह्म-घ्नः—ब्राह्मण संस्कृति का हत्यारा; निरपत्रपः—निर्लज्ज; क्व—कहाँ; च—भी; नारायण—नारायण; इति—इस प्रकार; एतत्—यह; भगवत्-नाम—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पवित्र नाम; मङ्गलम्—सर्व मंगलप्रद।

**अजामिल कहता रहा : मैं ऐसा निर्लज्ज ठग हूँ जिसने अपनी ब्राह्मण संस्कृति की हत्या कर दी है। निस्सन्देह, मैं साक्षात् पाप हूँ। भला मैं भगवान् नारायण के पवित्रनाम के सर्वमंगलकारी कीर्तन की बराबरी में कहाँ ठहर सकता हूँ?**

**तात्पर्य :** कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के माध्यम से नारायण या कृष्ण के पवित्र नाम का प्रसार करने वालों को यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि इसमें आने के पूर्व हमारी स्थिति क्या थी और अब वह क्या है। हम मांसाहारी, शराबी तथा स्त्री-आखेटकों के गर्हित जीवनों में जा गिरे थे जिनमें सभी प्रकार के पापकर्म हमने किए, किन्तु अब हमें हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने का

सुअवसर प्रदान किया गया है। अतएव हमें इस सुअवसर की सदैव प्रशंसा करनी चाहिए। भगवत्कृपा से हम अनेक शाखाएँ खोल रहे हैं और हमें इस सौभाग्य का लाभ भगवन्नाम का कीर्तन करने तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने में उठाना चाहिए। हमें अपनी वर्तमान तथा विगत स्थितियों के बीच जो अन्तर है उसके प्रति सचेत रहना चाहिए और हमें अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए कि कहीं हम सर्वोच्च जीवन से नीचे न गिर जाँय।

**सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः ।**
**यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये ॥ ३५॥**

### शब्दार्थ

सः—ऐसा व्यक्ति; अहम्—मैं; तथा—इस तरह से; यतिष्यामि—मैं प्रयत्न करूँगा; यत-चित्त-इन्द्रिय—मन तथा इन्द्रियों को नियंत्रित करूँगा; अनिलः—तथा आन्तरिक वायु; यथा—जिससे; न—नहीं; भूयः—पुनः; आत्मानम्—मेरी आत्मा; अन्धे—अंधकार में; तमसि—अज्ञान में; मज्जये—मैं डूब रहा हूँ।

**मैं ऐसा पापी व्यक्ति हूँ, किन्तु अब मुझे यह अवसर प्राप्त हुआ है, अतः मैं अपने मन, जीवन ( प्राण ) तथा इन्द्रियों को पूरी तरह से वश में करके भक्ति में अपने को लगाऊँगा जिससे मैं पुनः गहन अंधकार तथा भौतिक जीवन के अज्ञान में न गिरूँ।**

**तात्पर्य :** हममें से प्रत्येक को यही संकल्प होना चाहिए। हम कृष्ण तथा गुरु की कृपा से इस उच्च पद तक ऊपर उठे हैं और यदि हम यह स्मरण रखें कि यह महान् अवसर है और कृष्ण से प्रार्थना करें कि हम पुनः नीचे न गिरें तो हमारे जीवन सफल हो जाएंगे।

**विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम् ।**
**सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ३६॥**
**मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्यात्ममायया ।**
**विक्रीडितो ययैवाहं क्रीडामृग इवाधमः ॥ ३७॥**

### शब्दार्थ

विमुच्य—छूटकर; तम्—उससे; इमम्—यह; बन्धम्—बन्धन; अविद्या—अविद्या के कारण; काम—कामेच्छाओं के कारण; कर्म-जम्—कार्यों से उत्पन्न; सर्व-भूत—सारे जीवों का; सुहृत्—मित्र; शान्तः—अत्यन्त शान्त; मैत्रः—मैत्रीपूर्ण; करुणः—दयालु; आत्म-वान्—स्वरूपसिद्ध; मोचये—मैं पाशमुक्त करूँगा; ग्रस्तम्—कसा हुआ; आत्मानम्—मेरी

आत्मा; योषित्-मय्या—स्त्री रूप में; आत्म-मायया—भगवान् की मोहिनी शक्ति से; विक्रीडितः—खिलवाड़ करता; यया—जिससे; एव—निश्चय; अहम्—मैं; क्रीडा-मृगः—वशीभूत पशु; इव—सदृश; अधमः—इतना पतित।

**शरीर से अपनी पहचान बनाने के कारण मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छाओं के अधीन होता है और इस तरह वह अपने को अनेक प्रकार के पवित्र तथा अपवित्र कार्यों में लगाता है। यही भौतिक बन्धन है। अब मैं अपने आपको उस भौतिक बन्धन से छुड़ाऊँगा जो स्त्री के रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की मोहिनी शक्ति द्वारा उत्पन्न किया गया है। सर्वाधिक पतितात्मा होने से मैं माया का शिकार बना और उस नाचने वाले कुत्ते के समान बन गया जो स्त्री के हाथ के इशारे पर चलता है। अब मैं सारी कामेच्छाओं को त्याग दूँगा और इस मोह से अपने को मुक्त कर लूँगा। मैं दयालु एवं समस्त जीवों का शुभैषी मित्र बनूंगा तथा कृष्णभावनामृत में अपने को सदैव लीन रखूँगा।**

**तात्पर्य :** समस्त कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों के लिए संकल्प का यही मानदण्ड होना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को माया के पाश से अपने को छुड़ा लेना चाहिए और ऐसे पाशों से कष्ट पा रहे अन्य सारे लोगों के प्रति दयालु होना चाहिए। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यकलाप न केवल स्वयं के लिए हैं, अपितु अन्यों के लिए भी हैं। कृष्णभावनामृत की यही पूर्णता है। जो व्यक्ति अपने मोक्ष में ही रुचि रखता है, वह कृष्णभावनामृत में उतना उन्नत नहीं होता जितना कि अन्यों के प्रति दया अनुभव करने वाला तथा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का प्रसार करने वाला होता है। ऐसा उन्नत भक्त कभी नीचे नहीं गिरेगा, क्योंकि कृष्ण उसे विशेष संरक्षण प्रदान करेंगे। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही सार है। हर व्यक्ति माया के हाथों के खिलौने जैसा है और वह उसे जिस तरह घुमाती है, कार्य करता है। मनुष्य को चाहिए कि अपने को तथा अन्यों को इससे छुड़ाने के लिए कृष्णभावनामृत को स्वीकार करे।

**ममाहमिति देहादौ हित्वामिथ्यार्थधीर्मतिम् ।**
**धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः ॥ ३८॥**

### शब्दार्थ

मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; देह-आदौ—शरीर तथा उससे सम्बद्ध वस्तुओं में; हित्वा—त्यागकर; अमिथ्या—मिथ्या नहीं; अर्थ—मूल्यों पर; धीः—अपनी चेतना से; मतिम्—प्रवृत्ति को; धास्ये—लगाऊँगा; मनः—मेरा मन; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; शुद्धम्—शुद्ध; तत्—उनका नाम; कीर्तन-आदिभिः—कीर्तन , श्रवण इत्यादि के द्वारा।.

**चूँकि मैंने भक्तों की संगति में भगवान् के पवित्र नाम का केवल कीर्तन किया है, इसलिए मेरा हृदय अब शुद्ध बन रहा है। इसलिए मैं अब पुनः भौतिक इन्द्रियतृप्ति के झूठे आकर्षणों का शिकार नहीं बनूँगा। चूँकि अब मैं परम सत्य में स्थित हो चुका हूँ, अतः अब उसके बाद मैं शरीर के साथ अपनी पहचान नहीं करूँगा। ''मैं'' तथा ''मेरा'' के मिथ्या विचारों को त्यागकर मैं अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करूँगा।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है कि मनुष्य किस तरह भव-बन्धन का शिकार हो जाता है। इसका शुभारम्भ आत्मा के रूप में शरीर की गलत पहचान से होता है। इसलिए *भगवद्गीता* का शुभारम्भ इस आध्यात्मिक शिक्षा से होता है कि व्यक्ति शरीर नहीं है, अपितु वह शरीर के भीतर है। यह चेतना तभी सम्भव है जब वह एकमात्र कृष्ण के नाम का, हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करे और अपने को सदैव भक्तों की संगति में रखे। यही सफलता का रहस्य है। इसीलिए हम बल देते हैं कि मनुष्य भगवन्नाम का कीर्तन करे और अपने को इस भौतिक जगत के कल्मषों से, विशेषतया अवैध मैथुन, मांसाहार, नशा तथा जुआ की कामेच्छाओं के कल्मषों से मुक्त रखे। मनुष्य को संकल्पपूर्वक इन सिद्धान्तों का पालन करने का व्रत लेना चाहिए और इस तरह संसार की कष्टमय दशा से बचना चाहिए। सबसे पहली आवश्यकता है कि देहात्मबुद्धि से मुक्त हुआ जाए।

**इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु ।**
**गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; जात-सुनिर्वेदः—( अजामिल ) जो भौतिक देहात्मबुद्धि से विरक्त हो चुका था; क्षण-सङ्गेन—क्षण भर की संगति से; साधुषु—भक्तों की; गङ्गा-द्वारम्—हरद्वार ( हरिद्वार ); उपेयाय—गया; मुक्त—मुक्त होकर; सर्व-अनुबन्धनः—सभी प्रकार के भौतिक बन्धनों से।

**भक्तों ( विष्णुदूतों ) की क्षण-भर की संगति के कारण अजामिल ने अपने मन को संकल्पपूर्वक भौतिक देहात्मबुद्धि से विलग कर लिया। इस तरह समस्त भौतिक आकर्षण से मुक्त हुआ वह तुरन्त हरद्वार के लिए चल पड़ा।**

**तात्पर्य :** *मुक्त-सर्वानुबन्धनः* शब्द संकेत करता है कि इस घटना के बाद अजामिल अपनी पत्नी तथा बच्चों की परवाह न करते हुए अपने आध्यात्मिक जीवन की अधिक उन्नति के लिए सीधे हरद्वार गया। अब हमारे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के वृन्दावन तथा नवद्वीप में केन्द्र हैं जिससे वे लोग जो वानप्रस्थ जीवन बिताना चाहते हैं, चाहे वे भक्त हों या नहीं, वहाँ जा सकते हैं और संकल्पपूर्वक *देहात्मबुद्धि* का परित्याग कर सकते हैं। ऐसे लोगों का इन पवित्र स्थानों में स्वागत है कि वे भगवान् के नाम का कीर्तन करें तथा प्रसाद ग्रहण करने की अतीव सरल विधि से सर्वोच्च सफलता पाने के उद्देश्य से शेष जीवन वहीं पर रहें। इस तरह वे भगवद्धाम वापस जा सकते हैं। हरद्वार में हमारा कोई केन्द्र नहीं है, किन्तु भक्तों के लिए वृन्दावन तथा श्रीधाम मायापुर अन्य स्थानों की अपेक्षा अच्छे हैं। श्री चैतन्य चन्द्रोदय मन्दिर भक्तों की संगति करने का सुअवसर प्रदान करता है। आइये, हम सभी इस अवसर का लाभ उठायें।

**स तस्मिन्देवसदन आसीनो योगमास्थितः ।**
**प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि ॥ ४० ॥**

### शब्दार्थ

सः—उसने ( अजामिल ने ); तस्मिन्—उस स्थान ( हरद्वार ) में; देव-सदने—एक विष्णु मन्दिर में; आसीनः—स्थित होकर; योगम् आस्थितः—भक्तियोग सम्पन्न किया; प्रत्याहृत—इन्द्रिय तृप्ति के समस्त कार्यों से विलग; इन्द्रिय-ग्रामः—अपनी इन्द्रियाँ; युयोज—स्थिर किया; मनः—मन; आत्मनि—आत्मा, परमात्मा या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर।

**हरद्वार में अजामिल ने एक विष्णुमन्दिर में शरण ली जहाँ उसने भक्तियोग की विधि को सम्पन्न किया। उसने अपनी इन्द्रियों को वश में किया और अपने मन को पूरी तरह से भगवान् की सेवा में लगा दिया।**

**तात्पर्य :** जो भक्त कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित हो चुके हैं, वे हमारे अनेक मन्दिरों में सुविधापूर्वक रह सकते हैं और भगवान् की भक्ति में लग सकते हैं। इस तरह वे मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकते हैं और जीवन में सर्वोच्च सफलता पा सकते हैं। यह विधि अनन्त काल से चली आ रही है। हमें चाहिए कि अजामिल के जीवन से सीख लेकर इस पथ का अनुगमन करने के लिए जो भी आवश्यक हो उसे संकल्प के साथ करने का व्रत लें।

**ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना ।**
**युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ॥ ४१ ॥**

### शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गुणेभ्यः—प्रकृति के गुणों से; आत्मानम्—मन को; वियुज्य—विलग करके; आत्म-समाधिना—भक्ति में पूरी तरह; युयुजे—लगा दिया; भगवत्-धाम्नि—भगवान् के रूप में; ब्रह्मणि—जो परब्रह्म है ( मूर्ति पूजा नहीं ); अनुभव-आत्मनि—जिसके विषय में सदैव सोचा जाता है ( चरणकमलों से शुरू करके धीरे-धीरे ऊपर की ओर बढ़ते हुए )।

**अजामिल पूरी तरह से भक्ति में लग गया। इस तरह उसने इन्द्रियतृप्ति से अपने मन को विलग कर लिया और वह भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करने में पूरी तरह लीन हो गया।**

**तात्पर्य :** यदि कोई व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा करता है, तो उसका मन स्वाभाविक रूप से भगवान् तथा उनके स्वरूप के विचारों में लीन हो जायेगा। भगवान् के रूप तथा स्वयं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए योग की सबसे सरल प्रणाली भक्तियोग है। योगीजन अपने हृदय के भीतर स्थित परमात्मा अर्थात् विष्णु के स्वरूप पर अपने मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं, किन्तु इसी उद्देश्य की पूर्ति सरलता से हो जाती है, यदि मनुष्य का मन मन्दिर में पूजे जाने वाले अर्चाविग्रह में लीन हो ले। हर मन्दिर में भगवान् का दिव्यरूप रहता है और मनुष्य आसानी से इसके विषय में चिन्तन कर सकता है। आरती के समय भगवान् का दर्शन करने, भोग चढ़ाने तथा अर्चाविग्रह के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने से मनुष्य उच्चकोटि का योगी बन जाता है। योग की सर्वोच्च विधि यही है, जिसकी पुष्टि स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने *भगवद्गीता* (६.४७) में की है—

*योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।*

*श्रद्धावान् भजते यो मां समे युक्ततमो मत:॥*

''समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्त:करण में मेरे विषय में सोचता है और मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है, वह योग में मुझसे परम अन्तरंग रूप में जुड़ा रहता है और सबों में से सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।'' उच्चकोटि का योगी वह है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में करता है और भगवान् के स्वरूप का सदैव चिन्तन करते हुए अपने आपको भौतिक कार्यों से विलग कर लेता है।

**यर्ह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत्पुरुषान्पुर: ।**
**उपलभ्योपलब्धान्प्राग्ववन्दे शिरसा द्विज: ॥ ४२ ॥**

**शब्दार्थ**

यर्हि—जब; उपारत-धी:—उसका मन तथा बुद्धि स्थिर थे; तस्मिन्—उस समय; अद्राक्षीत्—देखा था; पुरुषान्—पुरुषों को ( विष्णुदूतों को ); पुर:—अपने समक्ष; उपलभ्य—पाकर; उपलब्धान्—जो पहले मिल चुके थे; प्राक्—पहले; ववन्दे—नमस्कार किया; शिरसा—सिर के बल; द्विज:—ब्राह्मण ने।.

**जब ब्राह्मण अजामिल की बुद्धि तथा मन भगवान् के स्वरूप पर स्थिर हो गये तो उसने पुन: उन चार दिव्य पुरुषों को अपने समक्ष देखा। वह समझ गया कि ये वही हैं, जिन्हें वह पहले देख चुका है, अत: उनके समक्ष उसने नतमस्तक होकर नमस्कार किया।**

**तात्पर्य :** जब अजामिल का मन भगवान् के स्वरूप पर दृढ़तापूर्वक स्थिर हो गया तो जिन विष्णुदूतों ने उसे छुड़ाया था वे पुन: उसके समक्ष आये। विष्णुदूत कुछ काल के लिए दूर चले गये थे जिससे अजामिल को भगवान् के ध्यान में स्थिर होने का समय मिल जाये। चूँकि अब उसकी भक्ति परिपक्व हो चुकी थी, अत: वे उसे लेने के लिए लौटकर आये। यह जानकर कि वे ही विष्णुदूत लौटे हैं, अजामिल ने नतमस्तक होकर उन्हें नमस्कार किया।

**हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।**
**सद्य: स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम् ॥ ४३ ॥**

### शब्दार्थ

हित्वा—त्यागकर; कलेवरम्—भौतिक शरीर; तीर्थे—तीर्थस्थान में; गङ्गायाम्—गंगानदी के तट पर; दर्शनात् अनु—दर्शन करने के बाद; सद्यः—तुरन्त; स्व-रूपम्—अपना आदि आध्यात्मिक रूप; जगृहे—धारण कर लिया; भगवत्-पार्श्व-वर्तिनाम्—जो भगवान् के पार्षद के लिए उपयुक्त है।

**विष्णुदूतों का दर्शन करने के बाद अजामिल ने गंगानदी के तट पर हरद्वार में अपना भौतिक शरीर त्याग दिया। उसे अपना आदि आध्यात्मिक शरीर पुनः मिल गया जो भगवान् के पार्षद के लिए उपयुक्त था।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् कहते हैं—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।*

*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥*

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनःजन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

कृष्णभावनामृत में पूर्णता का फल यह है कि मनुष्य अपने भौतिक शरीर को त्यागने के बाद तुरन्त ही अपने आदि आध्यात्मिक शरीर में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पार्षद बनने के लिए आध्यात्मिक जगत में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। कुछ भक्त वैकुण्ठलोक जाते हैं और कुछ कृष्ण के पार्षद बनने के लिए गोलोक वृन्दावन जाते हैं।

**साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः ।**
**हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥ ४४॥**

### शब्दार्थ

साकम्—साथ; विहायसा—आकाश मार्ग द्वारा; विप्रः—ब्राह्मण ( अजामिल ); महापुरुष-किङ्करैः—विष्णुदूतों के साथ; हैमम्—सोने का बना; विमानम्—विमान में; आरुह्य—सवार होकर; ययौ—गया; यत्र—जहाँ; श्रियः पतिः—लक्ष्मी-पति विष्णु।

**भगवान् विष्णु के दूतों के साथ अजामिल सोने के बने हुए विमान पर सवार हुआ। वह आकाश मार्ग से जाते हुए सीधे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के धाम गया।**

**तात्पर्य :** भौतिक विज्ञानी वर्षों तक चन्द्रमा तक जाने का प्रयास करते रहे हैं, किन्तु वे अब

भी वहाँ जाने में असमर्थ हैं। किन्तु आध्यात्मिक लोकों के आध्यात्मिक विमान मनुष्य को क्षण-भर में भगवद्धाम ले जा सकते हैं। ऐसे आध्यात्मिक विमान की गति की केवल कल्पना ही की जा सकती है। आत्मा मन से भी सूक्ष्म है और हर एक को इसका अनुभव है कि मन कितनी तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक यात्रा करता है। इसलिए मन की गति से तुलना करके आध्यात्मिक स्वरूप की तेजी (त्वरा) की कल्पना की जा सकती है। अपना भौतिक शरीर त्यागने के तुरन्त बाद पूर्णभक्त क्षण-भर से भी कम समय में भगवद्धाम लौट सकता है।

**एवं स विप्लावितसर्वधर्मा**
**दास्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा ।**
**निपात्यमानो निरये हतव्रतः**
**सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन् ॥ ४५ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; सः—वह ( अजामिल ); विप्लावित-सर्व-धर्माः—जिसने सारे धर्मों को त्याग दिया था; दास्याः पतिः—वेश्या का पति; पतितः—पतित; गर्ह्य-कर्मणा—गर्हित कामों में लगे रहने से; निपात्यमानः—गिरते हुए; निरये—नरक में; हत-व्रतः—जिसने अपने सारे व्रतों को तोड़ रखा था; सद्यः—तुरन्त; विमुक्तः—मुक्त; भगवत्-नाम—भगवान् का पवित्र नाम; गृह्णन्—कीर्तन करते हुए।

**अजामिल ब्राह्मण था जिसने कुसंगति के कारण सारी ब्राह्मण-संस्कृति तथा धार्मिक नियमों को त्याग दिया था। सर्वाधिक पतित होने से वह चोरी करता, शराब पीता तथा अन्य गर्हित कार्य करता था। उसने एक वेश्या भी रख ली थी। इस तरह उसका यमराज के दूतों द्वारा नरक ले जाया जाना सुनिश्चित था, किन्तु नारायण के पवित्र नाम का लेश मात्र उच्चारण करने से ही तुरन्त उसे बचा लिया गया।**

**नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं**
**मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।**
**न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो**
**रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥ ४६ ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; अतः—इसलिए; परम्—श्रेष्ठतर साधन; कर्म-निबन्ध—सकाम कर्मों के फलस्वरूप कष्ट भोगने की बाध्यता; कृन्तनम्—जो पूरी तरह छिन्न कर दे; मुमुक्षताम्—भव-बन्धन के पाश से बाहर निकलने की इच्छा रखने वाले पुरुषों का; तीर्थ-पद—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में, जिनके पाँवों पर सारे तीर्थस्थान स्थित हैं; अनुकीर्तनात्—प्रामाणिक गुरु के निर्देशानुसार कीर्तन करने की अपेक्षा; न—नहीं; यत्—क्योंकि; पुनः—फिर; कर्मसु—सकाम कर्मों में; सज्जते—लिप्त होता है; मनः—मन; रजः-तमोभ्याम्—रजो तथा तमो गुणों द्वारा; कलिलम्—दूषित; ततः—तत्पश्चात्; अन्यथा—किसी अन्य साधन से।

**अतः जो व्यक्ति भवबन्धन से मुक्त होना चाहता है, उसे चाहिए कि उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम, यश, रूप तथा लीलाओं के कीर्तन तथा गुणगान की विधि को अपनाए, जिनके चरणों पर सारे तीर्थस्थान स्थित हैं। अन्य साधनों से, यथा पवित्र पश्चात्ताप, ज्ञान, यौगिक ध्यान से उसे उचित लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी विधियों का पालन करने पर भी मनुष्य अपने मन को वश में न कर सकने के कारण पुनः सकाम कर्म करने लगता है, क्योंकि मन प्रकृति के निम्न गुणों से—यथा रजो तथा तमो गुणों से—संदूषित रहता है।**

**तात्पर्य :** वस्तुतः यह देखा गया है कि तथाकथित सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद भी अनेक कर्मी, ज्ञानी तथा योगी पुनः भौतिक कर्मों में लिप्त हो जाते हैं। अनेक तथाकथित स्वामी तथा योगी भौतिक कर्मों को मिथ्या कहकर त्याग देते हैं (*जगन्मिथ्या*), किन्तु तो भी कुछ काल बाद वे पुनः अस्पताल तथा पाठशालाएँ खोलने या जनता के लाभ हेतु अन्य कार्य जैसे भौतिक कार्य करने लगते हैं। कभी-कभी वे राजनीति में भाग लेते हैं, यद्यपि वे मिथ्या ही अपने आपको संन्यासी घोषित करते हैं। किन्तु सम्यक् निष्कर्ष तो यह है कि यदि कोई वास्तव में भौतिक जगत से बाहर निकलने का इच्छुक है, तो उसे भक्ति ग्रहण करनी चाहिए जिसका शुभारम्भ *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* अर्थात् भगवान् की महिमा के कीर्तन तथा श्रवण से होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ने वस्तुतः इसे सिद्ध कर दिया है। पाश्चात्य देशों में, जहाँ अनेक युवक नशीली दवाओं की लत में थे और जिनमें अनेक बुरी आदतें थीं, उन्होंने उन सारी लालसाओं को त्याग दिया और वे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होते ही गम्भीरतापूर्वक भगवान् की महिमा का कीर्तन करने में जुट गये। दूसरे शब्दों में, रजो तथा तमो गुणों में सम्पन्न कर्मों के प्रायश्चित्त की यह पूर्ण विधि है।

*श्रीमद्भागवत* (१.२.१९) में कहा गया है—

*तदा रजस्तमोभावा: कामलोभादयश्च ये।*

*चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥*

रजो तथा तमो गुणों के फलस्वरूप मनुष्य अधिकाधिक कामी तथा लोभी बन जाता है, किन्तु जब वह कीर्तन तथा श्रवण विधि अपना लेता है, तो वह सतोगुण के पद को प्राप्त होता है और सुखी बन जाता है। ज्यों-ज्यों वह भक्ति में प्रगति करता है, उसके सारे संशय पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं (*भिद्यते हृदयग्रन्थिशिछद्यन्ते सर्वसंशय:*)। इस तरह सकाम कर्मों के लिए उसकी इच्छा रूपी ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है।

**य एतं परमं गुह्यमितिहासमघापहम् ।**
**शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्तयेत् ॥ ४७॥**
**न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करैः ।**
**यद्यप्यमङ्गलो मर्त्यो विष्णुलोके महीयते ॥ ४८ ॥**

### शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतम्—इस; परमम्—अत्यन्त; गुह्यम्—गोपनीय; इतिहासम्—ऐतिहासिक कथा को; अघ-अपहम्—पापों के सारे फलों से मुक्त करने वाली; शृणुयात्—सुनता है; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—से युक्त; यः—जो; च—भी; भक्त्या—महती भक्ति से; अनुकीर्तयेत्—दुहराता है; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; सः—ऐसा व्यक्ति; नरकम्—नरक को; याति—जाता है; न—नहीं; ईक्षितः—देखा जाता है; यम-किङ्करैः—यमराज के दूतों द्वारा; यदि अपि—यद्यपि; अमङ्गलः—अशुभ; मर्त्यः—भौतिक शरीर में; विष्णु-लोके—वैकुण्ठलोक में; महीयते—सादर स्वागत किया जाता है।

**चूँकि इस अतिगोपनीय ऐतिहासिक कथा में सारे पापफलों को नष्ट करने की शक्ति है, अत: जो भी इसे श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक सुनता है या सुनाता है, वह नरकभागी नहीं होता, चाहे उसे भौतिक शरीर मिला हो और चाहे वह कितना ही पापी क्यों न रहा हो। दरअसल, यमराज के आदेशों का पालन करने वाले यमदूत उसे आँख उठाकर देखने के लिए भी उसके पास नहीं जाते। अपना शरीर त्यागने के बाद वह भगवद्धाम लौट जाता है जहाँ उसका सादर स्वागत किया जाता है और पूजा की जाती है।**

**म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम् ।**
**अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥ ४९ ॥**

**शब्दार्थ**

म्रियमाणः—मृत्यु के समय; हरेः नाम—हरि का पवित्र नाम; गृणन्—उच्चारण करते हुए; पुत्र-उपचारितम्—अपने पुत्र की ओर इशारा करते; अजामिलः—अजामिल; अपि—तक; अगात्—गया; धाम—आध्यात्मिक जगत; किम् उत—क्या कहा जा सकता है; श्रद्धया—श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक; गृणन्—उच्चारण करते हुए।.

**अजामिल ने मृत्यु के समय कष्ट भोगते हुए भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण किया और यद्यपि उसका यह उच्चारण उसके पुत्र की ओर लक्षित था फिर भी वह भगवद्धाम वापस गया। इसलिए यदि कोई श्रद्धापूर्वक तथा निरपराध भाव से भगवन्नाम का उच्चारण करता है, तो वह भगवान् के पास लौटेगा इसमें सन्देह कहाँ है?**

**तात्पर्य :** मृत्यु के समय मनुष्य निश्चित रूप से मोहग्रस्त हो जाता है, क्योंकि उसके शारीरिक कार्य अव्यवस्थित हो जाते हैं। उस समय, भले ही किसी ने अपने जीवन भर भगवन्नाम का कीर्तन करने का अभ्यास किया हो, किन्तु वह स्पष्ट रूप से हरे कृष्णमंत्र का उच्चारण न कर पाए। फिर भी ऐसे व्यक्ति को पवित्र नाम के कीर्तन का सारा लाभ मिलता है। इसलिए जब तक शरीर स्वस्थ है, क्यों न हम जोर-जोर से तथा स्पष्ट रूप से भगवन्नाम का कीर्तन करें? यदि कोई ऐसा करता है, तो यह सम्भव है कि मृत्यु के समय भी वह प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम का ठीक से कीर्तन कर सके। निष्कर्ष के रूप में, जो व्यक्ति निरन्तर भगवन्नाम का कीर्तन करता है उसकी भगद्धाम-वापसी बिना किसी सन्देह के सुनिश्चित है।

————

इस अध्याय पर पूरक टिप्पणी

इस अध्याय के श्लोक ९ तथा १० की श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा की गई टीका एक वार्तालाप के रूप में है कि किस तरह कोई भगवन्नाम का कीर्तन करने-मात्र से सारे पापफलों से मुक्त हो सकता है।

कोई कह सकता है, ''यह स्वीकार किया जा सकता है कि भगवन्नाम के कीर्तन से मनुष्य पापी जीवन के सारे फलों से मुक्त हो सकता है। किन्तु यदि कोई पूर्णचेतना में रहते हुए पापकर्म करता है, वह भी एक बार नहीं, अपितु अनेक बार, तो वह अपने को ऐसे पापों के फलों से मुक्त करने में अक्षम रहता है, चाहे उनके लिए उसने बारह या अधिक वर्षों तक प्रायश्चित्त क्यों न किया हो। तो फिर यह कैसे सम्भव है कि केवल एक बार भगवान् का नाम लेने से कोई तुरन्त ही ऐसे पापों के फलों से मुक्त हो जाता है?''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसका उत्तर इस अध्याय के श्लोक ९ तथा १० का उद्धरण देते हुए कहते हैं, ''भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन सोने या अन्य कीमती वस्तु की चोरी करने वाले, शराबी, मित्र या सम्बन्धी के साथ विश्वासघात करने वाले, ब्राह्मण के हत्यारे या अपने गुरु या अन्य गुरुजनों की पत्नी के साथ संभोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त की सर्वोत्तम विधि है। स्त्रियों, राजा या अपने पिता की हत्या करने वाले, गौवों का वध करने वाले तथा अन्य सभी पापी लोगों के लिए भी यह प्रायश्चित्त की सर्वोत्तम विधि है। भगवान् विष्णु के नाम का मात्र कीर्तन करने से ऐसे पापी व्यक्ति परम भगवान् का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं। अत: भगवान् यह सोचते हैं कि, ''चूँकि इस व्यक्ति ने मेरे पवित्र नाम का कीर्तन किया है, अत: उसकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।''

मनुष्य पापी जीवन के लिए प्रायश्चित्त कर सकता है और पवित्रनाम के कीर्तन से उसके सारे पापफल नष्ट हो सकते हैं, यद्यपि यह प्रायश्चित्त नहीं कहलाता। सामान्य प्रायश्चित्त पापी व्यक्ति को अस्थायी रूप से रक्षा प्रदान कर सकता है, किन्तु उसके हृदय में पापकर्म करने की जो जड़ें गहरे जमी हुई रहती हैं उनसे यह हृदय को स्वच्छ नहीं बना सकता। अतएव प्रायश्चित्त भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन जितना शक्तिशाली नहीं होता। शास्त्रों में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति केवल एक बार पवित्र नाम का उच्चारण करता है और भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण शरण ले लेता है, तो भगवान् उसे अपना *अविभावी* मान लेते हैं और उसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए उन्मुख रहते

हैं। इसकी पुष्टि श्रीधर स्वामी ने की है। इसलिए जब अजामिल यमराज के दूतों द्वारा ले जाये जाने के महान् खतरे में था, तो भगवान् ने तुरन्त ही उसकी रक्षा करने के लिए अपने निजी दूतों को भेजा। चूँकि अजामिल सारे पापफलों से मुक्त कर दिया गया था, इसलिए विष्णुदूत उसके पक्ष से बोले।

अजामिल ने अपने पुत्र का नाम नारायण रखा था और चूँकि वह अपने पुत्र को अत्यधिक चाहता था, अत: वह उसे बारम्बार पुकारता था। यद्यपि वह अपने पुत्र को बुलाता था, किन्तु यह नाम स्वयं पर्याप्त शक्तिशाली था, क्योंकि नारायण नाम परम भगवान् नारायण से भिन्न नहीं है। अजामिल ने जब अपने पुत्र का नाम नारायण रखा तभी उसके पापी जीवन के सारे फल निरस्त हो गये थे और चूँकि वह अपने पुत्र को पुकारता रहता था जिससे वह नारायण के नाम का हजारों बार उच्चारण करता था, अत: अनजाने में वह कृष्णभावनामृत में प्रगति कर रहा था।

कोई यह तर्क कर सकता है, "चूँकि वह निरन्तर नारायण नाम का उच्चारण कर रहा था, तो फिर उसके लिए एक वेश्या की संगति करना तथा शराब के विषय में सोचना कैसे सम्भव हुआ?" अपने पापकर्मों के द्वारा वह बारम्बार अपने ऊपर कष्ट लादता जा रहा था, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उसके मुक्त होने का कारण था उसके द्वारा नारायण का उच्चारण। किन्तु तब उसका उच्चारण करना *नाम अपराध* हुआ होता। *नामो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि:*—जो व्यक्ति पापकर्म करता रहता है और भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करके अपने पापों को निरस्त करना चाहता है, वह *नामापराधी* है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि अजामिल द्वारा नाम लिया जाना निरपराध था, क्योंकि वह अपने पापों के निवारणार्थ नारायण नाम का उच्चारण नहीं करता था। वह यह नहीं जानता था कि वह पापकर्मों में लिप्त है, न ही वह यह जानता था कि नारायण का नाम लेने से वह पापों को निरस्त कर रहा है। इस तरह उसने नाम अपराध नहीं किया और अपने पुत्र को बुलाते समय उसके द्वारा नारायण नाम का बारम्बार लिया जाना शुद्ध कीर्तन (उच्चारण) ही कहा जा सकता है। इस शुद्ध उच्चारण के कारण अजामिल भक्ति के फलों

को अनजाने संचित करता रहा। दरअसल, उसके जीवन के सारे पापफलों को निरस्त करने के लिए उसके द्वारा पवित्र नाम का पहला उच्चारण ही पर्याप्त होता। यहाँ पर एक नीतिशास्त्र का उदाहरण उद्‌धृत किया जा सकता है। अंजीर के वृक्ष में तुरन्त फल नहीं लगते, किन्तु समय आने पर फल प्राप्त होते हैं। इसी तरह अजामिल की भक्ति रंच रंच करके बढ़ी, अत: अत्यन्त पापकर्म करने पर भी वे फल उसे प्रभावित नहीं कर सके। शास्त्रों में कहा गया है कि यदि कोई भगवान् के नाम का एक बार भी उच्चारण करता है, तो उसे भूत, वर्तमान या भावी पापमय जीवन के फल प्रभावित नहीं करते। एक अन्य उदाहरण दिया जा सकता है। यदि कोई सर्प के विषदन्त निकाल ले तो भविष्य में यह साँप जिसे शिकार बनायेगा उसे विष नहीं व्यापेगा, भले ही यह सर्प उसे बारंबार क्यों न काटे। इसी तरह यदि कोई भक्त निरपराध होकर एक बार भी पवित्रनाम का उच्चारण करता है, तो उससे उसकी शाश्वत रक्षा होती है। उसे उच्चारण करने के फल के यथासमय परिपक्व होने की केवल प्रतीक्षा करनी होती है।

*इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''विष्णुदूतों द्वारा अजामिल का उद्धार'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुए।*

## Chapter तीन

# यमराज द्वारा अपने दूतों को आदेश

जैसाकि इस अध्याय में बतलाया गया है, यमदूत यमराज के पास पहुँचे तो यमराज ने विस्तार से भागवत धर्म अर्थात् भक्ति के धार्मिक नियमों की व्याख्या की। इस तरह यमराज ने उन यमदूतों को संतुष्ट किया जो अत्यधिक निराश हो गए थे। यमराज ने कहा, ''यद्यपि अजामिल अपने पुत्र को पुकार रहा था, किन्तु उसने भगवान् नारायण के नाम का उच्चारण किया और नामोच्चारण की झलक मात्र से उसे विष्णुदूतों की तुरन्त ही संगति मिल गई जिन्होंने उसे तुम्हारे द्वारा बन्दी बनाये जाने के प्रयास से बचा लिया। यह बिल्कुल ठीक है। यह तथ्य है कि दृढ़ पापी व्यक्ति भी यदि

भगवन्नाम का उच्चारण करता है, तो वह भले ही पूरी तरह अपराध से रहित न हो, दूसरा भौतिक जन्म नहीं लेता।''

भगवान् का नामोच्चार करने से अजामिल को विष्णु के चार दूत मिले। वे अति सुन्दर थे और तुरन्त ही उसे बचाने आये थे। अब यमराज उनका वर्णन करते हैं, ''ये सभी विष्णुदूत उन भगवान् के शुद्ध भक्त होते हैं, जो इस विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार से सम्बन्धित परम पुरुष हैं। उन परमेश्वर के कार्यकलापों को जो आत्मनिर्भर हैं और भौतिक इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं न तो राजा इन्द्र, वरुण, शिव, ब्रह्मा, सप्तर्षि न ही मैं समझ सकता हूँ। भौतिक इन्द्रियों के द्वारा उनके विषय में किसी को ज्ञान नहीं मिल सकता। मायापति भगवान् में हर एक सौभाग्य के दिव्य गुण पाये जाते हैं और उस दृष्टि से उनके भक्त भी योग्य होते हैं। जो भक्त पतितात्माओं को इस जगत से बचाने के विषय में ही चिन्तित रहते हैं, वे बद्धात्माओं को बचाने के लिए विभिन्न स्थानों में जन्म लेते हैं। यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में किंचित् रुचि रखता है, तो भगवद्भक्त कई तरह से उसकी रक्षा करते हैं।''

यमराज ने आगे कहा, ''सनातन धर्म का सार अतीव गुह्य है। भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई इस गुह्य धर्म प्रणाली को मानव-समाज को नहीं दे सकता। यह तो भगवान् की कृपा है कि उनके शुद्ध भक्त दिव्य धर्म-प्रणाली को समझ सकते हैं। इन भक्तों में विशेषतया बारह *महाजन* हैं—ब्रह्मा, नारद मुनि, शिव, चारों कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेव गोस्वामी तथा मैं। जैमिनि के नेतृत्व अन्य विद्वान पंडित इत्यादि प्राय: माया द्वारा प्रच्छन्न रहते हैं इसलिए वे त्रयी कहे जाने वाले तीनों वेदों—ऋग, यजुर् तथा साम की अलंकारमयी भाषा के प्रति न्यूनाधिक आकृष्ट होते हैं। इन तीनों वेदों के अलंकारमय शब्दों द्वारा मोहित लोग शुद्ध भक्त बनने के बजाय वैदिक कर्मकाण्डों में रुचि दिखलाते हैं। वे भगवन्नाम-कीर्तन की महिमा को नहीं समझ सकते। किन्तु बुद्धिमान लोग भगवान् की भक्ति ग्रहण करते हैं। जब वे निरपराध भगवन्नाम का कीर्तन करते हैं, तो वे मेरे आदेशों के अधीन नहीं रहते। यदि संयोगवश वे कोई पापकर्म करते भी हैं, तो

वे भगवन्नाम के द्वारा रक्षित होते हैं, क्योंकि इसी में उनका स्वार्थ है। भगवान् के चारों अस्त्र, विशेषतया गदा तथा सुदर्शन चक्र, भक्तों की सदा रक्षा करते हैं। जो छल-कपट से रहित होकर भगवन्नाम का कीर्तन , श्रवण या स्मरण करता है, या जो भगवान् की स्तुति करता है, या उन्हें नमस्कार करता है, वह सिद्ध बन जाता है, जबकि भक्तिविहीन विद्वान व्यक्ति भी नरक में बुलाया जा सकता है।''

जब यमराज भगवान् तथा उनके भक्तों की महिमा का इस प्रकार वर्णन कर चुके तो शुकदेव गोस्वामी ने नाम-जप की शक्ति तथा प्रायश्चित्त के लिए वैदिक कर्मकाण्ड एवं पुण्यकर्म करने की व्यर्थता के विषय में आगे व्याख्या की।

**श्रीराजोवाच**
**निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं**
**प्रत्याह किं तानपि धर्मराजः ।**
**एवं हताज्ञो विहतान्मुरारे-**
**नैंदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम् ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; निशम्य—सुनकर; देवः—यमराज; स्व-भट—अपने सेवकों का; उपवर्णितम्—कथन; प्रत्याह—उत्तर दिया; किम्—क्या; तान्—उनको; अपि—भी; धर्म-राजः—यमराज, जो मृत्यु के अधीक्षक तथा धार्मिक एवं अधार्मिक कार्यों के निर्णायक हैं; एवम्—इस प्रकार; हत-आज्ञः—जिनका आदेश व्यर्थ हो चुका था; विहतान्—जो पराजित किये गये थे; मुरारेः नैदेशिकैः—मुरारी अर्थात् कृष्ण के दूतों द्वारा; यस्य—जिसके; वशे—अधीन; जनः अयम्—संसार के सारे लोग।

**राजा परीक्षित ने कहा : हे प्रभु, हे शुकदेव गोस्वामी! यमराज सारे जीवों के धार्मिक तथा अधार्मिक कार्यों के नियंत्रक हैं, लेकिन उनका आदेश व्यर्थ कर दिया गया है। जब उनके सेवकों अर्थात् यमदूतों ने उनसे विष्णुदूतों द्वारा अपनी पराजय की जानकारी दी जिन्होंने उन्हें अजामिल को बन्दी बनाने से रोका था, तो यमराज ने क्या उत्तर दिया?**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि यमदूतों के कथन वैदिक सिद्धान्तों के द्वारा पूर्णतया अनुमोदित थे, किन्तु विष्णुदूतों के कथन विजयी रहे। इसकी पुष्टि स्वयं

यमराज ने की।

**यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः**
**कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत् ।**
**एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं**
**न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम् ॥ २ ॥**

### शब्दार्थ

यमस्य—यमराज का; देवस्य—न्याय के अधिकारी देवता; न—नहीं; दण्ड-भङ्गः—आदेश का तोड़ा जाना; कुतश्चन—कहीं से भी; ऋषे—हे ऋषि; श्रुत-पूर्वः—पहले सुना हुआ; आसीत्—था; एतत्—यह; मुने—हे मुनि; वृश्चति—नष्ट कर सकता है; लोक-संशयम्—लोगों का सन्देह; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; त्वत्-अन्यः—आपके अतिरिक्त; इति—इस प्रकार; मे—मेरे द्वारा; विनिश्चितम्—निष्कर्ष को प्राप्त।

**हे महर्षि! इसके पूर्व यह कहीं भी सुनाई नहीं पड़ा कि यमराज के आदेश का उल्लंघन हुआ हो। इसलिए मैं सोचता हूँ कि लोगों को इस पर सन्देह होगा जिसका उन्मूलन अन्य कोई नहीं, अपितु आप ही कर सकते हैं। चूँकि ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है, इसलिए कृपा करके इन घटनाओं के कारणों की व्याख्या करें।**

श्रीशुक उवाच
**भगवत्पुरुषै राजन्याम्याः प्रतिहतोद्यमाः ।**
**पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम् ॥ ३ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवत्-पुरुषैः—भगवान् के आज्ञापालकों या विष्णुदूतों द्वारा; राजन्—हे राजन्; याम्याः—यमराज के दूत; प्रतिहत-उद्यमाः—जिनके प्रयास व्यर्थ हुए; पतिम्—अपने स्वामी; विज्ञापयाम् आसुः—सूचित किया; यमम्—यमराज को; संयमनी-पतिम्—संयमनी पुरी के स्वामी।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया: हे राजन्! जब यमराज के दूत विष्णुदूतों द्वारा चकरा दिये गये और पराजित कर दिये गये तो वे अपने स्वामी संयमनीपुरी के नियंत्रक तथा पापी पुरुषों के स्वामी यमराज के पास इस घटना को बताने पहुँचे।**

यमदूता ऊचुः
**कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो ।**

**त्रैविध्यं कुर्वत: कर्म फलाभिव्यक्तिहेतव: ॥ ४॥**

शब्दार्थ

यमदूताः ऊचुः—यमराज के दूतों ने कहा; कति—कितने; सन्ति—हैं; इह—इस जगत में; शास्तारः—नियंत्रक या शासक; जीव-लोकस्य—इस भौतिक जगत के; वै—निस्सन्देह; प्रभो—हे स्वामी; त्रै-विध्यम्—प्रकृति के तीन गुणों के अधीन; कुर्वतः—करते हुए; कर्म—कर्म; फल—फलों की; अभिव्यक्ति—अभिव्यक्ति के; हेतवः—कारण।

**यमदूतों ने कहा : हे प्रभु! इस भौतिक जगत में कितने नियंत्रक या शासक हैं? प्रकृति के तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुणों) के अधीन सम्पन्न कर्मों के विविध फलों को प्रकट करने के लिए कितने कारण उत्तरदायी हैं?**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वे यमदूत इतने निराश थे कि उन्होंने प्राय: क्रुद्ध होकर अपने स्वामी से पूछा कि क्या उनके अतिरिक्त और भी कई स्वामी हैं? यही नहीं, चूँकि यमदूत पराजित किये जा चुके थे और उनका स्वामी उनकी रक्षा नहीं कर सका था, अत: वे यह कहना चाह रहे थे कि उन्हें ऐसे स्वामी की सेवा करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई सेवक बिना पराजित हुए अपने स्वामी के आदेशों को पूरा नहीं कर सकता तो ऐसे शक्तिहीन स्वामी की सेवा करने से क्या लाभ?

**यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिण: ।**
**कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा ॥ ५॥**

शब्दार्थ

यदि—यदि; स्युः—हैं; बहवः—अनेक; लोके—इस जगत में; शास्तारः—शासक या नियंत्रक; दण्ड-धारिणः—पापी लोगों को दण्ड देने वाले; कस्य—किसका; स्याताम्—हो सकता है; न—नहीं; वा—अथवा; कस्य—किसका; मृत्युः—कष्ट या दुख; च—तथा; अमृतम्—सुख; एव—निश्चय ही; वा—अथवा।

**यदि इस ब्रह्माण्ड में अनेक शासक तथा न्यायकर्ता हैं, जो दण्ड तथा पुरस्कार के विषय में मतभेद रखते हों, तो उनके विरोधी कार्य एक दूसरे को प्रभावहीन कर देंगे और न तो कोई दण्डित होगा न पुरस्कृत होगा। अन्यथा, यदि उनके विरोधी कार्य एक दूसरे को प्रभावहीन नहीं कर पाते तो हर एक को दण्ड तथा पुरस्कार दोनों ही देने होंगे।**

**तात्पर्य :** चूँकि यमदूत यमराज के आदेश को पूरा करने में असफल रहे थे, अत: उन्होंने

संदेह व्यक्त किया कि यमराज में पापी को दण्ड देने की शक्ति है भी कि नहीं? यद्यपि वे यमराज के आदेशानुसार अजामिल को बन्दी बनाने गये थे, किन्तु उन्होंने किसी उच्चतर अधिकारी के आदेश के कारण अपने आपको असफल पाया। इसलिए वे इस बारे में अनिश्चित थे कि अधिकारी अनेक हैं या केवल एक। यदि कई अधिकारी हों जो विभिन्न निर्णय दें जो परस्पर विरोधी हों तो कोई व्यक्ति या तो गलत दण्ड या पुरस्कार पा सकता है या फिर वह न तो दण्डित होगा न पुरस्कृत। भौतिक जगत में हमारे अनुभव के अनुसार एक न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्ति दूसरे न्यायालय में याचिका दे सकता है। इस तरह वही व्यक्ति विभिन्न निर्णयों के अनुसार दण्डित या पुरस्कृत किया जा सकता हैं। किन्तु प्रकृति के कानून में या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के न्यायालय में ऐसे परस्पर विरोधी निर्णय नहीं हो सकते। न्यायकर्ताओं तथा उनके निर्णयों को पूर्ण तथा विरोधों से मुक्त होना चाहिए। वस्तुत: अजामिल के मामले में यमराज की स्थिति अतीव विषम थी, क्योंकि अजामिल को बन्दी बनाने में यमदूत सही थे, किन्तु विष्णुदूतों ने उन्हें निष्फल कर दिया था। यद्यपि इन परिस्थितियों में यमराज पर विष्णुदूत तथा यमदूत दोनों ही दोषारोपण कर रहे थे, किन्तु न्याय करने में वे पूर्ण हैं, क्योंकि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से शक्ति प्राप्त है। अतएव वे बतायेंगे कि उनकी सही स्थिति क्या है और हर व्यक्ति किस तरह परम नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

**किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिह कर्मिणाम् ।**
**शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

किन्तु—लेकिन; शास्तृ—राज्यपालकों या निर्णायकों का; बहुत्वे—विविधता में; स्यात्—हो सकता है; बहूनाम्—अनेकों का; इह—इस जगत में; कर्मिणाम्—कर्म करने वाले पुरुषों का; शास्तृत्वम्—विभागीय व्यवस्था; उपचार:—प्रशासन; हि—निस्सन्देह; यथा—जिस तरह; मण्डल-वर्तिनाम्—विभागीय अध्यक्षों का।

**यमदूतों ने आगे कहा : चूँकि कर्मी अनेक हैं, अतएव उनके न्याय करने वाले निर्णायक या शासक भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु जिस तरह एक केन्द्रीय सम्राट विभिन्न विभागीय**

**शासकों को नियंत्रित करता है, उसी तरह सारे निर्णायकों के मार्गदर्शन हेतु एक परम नियन्ता होना चाहिए।**

**तात्पर्य :** सरकारी व्यवस्था में विभिन्न लोगों को न्याय दिलाने के लिए विभागीय अधिकारी हो सकते हैं, किन्तु कानून तो एक होना चाहिए और उस केन्द्रीय नियम को चाहिए कि हर एक को नियंत्रित करे। यमदूत इसकी कल्पना नहीं कर सके कि दो निर्णायक एक ही मामले में दो भिन्न-भिन्न निर्णय दे सकते होंगे; इसलिए वे जानना चाहते थे कि केन्द्रीय निर्णायक कौन है? यमदूतों को विश्वास था कि अजामिल सबसे बड़ा पापी व्यक्ति है और यमराज उसे दण्ड देना चाहते थे, विष्णुदूतों ने उसे क्षमा कर दिया। यही उलझन थी जिसे यमदूत यमराज से स्पष्ट करा लेना चाहते थे।

**अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः ।**
**शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः ॥ ७॥**

शब्दार्थ

अतः—अतः; त्वम्—तुम; एकः—एक; भूतानाम्—सारे जीवों के; स-ईश्वराणाम्—सारे देवताओं सहित; अधीश्वरः—परम स्वामी; शास्ता—परम शासक; दण्ड-धरः—दण्ड का परम प्रशासक; नृणाम्—मानव समाज का; शुभ-अशुभ-विवेचनः—जो शुभ तथा अशुभ में भेदभाव करता है।

**परम निर्णायक तो एक होना चाहिए, अनेक नहीं। हम तो यही समझते थे कि आप परम निर्णायक हैं और आपका देवताओं पर भी अधिकार है। हमारी यह धारणा थी कि आप सारे जीवों के स्वामी हैं, जो सारे मनुष्यों के शुभ तथा अशुभ कर्मों में भेदभाव करते हैं।**

**तस्य ते विहितो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना ।**
**चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्भिता ॥ ८॥**

शब्दार्थ

तस्य—प्रभाव का; ते—आपको; विहितः—नियत; दण्डः—दण्ड; न—नहीं; लोके—इस जगत में; वर्तते—विद्यमान है; अधुना—अब; चतुर्भिः—चार; अद्भुतैः—अतीव अद्भुत; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों द्वारा; आज्ञा—आदेश; ते—तुम्हारा; विप्रलम्भिता—उल्लंघन किया हुआ।

**किन्तु अब हम देखते हैं कि आपके अधिकार के अन्तर्गत नियत किया हुआ दण्ड**

**प्रभावी नहीं है, क्योंकि चार अद्भुत सिद्ध पुरुषों द्वारा आपके आदेश का उल्लंघन किया जा चुका है।**

**तात्पर्य :** यमदूतों की धारणा थी कि यमराज ही न्याय करने वाले एकमात्र अधिकारी हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि उनके निर्णयों का कोई प्रतिवाद नहीं कर सकता था, किन्तु अब उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि यमराज के आदेश का उल्लंघन सिद्धलोक के चार अद्भुत व्यक्तियों द्वारा हो चुका है।

**नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान् ।**
**व्यामोचयन्पातकिनं छित्त्वा पाशान्प्रसह्य ते ॥ ९॥**

### शब्दार्थ

नीयमानम्—लाया जा रहा; तव आदेशात्—आपके आदेश से; अस्माभिः—हमारे द्वारा; यातना-गृहान्—यातना के कक्षों या नरक लोकों को; व्यामोचयन्—छुड़ाते हुए; पातकिनम्—पापी अजामिल को; छित्त्वा—काटकर; पाशान्—रस्सियों को; प्रसह्य—बलपूर्वक; ते—वे।

**हम आपके आदेशानुसार महान् पापी अजामिल को नरक की ओर ला रहे थे, तभी सिद्धलोक के उन सुन्दर पुरुषों ने बलपूर्वक उन रस्सियों की गाँठों को काट दिया जिनसे हम उसे बन्दी बनाये हुए थे।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि यमदूत विष्णुदूतों को यमराज के समक्ष लाना चाहते थे। यदि यमराज उन विष्णुदूतों को दण्ड द सकते तो यमदूतों को सन्तोष हुआ होता।

**तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम् ।**
**नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम् ॥ १०॥**

### शब्दार्थ

तान्—उनके विषय में; ते—आप से; वेदितुम्—जानने के लिए; इच्छामः—हम चाहते हैं; यदि—यदि; नः—हमारे लिए; मन्यसे—आप सोचते हैं; क्षमम्—उपयुक्त; नारायण—नारायण; इति—इस प्रकार; अभिहिते—उच्चारण किया गया; मा—नहीं; भैः—डरो; इति—इस प्रकार; आययुः—वे आये; द्रुतम्—बहुत शीघ्र।

**ज्योंही पापी अजामिल ने नारायण नाम का उच्चारण किया, ये चारों सुन्दर व्यक्ति तुरन्त**

**वहाँ आ गये और यह कहकर उसे पुनः आश्वस्त किया, ''डरो मत। मत डरो।'' हम आपसे उनके विषय में जानना चाहते हैं। यदि आप यह सोचते हैं कि हम उनके विषय में जान सकते हैं, तो कृपा करके बताइये कि वे कौन हैं।**

**तात्पर्य :** यमराज के दूत चारों विष्णुदूतों से पराजित होने से अत्यधिक खिन्न थे और वे उन्हें यमराज के समक्ष लाना चाहते थे तथा यदि सम्भव हो तो उन्हें दण्ड देना चाहते थे। अन्यथा वे आत्महत्या करना चाह रहे थे। किन्तु इनमें से कोई रास्ता अपनाने के पूर्व वे यमराज से विष्णुदूतों के विषय में जान लेना चाहते थे, क्योंकि वे भी सर्वज्ञ हैं।

**श्रीबादरायणिरुवाच**
**इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः ।**
**प्रीतः स्वदूतान्प्रत्याह स्मरन्पादाम्बुजं हरेः ॥ ११ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-बादरायणिः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; देवः—देवता; सः—वह; आपृष्टः—पूछे जाने पर; प्रजा-संयमनः यमः—यमराज, जो जीवों पर नियंत्रण रखते हैं; प्रीतः—प्रसन्न होकर; स्व-दूतान्—अपने सेवकों को; प्रत्याह—उत्तर दिया; स्मरन्—स्मरण करते हुए; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों को; हरेः—भगवान् हरि के।

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार पूछे जाने पर जीवों के परम नियन्ता यमराज अपने दूतों से नारायण का पवित्र नाम सुनकर उन पर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने भगवान् के चरणकमलों का स्मरण किया और उत्तर देना शुरू किया।**

**तात्पर्य :** जीवों के शुभ तथा अशुभ कर्मों के परम नियन्ता श्रील यमराज अपने सेवकों पर अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि उन्होंने उनके राज्य में नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था। यमराज को ऐसे लोगों से पाला पड़ता है, जो निरे पापी होते हैं और नारायण को नहीं समझ पाते हैं। फलस्वरूप जब दूतों ने नारायण का नाम लिया तो यमराज अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि वे भी एक वैष्णव हैं।

यम उवाच

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम् ।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः ॥ १२॥

### शब्दार्थ

यमः उवाच—यमराज ने उत्तर दिया; परः—श्रेष्ठ; मत्—मुझसे; अन्यः—दूसरा; जगतः—समस्त चर वस्तुओं का; तस्थुषः—अचर वस्तुओं का; च—तथा; ओतम्—चौड़ाई में, आर-पार; प्रोतम्—लम्बाई में; पटवत्—बुने हुए वस्त्र की भाँति; यत्र—जिसमें; विश्वम्—विराट जगत; यत्—जिसका; अंशतः—आंशिक विस्तार से; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; स्थिति—पालन; जन्म—सृजन; नाशाः—तथा संहार; नसि—नाक में; ओत-वत्—रस्सी की तरह; यस्य—जिसका; वशे—वश में; च—तथा; लोकः—सारी सृष्टि।

**यमराज ने कहा : मेरे प्रिय सेवको! तुम लोगों ने मुझे सर्वोच्च स्वीकार किया है, किन्तु मैं वास्तव में हूँ नहीं। मेरे ऊपर तथा इन्द्र एवं चन्द्र समेत अन्य सारे देवताओं के ऊपर एक परम स्वामी तथा नियन्ता हैं। उनके आंशिक स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव हैं, जो ब्रह्माण्ड के सृष्टि पालन एवं संहार के भार को संभालते हैं। वे उन दो धागों के तुल्य हैं, जो बुने हुए वस्त्र की लम्बाई तथा चौड़ाई या ताने-बाने का निर्माण करते हैं। सम्पूर्ण जगत उनके द्वारा उसी तरह नियंत्रित होता है, जिस तरह एक बैल अपने नाक की रस्सी द्वारा नियंत्रित होता है।**

**तात्पर्य :** यमराज के दूतों को सन्देह हुआ कि यमराज के भी ऊपर कोई शासक है। इसलिए उनका सन्देह मिटाने के लिए यमराज ने तुरन्त उत्तर दिया, ''हाँ, सबों के ऊपर एक परम नियन्ता है।'' यमराज कुछ चर जीवों के, यथा मनुष्यों का कार्यभार देखते हैं, किन्तु पशु जो कि चर हैं, उनके नियंत्रण में नहीं हैं। केवल मनुष्य को सही तथा गलत का भान है और इनमें से केवल वे ही मनुष्य, जो पापकर्म करते हैं, यमराज के अधीन होते हैं, इसलिए यद्यपि यमराज नियंत्रक हैं, किन्तु वे कुछ ही जीवों के विभागीय नियंत्रक हैं। अन्य देवता भी हैं, जो अन्य कई विभागों को सँभालते हैं, किन्तु इन सबों के ऊपर एक परम नियन्ता कृष्ण हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*—परम नियन्ता तो कृष्ण हैं। अन्य, जो ब्रह्माण्ड के मामलों के अपने-अपने विभाग सँभालते हैं, परम नियन्ता कृष्ण के आगे नगण्य हैं। *भगवद्गीता* (७.७) में कृष्ण कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*

*किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—हे धनंजय (अर्जुन)! कोई भी मुझसे श्रेष्ठ नहीं। अतएव यमराज ने तुरन्त ही अपने सहायक यमदूतों के सन्देह को इसकी पुष्टि करते हुए दूर कर दिया कि अन्य सबों के ऊपर एक परम नियन्ता है।

श्रील मध्वाचार्य व्याख्या करते हैं कि *ओतं प्रोतम्* शब्द समस्त कारणों के कारण का द्योतक है। परमेश्वर विराट जगत के लिए ताना तथा बाना दोनों ही हैं। *स्कन्द पुराण* के निम्नलिखित श्लोक से इसकी पुष्टि होती है

*यथा कन्थापटाः सूत्र ओताः प्रोताश्च स स्थिताः।*

*एवं विष्णाविदं विश्वम् ओतं प्रोतं च संस्थितम्॥*

रजाई के खड़े तथा पड़े दो धागों (ताना-बाना) के समान भगवान् विष्णु इस विराट जगत में ताने-बाने के रूप में स्थित हैं।

**यो नामभिर्वाचि जनं निजायां**
**बध्नाति तन्त्र्यामिव दामभिर्गाः ।**
**यस्मै बलिं त इमे नामकर्म-**
**निबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति ॥ १३ ॥**

### शब्दार्थ

यः—जो; नामभिः—विभिन्न नामों से; वाचि—वैदिक भाषा में; जनम्—सारे लोगों को; निजायाम्—जो स्वयं उनसे उद्भूत है; बध्नाति—बाँधता है; तन्त्र्याम्—रस्सी को; इव—सदृश; दामभिः—रस्सी से; गाः—बैल; यस्मै—जिसको; बलिम्—कर की छोटी सी भेंट; ते—वे सभी; इमे—इन; नाम-कर्म—नामों तथा विभिन्न कार्यों का; निबन्ध—कृतज्ञता से; बद्धाः—बँधा हुआ; चकिताः—भयभीत; वहन्ति—ढोते हैं।.

**जिस तरह बैलगाड़ी का चालक अपने बैलों को वश में करने के लिए उनके नथुनों से निकालकर रस्सियाँ (नाथ) बाँध देता है उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सारे व्यक्तियों को वेदों में कहे अपने वचनों रूपी रस्सियों (नाथ) के द्वारा बाँधते हैं, जो मानव समाज के विभिन्न वर्णों के नामों तथा कार्यों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) को निर्धारित करते हैं। इन वर्णों के लोग भयवश परम भगवान् की पूजा अपने-अपने कर्मों के अनुसार भेंटें अर्पित**

**करते हुए करते हैं।**

**तात्पर्य :** इस भौतिक जगत में हर प्राणी, चाहे वह जो कुछ हो, बद्ध है। चाहे वह मनुष्य हो, देवता हो पशु, वृक्ष या पौधा हो, हर वस्तु प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित होता है और इस प्राकृतिक नियंत्रण के पीछे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (९.१०) होती है, जिसमें कृष्ण कहते हैं *मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन के अनुसार कार्य कर रही है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। इस तरह कृष्ण उस प्राकृतिक यंत्र के पीछे रहते हैं, जो उनके नियंत्रण में कार्य करता है।

अन्य जीवों से पृथक्, मनुष्य शरीर के रूप में जो जीव है, वह वर्ण तथा आश्रम विभागों के रूप में वैदिक आदेशों द्वारा सुसम्बद्ध रूप से नियंत्रित होता है। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह वर्ण तथा आश्रम के विधि-विधानों का पालन करेगा अन्यथा वह यमराज के दण्ड से बच कर नहीं निकल सकता। बात यह है कि हर मनुष्य से यही आशा की जाती है कि वह परम बुद्धिमान व्यक्ति, ब्राह्मण के पद तक स्वयं को ऊपर उठाये और तब उस पद के आगे निकल करके वैष्णव बने। यही जीवन सिद्धि है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने अपने कर्मों के अनुसार भगवान् की पूजा द्वारा अपने को ऊपर उठा सकते हैं। (*स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः*)। वर्ण तथा आश्रम का विभाजन हर एक के द्वारा कार्यों की सही-सही निष्पादन तथा शान्तिपूर्ण अस्तित्त्व को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है। किन्तु हर एक को निर्देश दिया जाता है कि वह सर्वव्यापी परमेश्वर की पूजा करे (*येन सर्वम् इदं ततम्*)। परमेश्वर ताने-बाने में (*ओतं प्रोतम्*) स्थित हैं, अतएव यदि कोई अपनी शक्ति के अनुसार परमेश्वर की पूजा करते हुए वैदिक आदेशों का पालन करता है, तो उसका जीवन परिपूर्ण होगा। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में कहा गया है—

*अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।*

*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥*

"हे द्विजश्रेष्ठ! अतएव यह निष्कर्ष निकला कि मनुष्य जाति-भेद तथा आश्रम के अनुसार नियत कर्तव्यों (*धर्म*) को सम्पन्न करके जिस सर्वोच्च सिद्धि जो कि भगवान् हरि को प्रसन्न करना है, प्राप्त कर सकता है।" *वर्णाश्रम* संस्थान मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने का पात्र बनाने के लिए पूर्ण विधि उपलब्ध करता है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। मनुष्य प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में परम भगवान् को प्रसन्न कर सकता है और यदि वह ऐसा करता है, तो उसका जीवन पूर्ण है। परम भगवान् पूजनीय हैं और हर व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से उनकी पूजा करता है। जो लोग उनकी प्रत्यक्ष पूजा करते हैं उन्हें मुक्ति-लाभ जल्दी हो जाता है, जबकि अप्रत्यक्ष रीति से सेवा करने वाले की मुक्ति विलम्बित होती है।

*नामभिर्वाचि* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वर्णाश्रम संस्थान में विभिन्न नाम हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी। *वाक्* अथवा वैदिक आदेश इन सारे विभागों के लिए निर्देश देते हैं। हर व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह परमेश्वर को नमस्कार करे और वेदों में जिस तरह दर्शाया गया है, अपने कर्तव्य पूरे करे।

**अहं महेन्द्रो निरृतिः प्रचेताः**
**सोमोऽग्निरीशः पवनो विरिञ्चिः ।**
**आदित्यविश्वे वसवोऽथ साध्या**
**मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः ॥ १४॥**
**अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा**
**भृग्वादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः ।**
**यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः**
**सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये ॥ १५॥**

### शब्दार्थ

अहम्—मैं, यमराज; महेन्द्रः—इन्द्र, स्वर्ग का राजा; निरृतिः—निर्ऋति; प्रचेताः—जल का नियन्ता, वरुण; सोमः—चन्द्रमा; अग्निः—अग्नि; ईशः—शिव; पवनः—पवनदेव; विरिञ्चिः—ब्रह्मा; आदित्य—सूर्य; विश्वे—विश्वासु; वसवः—आठों वसु; अथ—भी; साध्याः—देवतागण; मरुत्-गणाः—वायु के स्वामी; रुद्र-गणाः—शिव के अंश; स-सिद्धाः—सिद्ध लोक के निवासियों सहित; अन्ये—अन्य; च—तथा; ये—जो; विश्व-सृजः—मरीचि तथा विश्व मामलों के अन्य स्रष्टा; अमर-ईशाः—बृहस्पति जैसे देवता; भृगु-आदयः—भृगु इत्यादि ऋषिगण; अस्पृष्ट—अकलुषित; रजः-तमस्काः—

प्रकृति के निम्नतर गुणों ( रजोगुण तथा तमोगुण ) द्वारा; यस्य—जिसका; ईहितम्—कार्य; न विदुः—नहीं जानते; स्पृष्ट-मायाः—माया द्वारा मोहित; सत्त्व-प्रधानाः—मुख्यरूप से सतोगुणी; अपि—यद्यपि; किम्—क्या कहा जाये; ततः—उनकी अपेक्षा; अन्ये—अन्य।

**मैं यमराज, स्वर्ग का राजा इन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्र, अग्नि, शिव, पवन, ब्रह्मा, सूर्य, विश्वासु, आठों वरुण, साध्यगण, मरुतगण, सिद्धगण; तथा मरीचि एवं अन्य ऋषिगण जो ब्रह्माण्ड के विभागीय कार्यकर्ताओं को चलाने में लगे रहते हैं, बृहस्पति इत्यादि सर्वोत्तम देवतागण तथा भृगु आदि मुनिगण—ये सभी प्रकृति के दो निम्न गुणों—रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से निश्चित रूप से मुक्त होते हैं। फिर भी, यद्यपि हम सतोगुणी हैं, तो भी हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यों को नहीं समझ सकते। तो फिर दूसरों के विषय में क्या कहा जाये जो मोह के अधीन होने से ईश्वर को जानने के लिए केवल मानसिक ऊहापोह करते हों?**

**तात्पर्य :** इस विराट जगत के अन्तर्गत मनुष्य तथा अन्य जीव प्रकृति के तीन गुणों द्वारा नियंत्रित होते हैं। ऐसे जीव जो प्रकृति के निम्न गुणों—रजो तथा तमो गुणों—द्वारा नियंत्रित होते हैं उनमें ईश्वर को समझ पाने की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ तक कि जो सतोगुणी हैं, यथा अनेक देवता तथा महान् ऋषिगण, जिनका वर्णन इन श्लोकों में हुआ है, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यों को नहीं समझ सकते। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति को प्राप्त है, वह सारे भौतिक गुणों से परे होता है। अतएव भगवान् स्वयं कहते हैं कि उन्हें केवल वे ही भक्त समझ सकते हैं, जो समस्त भौतिक गुणों से परे हैं ( *भक्त्या मामभिजानाति*) उनके अतिरिक्त कोई नहीं समझ सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.९.१६) में भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर से कहा है—

*न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन् पुमान् वेद विधित्सितम्।*

*यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥*

"हे राजन्! कोई भी व्यक्ति भगवान् (श्रीकृष्ण) की योजना को नहीं जान सकता। यद्यपि बड़े

बड़े दार्शनिक विशद् रूप से जिज्ञासा करते हैं, किन्तु वे भी मोहग्रस्त हो जाते हैं।" अतः कोई भी व्यक्ति ईश्वर को शुष्क दार्शनिक ज्ञान द्वारा नहीं समझ सकता। निस्सन्देह मानसिक ऊहापोह से मनुष्य मोहग्रस्त हो जायेगा (*मुह्यन्ति*)। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.३) में की है—

*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।*

*यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥*

हजारों पुरुषों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है और सिद्धों में भी, जो पहले सिद्ध हो चुके हैं, उनमें से केवल वह जो भक्तियोग अपनाता है, कृष्ण को समझ सकता है।

**यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा**
**हृदा गिरा वासुभृतो विचक्षते ।**
**आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां**
**चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततः परम् ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; गोभिः—इन्द्रियों द्वारा; मनसा—मन से; असुभिः—प्राण वायु द्वारा; वा—अथवा; हृदा—विचारों से; गिरा—शब्दों से; वा—अथवा; असु-भृतः—जीव; विचक्षते—देखते या जानते हैं; आत्मानम्—परमात्मा को; अन्तः-हृदि—हृदय के भीतर; सन्तम्—विद्यमान; आत्मनाम्—जीवों के; चक्षुः—नेत्र; यथा—जिस तरह; एव—निस्सन्देह; आकृतयः—शरीर के विभिन्न अंग; ततः—उनकी तुलना में; परम्—उच्चतर।

**जिस तरह शरीर के विभिन्न अंग आँखों को नहीं देख सकते, उसी तरह सारे जीव परमेश्वर को नहीं देख सकते जो हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित रहते हैं। न तो इन्द्रियों से, न मन से, न प्राणवायु से, न हृदय के अन्दर के विचारों से, न ही शब्दों की ध्वनि से जीवात्माएँ परमेश्वर की असली स्थिति को निश्चित कर सकते हैं।**

**तात्पर्य :** शरीर के विभिन्न अंगों में आँख को देख सकने की शक्ति नहीं होती, किन्तु आँखें शरीर के विभिन्न भागों की गतियों का निर्देशन करती हैं। पाँव इसलिए आगे बढ़ते हैं, क्योंकि आँखें देखती हैं कि उनके सामने क्या है और हाथ स्पर्श करता है, क्योंकि आँखें स्पर्श करने योग्य

वस्तुओं को देखती हैं। इसी तरह प्रत्येक जीवात्मा उन परमात्मा के निर्देशानुसार कार्य करता है, जो हृदय के भीतर स्थित हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में स्वयं भगवान् पुष्टि करते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति के लिए निर्देशन करता हूँ। *भगवद्गीता* में अन्यत्र कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—परमात्मा के रूप में परमेश्वर हृदय के भीतर स्थित रहते हैं। जीव परमात्मा की स्वीकृति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। परमात्मा प्रत्येक क्षण कर्म करता है, किन्तु जीव अपनी इन्द्रियों के संचालन द्वारा परमात्मा के रूप तथा कार्यों को नहीं समझ सकता। आँखों तथा शारीरिक अंगों का उदाहरण अति उपयुक्त है। यदि अंग देख सकते तो वे आँखों की सहायता के बिना ही आगे चल सकते, किन्तु यह असम्भव है। यद्यपि मनुष्य परमात्मा को अपने हृदय में ऐन्द्रिय कार्यों द्वारा नहीं देख सकता, किन्तु परमात्मा का निर्देशन आवश्यक है।

**तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः**
**परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः ।**
**प्रायेण दूता इह वै मनोहरा-**
**श्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः ॥ १७॥**

### शब्दार्थ

तस्य—उसका; आत्म-तन्त्रस्य—आत्मनिर्भर, किसी अन्य व्यक्ति पर आश्रित नहीं; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; अधीशितुः—प्रत्येक वस्तु का स्वामी; परस्य—ब्रह्मा का; माया-अधिपतेः—माया के स्वामी; महा-आत्मनः—सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा; प्रायेण—प्रायः; दूताः—दूत; इह—इस जगत में; वै—निस्सन्देह; मनोहराः—बर्ताव तथा शारीरिक स्वरूप में सुहावना; चरन्ति—चलते फिरते हैं; तत्—उसका; रूप—शारीरिक रूप वाला; गुण—दिव्य गुण; स्वभावाः—तथा स्वभाव।

**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् आत्म-निर्भर तथा पूरी तरह स्वतंत्र हैं। वे माया समेत हर एक के स्वामी हैं। वे रूप, गुण तथा स्वभाव से युक्त हैं और इसी तरह उनके आदेशपालक, अर्थात् वैष्णव, जो अत्यन्त सुन्दर होते हैं, उन्हीं जैसे ही शारीरिक स्वरूप दिव्य गुण तथा दिव्य स्वभाव से युक्त होते हैं। वे इस जगत में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ सदैव विचरण करते हैं।**

**तात्पर्य :** यमराज परम नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वर्णन कर रहे थे, किन्तु यमराज के

दूत विष्णुदूतों के विषय में जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे, जिन्होंने अजामिल से सम्बन्धित मुठभेड़ में उन्हें हरा दिया था। इसलिए यमराज ने कहा कि विष्णुदूत अपने शारीरिक रूप, दिव्य गुणों तथा स्वभाव में भगवान् के सदृश हैं। दूसरे शब्दों में, विष्णुदूत या वैष्णव प्राय: परम भगवान् जितने ही योग्य होते हैं। यमराज ने यमदूतों को सूचित किया कि विष्णुदूत भगवान् विष्णु से कम शक्तिशाली नहीं हैं। चूँकि विष्णु यमराज से ऊपर हैं, इसलिए विष्णुदूत यमदूतों के ऊपर हैं। अत: विष्णुदूतों द्वारा रक्षित व्यक्तियों को यमदूत छू तक नहीं सकते।

**भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि**
**दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि ।**
**रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो**
**मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च ॥ १८ ॥**

### शब्दार्थ

भूतानि—जीव या सेवक; विष्णोः—विष्णु के; सुर-पूजितानि—देवताओं द्वारा पूजित; दुर्दर्श-लिङ्गानि—सरलता से न दिखने वाले रूपों वाले; महा-अद्भुतानि—अत्यन्त अद्‌भुत; रक्षन्ति—वे रक्षा करते हैं; तत्-भक्ति-मतः—भगवान् के भक्त; परेभ्यः—अन्यों से, जो शत्रुता रखते हैं; मत्तः—मुझ ( यमराज ) से तथा मेरे दूतों से; च—तथा; मर्त्यान्—मनुष्यों को; अथ—इस प्रकार; सर्वतः—हर वस्तु से; च—तथा।

**भगवान् विष्णु के दूत, जिनकी पूजा देवता भी किया करते हैं, विष्णु जैसे ही अद्‌भुत शारीरिक लक्षणों से युक्त होते हैं और विरले ही दिखाई देते हैं। ये विष्णुदूत भगवद्‌भक्तों की रक्षा उनके शत्रुओं, ईर्ष्यालु व्यक्तियों और मेरे अधिकार क्षेत्र के साथ ही साथ प्राकृतिक उत्पातों से भी करते हैं।**

**तात्पर्य :** यमराज ने विष्णुदूतों के गुणों का विशेष रूप से वर्णन अपने सेवकों को आश्वस्त करने के लिए किया है, जिससे वे उनसे ईर्ष्या न करें। यमराज ने यमदूतों को आगाह किया कि विष्णुदूतों की देवताओं द्वारा आदरपूर्वक पूजा की जाती है और वे भगवद्‌भक्तों को शत्रुओं के हाथों से, प्राकृतिक उत्पातों से तथा इस जगत में सारी संकटपूर्ण स्थितियों से बचाने के प्रति सदैव सतर्क रहते हैं। कभी-कभी कृष्णभावनामृत-संघ के सदस्य विश्वयुद्ध के आसन्न संकट से भयभीत

रहते हैं और पूछते हैं कि यदि युद्ध हुआ तो उनका क्या होगा। उन्हें सभी प्रकार के संकट में विष्णुदूतों द्वारा या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त रहना चाहिए जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)। भौतिक संकट भक्तों के लिए नहीं होता। इसकी भी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* द्वारा होती है। *पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्*—इस जगत में पग पग पर संकट हैं, किन्तु वे उन भक्तों के लिए नहीं होते जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह आत्मसमर्पण कर दिया है। भगवान् विष्णु के शुद्ध भक्तों को भगवान् के संरक्षण पर पूरी तरह आश्वस्त हो जाना चाहिए और जब तक वे इस भौतिक जगत में हैं, उन्हें चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु तथा कृष्ण के सम्प्रदाय अर्थात् कृष्णभावनामृत के हरे कृष्ण आन्दोलन का प्रचार करके पूरी तरह भक्ति में लगे रहें।

**धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं**
**न वै विदुरृषयो नापि देवाः ।**
**न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः**
**कुतो नु विद्याधरचारणादयः ॥ १९ ॥**

### शब्दार्थ

धर्मम्—असली धार्मिक सिद्धान्त या धर्म के प्रामाणिक नियम; तु—लेकिन; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; भगवत्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा; प्रणीतम्—निर्मित; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; विदुः—वे जानते हैं; ऋषयः—भृगु जैसे महान् ऋषि; न—नहीं; अपि—भी; देवाः—देवता; न—नहीं; सिद्ध-मुख्याः—सिद्धलोक के मुख्य नेता; असुराः—असुरगण; मनुष्याः—भूर्लोक के निवासी; कुतः—कहाँ; नु—निस्सन्देह; विद्याधर—विद्याधर नामक कनिष्ठ देवता; चारण—उन लोकों के निवासी जहाँ के लोग स्वभाव से महान् संगीतकार होते हैं; आदयः—इत्यादि।

**असली धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा किया जाता है। पूर्णतया सतोगुणी महान् ऋषि तक भी, जो सर्वोच्च लोकों में स्थान पाये हुए हैं, वे भी असली धार्मिक सिद्धान्तों को सुनिश्चित नहीं कर सकते, न ही देवतागण, न सिद्धलोक के नामक ही कर सकते हैं, तो असुरों, सामान्य मनुष्यों, विद्याधरों तथा चारणों की कौन कहे?**

**तात्पर्य :** जब विष्णुदूतों ने यमदूतों को धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन करने के लिए ललकारा तो उन्होंने बतलाया—*वेद प्रणिहितो धर्मः*—धार्मिक सिद्धान्त वैदिक वाङ्मय में निर्मित सिद्धान्त हैं।

किन्तु उन्हें यह ज्ञात न था कि वैदिक वाङ्मय में कर्मकाण्ड हैं, जो दिव्य नहीं है, अपितु भौतिक जगत में भौतिकतावादी व्यक्तियों के बीच शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के निमित्त हैं। असली धार्मिक सिद्धान्त तो *निस्त्रैगुण्य* हैं अर्थात् तीनों गुणों से परे या अलौकिक हैं। यमदूत इन अलौकिक धार्मिक सिद्धान्तों को नहीं जानते थे, अत: जब उन्हें अजामिल को बन्दी बनाने से रोका गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ। ऐसे भौतिकतावादी लोगों का जो अपनी सारी श्रद्धा वैदिक *कर्मकाण्ड* में रखते हैं, वर्णन *भगवद्गीता* (२.४२) में किया गया है, जिसमें कृष्ण कहते हैं—*वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन:*—वेदों के समर्थक तथाकथित अनुयायी कहते हैं कि वैदिक अनुष्ठानों से बढ़कर कुछ भी नहीं है। निस्सन्देह, भारतवर्ष में लोगों का एक समुदाय ऐसा है, जो वैदिक कर्मकाण्ड का अतीव प्रेमी है, किन्तु वह इन कर्मकाण्डों का अर्थ नहीं समझता जो मनुष्य को क्रमश: कृष्ण को जानने के दिव्य पद तक ऊपर उठाने के लिए हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। जो लोग इस सिद्धान्त को नहीं जानते, किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति श्रद्धालु बने रहते हैं, वे *वेदवादरता:* कहलाते हैं।

यहाँ पर कहा गया है कि असली धार्मिक सिद्धान्त तो वह है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा प्रदत्त होता है। इस सिद्धान्त का कथन *भगवद्गीता* में हुआ है। *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—मनुष्य को अन्य सारे कर्तव्यों को छोड़ देना चाहिए और कृष्ण के चरणकमलों में शरण लेनी चाहिए। यही असली धार्मिक सिद्धान्त है, जिसका पालन हर एक को करना चाहिए। वैदिक शास्त्रों का पालन करने वाला भी, हो सकता है, इस अलौकिक सिद्धान्त से परिचित न हो, क्योंकि उच्चलोक के देवतागण तक इससे अवगत नहीं हैं। इस दिव्य धार्मिक सिद्धान्त को सीधे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से या उनके विशेष प्रतिनिधि से समझना होगा, जैसाकि अगले श्लोकों में बतलाया गया है।

**स्वयम्भूर्नारद: शम्भु: कुमार: कपिलो मनु: ।**

**प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥ २० ॥**
**द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः ।**
**गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २१ ॥**

### शब्दार्थ

स्वयम्भूः—ब्रह्मा; नारदः—महान् सन्त नारद; शम्भुः—शिवजी; कुमारः—चार कुमार; कपिलः—कपिल; मनुः—स्वायम्भुव मनु; प्रह्लादः—प्रह्लाद महाराज; जनकः—जनक महाराज; भीष्मः—भीष्म पितामह; बलिः—बलि महाराज; वैयासकिः—व्यासदेव के पुत्र शुकदेव; वयम्—हम; द्वादश—बारह; एते—ये; विजानीमः—जानते हैं; धर्मम्—असली धार्मिक सिद्धान्तों को; भागवतम्—जो यह शिक्षा देता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से किस तरह प्रेम किया जाये; भटाः—हे सेवको; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; विशुद्धम्—अलौकिक, भौतिक गुणों से दूषित नहीं; दुर्बोधम्—आसानी से समझ में न आने वाला; यम्—जिसको; ज्ञात्वा—जानकर; अमृतम्—शाश्वत जीवन; अश्नुते—भोग करता है।

**ब्रह्माजी, भगवान् नारद, शिवजी, चार कुमार, भगवान् कपिल (देवहूति के पुत्र), स्वायंभुव मनु, प्रह्लाद महाराज, जनक महाराज, भीष्म पितामह, बलि महाराज, शुकदेव गोस्वामी तथा मैं असली धर्म के सिद्धान्त को जानने वाले हैं। हे सेवको! यह अलौकिक धार्मिक सिद्धान्त, जो भागवत धर्म या परम भगवान् की शरणागति तथा भगवत्प्रेम कहलाता है, प्रकृति के तीनों गुणों से अकलुषित है। यह अत्यन्त गोपनीय है और सामान्य मनुष्य के लिए दुर्बोध है, किन्तु संयोगवश यदि कोई भाग्यवान् इसे समझ लेता है, तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और इस तरह भगवद्धाम लौट जाता है।**

**तात्पर्य :** भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में भागवत धर्म को अत्यन्त गोपनीय धार्मिक सिद्धान्त कहा है (*सर्वगुह्यतमम् गुह्याद् गुह्यतरम्*)। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "चूँकि तुम मेरे मित्र हो इसलिए मैं तुम्हें परम गोपनीय धर्म बतला रहा हूँ।" *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। कोई यह पूछ सकता है, "यदि यह सिद्धान्त विरले ही समझ सकते हैं, तो फिर इसका लाभ क्या है? इसके उत्तर में यहाँ पर यमराज कहते हैं कि यह धार्मिक सिद्धान्त तभी ज्ञेय है जब कोई ब्रह्मा, शिव, चार कुमारों तथा अन्य प्रामाणिक अधिकारियों की परम्परा का पालन करता है। शिष्य परम्पराएँ चार हैं—एक ब्रह्मा से, एक शिव से, एक लक्ष्मी से तथा एक कुमारों से चलने वाली। ब्रह्मा से चलने वाली शिष्य-परम्परा ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाती है, शिव (शम्भु) से चलने वाली परम्परा रुद्र-सम्प्रदाय तथा देवी लक्ष्मी से

चलने वाली परम्परा श्रीसम्प्रदाय तथा कुमारों से चलने वाली कुमार-सम्प्रदाय कहलाती है। मनुष्य को अत्यन्त गोपनीय धार्मिक प्रणाली को समझने के लिए इन चार सम्प्रदायों में से किसी एक की शरण ग्रहण करनी होती है। *पद्मपुराण* में कहा गया है कि *सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः*—यदि कोई इन चार मान्यताप्राप्त शिष्य-परम्पराओं का पालन नहीं करता तो उसका मंत्र या उसकी दीक्षा निष्फल है। वर्तमान समय में कई *अप-सम्प्रदाय* हैं अर्थात् ऐसे सम्प्रदाय जो प्रामाणिक नहीं हैं और जिनका ब्रह्मा, शिव, कुमारगण या लक्ष्मी जैसे महाजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोग ऐसे सम्प्रदायों से भ्रमित होते हैं। शास्त्रों का कहना है कि ऐसे सम्प्रदाय में दीक्षित होना समय का अपव्यय है, क्योंकि इससे मनुष्य को असली धार्मिक सिद्धान्तों को समझने में मदद नहीं मिलेगी।

**एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।**
**भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥ २२ ॥**

**शब्दार्थ**

एतावान्—इतना; एव—निस्सन्देह; लोके अस्मिन्—इस भौतिक जगत में; पुंसाम्—जीवों का; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; परः—दिव्य; स्मृतः—मान्यता प्राप्त; भक्ति-योगः—भक्तियोग या भक्तिमय सेवा; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति ( देवताओं के प्रति नहीं ); तत्—उसका; नाम—पवित्र नाम का; ग्रहण-आदिभिः—कीर्तन इत्यादि।

**भगवान् के नाम के कीर्तन से प्रारम्भ होने वाली भक्ति ही मानव-समाज में जीव के लिए परम धार्मिक सिद्धान्त है।**

**तात्पर्य :** जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है *धर्मं भागवतम्*—असली धार्मिक सिद्धान्त भागवत धर्म हैं, जिनका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में या *भागवत* के प्रारम्भिक अध्ययन *भगवद्गीता* में हुआ है। ये सिद्धान्त क्या हैं? *भागवत* का कथन है *धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र*—*श्रीमद्भागवत* में ठगने वाली धार्मिक प्रणालियाँ नहीं हैं। *भागवत* की हर वस्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सीधे सम्बन्धित है। *भागवत* में और भी कहा गया है—*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*—परमधर्म वह है, जो अपने अनुयायियों को यह सिखाता है कि उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से कैसे

प्रेम किया जाये जो व्यावहारिक ज्ञान की पहुँच से परे हैं। ऐसी धार्मिक प्रणाली *तन्नाम ग्रहण*—अर्थात् भगवन्नाम के कीर्तन से प्रारम्भ होती है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्*)। भगवन्नाम् का कीर्तन करने तथा भावावेश में आकर नृत्य करने के बाद मनुष्य क्रमशः भगवान् के रूप, भगवान् की लीलाओं तथा भगवान् के दिव्य गुणों को देखता है। इस तरह से वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की स्थिति को पूरी तरह से समझ लेता है। भगवान् किस तरह भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, किस तरह जन्म लेते हैं और क्या-क्या कार्य करते हैं, इनके विषय में मनुष्य जान तो सकता है, किन्तु तब जब वह भक्ति करे। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—एकमात्र भक्ति द्वारा मनुष्य परम भगवान् के विषय में सब कुछ समझ सकता है। यदि कोई सौभाग्यवश इस तरह से परम भगवान् को समझ लेता है, तो परिणाम निकलता है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—अपना शरीर त्यागने के बाद फिर उसे इस भौतिक जगत में जन्म नहीं लेना पड़ता प्रत्युत वह भगवद्धाम लौट जाता है। यही चरम सिद्धि है। इसीलिए *भगवद्गीता* (८.१५) में कृष्ण कहते हैं—

*मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।*
*नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥*

‘‘मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।’’

**नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।**
**अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

नाम—पवित्र नाम के; उच्चारण—उच्चारण का; माहात्म्यम्—उच्च स्थान; हरेः—परम ईश्वर का; पश्यत—जरा देखो; पुत्रकाः—हे मेरे पुत्रवत् सेवको; अजामिलः अपि—अजामिल (जो महापापी था) भी; येन—जिसके कीर्तन से; एव—निश्चय ही; मृत्यु-पाशात्—मृत्यु की रस्सियों से; अमुच्यत—छूट गया।

**हे मेरे पुत्रवत् सेवको! जरा देखो न, भगवन्नाम का कीर्तन कितना महिमायुक्त है! परम**

**पापी अजामिल ने यह न जानते हुए कि वह भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण कर रहा है, केवल अपने पुत्र को पुकारने के लिए नारायण नाम का उच्चारण किया। फिर भी भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करने से उसने नारायण का स्मरण किया और इस तरह से वह तुरन्त मृत्यु के पाश से बचा लिया गया।**

**तात्पर्य :** हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन की महत्ता के विषय में शोध करने की आवश्यकता नहीं है। अजामिल का इतिहास भगवान् के नाम की शक्ति तथा पवित्र नाम का निरन्तर उच्चारण करने वाले व्यक्ति के उच्च पद का यथेष्ठ प्रमाण है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने परामर्श दिया है—

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।*

*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥*

इस कलियुग में मुक्त होने के लिए जितने कर्मकाण्डों की आवश्यकता है उन्हें कोई सम्पन्न नहीं कर सकता। ऐसा कर पाना अत्यन्त कठिन है। अत: सारे शास्त्रों तथा आचार्यों ने संस्तुति की है कि इस युग में मनुष्य पवित्र नाम का कीर्तन करे।

**एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां**
**सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।**
**विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि**
**नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

एतावता—इतने से; अलम्—पर्याप्त; अघ-निर्हरणाय—पापकर्मों के फलों को दूर करने के लिए; पुंसाम्—मनुष्यों का; सङ्कीर्तनम्—सामूहिक कीर्तन; भगवतः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गुण—अलौकिक गुणों का; कर्म-नाम्नाम्—तथा उनके कार्यों एवं लीलाओं के अनुसार उनके नामों का; विक्रुश्य—अपराधरहित, क्रन्दन; पुत्रम्—अपने पुत्र से; अघवान्—पापी; यत्—चूँकि; अजामिलः अपि—अजामिल तक ने; नारायण—भगवान् का नाम, नारायण; इति—इस प्रकार; म्रियमाणः—मरणासन्न; इयाय—प्राप्त की; मुक्तिम्—मुक्ति।

**अतएव यह समझ लेना चाहिए कि मनुष्य भगवान् के पवित्र नाम का और उनके गुणों तथा कार्यों का कीर्तन करने से समस्त पाप फलों से सरलता से छुटकारा पा जाता है। पापफलों से छुटकारा पाने के लिए इसी एकमात्र विधि की संस्तुति की जाती है। यदि कोई**

**अशुद्ध उच्चारण द्वारा भी भगवान् के नाम का कीर्तन करता है, तो उसे भवबन्धन से छुटकारा मिल जायेगा, किन्तु यदि वह अपराधरहित होकर कीर्तन करे। उदहारणार्थ, अजामिल अत्यन्त पापी था, किन्तु मरते समय उसने पवित्र नाम का उच्चारण किया और यद्यपि वह अपने पुत्र को पुकार रहा था, किन्तु उसे पूर्ण मुक्ति प्राप्त हुई, क्योंकि उसने नारायण के नाम का स्मरण किया।**

**तात्पर्य :** रघुनाथदास गोस्वामी के पिता की सभा में हरिदास ठाकुर ने पुष्टि की कि एकमात्र भगवन्नाम का उच्चारण करने से मनुष्य मुक्त हो जाता है भले ही उसने पूर्णतया निरपराध भाव से उच्चारण न किया हो। स्मार्त ब्राह्मण तथा मायावादी जन विश्वास नहीं करते कि मनुष्य इस तरह मुक्ति पा सकता है, किन्तु हरिदास ठाकुर के कथन की सच्चाई का समर्थन *श्रीमद्भागवत* के अनेक उद्धरणों द्वारा होता है।

उदाहरणार्थ, इस श्लोक की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी ने निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

*सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद् विमुच्यते*

''यदि कोई अत्यन्त भक्तिपूर्वक संध्या तथा प्रातः भगवन्नाम का सदैव उच्चारण करता है, तो वह सारे भौतिक कष्टों से मुक्त हो सकता है।'' अन्य उद्धरण से इसकी पुष्टि होती है कि यदि कोई प्रतिदिन अतीव आदरपूर्वक भगवन्नाम का निरन्तर श्रवण करता है, तो वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है (*अनुदिनम्-इदम् आदरेण शृण्वन्*)। अन्य उद्धरण कहता है—

*श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।*

*जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥*

''मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव भगवान् के असामान्य रूप से अद्भुत कार्यों का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करे, वह इन कार्यों का ध्यान करे तथा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करे'' (*भागवत* ११.३.२७)।

श्रीधर स्वामी पुराणों से भी उद्धरण देते हैं। *पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशिम्*—भगवान् के

चरणकमलों का दिन रात (*अहर्निशम्*) स्मरण करके मनुष्य सारे पापफलों से मुक्त हो सकता है। इसके आगे वे *भागवत* (६.३.३१) से उद्धरण देते हैं—

*तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मंगलमंहसाम्।*
*महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिक निष्कृतम्॥*

ये सारे उद्धरण सिद्ध करते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् के पवित्र कार्यों, नाम, यश तथा रूप के कीर्तन एवं श्रवण में निरन्तर लगा रहता है, वह मुक्त है। जैसाकि इस श्लोक में अद्‌भुत ढंग से कहा गया है—*एतावतालम् अघनिर्हरणाय पुंसाम्*—केवल भगवन्नाम का उच्चारण करने से मनुष्य सारे पापफलों से मुक्त हो जाता है।

इस श्लोक में प्रयुक्त *अलम्* शब्द सूचित करता है कि भगवन्नाम का उच्चारण करना ही पर्याप्त है। यह शब्द विभिन्न आशयों से प्रयुक्त किया जाता है। जैसाकि संस्कृत भाषा के सबसे प्रामाणिक कोश *अमरकोश* में कहा गया है—*अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्*—*अलम्* शब्द का प्रयोग ''आभूषण'' ''पर्याप्त,'' ''शक्ति'' तथा ''संयम'' अर्थों में किया जाता है। यहाँ पर *अलम्* शब्द यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है कि किसी अन्य विधि की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवन्नाम का उच्चारण ही पर्याप्त है। यदि कोई गलत ढंग से भी उच्चारण करता है, तो वह उच्चारण करने से सारे पापफलों से मुक्त हो जाता है।

पवित्र नाम की इस उच्चारण-शक्ति का प्रमाण है अजामिल की मुक्ति। जब अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया, तो उसे परमेश्वर का ठीक से स्मरण नहीं आया; बजाय इसके उसने अपने पुत्र का स्मरण किया। यह तो निश्चित है कि मृत्यु के समय अजामिल अत्यधिक शुद्ध नहीं था। वह तो महान् पापी के रूप में विख्यात था। इतना ही नहीं, मृत्यु के समय मनुष्य की शारीरिक दशा पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाती है, अत: ऐसी विषम स्थिति में अजामिल के लिए स्पष्ट रूप से उच्चारण कर सकना अत्यन्त कठिन होता। तो भी, अजामिल ने एकमात्र भगवन्नाम के नाम का उच्चारण करने से मुक्ति प्राप्त की। अतएव, उन लोगों के विषय में क्या कहा जाये जो

अजामिल जितने पापी नहीं हैं? यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को दृढ़व्रत होने के साथ ही भगवन्नाम का—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—कीर्तन करना चाहिए, क्योंकि इस तरह वह कृष्ण की कृपा से माया के पाश से निश्चित रूप से छूट जाएगा।

हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन ऐसे पुरुषों के लिए भी संस्तुत किया जाता है, जो अपराध करते हैं, क्योंकि कीर्तन करते रहने से वे क्रमश: निरपराध भाव से कीर्तन करने लगेंगे। निरपराध भाव से हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से मनुष्य कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को बढ़ाता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*प्रेमा पुमर्थो महान्*—मनुष्य की मुख्य गन्तव्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति अपना लगाव तथा उनके प्रति अपने प्रेम को बढ़ाने की होनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *श्रीमद्भागवत* के निम्नलिखित श्लोक को (११.१९.२४) उद्धृत करते हैं—

*एवं धर्मैर्मनुष्याणां उद्धावात्मनि वेदिनाम्।*

*मयि सञ्जायते भक्ति: कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥*

"हे उद्धव! मानव समाज के लिए परम धार्मिक प्रणाली वह है, जिससे मनुष्य मेरे प्रति अपने सुप्त प्रेम को जागृत कर सके।" इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भक्ति शब्द का वर्णन *प्रेमैवोक्त:* से करते हैं। *क: अन्य: अर्थ: अस्य*—भक्ति के समक्ष मुक्ति की क्या आवश्यकता है?

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *पद्मपुराण* का निम्नलिखित श्लोक भी उद्धृत करते हैं—

*नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।*

*अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥*

यदि कोई शुरू-शुरू में अपराधपूर्वक भी हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करता है, तो वह बारम्बार कीर्तन करने से ऐसे पापों से मुक्त हो जायेगा। *पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशम्*—यदि कोई श्री

चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति का पालन करते हुए दिन रात कीर्तन करता है, तो वह सारे पापफलों से मुक्त हो जाता है। निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करने वाले श्री चैतन्य महाप्रभु ही थे—

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।*

*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥*

"कलह तथा पाखण्ड के इस युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवन्नाम का कीर्तन है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं, कोई अन्य उपाय नहीं, कोई अन्य उपाय नहीं।" यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य श्री चैतन्य महाप्रभु की इस संस्तुति का दृढ़ता से पालन करें तो उनकी स्थिति सदैव सुरक्षित रहे।

**प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं**
**देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम् ।**
**त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां**
**वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥ २५ ॥**

### शब्दार्थ

प्रायेण—लगभग सदा; वेद—जानो; तत्—वह; इदम्—यह; न—नहीं; महाजनः—स्वायंभुव मनु, शम्भु तथा इनके अतिरिक्त अन्य महापुरुष; अयम्—यह; देव्या—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति द्वारा; विमोहित-मतिः—जिसकी बुद्धि मोहग्रस्त है; बत—निस्सन्देह; मायया—माया द्वारा; अलम्—अत्यधिक; त्रय्याम्—तीन वेदों में; जडी-कृत-मतिः—जिसकी बुद्धि जड़ हो चुकी है; मधु-पुष्पितायाम्—कर्मकाण्ड के फलों का वर्णन करने वाली अलंकारमयी वैदिक भाषा में; वैतानिके—वेदवर्णित अनुष्ठानों में; महति—अति महान्; कर्मणि—सकाम कर्म में; युज्यमानः—लगे हुए।

**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की माया द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण याज्ञवल्क्य, जैमिनि तथा अन्य शास्त्रप्रणेता भी बारह महाजनों की गुह्य धार्मिक प्रणाली को नहीं जान सकते। वे भक्ति करने या हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने के दिव्य महत्त्व को नहीं समझ सकते। चूँकि उनके मन वेदों—विशेषतया यजुर्वेद, सामवेद तथा ऋग्वेद में उल्लिखित कर्मकाण्डों के प्रति आकृष्ट रहते हैं, इसलिए उनकी बुद्धि जड़ हो गई है। इस तरह वे उन कर्मकाण्डों के लिए सामग्री एकत्र करने में व्यस्त रहते हैं, जो केवल नश्वर लाभ देने वाले हैं—यथा भौतिक सुख के लिए स्वर्गलोक जाना। वे संकीर्तन आन्दोलन के प्रति आकृष्ट नहीं होते बल्कि वे**

**धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में रुचि लेते हैं।**

**तात्पर्य :** चूँकि मनुष्य भगवान् के कीर्तन द्वारा सरलता से सर्वोच्च सफलता प्राप्त कर सकता है इसलिए कोई प्रश्न कर सकता है कि क्यों इतने वैदिक कर्मकाण्ड हैं और लोग उनके प्रति आकृष्ट क्यों हैं? यह श्लोक इस प्रश्न का उत्तर देता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों के अध्ययन का असली उद्देश्य भगवान् कृष्ण के चरणकमलों तक पहुँचना है। दुर्भाग्यवश, मूर्खलोग वैदिक यज्ञों की भव्यता से मोहग्रस्त होकर धूमधाम से यज्ञों को सम्पन्न करना चाहते हैं। वे वैदिक मंत्रों का उच्चारण होते तथा ऐसे उत्सवों में विपुल धनराशि व्यय होते देखना चाहते हैं। कभी-कभी ऐसे मूर्ख लोगों को प्रसन्न करने के लिए हमें वैदिक कर्मकाण्ड करने पड़ते हैं। हाल ही में, जब हमने वृन्दावन में एक विशाल कृष्ण-बलराम मन्दिर की स्थापना की, तो हमें ब्राह्मणों द्वारा वैदिक अनुष्ठान कराने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि वृन्दावन के निवासी, विशेषतया स्मार्त ब्राह्मण यूरोपियनों तथा अमेरिकनों को प्रामाणिक ब्राह्मण स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अतः हमें खर्चीला यज्ञ सम्पन्न करने के लिए एक ब्राह्मण लगाना पड़ा। इन यज्ञों के बावजूद, हमारे संघ के सदस्यों ने मृदंग के साथ जोर-जोर से *सङ्कीर्तन* किया। मैने *सङ्कीर्तन* को वैदिक कर्मकाण्डों से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। कर्मकाण्ड और संकीर्तन साथ-साथ चल रहे थे। कर्मकाण्ड उत्सव उन व्यक्तियों के लिए थे, जो स्वर्गलोक जाने के लिए वैदिक अनुष्ठानों में रुचि रखते थे—*जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायाम्* जबकि *सङ्कीर्तन* उन शुद्ध भक्तों के लिए था, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्रसन्न करने में रुचि रखते थे। हम तो केवल *सङ्कीर्तन* ही कराते, किन्तु तब वृन्दावन के निवासी स्थापना-उत्सव को गम्भीरता से न लेते। जैसाकि यहाँ पर बताया गया है, वैदिक *कर्मकाण्ड* तो उन लोगों के लिए हैं जिनकी बुद्धि वेदों की अलंकारमयी भाषा से मन्द बन चुकी है, जो उच्चलोक को ले जाने वाले सकाम कर्मों का वर्णन करते हैं।

विशेषतया इस कलियुग में अकेला *सङ्कीर्तन* पर्याप्त है। यदि विश्व के विभिन्न भागों में हमारे

मन्दिरों के सदस्य अर्चाविग्रह के समक्ष, विशेषतया श्री चैतन्य महाप्रभु के समक्ष, केवल *सङ्कीर्तन* करते रहें तो वे पूर्ण बने रहेंगे। अन्य किसी कृत्य की आवश्यकता नहीं है। फिर भी, अपनी आदतों को तथा मन को स्वच्छ रखने के लिए अर्चाविग्रह पूजा तथा अन्य विधि-विधानों की आवश्यकता पड़ती है। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि यद्यपि जीवन की पूर्णता के लिए *सङ्कीर्तन* पर्याप्त है, किन्तु *अर्चना* अर्थात् मन्दिर में अर्चाविग्रह पूजा को करते रहना चाहिए जिससे भक्तगण स्वच्छ तथा शुद्ध रहें। इसलिए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दोनों ही विधियों को एकसाथ सम्पन्न किये जाने की संस्तुति की है। हम अर्चाविग्रह पूजा तथा *सङ्कीर्तन* को समानान्तर चलाने के सिद्धान्त का कठोरता से पालन करते हैं। इसे हमें करते रहना चाहिए।

**एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते**
**सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।**
**ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां**
**स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; सु-धियः—वे जिनकी बुद्धि प्रखर है; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; अनन्ते—असीम; सर्व-आत्मना—प्राणप्रण से; विदधते—ग्रहण करते हैं; खलु—निस्सन्देह; भाव-योगम्—भक्तिमय सेवा की विधि; ते—ऐसे लोग; मे—मेरा; न—नहीं; दण्डम्—दण्ड के; अर्हन्ति—योग्य हैं; अथ—इसलिए; यदि—यदि; अमीषाम्—उनका; स्यात्—है; पातकम्—कोई पाप कर्म; तत्—वह; अपि—भी; हन्ति—नष्ट करता है; उरुगाय-वादः—परमेश्वर के नाम का कीर्तन ।

**अतः इन सभी बातों पर विचार करते हुए बुद्धिमान लोग हर एक के हृदय में स्थित तथा समस्त शुभ गुणों की खान भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की भक्ति को अपनाकर सारी समस्याओं को हल करने का निर्णय करते हैं। ऐसे लोग दण्ड देने के मेरे अधिकार क्षेत्र में नहीं आते। सामान्यतया वे कभी कोई पापकर्म नहीं करते, किन्तु यदि वे भूलवश या मोहवश कभी कोई पापकर्म करते भी हैं, तो वे पापफलों से बचा लिये जाते हैं, क्योंकि वे सदैव हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते हैं।**

**तात्पर्य :** इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं,

जो ब्रह्मा द्वारा की गई स्तुतियों में से है ( *भागवत* १०.१४.२९)—

*अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।*

*जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य रूकोऽपि चिरंए विचिन्वन्॥*

तात्पर्य यह है कि वैदिक शास्त्र का अत्यन्त प्रकाण्ड पंडित तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अस्तित्त्व तथा उनके नाम, यश, गुण इत्यादि से पूरी तरह अनजान हो सकता है, जबकि कोई-कोई विद्वान न होते हुए भी भगवान् की स्थिति को समझ सकता है, यदि वह किसी तरह भक्ति में लगकर भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाता है। इसीलिए यमराज द्वारा कहा गया यह श्लोक कहता है—*एवं विमृश्य सुधियो भगवति*—जो लोग भगवान् की प्रेमाभक्ति करते हैं, वे *सुधियः* अर्थात् बुद्धिमान बन जाते हैं, किन्तु वैदिक पंडित के साथ ऐसा नहीं होता, क्योंकि वह कृष्ण के नाम, यश तथा गुणों को नहीं समझता। शुद्ध भक्त वह है, जिसकी बुद्धि विमल होती है। वह सचमुच विचारवान् होता है, क्योंकि वह भगवान् की सेवा में किसी दिखावे के लिए नहीं, अपितु प्रेम से, मन, वचन तथा शरीर से लगा रहता है। अभक्तगण धर्म का दिखावा कर सकते हैं, किन्तु यह अधिक प्रभावशाली नहीं होता, क्योंकि वे दिखावे के लिए मन्दिर या गिरजाघर में जाते हैं, किन्तु सोचते कुछ और हैं। ऐसे व्यक्ति अपने धार्मिक कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं और यमराज द्वारा दण्डनीय होते हैं। किन्तु यदि कोई भक्त अपनी पुरानी आदतों के कारण अनिच्छा से या संयोगवश पापकर्म करता है, तो उसे क्षमा कर दिया जाता है। *सङ्कीर्तन* आन्दोलन की यही महत्ता है।

**ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा**
**ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।**
**तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्**
**नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥ २७॥**

**शब्दार्थ**

ते—वे; देव—देवताओं; सिद्ध—तथा सिद्धलोक के वासियों द्वारा; परिगीत—गाई गयी; पवित्र-गाथाः—शुद्ध कथाएँ; ये—जो; साधवः—भक्तजन; समदृशः—समानदर्शी; भगवत्-प्रपन्नाः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत; तान्—उनको; न—नहीं; उपसीदत—पास जाना चाहिए; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गदया—गदा से; अभिगुप्तान्—पूरी

तरह सुरक्षित; न—नहीं; एषाम्—इनका; वयम्—हम; न च—तथा नहीं; वयः—असीम काल; प्रभवाम—समर्थ हैं; दण्डे—दण्ड देने में।.

**मेरे प्रिय सेवको! ऐसे भक्तों के पास मत जाना, क्योंकि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह शरणागत हो चुके होते हैं। वे समदर्शी होते हैं और उनकी गाथाएँ देवताओं तथा सिद्धलोक के निवासियों द्वारा गाई जाती हैं। तुम लोग उनके निकट भी मत जाना। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की गदा द्वारा सदैव रक्षित रहते हैं, इसलिए ब्रह्मा तथा मैं और काल भी उन्हें दण्ड देने में समर्थ नहीं हैं।**

**तात्पर्य :** वस्तुतः यमराज ने अपने सेवकों को आगाह किया, ''मेरे प्रिय सेवको! इसके पूर्व भक्तों को तंग करने के लिए तुम चाहे जो भी करते रहे हो, किन्तु अब उसे बन्द कर दो। जिन भक्तों ने भगवान् के चरणकमलों में शरण ले रखी है तथा जो भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन करते हैं उनकी प्रशंसा देवता तथा सिद्धलोक के वासी तक करते हैं। वे भक्त इतने सम्माननीय तथा उच्च हैं कि भगवान् विष्णु उनकी रक्षा स्वयं अपने हाथ में गदा लेकर करते हैं। अतः इस बार जो तुमने किया है उसकी उपेक्षा करते हुए आगे से कभी भी तुम ऐसे भक्त के पास मत जाना, अन्यथा तुम्हें भगवान् विष्णु की गदा द्वारा मार दिया जाएगा। अतएव यह मेरी चेतावनी है। भगवान् विष्णु अभक्तों को गदा तथा चक्र से दण्ड देते हैं। तुम लोग भक्तों के साथ छेड़छाड़ करके दण्ड का खतरा मत मोल लो। तुम्हीं नहीं, यदि ब्रह्मा को या मुझे भी उन्हें दण्ड देना हो तो भगवान् विष्णु हमें ही दण्ड देंगे। इसलिए अब इसके बाद भक्तों को कभी तंग मत करना।''

**तानानयध्वमसतो विमुखान्मुकुन्द-**
**पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।**
**निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गै-**
**र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥ २८ ॥**

### शब्दार्थ

तान्—उनको; आनयध्वम्—मेरे सामने लाओ; असतः—अभक्त (जिन्होंने कृष्णभावनामृत नहीं स्वीकार किया); विमुखान्—जो विमुख हैं; मुकुन्द—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मुकुन्द के; पाद-अरविन्द—चरणकमलों के; मकरन्द—मधु से; रसात्—स्वाद से; अजस्रम्—निरन्तर; निष्किञ्चनैः—भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त पुरुषों द्वारा; परमहंस-कुलैः—

परम सम्मानित व्यक्ति परमहंसों द्वारा; असङ्गैः—भौतिक आसक्ति से रहित; जुष्टात्—जो भोगा जाता है, भोग्य; गृहे—गृहस्थ जीवन में; निरय-वर्त्मनि—नरक ले जाने का रास्ता; बद्ध-तृष्णान्—जिनकी इच्छाएँ बद्ध हैं।.

**परमहंस सम्माननीय पुरुष होते हैं, जिन्हें भौतिक भोग में कोई रुचि नहीं है तथा जो भगवान् के चरणकमलों का मधु-पान करते हैं। मेरे सेवको! मेरे पास ऐसे व्यक्तियों को ही दण्डित किये जाने के लिए लाओ जो उस मधु के आस्वादन से विमुख हैं, जो परमहंसों की संगति नहीं करते तथा जो गृहस्थ जीवन एवं सांसारिक भोग में लिप्त हैं, क्योंकि ये नरक ले जाने वाले रास्ते हैं।**

**तात्पर्य :** यमदूतों को यह चेतावनी देने के बाद कि वे भक्तों के पास नहीं जायें, अब यमराज यह बताते हैं कि किन लोगों को उनके समक्ष लाया जाये। वे यमदूतों को विशेषरूप से सलाह देते हैं कि वे ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों को लायें जो मात्र संभोग के लिए गृहस्थ जीवन में लिप्त रहते हैं। जैसा *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छम्*—लोग केवल संभोग के लिए गृहस्थ जीवन में लिप्त रहते हैं। वे अपने भौतिक कार्यकलापों द्वारा अनेक प्रकार से सदैव सताये जाते हैं और उनका एकमात्र सुख सारे दिन कठिन श्रम करने, रात में सोने तथा संभोग करने में निहित रहता है। *निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः*—भौतिकतावादी गृहस्थ रात में या तो सोते हैं या संभोग में रत रहते हैं। *दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा*—दिन के समय वे धन की खोज में रहते हैं और यदि धन मिल गया तो उसे अपने परिवारों के भरण-पोषण में खर्च करते हैं। यमराज अपने सेवकों को विशेषरूप से मंत्रणा देते हैं, वे उन भक्तों को नहीं लाएँ जो सदैव भगवान् के चरणकमलों का मधुपान करते रहते हैं, जो समदर्शी हैं और सारे जीवों पर सहानुभूति के कारण कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। भक्तगण यमराज द्वारा दण्डनीय नहीं हैं, किन्तु जिन लोगों को कृष्णभावनामृत की कोई जानकारी नहीं रहती उन्हें उनके तथाकथित पारिवारिक भोग के भौतिक जीवन से नहीं बचाया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (२.१.४) में कहा गया है—

*देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।*

*तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥*

आत्मतृप्ति के लिए ऐसे लोग विश्वास करते हैं कि उनके राष्ट्र, समुदाय या परिवार उन्हें बचा लेंगे। वे इस बात से अचेत रहते हैं कि ऐसी गलती करने वाले सैनिकों को कालक्रम में विनष्ट कर दिया जायेगा। निष्कर्षत: मनुष्य को चाहिए कि ऐसे लोगों की संगति करे जो चौबीसों घण्टे भक्ति में लगे रहते हैं।

**जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं**
**चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।**
**कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि**
**तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥ २९ ॥**

**शब्दार्थ**

जिह्वा—जीभ; न—नहीं; वक्ति—कीर्तन करती है; भगवत्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; गुण—अलौकिक गुण; नाम—तथा पवित्र नाम का; धेयम्—प्रदान करते हुए; चेत:—हृदय; च—भी; न—नहीं; स्मरति—स्मरण करता है; तत्—उसके; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को; कृष्णाय—भगवान् कृष्ण को, मन्दिर में उनके अर्चाविग्रह के माध्यम से; नो—नहीं; नमति—झुकता है; यत्—जिसका; शिर:—सिर; एकदा अपि—एक बार भी; तान्—उनको; आनयध्वम्—मेरे समक्ष ले आओ; असत:—अभक्तों को; अकृत—न करने वाले; विष्णु-कृत्यान्—भगवान् विष्णु के प्रति कर्तव्य।

**हे मेरे प्यारे सेवको! तुम लोग केवल उन्हीं पापी पुरुषों को मेरे पास लाना जिनकी जीभ कृष्ण के नाम तथा गुणों का कीर्तन नहीं करती, जिनके हृदय कृष्ण के चरणकमलों का एक बार भी स्मरण नहीं करते तथा जिनके सिर एक बार भी कृष्ण के समक्ष नहीं झुकते। मेरे पास उन लोगों को भेजना जो विष्णु के प्रति अपने उन कर्तव्यों को पूरा नहीं करते जो मानव जीवन के एकमात्र कर्तव्य हैं। ऐसे सभी मूर्खों तथा धूर्तों को मेरे पास लाना।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *विष्णु-कृत्यान्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन का उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। वर्णाश्रम धर्म भी इसी प्रयोजन के लिए है। जैसाकि *विष्णु पुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

*वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान्।*

*विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥*

मानव-समाज इसलिए है कि वह कठोरतापूर्वक उस वर्णाश्रम धर्म का पालन करे जो समाज को चार सामाजिक विभागों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और चार आध्यात्मिक विभागों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) में विभक्त करता हैं। वर्णाश्रम धर्म मनुष्य को भगवान् विष्णु के निकटतर लाता है, जो कि मानव-समाज का एकमात्र असली लक्ष्य है। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—किन्तु दुर्भाग्यवश लोग यह नहीं जानते कि उनका स्वार्थ भगवद्धाम वापस जाने में या भगवान् विष्णु के पास पहुँचने में है। *दुराशया ये बहिरर्थमानिनः*—विपरीत इसके, वे केवल मोहग्रस्त रहते हैं। हर मनुष्य से आशा की जाती है कि भगवान् विष्णु के पास पहुँचने के लिए कर्तव्य करे। अतएव यमराज यमदूतों को परामर्श देते हैं कि वे उन्हीं लोगों को उनके पास लायें जिन्होंने भगवान् विष्णु के प्रति अपने कर्तव्य भुला दिये हैं (*अकृतविष्णुकृत्यान्*)। जो विष्णु (कृष्ण) के पवित्र नाम का कीर्तन नहीं करता, जो विष्णु के अर्चाविग्रह को शीश नहीं झुकाता तथा जो भगवान् विष्णु के चरणकमलों का स्मरण नहीं करता, वह यमराज द्वारा दण्डनीय है। संक्षेप में, सारे अवैष्णव यमराज द्वारा दण्डनीय हैं।

**तत्क्षम्यतां स भगवान्पुरुषः पुराणो**
**नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः ।**
**स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां**
**क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

तत्—वह; क्षम्यताम्—क्षमा करने योग्य; सः—वह; भगवान्—परम पुरुषोत्तम भगवान्; पुरुषः—परम पुरुषोत्तम; पुराणः—सबसे प्राचीन; नारायणः—नारायण; स्व-पुरुषैः—अपने सेवकों द्वारा; यत्—जो; असत्—ढिठाई; कृतम्—सम्पन्न; नः—हमारा; स्वानाम्—हमारे ही लोगों का; अहो—हाय; न विदुषाम्—न जानते हुए; रचित-अञ्जलीनाम्—आपसे क्षमा माँगने के लिए हाथ जोड़े हुए; क्षान्तिः—क्षमाशीलता; गरीयसि—महिमामयी है; नमः—नमस्कार; पुरुषाय—पुरुष को; भूम्ने—परम तथा सर्वव्यापक।

**[ तब यमराज स्वयं को तथा अपने सेवकों को अपराधी मानते हुए, भगवान् से क्षमायाचना करते हुए इस प्रकार बोले ] हे प्रभु! मेरे सेवकों ने निश्चित रूप से अजामिल जैसे वैष्णव को बन्दी बनाकर महान् अपराध किया है। हे नारायण, हे परम एवं पुरातन**

**पुरुषोत्तम! आप हमें क्षमा कर दें। अपने अज्ञान के कारण हम अजामिल को आपके सेवक के रूप में नहीं पहचान सके और इस तरह हमने निश्चित रूप से महान् अपराध किया है। अतएव हम हाथ जोड़ कर आपसे क्षमा माँगते हैं। हे प्रभु! आप अत्यन्त दयालु हैं और सद्‍गुणों से सदैव पूर्ण रहते हैं। कृपया हमें क्षमा कर दें। हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।**

**तात्पर्य :** यमराज ने अपने सेवकों द्वारा किये गये अपराध का भार अपने ऊपर ले लिया। यदि किसी प्रतिष्ठान का कोई सेवक कोई गलती करता है, तो प्रतिष्ठान उसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। यद्यपि यमराज अपराधों से ऊपर हैं, किन्तु व्यवहारतः उनकी अनुमति से ही उनके सेवक अजामिल को बन्दी बनाने गये थे, जो कि महान् अपराध था। न्यायशास्त्र पुष्टि करता है *भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डः*—यदि सेवक कोई गलती करता है, तो स्वामी दंडनीय होता है, क्योंकि अपराध के लिए वही उत्तरदायी होता है। इस बात को गम्भीरता से लेते हुए यमराज ने अपने सेवकों सहित हाथ जोड़कर परम पुरुषोत्तम भगवान् नारायण से क्षमा करने के लिए प्रार्थना की।

**तस्मात्सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम् ।**
**महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतम् ॥ ३१ ॥**

**शब्दार्थ**

तस्मात्—इसलिए; सङ्कीर्तनम्—पवित्र नाम का सामूहिक कीर्तन; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; जगत्-मङ्गलम्—इस भौतिक जगत के भीतर सर्वाधिक शुभ कार्य; अंहसाम्—पापकर्मों के लिए; महताम् अपि—महान् होते हुए भी; कौरव्य—हे कुरुवंश के वंशज; विद्धि—समझो; ऐकान्तिक—चरम; निष्कृतम्—प्रायश्चित्त।

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! भगवन्नाम का कीर्तन बड़े से बड़े पापों के फलों को भी उन्मूलित करने में सक्षम है। इसलिए *सङ्कीर्तन* आन्दोलन का कीर्तन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सबसे शुभ कार्य है। कृपया इसे समझने का प्रयास करें जिससे अन्य लोग इसे गम्भीरतापूर्वक ग्रहण कर सकें।**

**तात्पर्य :** हमें ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि अजामिल ने नारायण के नाम का अधूरे रूप में

उच्चारण किया था, किन्तु सारे पापफलों से उसका उद्धार हो गया। पवित्रनाम का कीर्तन इतना मंगलप्रद है कि यह हर एक को पापकर्मों के फलों से मुक्त कर सकता हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कोई व्यक्ति पाप के फलों का निराकरण करने के लिए हरे कृष्ण कीर्तन करके पाप करता रह सकता है। प्रत्युत उसे समस्त पापों से रहित होने के लिए सावधान रहना चाहिए और हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा पापकर्मों का निवारण हो जायेगा, यह कभी सोचना भी नहीं चाहिए, क्योंकि वह दूसरा अपराध है। यदि संयोगवश किसी भक्त से कोई पापकर्म हो जाता है, तो भगवान् उसे क्षमा कर देंगे, किन्तु मनुष्य को जानबूझकर पापकर्म नहीं करना चाहिए।

**शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः ।**
**यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः ॥ ३२ ॥**

**शब्दार्थ**

शृण्वताम्—सुनने वालों; गृणताम्—तथा कीर्तन करने वालों के; वीर्याणि—अद्‍भुत कार्य; उद्दामानि—पाप का निवारण करने में सक्षम; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; मुहुः—सदैव; यथा—जिस प्रकार; सु-जातया—आसानी से समक्ष लाया गया; भक्त्या—भक्ति द्वारा; शुद्ध्येत्—शुद्ध किया जा सकता है; न—नहीं; आत्मा—हृदय तथा आत्मा; व्रत-आदिभिः—कर्मकाण्ड करने से।.

**जो व्यक्ति भगवन्नाम का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करता है और भगवान् के कार्यों का श्रवण तथा कीर्तन करता है, वह बहुत ही आसानी से शुद्ध भक्ति पद को प्राप्त कर सकता है, जो उसके हृदय के मैल को शुद्ध करने वाला है। केवल व्रत रखने तथा वैदिक कर्मकाण्ड करने से ऐसी शुद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।**

**तात्पर्य :** मनुष्य भगवन्नाम के कीर्तन तथा श्रवण का अभ्यास आसानी से कर सकता है और इस तरह आध्यात्मिक जीवन में भावविभोर बन सकता है। *पद्मपुराण* का कथन है—

*नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।*

*अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥*

यदि कोई व्यक्ति हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन अपराध सहित भी करता है, तो वह अविचल

भाव से निरन्तर कीर्तन करते हुए अपराधों से बच सकता है। जो इसका अभ्यस्त हो जाता है, वह सदा शुद्ध दिव्य पद पर रहेगा जो पापफलों से अस्पृश्य है। शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित से विशेष अनुरोध किया कि इस तथ्य को सावधानी से अंकित कर लें। किन्तु वैदिक कर्मकाण्डों को करने से कोई लाभ नहीं होता। ऐसे कार्य करने से मनुष्य उच्चतर लोकों को जा सकता है, किन्तु जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—जब स्वर्गलोक में मनुष्य के भोग की अवधि समाप्त हो जाती है, क्योंकि उसके पुण्य कर्म सीमित होते हैं, तो उसे पृथ्वी पर लौटना होता है। इस तरह ब्रह्माण्ड में ऊपर-नीचे भ्रमण करते रहने का प्रयास करने से कोई लाभ नहीं है। इससे अच्छा तो भगवन्नाम का कीर्तन करना है, जिससे वह पूर्णतया शुद्ध हो सके और भगवद्धाम लौटने का पात्र बन सके। यही जीवन का उद्देश्य है और यही जीवन की सिद्धि है।

**कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण्न पुनर्विसृष्ट-**
**मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु ।**
**अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टु-**
**मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात् ॥ ३३ ॥**

### शब्दार्थ

कृष्ण-अङ्घ्रि-पद्म—कृष्ण के चरणकमलों का; मधु—शहद; लिट्—चाटने वाला; न—नहीं; पुनः—फिर; विसृष्ट—पहले से विरक्त; माया-गुणेषु—प्रकृति के भौतिक गुणों में; रमते—आनन्द लेना चाहता है; वृजिन-अवहेषु—दुखदायी; अन्यः—दूसरा; तु—फिर भी; काम-हतः—काम द्वारा विमोहित; आत्म-रजः—हृदय की पापपूर्ण छूत; प्रमार्ष्टुम्—स्वच्छ करने के लिए; ईहेत—सम्पन्न करता है; कर्म—कार्य; यतः—जिसके बाद; एव—निस्सन्देह; रजः—पापपूर्ण कर्म; पुनः—फिर; स्यात्—प्रकट होते हैं।

**जो भक्तगण भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के मधु को जो भक्तगण सदैव चाटते रहते हैं, वे उन भौतिक कर्मों की तनिक भी चिन्ता नहीं करते जो प्रकृति के तीन गुणों के अधीन सम्पन्न किये जाते हैं और जो केवल दुःखदायी होते हैं। दरअसल, भौतिक कर्मों में वापस आने के लिए भक्तगण कभी भी कृष्ण के चरणकमलों को नहीं छोड़ते। किन्तु अन्य लोग, जो भगवान् के चरणकमलों की सेवा की उपेक्षा करने तथा कामेच्छाओं से विमोहित होने से**

**वैदिक कर्मकाण्डों में लिप्त रहते हैं, कभी-कभी प्रायश्चित्त के कर्म करते हैं। फिर भी अपूर्णरूप से शुद्ध होने से वे पुनः-पुनः पापकर्मों में लौट आते हैं।**

**तात्पर्य :** भक्त का कर्तव्य है कि हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे। वह कभी अपराध सहित और कभी अपराधरहित होकर कीर्तन कर सकता है, किन्तु यदि वह इस विधि को गम्भीरता के साथ अपनाता है, तो उसे वह सिद्धि प्राप्त होगी जो प्रायश्चित्त के वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। जो लोग वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आसक्त हैं, किन्तु भक्ति में विश्वास नहीं करते, जो प्रायश्चित्त का परामर्श देते हैं, किन्तु भगवन्नाम के कीर्तन की प्रशंसा नहीं करते वे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने से वञ्चित रहते हैं। इसलिए भक्तगण भौतिक भोग से पूर्णतया विरक्त रहकर कभी भी वैदिक कर्मकाण्ड के पक्ष में कृष्णभावनामृत का परित्याग नहीं करते। जो लोग कामवासनाओं के कारण वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आसक्त रहते हैं उन्हें बारम्बार भौतिक जगत के कष्ट उठाने पड़ते हैं। महाराज परीक्षित ने उनके कर्मों की तुलना *कुञ्जर-शौच* अर्थात् हाथी के स्नान करने से की है।

**इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं**
**संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते ।**
**नैवाच्युताश्रयजनं प्रतिशङ्कमाना**
**द्रष्टुं च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन् ॥ ३४॥**

### शब्दार्थ

इत्थम्—ऐसी शक्ति का; स्व-भर्तृ-गदितम्—अपने स्वामी ( यमराज ) द्वारा बतलाया गया; भगवत्-महित्वम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके नाम, यश, रूप तथा गुणों की अद्वितीय महिमा; संस्मृत्य—स्मरण करके; विस्मित-धियः—जिनके मन विस्मित; यम-किङ्कराः—यमराज के सारे सेवक; ते—वे; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अच्युत-आश्रय-जनम्—अच्युत अर्थात् कृष्ण के चरणकमलों पर शरण प्राप्त व्यक्ति; प्रतिशङ्कमानाः—सदैव भयभीत; द्रष्टुम्—देखने के लिए; च—तथा; बिभ्यति—भयभीत हैं; ततः प्रभृति—तब से प्रारम्भ करके; स्म—निस्सन्देह; राजन्—हे राजन्।.

**अपने स्वामी के मुख से भगवान् की अद्वितीय महिमा तथा उनके नाम, यश तथा गुणों के विषय में सुनकर यमदूत आश्चर्यचकित रह गये। तब से, जैसे ही वे किसी भक्त को देखते हैं, तो वे उससे डरते हैं और उसकी ओर फिर से देखने का साहस नहीं करते।**

**तात्पर्य :** इस घटना के बाद से यमदूतों ने भक्तों के पास जाने की विपत्ति-जनक आदत त्याग

दी है। यमदूतों के लिए भक्त विपत्ति-जनक होता है।

**इतिहासमिमं गुह्यं भगवान्कुम्भसम्भवः ।**
**कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन् ॥ ३५ ॥**

**शब्दार्थ**

**इतिहासम्—इतिहास; इमम्—यह; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; कुम्भ-सम्भवः—अगस्त्य मुनि, कुम्भ के पुत्र; कथयाम् आस—बतलाया; मलये—मलय पर्वत में; आसीनः—निवास करते हुए; हरिम् अर्चयन्—भगवान् की पूजा करते हुए।**

**जब कुम्भ के पुत्र अगस्त्य मुनि मलय पर्वत पर निवास कर रहे थे और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा कर रहे थे तो मैं उनके पास गया और उन्होंने मुझे यह गुह्य इतिहास बतलाया।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''यमराज द्वारा अपने दूतों को शिक्षा'' नामक तृतीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter चार

# प्रजापति दक्ष द्वारा भगवान् से की गई हंसगुह्य प्रार्थनाएँ

जब महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से याचना की कि इस ब्रह्माण्ड के जीवों की सृष्टि के विषय में और विस्तार से वर्णन करें तो शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें बतलाया कि जब प्राचीन बर्हि के दसों पुत्र प्रचेता तप करने के लिए समुद्र में प्रविष्ट हो गये तो राजा के अभाव में पृथ्वीलोक उपेक्षित पड़ गया। स्वाभाविक था कि अनेक झाड़-झंखाड़ तथा व्यर्थ के वृक्ष उग आये और अन्न उत्पन्न नहीं हुआ। सारी भूमि जंगल जैसी बन गई। जब प्रचेताओं ने समुद्र से बाहर निकलकर देखा कि सम्पूर्ण संसार वृक्षों से भरा हुआ है, तो वे वृक्षों से अत्यधिक कुपित हुए और उन्होंने स्थिति को सुधारने के लिए वृक्षों को नष्ट करने का निश्चय किया। अतः प्रचेताओं ने वृक्षों को जलाकर राख कर देने के लिए वायु तथा अग्नि उत्पन्न की। किन्तु चन्द्रमा तथा समस्त वनस्पति के

राजा सोम ने प्रचेताओं को वृक्षों को नष्ट करने से मना किया, क्योंकि वृक्ष सारे जीवों के लिए फल तथा फूल के साधन हैं। प्रचेताओं को तुष्ट करने के लिए सोम ने उन्हें प्रम्लोचा अप्सरा से उत्पन्न एक सुन्दरी कन्या प्रदान की। इन सभी प्रचेताओं के वीर्य से इस सुन्दरी से दक्ष उत्पन्न हुए।

प्रारम्भ में दक्ष ने सारे देवताओं, असुरों तथा मनुष्यों को उत्पन्न किया, किन्तु जब उन्होंने देखा कि जनसंख्या सही ढंग से नहीं बढ़ रही तो उन्होंने संन्यास ले लिया और वे विन्ध्याचल चले गये जहाँ उन्होंने कठिन तपस्या की और भगवान् विष्णु की *हंसगुह्य* नामक प्रार्थना की। इससे भगवान् विष्णु उन पर अत्यधिक प्रसन्न हो गये। प्रार्थना इस प्रकार थी—

''भगवान् हरि परमात्मा जीवों तथा भौतिक प्रकृति दोनों ही के नियन्ता हैं। वे आत्म-निर्भर तथा आत्म-प्रकाशित हैं। जिस तरह अनुभूति का विषय हमारी अनुभूति की इन्द्रियों का कारण नहीं होता उसी तरह जीव, यद्यपि अपने शरीर के भीतर रहता है, अपने नित्य मित्र परमात्मा को, जो कि सारी इन्द्रियों की सृष्टि का कारण है, उत्पन्न नहीं करता। जीव के अज्ञान के कारण उसकी इन्द्रियाँ भौतिक वस्तुओं में लगी रहती हैं। चूँकि जीव सजीव होता है, अत: वह इस भौतिक जगत के सृजन को कुछ हद तक समझ सकता है, किन्तु वह भगवान् को नहीं समझ सकता जो शरीर, मन तथा बुद्धि की धारणा के परे हैं। फिर भी सदा ध्यान में लगे रहने वाले मुनिगण अपने-अपने हृदयों में भगवान् के साकार रूप को देख सकते हैं।

चूँकि सामान्य जीव भौतिक रूप से दूषित होता है, अत: उसके शब्द तथा बुद्धि भी भौतिक होते हैं। अतएव वह अपनी भौतिक इन्द्रियों के द्वारा भगवान् को सुनिश्चित नहीं कर सकता। भौतिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त की गई ईश्वर की धारणा सही नहीं होती, क्योंकि भगवान् भौतिक इन्द्रियों से परे हैं, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाता है, तो आत्मा के स्तर पर नित्य भगवान् का उद्घाटन होता है। जब वे परम ईश्वर किसी के जीवन का लक्ष्य बन जाते हैं, तो यह कहा जाता है कि उसने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

''परब्रह्म समस्त कारणों के कारण हैं क्योंकि वे सृष्टि के पूर्व विद्यमान थे। वे भौतिक तथा

आध्यात्मिक हर वस्तु के आदि कारण हैं और उनका अस्तित्व स्वतंत्र होता है। किन्तु भगवान् की एक शक्ति है, जो अविद्या कहलाती है। यह मिथ्या तार्किक को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि मैं पूर्ण हूँ और यह माया को बहलाती है कि बद्धात्मा को मोहग्रस्त करे। वह परब्रह्म अर्थात् परमात्मा अपने भक्तों के प्रति अतीव वत्सल हैं। उन पर कृपा करने के लिए वे अपने रूप, नाम, वैशिष्ट्य तथा गुणों को उद्घाटित करते हैं जिससे इस भौतिक जगत में उनकी पूजा की जा सके।

''किन्तु दुर्भाग्यवश जो लोग भौतिकता में लीन रहते हैं, वे विविध देवताओं की पूजा करते हैं। जिस तरह कमल के फूल से होकर बहने वाली वायु फूल की गन्ध अपने साथ ले जाती है या यही हवा कभी-कभी अपने साथ धूल ले जाने के कारण रंगीन प्रतीत होती है, उसी तरह भगवान् अपने विविध मूर्ख पूजकों की इच्छाओं के अनुसार विविध देवताओं के रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे वास्तव में परम सत्य भगवान् विष्णु ही रहते हैं। वे अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, अतएव देवताओं को पूजने की कोई आवश्यकता नहीं है।''

दक्ष की प्रार्थना से अत्यन्त तुष्ट होकर भगवान् विष्णु अष्टभुजी रूप में उसके समक्ष प्रकट हुए। भगवान् पीताम्बर वस्त्र पहने थे और उनका वर्ण श्यामल था। यह जानकर कि दक्ष भोग-मार्ग का पालन करने के लिए अतीव उत्सुक है भगवान् ने उन्हें माया का भोग करने की शक्ति प्रदान की। भगवान् ने पञ्चजन की पुत्री असिक्नी उसे समर्पित की जो यौन सुख के लिए महाराज दक्ष के लिए उपयुक्त थी। दक्ष को यह नाम इसलिए प्राप्त हुआ, क्योंकि वह यौन जीवन में अतीव दक्ष था। यह वर देने के बाद भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये।

**श्रीराजोवाच**

**देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम् ।**
**सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ १ ॥**
**तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन्यथा ।**

अनुसर्गं यया शक्त्या ससर्ज भगवान्परः ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; देव-असुर-नृणाम्—देवताओं तथा मनुष्यों की; सर्गः—सृष्टि; नागानाम्—नागों ( सर्प जैसे जीव ) के; मृग-पक्षिणाम्—पशुओं तथा पक्षियों के; सामासिकः—संक्षेप में; त्वया—तुम्हारे द्वारा; प्रोक्तः—वर्णित; यः—जो; तु—किन्तु; स्वायम्भुवे—स्वायम्भुव मनु की; अन्तरे—अवधि में; तस्य—उसके; एव—निस्सन्देह; व्यासम्—विस्तृत वर्णन; इच्छामि—चाहता हूँ; ज्ञातुम्—जानने के लिए; ते—तुमसे; भगवन्—हे प्रभु; यथा—साथ ही; अनुसर्गम्—गौण सृष्टि; यया—जिस; शक्त्या—शक्ति से; ससर्ज—उत्पन्न किया; भगवान्—भगवान् से; परः—दिव्य।

वर प्राप्त राजा ने शुकदेव गोस्वामी से कहा : हे प्रभु! देवता, असुर, मनुष्य, नाग, पशु तथा पक्षी स्वायम्भुव मनु के शासन काल में उत्पन्न किये गये थे। आपने इस सृष्टि के विषय में संक्षेप में ( तृतीय स्कन्ध में ) कहा है। अब मैं इसके विषय में विस्तार से जानना चाहता हूँ। मैं भगवान् की उस शक्ति के विषय में भी जानना चाहता हूँ जिससे उन्होंने गौण सृष्टि की।

श्रीसूत उवाच
इति सम्प्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः ।
प्रतिनन्द्य महायोगी जगाद मुनिसत्तमाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; सम्प्रश्नम्—जिज्ञासा; आकर्ण्य—सुनकर; राजर्षेः—राजा परीक्षित की; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी ने; प्रतिनन्द्य—प्रशंसा करके; महा-योगी—महान् योगी; जगाद—उत्तर दिया; मुनि-सत्तमाः—हे मुनियों में श्रेष्ठ।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ( नैमिषारण्य में एकत्र ) महामुनियो! जब महान् योगी शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित की जिज्ञासा सुनी तो उन्होंने उसकी प्रशंसा की और इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीशुक उवाच
यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः ।
अन्तःसमुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गां द्रुमैर्वृताम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; प्रचेतसः—प्रचेताओं ने; पुत्राः—पुत्र; दश—दस; प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीन बर्हि के; अन्तः-समुद्रात्—समुद्र के भीतर से; उन्मग्नाः—बाहर आये; ददृशुः—उन्होंने देखा; गाम्—सम्पूर्णलोक को; द्रुमैः वृताम्—वृक्षों से आवृत।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब प्राचीनबर्हि के दसों पुत्र उस जल से बाहर निकले

**जिसमें वे तपस्या कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि संसार की समूची सतह वृक्षों से ढक गई है।**

**तात्पर्य :** जब राजा प्राचीनबर्हि वैदिक अनुष्ठान कर रहा था जिसमें पशुओं की हत्या की संस्तुति की गई थी तो नारद मुनि ने दयावश उसे सलाह दी कि इस अनुष्ठान को रोक दे। प्राचीनबर्हि नारद की बात भलीभाँति समझ गया, अत: वह राज्य छोड़कर तपस्या करने के लिए जंगल चला गया। किन्तु उसके दस पुत्र जल के भीतर तपस्या कर रहे थे, अतएव संसार की व्यवस्था देखने वाला कोई न था। जब दसों पुत्र, प्रचेतागण, जल से बाहर आये तो उन्होंने देखा कि पृथ्वी वृक्षों से ढक गई है।

जब सरकार कृषि की उपेक्षा करती है, जो अन्न उत्पादन के लिए आवश्यक है, वह भूमि व्यर्थ के वृक्षों से ढक जाती है। निस्सन्देह, अनेक वृक्ष उपयोगी होते हैं, क्योंकि वे फल-फूल उत्पन्न करते हैं, किन्तु दूसरे अनेक वृक्ष अनावश्यक होते हैं। उनका उपयोग ईंधन के लिए किया जा सकता है और भूमि को साफ करके उसमें खेती की जा सकती है। जब सरकार लापरवाही बरतती है, तो अन्नोत्पादन कम होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है—*कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्*—वैश्यों के स्वभाव के अनुसार उनका उचित कार्य खेती करना तथा गौवों की रक्षा करना है। सरकार तथा क्षत्रियों का कर्तव्य है कि वे यह देखें कि तृतीय वर्ण के सदस्य वैश्य जो न तो ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय, ठीक से काम में लगें। क्षत्रिय मनुष्यों की रक्षा करने के निमित्त होते हैं, जबकि वैश्य उपयोगी पशुओं, विशेषतया गायों, की रक्षा करने के निमित्त हैं।

**द्रुमेभ्य: क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यव: ।**
**मुखतो वायुमग्निं च ससृजुस्तद्दिधक्षया ॥ ५ ॥**

### शब्दार्थ

द्रुमेभ्य:—वृक्षों से; क्रुध्यमाना:—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; ते—वे ( प्राचीनबर्हि के दसों पुत्र ); तप:-दीपित-मन्यव:—दीर्घ तपस्या के कारण जिनका क्रोध बढ़ गया था; मुखत:—मुख से; वायुम्—वायु; अग्निम्—आग; च—तथा; ससृजु:—उन्होंने उत्पन्न किया; तत्—उन जंगलों को; दिधक्षया—जला डालने की इच्छा से।.

**जल में दीर्घकाल तक तपस्या करने के कारण प्रचेतागण वृक्षों पर अत्यधिक क्रुद्ध थे। उन्हें जलाकर भस्म करने की इच्छा से उन्होंने अपने मुखों से वायु तथा अग्नि उत्पन्न की।**

**तात्पर्य :** *तपोदीपितमन्यव:* शब्द सूचित करता है कि जो लोग कठिन तपस्या किये रहते हैं उनमें महान् योग शक्ति होती है, जैसाकि प्रचेताओं से पता लगता है जिन्होंने अपने मुखों से अग्नि तथा वायु उत्पन्न की। यद्यपि भक्तगण कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु वे *विमन्वय:, साधव:* थे जिसका अर्थ है कि वे कभी क्रुद्ध नहीं होते। वे सदैव सद्गुणों से अलंकृत रहते हैं। *भागवत* (३.२५.२१) में कहा गया है—

*तितिक्षव: कारुणिका: सुहृद: सर्वदेहिनाम्।*

*अजातशत्रव: शान्ता: साधव: साधुभूषणा:॥*

*साधु* अर्थात् भक्त कभी क्रुद्ध नहीं होता। वस्तुत: उन भक्तों का जो तपस्या करते हैं, असली स्वभाव क्षमाशीलता है। यद्यपि वैष्णव को तपस्या से पर्याप्त शक्ति मिलती है, किन्तु विभिन्न कठिनाइयों में पड़ने पर वह कभी क्रुद्ध नहीं होता। यदि कोई तपस्या करता है, किन्तु वैष्णव नहीं बनता तो उसमें सद्गुण उत्पन्न नहीं होते। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु तथा रावण ने भी महान् तपस्याएँ की थीं, किन्तु उन्होंने अपनी आसुरी प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करने के लिए ऐसा किया। वैष्णवों को भगवान् की महिमा का प्रचार करते समय अनेक विरोधियों का सामना करना पड़ता है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि वे प्रचार करते हुए क्रुद्ध न हों। श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह सूत्र दिया है—*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि:*—मनुष्य को चाहिए कि मन की विनीत अवस्था में, अपने को मार्ग में उगे हुए तिनके से भी निम्न समझते हुए भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित तथा अन्यों को आदर देने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में मनुष्य भगवान्नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है। जो लोग भगवान् की महिमा के प्रचारकार्य में लगे हुए हैं उन्हें घास (तृण) से भी अधिक विनीत एवं वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए।

तब वे बिना कठिनाई के भगवान् की महिमा का प्रचार कर सकते हैं।

**ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरूद्वह ।**
**राजोवाच महान्सोमो मन्युं प्रशमयन्निव ॥ ६॥**

शब्दार्थ

ताभ्याम्—वायु तथा अग्नि द्वारा; निर्दह्यमानान्—जलाये गये; तान्—उन (वृक्षों) को; उपलभ्य—देखकर; कुरूद्वह—हे महाराज परीक्षित; राजा—जंगलों के राजा; उवाच—कहा; महान्—महान्; सोमः—चन्द्रमा का अधिष्ठाता देव, सोमदेव ने; मन्युम्—क्रोध को; प्रशमयन्—शान्त करते हुए; इव—सदृश।

**हे राजा परीक्षित! जब वृक्षों के राजा तथा चन्द्रमा के अधिष्ठाता देव सोम ने अग्नि तथा वायु को समस्त वृक्षों को जलाकर राख करते देखा तो उसे अपार दया आई, क्योंकि वह समस्त वनस्पतियों तथा वृक्षों का पालनकर्ता है। प्रचेताओं के क्रोध को शान्त करने के लिए सोम इस प्रकार बोला।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक से पता चलता है कि चन्द्रमा का अधिष्ठाता देव (सोमदेव) ब्रह्माण्ड-भर के वृक्षों तथा पौधों का पालनकर्ता है। चाँदनी के कारण वृक्ष तथा पौधे तेजी से बढ़ते हैं। अतएव हम उन तथाकथित विज्ञानियों को किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं जिनकी चन्द्र-यात्राओं ने हमें जानकारी दी हैं कि चन्द्रमा पर कोई वृक्ष या वनस्पति नहीं है? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*सोमो वृक्षाधिष्ठाता स एव वृक्षाणां राजा*—चन्द्रमा का अधिष्ठाता देव सोम सारी वनस्पतियों का राजा है। हम यह कैसे विश्वास कर सकते हैं कि वनस्पति के पालनकर्ता के ही लोक में वनस्पति नहीं है?

**न द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ ।**
**विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः ॥ ७॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; द्रुमेभ्यः—वृक्षों को; महा-भागाः—हे परम भाग्यशाली; दीनेभ्यः—अत्यन्त गरीबों; द्रोग्धुम्—जलाकर भस्म करने के लिए; अर्हथ—तुम्हें चाहिए; विवर्धयिषवः—वृद्धि लाने के लिए इच्छुक; यूयम्—तुम सब; प्रजानाम्—सारे जीवों का, जिन्होंने तुम्हारी शरण ले रखी है; पतयः—स्वामी या रक्षक; स्मृताः—के रूप में ज्ञात।

**हे भाग्यवान् महाशयों! तुम लोगों को चाहिए कि इन बेचारे वृक्षों को जलाकर भस्म न**

**करो। तुम लोगों का कर्तव्य नागरिकों ( प्रजा ) के लिए समस्त समृद्धि की कामना करना तथा उनके रक्षकों के रूप में कार्य करना है।**

**तात्पर्य :** यहाँ यह संकेत हुआ है कि सरकार या राजा का कर्तव्य है कि वह न केवल मनुष्य की रक्षा करे, अपितु अन्य सारे जीवों की भी रक्षा करे जिनमें पशु वृक्ष तथा वनस्पतियाँ सभी सम्मिलित हैं। किसी भी जीव को व्यर्थ में मारा न जाये।

**अहो प्रजापतिपतिर्भगवान्हरिरव्ययः ।**
**वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः ॥ ८ ॥**

### शब्दार्थ

अहो—हाय; प्रजापति-पतिः—जीवों के स्वामियों का स्वामी; भगवान् हरिः—भगवान् हरि; अव्ययः—अविनाशी; वनस्पतीन्—वृक्षों को; ओषधीः—जड़ी बूटियों को; च—तथा; ससर्ज—उत्पन्न किया; ऊर्जम्—स्फूर्तिदायी; इषम्—भोजन; विभुः—परम पुरुष ने।

**भगवान् श्री हरि सारे जीवों के स्वामी हैं जिनमें ब्रह्मा जैसे सारे प्रजापति सम्मिलित हैं। चूँकि वे सर्वव्यापक तथा अविनाशी प्रभु हैं, अतः उन्होंने अन्य जीवों के लिए खाद्य वस्तुओं के रूप में इन सारे वृक्षों तथा शाकों को उत्पन्न किया है।**

**तात्पर्य :** चन्द्रमा के अधिष्ठाता देव सोम ने प्रचेताओं को स्मरण दिलाया कि प्रजापतियों के भी पति भगवान् ने इस वनस्पति को हर एक को भोजन प्रदान करने के लिए उत्पन्न किया है। यदि प्रचेतागण इन्हें नष्ट कर डालने का प्रयत्न करेंगे तो उनकी अपनी प्रजा भी कष्ट भोगेगी, क्योंकि भोजन के लिए वृक्षों की भी आवश्यकता पड़ती है।

**अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम् ।**
**अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदां च चतुष्पदः ॥ ९ ॥**

### शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; चराणाम्—चलने वालों या पंखों वालों का; अचराः—न चलने वालों ( फलों-फूलों ) का; हि—निस्सन्देह; अपदः—बिना पैर वाले जीव यथा घास; पाद-चारिणाम्—पैरों पर चलने वाले पशुओं, यथा गौवों तथा भैसों के; अहस्ताः—बिना हाथ वाले पशु; हस्त-युक्तानाम्—हाथों से युक्त पशुओं यथा बाघ आदि का; द्वि-पदाम्—दो पैरों वाले मनुष्यों का; च—तथा; चतुः-पदः—चार पैरों वाले हिरण जैसे पशु।

**प्रकृति की व्यवस्था के द्वारा फलों तथा फूलों को कीड़ों तथा पक्षियों का भोजन माना जाता है; घास तथा अन्य बिना पैर वाले जीव गायों तथा भैसों जैसे चौपायों के भोजन के लिए हैं। वे पशु, जो अपने अगले पैरों को हाथों की तरह काम में नहीं ला सकते पंजों वाले बाघों जैसे पशुओं के भोजन हैं तथा हिरन एवं बकरे जैसे चौपाये जानवर तथा खाद्यान्न भी मनुष्यों के भोजन के निमित्त होते हैं।**

**तात्पर्य :** प्रकृति के नियम द्वारा या भगवान् की व्यवस्था से एक प्रकार का जीव दूसरे जीवों का भक्ष्य है। जैसाकि यहाँ पर उल्लेख किया गया है—*द्विपादां च चतुष्पदः*—चौपाये जानवर (*चतुष्पदः*) तथा खाद्यान्न मनुष्यों (द्विपदाम्) के भक्ष्य हैं। ये चौपाये जानवर हिरन तथा बकरियों जैसे पशु हैं, इनमें गौएँ नहीं आतीं, जिनकी रक्षा की जानी चाहिए। सामान्यतया समाज की उच्चतर श्रेणियाँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जातियाँ—मांस नहीं खातीं। कभी-कभी क्षत्रिय जंगल में हिरन जैसे पशुओं का शिकार करने जाते हैं, क्योंकि उन्हें वध करने की कला सीखनी होती है और कभी कभी वे पशुओं को खाते भी हैं। शूद्र भी बकरे जैसे पशुओं को खाते हैं। किन्तु गौएँ मनुष्यों द्वारा वध किये जाने या खाने के लिए नहीं हैं। प्रत्येक शास्त्र में गो-वध की प्रबल रूप से निन्दा की गई है। वस्तुत: जो गो वध करता है उसे उतने वर्षों तक कष्ट भोगना पड़ता है जितने कि गाय के शरीर में बाल होते हैं। *मनुसंहिता* का कथन है—*प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तु महाफला*—इस भौतिक जगत में हममें अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं, किन्तु मनुष्य जीवन इसलिए मिला है कि उन प्रवृत्तियों को मोड़ना सीखें। जो लोग मांस खाना चाहते हैं, वे अपनी जीभ की जरूरत निम्नतर पशुओं को खाकर पूरी कर सकते हैं, किन्तु उन्हें गौओं का वध नहीं करना चाहिए, क्योंकि दूध की पूर्ति करने के कारण गौओं को मानव समाज की माताएँ स्वीकार किया गया है। शास्त्रों की विशेषरूप से संस्तुति है—*कृषिगोरक्ष्य*—मानव समाज के वैश्य वर्ग को कृषि कार्यों द्वारा सारे समाज के भोजन का प्रबन्ध करना चाहिए और गौओं को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि वे सर्वाधिक लाभदायक पशु हैं और मानव-समाज को दूध देती हैं।

**यूयं च पित्रान्वादिष्टा देवदेवेन चानघाः ।**
**प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान्निर्दग्धुमर्हथ ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सब; च—भी; पित्रा—अपने पिता द्वारा; अन्वादिष्टाः—आदेश दिये गये; देव-देवेन—स्वामियों के भी स्वामी भगवान् द्वारा; च—भी; अनघाः—हे निष्पाप; प्रजा-सर्गाय—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; हि—निस्सन्देह; कथम्—कैसे; वृक्षान्—वृक्षों को; निर्दग्धुम्—जलाकर भस्म करने के लिए; अर्हथ—समर्थ हैं।.

**हे शुद्ध हृदयवाले! तुम्हारे पिता प्राचीनबर्हि तथा भगवान् ने तुम सबों को प्रजा उत्पन्न करने का आदेश दिया है। अतः तुम लोग इन वृक्षों तथा वनस्पतियों को किस तरह जलाकर भस्म कर सकते हो जिनकी आवश्यकता तुम्हारी प्रजा तथा तुम्हारे वंशजों के पालन के लिए पड़ेगी?**

**आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम् ।**
**पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ

आतिष्ठत—पालन करो; सताम् मार्गम्—महापुरुषों के मार्ग का; कोपम्—क्रोध; यच्छत—दमन करो; दीपितम्—जो अब जाग्रत है; पित्रा—पिता द्वारा; पितामहेन अपि—तथा पितामह द्वारा; जुष्टम्—सम्पन्न; वः—तुम्हारा; प्रपितामहैः—तुम्हारे परदादाओं द्वारा।.

**तुम्हारे पिता, पितामह तथा परदादाओं ने जिस अच्छाई के मार्ग का अनुसरण किया था, वह प्रजा के पालन करने का था जिसमें मनुष्य, पशु तथा वृक्ष सम्मिलित हैं। तुम लोगों को उसी मार्ग का पालन करना चाहिए। व्यर्थ का क्रोध तुम्हारे कर्तव्य के विरुद्ध है। अतएव मेरी प्रार्थना है कि तुम लोग अपने क्रोध को नियंत्रित करो।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर—*पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः*—शब्द एक सत्यनिष्ठ राज-परिवार का चित्रण करते हैं—जिसमें राजा, उनके पिता, उनके पितामह तथा उनके प्रपितामह होते हैं। ऐसे राज-परिवार का एक प्रतिष्ठित पद होता है, क्योंकि यह *प्रजा* का, अर्थात् नागरिकों का, भरण-पोषण करता है। *प्रजा* शब्द उसका द्योतक है, जिसने सरकार के शासन-क्षेत्र के अन्तर्गत जन्म लिया हो। उच्च राजपरिवार वाले सचेष्ट रहते थे कि सारे जीवों को, चाहे वे मनुष्य हों, पशु या

पशुओं से निम्नतर अन्य जीव, संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति इस प्रकार उन्नति नहीं कर सकती क्योंकि चुने गये नेता केवल अधिकार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, उनमें उत्तरदायित्त्व का कोई भाव नहीं रहता। राजतंत्र में प्रतिष्ठा-प्राप्त राजा अपने पूर्वजों के महान् कार्यों का अनुकरण करता है। इस तरह चन्द्रमा का राजा सोम यहाँ पर प्रचेताओं को उनके पिता, पितामह तथा प्रपितामहों के यशों का स्मरण कराता है।

**तोकानां पितरौ बन्धू दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः ।**
**पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत् ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

तोकानाम्—बच्चों का; पितरौ—माता-पिता; बन्धू—मित्र; दृशः—आँख की; पक्ष्म—पलक; स्त्रियाः—स्त्रियों का; पतिः—पति; पतिः—रक्षक; प्रजानाम्—प्रजा का; भिक्षूणाम्—भिखारियों का; गृही—गृहस्थ का; अज्ञानाम्—अज्ञानियों का; बुधः—विद्वान; सु-हृत्—मित्र।

**पिता तथा माता जिस तरह अपनी सन्तानों के मित्र और पालनकर्ता होते हैं, जिस तरह पलक आँख की रक्षा करती है, पति जिस तरह पत्नी का भर्त्ता तथा रक्षक होता है, जिस तरह गृहस्थ भिखारियों का अन्नदाता तथा रक्षक होता है तथा जिस तरह विद्वान अज्ञानी का मित्र होता है, उसी तरह राजा अपनी प्रजा का रक्षक तथा जीवनदाता होता है। वृक्ष भी राजा की प्रजा होते हैं, अतएव उन्हें भी संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।**

**तात्पर्य :** भगवान् की इच्छा से असहाय जीवों के नाना प्रकार के रक्षक तथा पालनकर्ता होते हैं। वृक्ष भी प्रजा माने जाते हैं, अतएव राजा का कर्तव्य है कि वह वृक्षों की भी रक्षा करे, अन्यों के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। राजा अपने राज्य के जीवों की रक्षा करने के लिए कर्तव्यबद्ध होता है। इस तरह यद्यपि माता-पिता अपनी सन्तानों की सुरक्षा तथा भरण-पोषण के लिए सीधे जिम्मेदार होते हैं, किन्तु राजा का कर्तव्य यह देखना है कि सारे माता-पिता अपना कर्तव्य उचित रीति से निबाहें। इसी तरह राजा इस श्लोक में वर्णित अन्य रक्षकों की भी निगरानी करने के लिए जिम्मेदार होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जिन भिखारियों का भरण-पोषण गृहस्थों को

करना है वे पेशेवर भिखारी नहीं, अपितु संन्यासी तथा ब्राह्मण हों जिन्हें भोजन तथा वस्त्र प्रदान करना गृहस्थों का कर्तव्य है।

**अन्तर्देहेषु भूतानामात्मास्ते हरिरीश्वरः ।**
**सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ ॥ १३ ॥**

## शब्दार्थ

अन्तः देहेषु—शरीरों ( हृदयों ) के भीतर; भूतानाम्—सारे जीवों के; आत्मा—परमात्मा; आस्ते—निवास करता है; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—स्वामी या निदेशक; सर्वम्—समस्त; तत्-धिष्ण्यम्—उसका आवास स्थान; ईक्षध्वम्—देखने का प्रयास करते हैं; एवम्—इस प्रकार; वः—तुमसे; तोषितः—तुष्ट; हि—निस्सन्देह; असौ—भगवान्।

**भगवान् सारे जीवों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, चाहे वे चर हों या अचर। इनमें मनुष्य, पक्षी, पशु, वृक्ष तथा सारे जीव सम्मिलित हैं। इसलिए तुम लोगों को प्रत्येक शरीर को भगवान् का वासस्थान या मन्दिर मानना चाहिए। इस दृष्टिकोण से तुम लोग भगवान् को तुष्ट कर सकोगे। तुम लोगों को क्रोध में आकर वृक्षों रूपों में स्थित इन जीवों का वध नहीं करना चाहिए।**

**तात्पर्य :** जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है और समस्त वैदिक शास्त्रों द्वारा पुष्टि की गई है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—परमात्मा हर एक के हृदय में स्थित है। चूँकि हर एक का शरीर भगवान् का निवास है, अतएव व्यर्थ के द्वेष से शरीर का विनाश नहीं करना चाहिए। इससे परमात्मा असन्तुष्ट होगा। सोम ने प्रचेताओं को यह बतलाया, क्योंकि उन्होंने परमात्मा को तुष्ट करने का प्रयास किया था, किन्तु अब उन्हें चाहिए कि उसे असन्तुष्ट न करें।

**यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम् ।**
**आत्मजिज्ञासया यच्छेत्स गुणानतिवर्तते ॥ १४ ॥**

## शब्दार्थ

यः—जो कोई; समुत्पतितम्—सहसा जाग्रत हुआ; देहे—शरीर में; आकाशात्—आकाश से; मन्युम्—क्रोध; उल्बणम्—शक्तिशाली; आत्म-जिज्ञासया—आध्यात्मिक या आत्म-साक्षात्कार के प्रति पूछताछ से; यच्छेत्—दमन करता है; सः—वह व्यक्ति; गुणान्—भौतिक प्रकृति के गुणों को; अतिवर्तते—लाँघ जाता है।

**जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा करता है और इस तरह अपने शक्तिशाली**

**क्रोध को—जो शरीर में सहसा जाग्रत हो जाता है, मानों आकाश से गिरा हो उसे दबाता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है।**

**तात्पर्य :** जब कोई क्रुद्ध होता है, तो वह अपने आपको तथा अपनी स्थिति को भूल जाता है, किन्तु यदि वह अपनी स्थिति पर ज्ञान द्वारा विचार करता है, तो वह प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है। मनुष्य सदा से कामेच्छाओं, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या इत्यादि का दास रहा है, किन्तु यदि वह आध्यात्मिक प्रगति में पर्याप्त बल प्राप्त कर लेता है, तो वह उनको वश में कर सकता है। जो व्यक्ति ऐसा नियंत्रण कर लेता है, वह सदैव दिव्य पद पर स्थित रहेगा और भौतिक गुणों द्वारा अस्पृश्य रहेगा। ऐसा तभी सम्भव है जब वह पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगा रहे। जैसा कि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भगवान् कहते हैं—

*मां चयोऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*

*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥*

''जो समस्त परिस्थितियों में एकान्त भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है और नीचे नहीं गिरता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के स्तर (पद) तक पहुँच जाता है।'' मनुष्य को भक्ति में लगाकर कृष्णभावनामृत आन्दोलन उसे क्रोध, लोभ, काम, द्वेष इत्यादि से सदा परे रखता है। मनुष्य को भक्तिमय सेवा करनी चाहिए, अन्यथा वह प्रकृति के गुणों का शिकार बनता रहेगा।

**अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः ।**
**वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम् ॥ १५ ॥**

### शब्दार्थ

अलम्—पर्याप्त; दग्धैः—जल रहे; द्रुमैः—वृक्षों द्वारा; दीनैः—बेचारे; खिलानाम्—शेष वृक्षों का; शिवम्—सर्व सौभाग्य; अस्तु—हो; वः—तुम लोगों का; वार्क्षी—वृक्षों से पालित; हि—निस्सन्देह; एषा—यह; वरा—रुचि; कन्या—कन्या, पुत्री; पत्नीत्वे—पत्नी के रूप में; प्रतिगृह्यताम्—स्वीकार करो।

**अब इन बेचारे वृक्षों को जलाने की आवश्यकता नहीं है। जो वृक्ष शेष हैं उन्हें**

सुखपूर्वक रहने दें। निस्सन्देह, तुम लोगों को भी सुखी रहना चाहिए। यहाँ पर एक सुयोग्य सुन्दर लड़की है, जिसका नाम मारिषा है और जिसका पालन-पोषण इन वृक्षों ने अपनी पुत्री के रूप में किया है। तुम लोग इस सुन्दर लड़की को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर सकते हो।

**इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप ।**
**सोमो राजा ययौ दत्त्वा ते धर्मेणोपयेमिरे ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आमन्त्र्य—सम्बोधित करके; वर-आरोहाम्—उठे सुन्दर कूल्हों वाली; कन्याम्—कन्या को; आप्सरसीम्—अप्सरा से उत्पन्न; नृप—हे राजा; सोमः—चन्द्रमा का अधिष्ठाता सोम देव ने; राजा—राजा; ययौ—दे दिया; दत्त्वा—देकर; ते—वे; धर्मेण—धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार; उपयेमिरे—ब्याही गई।

**शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्! प्रचेताओं को तुष्ट करने के बाद चन्द्रमा के राजा सोम ने प्रम्लोचा अप्सरा से उत्पन्न सुन्दर कन्या उन्हें प्रदान की। प्रचेताओं ने प्रम्लोचा की कन्या का स्वागत किया। उसके उठे हुए नितम्ब अतीव सुन्दर थे। उन्होंने धार्मिक पद्धति के अनुसार उसके साथ विवाह कर लिया।**

**तेभ्यस्तस्यां समभवद्दक्षः प्राचेतसः किल ।**
**यस्य प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितास्त्रयः ॥ १७ ॥**

### शब्दार्थ

तेभ्यः—सारे प्रचेताओं से; तस्याम्—उसमें; समभवत्—उत्पन्न हुआ; दक्षः—दक्ष, सन्तान उत्पन्न करने में दक्ष; प्राचेतसः—प्रचेताओं का पुत्र; किल—निस्सन्देह; यस्य—जिसका; प्रजा-विसर्गेण—जीवों की उत्पत्ति द्वारा; लोकाः—जगत; आपूरिताः—पूरित; त्रयः—तीनों।

**उस लड़की के गर्भ से प्रचेताओं ने दक्ष नामक एक पुत्र उत्पन्न किया जिसने तीनों लोकों को जीवों से भर दिया।**

**तात्पर्य :** दक्ष सर्वप्रथम स्वायंभुव मनु के शासनकाल में जन्मे थे, किन्तु शिवजी का अपमान करने के कारण उनके असली सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगाकर उन्हें दण्ड दिया गया था। इस तरह अपमानित होकर उन्हें वह शरीर त्यागना पड़ा था और छठे मन्वन्तर में, जो चाक्षुष

मन्वन्तर कहलाता है, वे मारिषा के गर्भ से दक्ष के रूप में उत्पन्न हुए। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

*चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते।*

*यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः॥*

"उसका पहले का शरीर नष्ट कर दिया गया था, किन्तु उसी दक्ष ने, परम इच्छा की प्रेरणा से चाक्षुष मन्वन्तर में सभी इच्छित जीवों को उत्पन्न किया।" (*भागवत* ४.३०.४९)। इस तरह दक्ष को अपना पहले का ऐश्वर्य प्राप्त हो गया और उसने करोड़ों सन्तानें उत्पन्न कीं जिनसे तीनों लोक पूरित हो गये।

**यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः ।**
**रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु ॥ १८॥**

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ससर्ज—उत्पन्न किया; भूतानि—जीवों को; दक्षः—दक्ष ने; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्रियों के प्रति अतीव स्नेहिल; रेतसा—वीर्य से; मनसा—मन से; च—भी; एव—निस्सन्देह; तत्—वह; मम—मुझसे; अवहितः—सावधान होकर; शृणु—सुनो।

**शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : कृपया अत्यन्त ध्यानपूर्वक मुझसे सुनें कि किस तरह प्रजापति दक्ष ने, जो अपनी पुत्रियों के प्रति अति स्नेहिल थे, अपने वीर्य से तथा मन से विभिन्न प्रकार के जीवों को उत्पन्न किया।**

**तात्पर्य :** *दुहितृ-वत्सलः* शब्द सूचित करता है कि सारी प्रजा दक्ष की पुत्रियों से उत्पन्न हुई। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि इससे प्रतीत होता है कि दक्ष के कोई पुत्र न था।

**मनसैवासृजत्पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः ।**
**देवासुरमनुष्यादीन्नभःस्थलजलौकसः ॥ १९॥**

शब्दार्थ

मनसा—मन से; एव—निस्सन्देह; असृजत्—उत्पन्न किया; पूर्वम्—प्रारम्भ में; प्रजापतिः—प्रजापति ( दक्ष ) ने; इमाः—इन; प्रजाः—जीवों; देव—देवताओं; असुर—असुरों; मनुष्य-आदीन्—मनुष्यों इत्यादि को; नभः—आकाश में; स्थल—भूमि पर; जल—अथवा जल के भीतर; ओकसः—जिनके निवास हैं।

**प्रजापति दक्ष ने सर्वप्रथम अपने मन से सभी तरह के देवताओं, असुरों, मनुष्यों, पक्षियों, पशुओं, जलचरों इत्यादि को उत्पन्न किया।**

**तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः ।**
**विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद्दुष्करं तपः ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

तम्—उसको; अबृंहितम्—न बढ़ते हुए; आलोक्य—देखकर; प्रजा-सर्गम्—जीवों की सृष्टि; प्रजापतिः—जीवों के जनक दक्ष; विन्ध्य-पादान्—विन्ध्याचल पर्वत के निकट; उपव्रज्य—जाकर; सः—उसने; अचरत्—सम्पन्न किया; दुष्करम्—अत्यन्त कठिन; तपः—तपस्या।

**किन्तु जब प्रजापति दक्ष ने देखा कि वे ठीक से सभी प्रकार के जीवों को उत्पन्न नहीं कर पा रहे हैं, तो वे विन्ध्याचल पर्वतश्रेणी के निकट एक पर्वत पर गये और वहाँ पर उन्होंने अत्यन्त कठिन तपस्या की।**

**तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम् ।**
**उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम् ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ पर; अघमर्षणम्—अघमर्षण; नाम—नामक; तीर्थम्—पवित्र स्थान; पाप-हरम्—सारे पापफलों को विनष्ट करने के लिए उपयुक्त; परम्—सर्वश्रेष्ठ; उपस्पृश्य—आचमन तथा स्नान करके; अनुसवनम्—नियमित रूप से; तपसा—तपस्या द्वारा; अतोषयत्—प्रसन्न किया; हरिम्—भगवान् को।

**उस पर्वत के निकट अघमर्षण नामक एक तीर्थस्थल था। वहाँ पर प्रजापति दक्ष ने सारे कर्मकाण्ड सम्पन्न किये और भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए महान् तपस्या में संलग्न होकर उन्हें संतुष्ट किया।**

**अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम् ।**
**तुभ्यं तदभिधास्यामि कस्यातुष्यद्यथा हरिः ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

अस्तौषीत्—तुष्ट किया; हंस-गुह्येन—हंसगुह्य नामक प्रसिद्ध स्तुतियों से; भगवन्तम्—भगवान्; अधोक्षजम्—इन्द्रियों की पहुँच से परे; तुभ्यम्—तुमको; तत्—वह; अभिधास्यामि—बतलाऊँगा; कस्य—प्रजापति दक्ष से; अतुष्यत्—तुष्ट हो गया; यथा—जिस तरह; हरिः—भगवान्।

**हे राजन्! अब मैं आपसे हंसगुह्य नामक स्तुतियों की पूरी व्याख्या करूँगा जिन्हें दक्ष ने भगवान् को अर्पित किया और मैं बताऊँगा कि किस तरह उन स्तुतियों से भगवान् उन पर प्रसन्न हुए।**

**तात्पर्य :** यह समझने की बात है कि हंसगुह्य स्तुतियों की रचना दक्ष द्वारा नहीं हुई थी, अपितु वे वैदिक वाङ्मय में पहले से विद्यमान थीं।

श्रीप्रजापतिरुवाच
**नमः परायावितथानुभूतये**
**गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।**
**अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-**
**र्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-प्रजापतिः उवाच—प्रजापति दक्ष ने कहा; नमः—सादर नमस्कार; पराय—परब्रह्म को; अवितथ—सही; अनुभूतये—उसको, जिसकी आध्यात्मिक शक्ति उसकी अनुभूति कराती है; गुण-त्रय—प्रकृति के तीनों गुणों का; आभास—प्रकट होने वाले जीवों का; निमित्त—तथा भौतिक शक्ति का; बन्धवे—नियन्ता को; अदृष्ट-धाम्ने—जो अपने धाम में देखे नहीं जाते; गुण-तत्त्व-बुद्धिभिः—बद्धजीवों द्वारा जिनकी मन्द बुद्धि बताती है कि असली सत्य प्रकृति के तीन गुणों की अभिव्यक्ति में पाया जाता है; निवृत्त-मानाय—जो सारे भौतिक मापों तथा गणनाओं को पार कर चुका हो; दधे—अर्पित करता हूँ; स्वयम्भुवे—परमेश्वर, बिना कारण के प्रकट होने वाले भगवान् को।

**प्रजापित दक्ष ने कहा : भगवान् माया तथा उससे उत्पन्न शारीरिक कोटियों से परे हैं। उनमें अचूक ज्ञान तथा परम इच्छा-शक्ति रहती है और वे जीवों तथा माया के नियन्ता हैं। जिन बद्धात्माओं ने इस भौतिक जगत को सर्वस्व समझ रखा है वे उन्हें नहीं देख सकते, क्योंकि वे व्यावहारिक ज्ञान के प्रमाण से परे हैं। वे स्वतः प्रकट तथा आत्म-तुष्ट हैं। वे किसी कारण द्वारा उत्पन्न नहीं किये जाते। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर भगवान् की दिव्य स्थिति की व्याख्या हुई है। वे उन बद्धात्माओं द्वारा नहीं देखे जा सकते जो भौतिक दृष्टिकोण के आदी हैं और जो यह नहीं समझ सकते कि भगवान् अपने

उस धाम में विद्यमान रहते हैं, जो उनकी दृष्टि से परे है। भले ही कोई भौतिकतावादी व्यक्ति ब्रह्माण्ड के सारे परमाणुओं की गिनती कर ले, किन्तु फिर भी वह भगवान् को समझ नहीं सकता। जैसी कि *ब्रह्म संहिता* (५.३४) में पुष्टि की गई है—

*पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो*
*वायोरथापि मनसो मुनिपुंगवानाम्।*
*सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे*
*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥*

बद्धात्माएँ करोड़ों वर्षों तक अपनी मानसिक चिन्तनपरक विधियों (मीमांसा) से मन या वायु की गति से यात्रा करते हुए भगवान् को समझने का प्रयास क्यों न करें फिर भी परब्रह्म उनके लिए अचिन्त्य बने रहेंगे, क्योंकि भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् के असीम अस्तित्व की लम्बाई तथा चौड़ाई को नहीं माप सकता। यदि परब्रह्म माप से परे हैं, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि कोई उनकी अनुभूति किस तरह करे? इसका उत्तर यहाँ पर *स्वयम्भुवे* शब्द द्वारा दिया गया है, जिसका अर्थ है कि कोई उन्हें समझे या न समझे, फिर भी वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति में विद्यमान रहते हैं।

**न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः**
**सखा वसन्संवसतः पुरेऽस्मिन् ।**
**गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-**
**स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका; सख्यम्—मैत्रीभाव; पुरुषः—जीव; अवैति—जानता है; सख्युः—परम मित्र का; सखा—मित्र; वसन्—रहते हुए; संवसतः—साथ रहने वाले के; पुरे—शरीर में; अस्मिन्—यह; गुणः—इन्द्रिय अनुभूति का विषय; यथा—जिस तरह; गुणिनः—उसी इन्द्रिय का; व्यक्त-दृष्टेः—जो भौतिक जगत का निरीक्षण करता है; तस्मै—उस; महा-ईशाय—परम नियन्ता को; नमस्करोमि—मैं नमस्कार करता हूँ।

**जिस तरह इन्द्रियविषय (रूप, स्वाद, स्पर्श, गन्ध तथा ध्वनि) यह नहीं समझ सकते**

**कि इन्द्रियाँ उनकी अनुभूति किस तरह करती हैं, उसी तरह बद्ध-आत्मा यद्यपि अपने शरीर में परमात्मा के साथ-साथ निवास करता है, यह नहीं समझ सकता कि भौतिक सृष्टि के स्वामी परम आध्यात्मिक पुरुष किस तरह उसकी इन्द्रियों को निर्देश देते हैं। मैं उन परम पुरुष को सादर नमस्कार करता हूँ जो परम नियन्ता हैं।**

**तात्पर्य :** व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा एकसाथ शरीर के भीतर निवास करते हैं। इसकी पुष्टि उपनिषदों में इस उपमा से की जाती है कि दो मित्र पक्षी एक ही वृक्ष में निवास करते हैं—एक पक्षी उस वृक्ष के फल को खा रहा है और दूसरा एकमात्र साक्षी है और उसका निर्देशन करता है। यद्यपि व्यष्टि जीव, जिसकी उपमा फल खा रहे पक्षी से दी गई है, अपने मित्र परमात्मा के साथ बैठा हुआ है, किन्तु व्यष्टि जीव उसे देख नहीं सकता। वस्तुत: परमात्मा इन्द्रियविषयों के भोग में उसकी इन्द्रियों के कामकाज में निर्देश देते रहते हैं, किन्तु जिस तरह ये इन्द्रिय-विषय इन्द्रियों को नहीं देख सकते उसी तरह बद्धात्मा उस निर्देशनकारी आत्मा को नहीं देख सकता। बद्धात्मा के कई इच्छाएँ होती हैं और परमात्मा उन्हें पूरी करता है, किन्तु बद्धात्मा उस परमात्मा को देख नहीं पाता। इस तरह दक्ष प्रजापति परमात्मा को नमस्कार करते हैं, यद्यपि वे उन्हें देख पाने में असमर्थ हैं। अन्य उदाहरण यह है कि यद्यपि सामान्य नागरिक सरकार के निर्देश के अन्तर्गत कार्य करते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझ सकते कि वे किस तरह शासित हो रहे हैं या कि सरकार क्या है? इस प्रसंग में मध्वाचार्य *स्कन्द पुराण* का निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत करते हैं—

*यथा राज्ञ: प्रियत्वं तु भृत्या वेदेन चात्मन: ।*
*तथा जीवो न यत्सख्यं वेत्ति तमै नमोऽस्तु ते ॥*

''जिस तरह किसी बृहद् संस्थान के विभिन्न विभागों के अनेकों सेवक उस सर्वोच्च प्रबन्ध-निर्देशक को नहीं देख पाते जिसके अधीन वे कार्य करते हैं, उसी तरह बद्धात्माएँ अपने शरीर के भीतर बैठे हुए परम मित्र को नहीं देख पातीं। इसलिए हम उस परम को सादर नमस्कार करते हैं, जो हमारी भौतिक आँखों से अदृश्य है।''

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा-
मात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान्वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

देहः—यह शरीर; असवः—प्राण वायु; अक्षाः—विभिन्न इन्द्रियाँ; मनवः—मन, ज्ञान, बुद्धि तथा अहंकार; भूत-मात्राम्—पाँच स्थूल तत्त्व तथा पाँच इन्द्रिय-विषय ( रूप, स्वाद, ध्वनि इत्यादि ); आत्मानम्—अपने आप; अन्यम्—अन्य; च—तथा; विदुः—जानते हैं; परम्—परे; यत्—जो; सर्वम्—हर वस्तु; पुमान्—जीव; वेद—जानता है; गुणान्—प्रकृति के गुणों को; च—तथा; तत्-ज्ञः—उन वस्तुओं को जानने वाला; न—नहीं; वेद—जानता है; सर्व-ज्ञम्—सर्वज्ञ को; अनन्तम्—असीम; ईडे—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

**केवल पदार्थ होने के कारण शरीर, प्राण वायु, बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियाँ, पाँच स्थूल तत्त्व तथा सूक्ष्म इन्द्रियविषय ( रूप, स्वाद, गन्ध, ध्वनि तथा स्पर्श ) अपने स्वभाव को, अन्य इन्द्रियों के स्वभाव को या उनके नियन्ताओं के स्वभाव को नहीं जान पाते हैं। किन्तु जीव अपने आध्यात्मिक स्वभाव के कारण अपने शरीर, प्राणवायु, इन्द्रियों, तत्त्वों तथा इन्द्रियविषयों को जान सकता है और वह तीन गुणों को भी, जो उनके मूल में होते हैं, जान सकता है। इतने पर भी, यद्यपि जीव उनसे पूर्णतया भिन्न होता है, किन्तु वह परम पुरुष को, जो सर्वज्ञ तथा असीम है, देख पाने में अक्षम रहता है। इसलिए मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** यद्यपि भौतिक विज्ञानी भौतिक तत्त्वों, शरीर, इन्द्रियों, इन्द्रियविषयों तथा प्राणशक्ति को नियंत्रित करने वाली वायु तक का भी विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सकते हैं, तो भी वे यह नहीं समझ पाते कि इन सबों के ऊपर एक असली आत्मा है। दूसरे शब्दों में, आत्मा होने के कारण जीव सारी भौतिक वस्तुओं को समझ सकता है या स्वरूपसिद्ध होने पर वह उन परमात्मा को समझ सकता है जिनका योगीजन ध्यान करते हैं। जीव चाहे कितना बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, परम पुरुष भगवान् को नहीं समझ सकता, क्योंकि वे छहों ऐश्वर्यों से युक्त अनन्त अर्थात् असीम हैं।

**यदोपरामो मनसो नामरूप-**
**रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् ।**
**य ईयते केवलया स्वसंस्थया**
**हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

यदा—जब समाधि में; उपरामः—पूर्ण विराम; मनसः—मन का; नाम-रूप—भौतिक नाम तथा रूप; रूपस्य—उसका जिससे वे प्रकट होते हैं; दृष्ट—भौतिक दृष्टि का; स्मृति—तथा स्मरण का; सम्प्रमोषात्—विनाश के कारण; यः—जो ( भगवान् ); ईयते—अनुभव किया जाता है; केवलया—आध्यात्मिक; स्व-संस्थया—अपने आदि रूप से; हंसाय—परम विशुद्ध को; तस्मै—उस; शुचि-सद्मने—जो आध्यात्मिक अस्तित्व की शुद्ध अवस्था में ही अनुभव किया जाता है; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।.

**जब मनुष्य की चेतना स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक जगत के कल्मष से पूरी तरह शुद्ध हो जाती है और कार्य करने तथा स्वप्न देखने की अवस्थाओं से विचलित नहीं होती तथा जब मन सुषुप्ति अर्थात् गहरी नीद में लीन नहीं होता तो वह समाधि के पद को प्राप्त होता है। तब उसकी भौतिक दृष्टि तथा मन की स्मृतियाँ, जो नामों तथा रूपों को प्रकट करती हैं, विनष्ट हो जाती हैं। केवल ऐसी ही समाधि में भगवान् प्रकट होते हैं। अतः हम उन भगवान् को नमस्कार करते हैं, जो उस अकलुषित दिव्य अवस्था में देखे जाते हैं।**

**तात्पर्य :** *ईश-साक्षात्कार* की दो अवस्थाएँ हैं। एक *सुज्ञेयम्* कहलाती है, अर्थात् जो आसानी से समझ में आ जाये (सामान्य तथा मानसिक चिन्तन से) तथा दूसरी *दुर्ज्ञेयम्* कहलाती है, जो कठिनाई से ही समझी जाती है। परमात्मा के साक्षात्कार तथा ब्रह्म के साक्षात्कार को *सुज्ञेयम्* माना जाता है, किन्तु भगवान् का साक्षात्कार *दुर्ज्ञेयम्* है। जैसाकि यहाँ पर वर्णन किया गया है जब मनुष्य मन के कार्यों को—सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा करने को त्याग—देता है अथवा दूसरे शब्दों में, जब मानसिक चिन्तन रुक जाता है, तो उसे भगवान् का साक्षात्कार होता है। यह दिव्य साक्षात्कार या अनुभूति सुषुप्ति अर्थात् गहरी निद्रा से भी ऊपर है। हम अपनी स्थूल बद्धावस्था में वस्तुओं को भौतिक अनुभव तथा स्मृति के द्वारा इन्द्रियगोचर करते हैं और सूक्ष्म अवस्था में हम जगत की अनुभूति स्वप्न में करते हैं। देखने की विधि में स्मृति भी निहित रहती है और वह सूक्ष्म

रूप में भी विद्यमान रहती है। स्थूल अनुभव तथा स्वप्नों के ऊपर *सुषुप्ति* है और जब कोई सुषुप्ति को लाँघकर पूर्णतया आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, तो उसे समाधि, *विशुद्ध सत्त्व* या *वसुदेव सत्त्व* प्राप्त होता है, जिसमें भगवान् के दर्शन होते हैं।

अत: *श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियै:*—जब तक कोई द्विधा में, ऐन्द्रिय पद पर, जो स्थूल हो या सूक्ष्म, स्थित रहता है, तब तक आदि भगवान् का साक्षात्कार असम्भव है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*, किन्तु जब कोई अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाता है—विशेषतया जब वह अपनी जीभ को हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने में लगाता है तथा वह सेवाभाव से केवल कृष्ण-प्रसाद का आस्वादन करने में लगा रहता है, तो भगवान् प्रकट होते हैं। इसका संकेत इस श्लोक में *शुचि सद्मने* शब्दों से होता है। *शुचि* का अर्थ है ''शुद्ध''। अपनी इन्द्रियों से सेवा करने के भाव से मनुष्य का सारा जीवन *शुचिसद्म* अर्थात् अकलुषित शुद्धि का पद बन जाता है। इसलिए दक्ष भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं, जो *शुचिसद्म* के पद पर प्रकट होते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.६) से ब्रह्मा की यह स्तुति उद्धृत करते हैं—*तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यम-लान्तरात्मभि:*—हे प्रभो! जिसका हृदय पूर्णतया शुद्ध हो चुका है, वही आपके दिव्य गुणों का तथा आपके कार्यों की महानता को समझ सकता है।

**मनीषिणोऽन्तर्हृदि सन्निवेशितं**
**स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भि: ।**
**वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं**
**मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥ २७॥**
**स वै ममाशेषविशेषमाया**
**निषेधनिर्वाणसुखानुभूति: ।**
**स सर्वनामा स च विश्वरूप:**
**प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्ति: ॥ २८॥**

## शब्दार्थ

मनीषिणः—महान् विद्वान ब्राह्मण जो अनुष्ठानों तथा यज्ञों को सम्पन्न करे; अन्तः-हृदि—हृदय के भीतर; सन्निवेशितम्—स्थित होते हुए; स्व-शक्तिभिः—अपनी आध्यात्मिक शक्तियों से; नवभिः—नौ भिन्न-भिन्न भौतिक शक्तियों से भी ( प्रकृति, पूर्ण भौतिक शक्ति, अहंकार, मन तथा पाँच इन्द्रिय विषय ); च—और ( पांच स्थूल भौतिक तत्त्वों तथा दस कार्येन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय ); त्रिवृद्भिः—प्रकृति के तीनों भौतिक गुणों द्वारा; वह्निम्—अग्नि; यथा—जिस तरह; दारुणि—काष्ठ के भीतर; पाञ्चदश्यम्—सामिधेनि मंत्र नामक पन्द्रह मंत्रों के उच्चारण से उत्पन्न; मनीषया—शुद्ध बुद्धि द्वारा; निष्कर्षन्ति—निचोड़ते हैं; गूढम्—यद्यपि प्रकट न करते हुए; सः—भगवान्; वै—निस्सन्देह; मम—मेरे प्रति; अशेष—समस्त; विशेष—किस्में; माया—माया की; निषेध—निषेध विधि द्वारा; निर्वाण—मुक्ति का; सुख-अनुभूतिः—जो दिव्य आनन्द द्वारा अनुभव किया जाता है; सः—भगवान्; सर्व-नामा—सभी नामों का स्रोत; सः—वह, भगवान्; च—भी; विश्व-रूपः—ब्रह्माण्ड का विराट रूप; प्रसीदताम्—दयालु हो; अनिरुक्त—अचिन्त्य; आत्म-शक्तिः—समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का आगार।

**जिस तरह कर्मकाण्ड तथा यज्ञ करने में निपुण प्रकांड विद्वान ब्राह्मण पन्द्रह सामिधेनी मंत्रों का उच्चारण करके काष्ठ के भीतर सुप्त अग्नि को बाहर निकाल सकते हैं और इस तरह वैदिक मंत्रों की दक्षता को सिद्ध करते हैं, उसी तरह जो लोग कृष्णभावनामृत में वस्तुतः बढ़े-चढ़े होते हैं—दूसरे शब्दों में, जो कृष्णभावनाभावित होते हैं—वे परमात्मा को ढूँढ सकते हैं, जो अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा हृदय के भीतर स्थित रहते हैं। हृदय प्रकृति के तीनों गुणों से तथा नौ भौतिक तत्त्वों ( प्रकृति, कुल भौतिक शक्ति, अहंकार, मन तथा इन्द्रिय तृप्ति के पाँचों विषय ) एवं पाँच भौतिक तत्त्वों तथा दस इन्द्रियों द्वारा आच्छादित रहता है। ये सत्ताईस तत्त्व मिलकर भगवान् की बहिरंगा शक्ति का निर्माण करते हैं। बड़े बड़े योगी भगवान् का ध्यान करते हैं, जो परमात्मा रूप में हृदय के भीतर स्थित हैं। वह परमात्मा मुझ पर प्रसन्न हों। जब कोई भौतिक जीवन की असंख्य विविधताओं से मुक्ति के लिए उत्सुक होता है, तो परमात्मा का साक्षात्कार होता है। वस्तुतः उसे ऐसी मुक्ति तब मिलती है जब वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है और अपनी सेवा प्रवृत्ति के कारण भगवान् का साक्षात्कार करता है। भगवान् को उन अनेक आध्यात्मिक नामों से सम्बोधित किया जा सकता है, जो भौतिक इन्द्रियों के लिए अकल्पनीय हैं। वे भगवान् मुझ पर कब प्रसन्न होंगे?**

**तात्पर्य :** इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *दुर्विज्ञेयम्* शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है ''समझने में अति कठिन।'' *भगवद्गीता* (७.२८) में जीवन की

शुद्ध अवस्था का वर्णन हुआ है, जिसमें कृष्ण कहते हैं—

*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।*

*ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥*

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है, वे मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं और संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।''

*भगवद्गीता* में ही अन्यत्र (९.१४) भगवान् कहते हैं—

*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।*

*नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥*

''ये महात्मा मेरी महिमा का नित्य कीर्तन करते हुए, दृढ़ संकल्प के साथ प्रयास करके, मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं।''

मनुष्य समस्त भौतिक अवरोधों को लाँघने के बाद भगवान् को समझ सकता है। इसलिए भगवान् कृष्ण ने *गीता* (७.३) में यह भी कहा है—

*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।*

*यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥*

''कई हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और इस तरह सिद्धि प्राप्त करने वालों में से मुश्किल से कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।''

भगवान् कृष्ण को समझ पाने के लिए मनुष्य को कठिन तपस्या करनी होती है, किन्तु भक्ति का मार्ग पूर्ण है, अतएव इस विधि का पालन करने से मनुष्य आसानी से आध्यात्मिक पद को प्राप्त करके भगवान् को समझ सकता है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है जहाँ कृष्ण कहते हैं—

*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।*

*ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा वशते तदनन्तरम्॥*

''केवल भक्ति से मुझ भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। और जब मनुष्य ऐसी भक्ति में पूर्णतया भावनाभावित हो जाता है, तो वह वैकुण्ठलोक में प्रवेश कर सकता है।''

इस तरह यद्यपि विषय *दुर्विज्ञेयम्* अर्थात् समझ पाने में अतीव मुश्किल है, किन्तु निर्धारित विधि का पालन करने से यह आसान बन जाता है। भगवान् का सम्पर्क शुद्ध भक्ति के माध्यम से ही सम्भव है, जिसकी शुरुआत *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* से होती है। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *श्रीमद्‌भागवत* का यह श्लोक (२.८.५) उद्‌धृत करते है—*प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।* श्रवण तथा कीर्तन की विधि हृदय के भीतर प्रवेश करती है और इस तरह मनुष्य शुद्ध भक्त बन जाता है। इस विधि को चालू रखने पर वह दिव्य प्रेम की अवस्था को प्राप्त होता है और तब वह भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं का प्रशंसक बन जाता है। दूसरे शब्दों में, भक्ति द्वारा शुद्ध भक्त भगवान् की विविध शक्तियों के रूप में अनेक भौतिक अवरोधों के आने पर भी भगवान् का दर्शन करने में समर्थ होता है। भक्त इन अवरोधों के बीच आसानी से गुजरता हुआ भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है। आखिर, इन श्लोकों में वर्णित भौतिक अवरोध भगवान् की विविध शक्तियाँ ही तो होती हैं। जब भक्त भगवान् का दर्शन करने के लिए उत्सुक होता है, तो वह उनसे प्रार्थना करता है—

*अपि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।*
*कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥*

''हे महाराज नन्द के पुत्र (कृष्ण)! मैं आपका नित्य सेवक हूँ फिर भी न जाने कैसे मैं जन्म-मृत्यु के सागर में गिर गया हूँ! कृपया मुझे इस मृत्यु के सागर से निकालकर अपने चरणकमलों पर एक धूलि कण के रूप में रख लीजिये।'' भगवान् भक्त पर प्रसन्न होकर उसके सारे भौतिक अवरोधों को आध्यात्मिक सेवा में बदल देते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *विष्णु पुराण* का यह श्लोक उद्‌धृत करते हैं—

*ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।*

*ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥*

भौतिक जगत में भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति *तापकरी* अर्थात् ''कष्ट देने वाली'' के रूप में प्रकट होती है। हर कोई सुख के लिए लालायित रहता है, किन्तु सुख जो कि भगवान् की ह्लादिनी शक्ति से मूलत: उत्पन्न होता है, भौतिक जगत में भौतिक कार्यों के कारण भगवान् की यह ह्लादिनी शक्ति दुख का कारण (*ह्लादतापकरी*) बन जाती है। भौतिक जगत में मिथ्या सुख ही दुख का कारण है, किन्तु जब सुख के लिए किये गये प्रयत्न भगवान् की तुष्टि की दिशा में निर्देशित होते हैं, तो दुख का यह *तापकरी* तत्त्व समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में जो उदाहरण दिया जाता है, वह है कि काठ से अग्नि उत्पन्न करना अतीव कठिन है, किन्तु जब अग्नि उत्पन्न हो जाती है, तो वह काठ को भी भस्म कर देती है। दूसरे शब्दों में, जो लोग भक्ति से रहित हैं उनके लिए भगवान् की अनुभूति कर पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु भक्त के लिए हर काम सरल हो जाता है और इस तरह वह भगवान् से सरलता से मिल सकता है।

यहाँ पर ये स्तुतियाँ बतलाती हैं कि भगवान् का स्वरूप भौतिक स्वरूप की सीमा के परे है, अतएव वह अचिन्त्य है। किन्तु भक्त तो यह प्रार्थना करता है, ''हे प्रभु! आप मुझसे प्रसन्न हों जिससे मैं आपके दिव्य रूप तथा शक्ति का सरलता से दर्शन कर सकूँ।'' अभक्त गण *नेति नेति* के वादविवाद द्वारा परब्रह्म को समझने का प्रयास करते हैं। *निषेधनिर्वाणसुखानुभूति:*—किन्तु भक्त एकमात्र भगवन्नाम का कीर्तन करके ऐसे श्रमसाध्य चिन्तन से अपने को दूर रखता है और सरलता से भगवान् की अनुभूति करता है।

**यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं**
**धियाक्षभिर्वा मनसोत यस्य ।**
**मा भूत्स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्**
**स वै गुणापायविसर्गलक्षण: ॥ २९॥**

## शब्दार्थ

यत् यत्—जो भी; निरुक्तम्—कथित; वचसा—शब्दों से; निरूपितम्—सुनिश्चित; धिया—तथाकथित ध्यान या बुद्धि से; अक्षभिः—इन्द्रियों से; वा—अथवा; मनसा—मन से; उत—निश्चय ही; यस्य—जिसका; मा भूत्—नहीं हो सकता; स्व-रूपम्—भगवान् का वास्तविक रूप; गुण-रूपम्—तीनों गुणों से युक्त; हि—निस्सन्देह; तत् तत्—वह; सः—वह भगवान्; वै—निस्सन्देह; गुण-अपाय—तीन गुणों से बनी हुई हर वस्तु के संहार का कारण; विसर्ग—तथा सृष्टि; लक्षणः—के रूप में प्रकट।

**भौतिक ध्वनियों द्वारा व्यक्त, भौतिक बुद्धि द्वारा सुनिश्चित तथा भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव की गई अथवा भौतिक मन के भीतर गढ़ी गई कोई भी वस्तु भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं होती, इसलिए भगवान् के असली स्वभाव से उसका किसी तरह का सम्बन्ध नहीं होता। परमेश्वर इस भौतिक जगत की सृष्टि के परे हैं, क्योंकि वे भौतिक गुणों तथा सृष्टि के स्त्रोत हैं। सभी कारणों के कारण होते हुए, वे सृष्टि के पूर्व तथा सृष्टि के पश्चात् विद्यमान रहते हैं। मैं उन्हें सादर प्रणाम करना चाहता हूँ।**

**तात्पर्य :** जो भगवान् से सम्बद्ध नामों, रूपों, गुणों या साज-सामग्री को गढ़ता है, वह उन्हें नहीं समझ सकता, क्योंकि वे सृष्टि से परे हैं। भगवान् हर वस्तु के स्रष्टा हैं जिसका अर्थ है कि वे सृष्टि के पूर्व उपस्थित थे। दूसरे शब्दों में, उनका नाम, रूप तथा गुण भौतिक रूप से उत्पन्न जीव नहीं हैं। वे सदैव दिव्य रहते हैं। अतएव अपने भौतिक मनोरथों, ध्वनियों तथा विचारों से हम भगवान् को सुनिश्चित नहीं कर सकते। इसकी व्याख्या *अतः श्रीकृष्णनामादिन भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः* श्लोक में हुई है।

यहाँ पर प्राचेतस दक्ष ब्रह्म की स्तुति कर रहे हैं—भौतिक सृष्टि के भीतर किसी व्यक्ति की नहीं। एकमात्र मूर्ख तथा धूर्त ईश्वर को भौतिक सृष्टि समझते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.११) में की है—

*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।*

*परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥*

"जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।" इसलिए मनुष्य को चाहिए कि ऐसे पुरुष से ज्ञान प्राप्त करे

जिसके समक्ष भगवान् प्रकट हो चुके हों। भगवान् के लिए काल्पनिक नाम या रूप निर्मित करने का महत्त्व नहीं है। श्रीपाद शंकराचार्य निर्विशेषवादी थे, किन्तु तो भी उन्होंने कहा—*नारायण: परोऽव्यक्तात्*—नारायण या भगवान् इस भौतिक जगत के व्यक्ति नहीं हैं। हम नारायण को भौतिक उपाधि नहीं प्रदान कर सकते, जैसाकि मूर्ख लोग *दरिद्रनारायण* की बात करते समय प्रयास करते हैं। नारायण सदैव दिव्य हैं, इस भौतिक सृष्टि से परे। वे *दरिद्रनारायण* कैसे हो सकते हैं? दरिद्रता इस जगत में पाई जाती है, किन्तु आध्यात्मिक जगत में दरिद्रता जैसी कोई वस्तु नहीं है। अतएव दरिद्रनारायण का विचार कोरी मनोकल्पना है।

दक्ष बहुत ही सावधानी से इंगित करते हैं कि भौतिक उपाधियाँ पूज्य भगवान् के नाम नहीं हो सकतीं—*यद् यन्निरुक्तं वचसा निरूपितम्। निरुक्त* द्योतक है वैदिक कोश का। कोई व्यक्ति किसी शब्द-कोश की अभिव्यक्तियों को चुनने मात्र से भगवान् को ठीक से नहीं समझ सकता। भगवान् की स्तुति करते समय दक्ष अपनी पूजा के लिए भौतिक नामों तथा रूपों को विषयवस्तु नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत वे भगवान् की पूजा करना चाहते हैं, जो भौतिक कोशों तथा नामों की सृष्टि के पहले विद्यमान थे। जैसा कि वेदों में पुष्टि की गई है—*यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह*—भगवान् के नाम, रूप, गुण तथा साज-सामग्री को भौतिक कोश द्वारा सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् को समझने के दिव्य पद तक पहुँच जाता है, तो वह प्रत्येक वस्तु से, चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, भलीभाँति परिचित हो लेता है। इसकी पुष्टि एक दूसरे वैदिक मंत्र में हुई है—*तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।* यदि कोई व्यक्ति भगवान् की कृपा से किसी तरह भगवान् की दिव्य स्थिति को समझ सकता है, तो वह शाश्वत बन जाता है। इसकी और आगे पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.९) में की है—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।*
*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥*

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को

छोड़ने पर इस संसार में पुन: जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।'' भगवान् को केवल समझ लेने से मनुष्य जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से परे चला जाता है। इसलिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को *श्रीमद्भागवत* (२.१.५) में सलाह दी है—

*तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् ईश्वरो हरि:।*

*श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभ्यम्॥*

''हे राजा भरत के वंशज! जो व्यक्ति सारे कष्टों से मुक्त होना चाहता है उसे उन भगवान् का श्रवण, महिमा गायन तथा स्मरण भी करना चाहिए, जो परमात्मा, नियन्ता तथा समस्त कष्टों से बचाने वाले हैं।''

**यस्मिन्यतो येन च यस्य यस्मै**
**यद्यो यथा कुरुते कार्यते च ।**
**परावरेषां परमं प्राक्प्रसिद्धं**
**तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (भगवान् या परम धाम में); यत:—जिससे (हर वस्तु उद्भूत है); येन—जिसके द्वारा (हर वस्तु निर्मित है); च—भी; यस्य—जिसकी (हर वस्तु है); यस्मै—जिसको (हर वस्तु अर्पित की जाती है); यत्—जो; य:—जो; यथा—जिस तरह; कुरुते—सम्पन्न करता है; कार्यते—कराया जाता है; च—भी; पर-अवरेषाम्—भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगतों में; परमम्—परम; प्राक्—उद्गम; प्रसिद्धम्—हर एक को भलीभाँति ज्ञात; तत्—वह; ब्रह्म—परब्रह्म; तत् हेतु:—समस्त कारणों के कारण; अनन्यत्—अन्य कारण न होते हुए; एकम्—अद्वितीय।.

**परब्रह्म कृष्ण प्रत्येक वस्तु के परम आश्रय तथा उद्गम हैं। हर कार्य उन्हीं के द्वारा किया जाता है, हर वस्तु उन्हीं की है और हर वस्तु उन्हीं को अर्पित की जाती है। वे ही परम लक्ष्य हैं और चाहे वे स्वयं कार्य करते हों या अन्यों से कराते हों, वे परम कर्ता हैं। वैसे उच्च तथा निम्न अनेक कारण हैं, किन्तु समस्त कारणों के कारण होने से वे परब्रह्म कहलाते हैं, जो समस्त कार्यकलापों के पहले से विद्यमान थे। वे अद्वितीय हैं और उनका कोई अन्य कारण नहीं है। मैं उनको सादर प्रणाम करता हूँ।**

**तात्पर्य :** भगवान् कृष्ण आदि कारण हैं जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*अहं सर्वस्य प्रभव:*)। यहाँ तक कि यह भौतिक जगत, जो प्रकृति के गुणों के अधीन संचालित होता है, भगवान् द्वारा उत्पन्न किया जाता है; इसलिए भौतिक जगत से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि भौतिक जगत उनके शरीर का अंश न होता तो परम कारण स्वरूप भगवान् अपूर्ण होते। इसलिए हम सुनते हैं—*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:*—यदि कोई जान लेता है कि वासुदेव ही समस्त कारणों के आदि कारण हैं, तो वह पूर्ण महात्मा बन जाता है।

ब्रह्म-संहिता (५.१) घोषित करती है—

*ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह: ।*

*अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥*

"गोविन्द कहे जाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं, क्योंकि वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं।" परब्रह्म (तद्ब्रह्म) समस्त कारणों के कारण हैं, किन्तु उनका कोई कारण नहीं है। *अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकराणकारणम्*—गोविन्द अर्थात् कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं, किन्तु गोविन्द रूप में उनके प्राकट्य का कोई कारण नहीं है। गोविन्द विविध रूपों में विस्तार करते हैं फिर भी वे सारे रूप एक हैं। जैसाकि मध्वाचार्य ने पुष्टि की है—*अनन्य: सद्दशाभावाद् एको रूपाद्यभेदत:*—कृष्ण का न तो कोई कारण है न कोई साद्दश्य। वे एक हैं, क्योंकि उनके विविध रूप—यथा *स्वांश* तथा *विभिन्नांश*—उनसे अभिन्न हैं।

**यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै**
**विवादसंवादभुवो भवन्ति ।**
**कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं**
**तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥ ३१ ॥**

**शब्दार्थ**

यत्-शक्तयः—जिसकी नाना शक्तियाँ; वदताम्—विभिन्न दर्शनों को बताने वाली; वादिनाम्—वक्ताओं के; वै—निस्सन्देह; विवाद—तर्क का; संवाद—तथा रजामन्दी, विचार ऐक्य; भुवः—कारण; भवन्ति—हैं; कुर्वन्ति—उत्पन्न करते हैं; च—तथा; एषाम्—उनके ( सिद्धान्तवादियों के ); मुहुः—निरन्तर; आत्म-मोहम्—आत्मा के अस्तित्व के विषय में मोह; तस्मै—उसको; नमः—मेरा सादर नमस्कार; अनन्त—असीम; गुणाय—दिव्य गुणों वाले; भूम्ने—सर्वव्यापक प्रभु।

**मैं उन सर्वव्यापक भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जो अनन्त दिव्य गुणों से युक्त हैं। वे विभिन्न मतों का प्रसार करने वाले समस्त दार्शनिकों के हृदय के भीतर से कार्य करते हुए उनसे उनकी ही आत्मा को भुलवाते हैं, कभी उनमें परस्पर मतैक्य कराते हैं, तो कभी मत भिन्नता कराते हैं। इस तरह वे इस भौतिक जगत में ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें वे किसी भी दार्शनिक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** अनादि काल से अथवा विराट जगत की सृष्टि काल से बद्धात्माओं ने दार्शनिक चिन्तन के विविध वर्ग बना रखे हैं, किन्तु भक्तों के साथ ऐसा नहीं है। अभक्तों में सृष्टि, पालन तथा संहार के विषय में भिन्न-भिन्न विचार हैं, अतएव वे *वादी* तथा *प्रतिवादी* कहलाते हैं। *महाभारत* के कथन से ज्ञात होता है कि *मुनि* या चिन्तक अनेक हैं—

*तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्॥*

सारे चिन्तकों में मतभेद होना आवश्यक हैं अन्यथा परम कारण को सुनिश्चित करने वाले इतने विरोधी वर्ग क्यों होते?

दर्शन का अर्थ है परम कारण की खोज। *वेदान्त सूत्र* ने अत्यन्त तार्किक बात कही है *अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा*—मानव जीवन परम कारण को समझने के लिए मिला है। भक्तजन स्वीकार करते हैं कि परम कारण कृष्ण हैं, क्योंकि इस निष्कर्ष का समर्थन समस्त वैदिक वाङ्मय द्वारा तथा स्वयं कृष्ण द्वारा भी किया गया है, जो यह कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं हर वस्तु का स्रोत हूँ। भक्तों को हर वस्तु के चरम कारण को समझने में कोई समस्या नहीं उठती, किन्तु अभक्तों को अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि जो भी प्रमुख दार्शनिक बनना चाहता है, वह अपना मार्ग खोजता है। भारत में दार्शनिकों के अनेक वर्ग हैं यथा द्वैतवादी, अद्वैतवादी, वैशेषिक, मीमांसक, मायावादी तथा स्वभाववादी। इनमें से हर एक अन्यों का विरोध करता है।

इसी तरह पाश्चात्य देशों में भी अनेक दार्शनिक हैं, जो सृष्टि, जीवन, पालन तथा संहार के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। अत: यह असंदिग्ध तथ्य है कि सारे विश्व में असंख्य दार्शनिक हैं जिनमें से हर एक दूसरे का खण्डन करता है।

अब कोई यह पूछ सकता है कि जब दर्शन का लक्ष्य एक है, तो फिर इतने सारे दार्शनिक क्यों हैं? निस्सन्देह, परम कारण तो एक ही है—परब्रह्म। जैसा कि *भगवद्गीता* (१०.१२) में अर्जुन ने कृष्ण से कहा—

*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।*

*पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥*

''आप परम भगवान्, परम धाम, परम पवित्र, परम सत्य हैं। आप नित्य दिव्य, आदि पुरुष, अजन्मा तथा सर्वव्यापी सौन्दर्य हैं।'' किन्तु अभक्त चिन्तक एक परम कारण को (*सर्वकारणकारणम्*) को स्वीकार नहीं करते। चूँकि वे आत्मा तथा उसके कार्यों से अनजान हैं तथा विमोहित रहते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ को आत्मा विषयक अस्पष्ट विचार होता है, किन्तु अनेक विवाद उठ खड़े होते हैं और दार्शनिक चिन्तक (मीमांसक) कभी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। ये सारे चिन्तक भगवान् से ईर्ष्या करते हैं और जैसा कि *भगवद्गीता* (१६.१९-२०) में कृष्ण कहते हैं—

*तानहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।*

*क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥*

*आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।*

*मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥*

''जो लोग ईर्ष्यालु तथा अनिष्ट कारक हैं और नराधम हैं, उन्हें मैं निरन्तर भवसागर में विभिन्न आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ। हे कुन्तीपुत्र! ऐसे व्यक्ति आसुरी योनि में बारम्बार जन्म ग्रहण करते हुए कभी भी मुझ तक पहुँच नहीं पाते। वे धीरे धीरे अधमतम गति में डूब जाते हैं।''

भगवान् के प्रति ईष्या करने से अभक्तगण जन्म-जन्मांतर आसुरी परिवारों में उत्पन्न होते हैं। वे महान् अपराधी हैं और उनके अपराधों के ही कारण भगवान् उन्हें सदा मोहग्रस्त बनाये रखते हैं। *कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहम्*—भगवान् उन्हें जानकर अंधकार में (*आत्ममोहम्*) रखते हैं।

व्यासदेव के पिता परम विद्वान पराशर ने भगवान् की व्याख्या इस प्रकार की है।

*ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषत: ।*

*भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभि: ॥*

आसुरी चिन्तक भगवान् के दिव्य गुणों, रूप, लीलाओं, बल, ज्ञान तथा ऐश्वर्य को नहीं समझ सकते, क्योंकि ये सभी भौतिक कल्मष से रहित हैं (*विना हेयैर्गुणादिभि:*)। ये चिन्तक भगवान् के अस्तित्व से ईर्ष्या करते हैं। *जगदाहुरनीश्वरम्*—उनका निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण विराट जगत का कोई नियन्ता नहीं है बल्कि यह स्वाभाविक रूप से कार्यशील है। इस तरह वे जन्म-जन्मांतर निरन्तर अंधकार में रखे जाते हैं और वे सभी कारणों के असली कारण को नहीं समझ सकते। दार्शनिक चिन्तन के अनेक पंथों के होने का यही कारण है।

**अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो-**
**रकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मणो: ।**
**अवेक्षितं किञ्चन योगसाङ्ख्ययो:**
**समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ॥ ३२॥**

### शब्दार्थ

अस्ति—है; इति—इस प्रकार; न—नहीं; अस्ति—है; इति—इस प्रकार; च—तथा; वस्तु-निष्ठयो:—परम कारण के ज्ञान का अनुयायी; एक-स्थयो:—एक ही विषय, ब्रह्म को स्थापित करने से युक्त; भिन्न—अलग दिखाते हुए; विरुद्ध-धर्मणो:—तथा विरोधी; अवेक्षितम्—अनुभूत किया; किञ्चन—वह जो कुछ; योग-साङ्ख्ययो:—योग तथा सांख्य-दर्शन का; समम्—समान; परम्—दिव्य; हि—निस्सन्देह; अनुकूलम्—निवास स्थान; बृहत् तत्—वह परम कारण।

**संसार मे दो वर्ग हैं—आस्तिक तथा नास्तिक। परमात्मा को मानने वाला आस्तिक सम्पूर्ण योग में आध्यात्मिक कारण को पाता है। किन्तु भौतिक तत्त्वों का मात्र विश्लेषण करने वाला सांख्यधर्मी निर्विशेषवाद के निष्कर्ष को प्राप्त होता है और परम कारण को,**

**चाहे वह भगवान् हो, परमात्मा हो या ब्रह्म ही क्यों न हो, स्वीकार नहीं करता। उल्टे, वह भौतिक प्रकृति के व्यर्थ बाह्य कार्यों में व्यस्त रहता है। किन्तु अन्ततोगत्वा दोनों वर्ग एक परम सत्य की स्थापना करते हैं, क्योंकि विरोधी कथन करते हुए भी उनका लक्ष्य एक ही परम कारण होता है। वे दोनों ही जिस एक परब्रह्म के पास पहुँचते हैं उन्हें मैं सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** वस्तुत: इस तर्क के दो पक्ष हैं। कुछ कहते हैं ब्रह्म के कोई आकार नहीं होता (*निराकार*) और अन्य कहते हैं कि ब्रह्म के आकार है (*साकार*)। अत: ''आकार'' शब्द उभयनिष्ठ है यद्यपि कुछ इसे स्वीकार करते हैं (*अस्ति* या *आस्तिक*) जबकि अन्य लोग इसका निषेध करने का प्रयास करते हैं। (*नास्ति* अथवा *नास्तिक*)। चूँकि भक्त *आकार* को मानता है, जो दोनों के लिए उभयनिष्ठ है, अत: वह आकार को सादर नमस्कार करता है, भले ही अन्य लोग तर्क-वितर्क करते रहें कि ब्रह्म के आकार है या नहीं।

इस श्लोक में *योगसांख्ययो:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योग का अर्थ भक्तियोग है, क्योंकि योगीजन सर्वव्यापक परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उन्हें अपने हृदयों के भीतर देखने का प्रयास करते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१२.१३.१) में कहा गया है— *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:।* भक्त भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आना चाहता है, जबकि योगी ध्यान द्वारा परमात्मा को अपने हृदय में ढूँढने का प्रयास करता है। इस तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों ही तरह से योग का अर्थ भक्तियोग है। किन्तु सांख्य का अर्थ है चिन्तनपरक ज्ञान के माध्यम से विराट जगत का भौतिक अध्ययन। यह सामान्यतया ज्ञानशास्त्र कहलाता है। सांख्यवादी निर्विशेष ब्रह्म से जुड़े होते हैं, किन्तु परम सत्य को तीन प्रकार से जाना जाता है। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*—परम सत्य तो एक है, किन्तु कुछ लोग उसे निर्विशेष ब्रह्म के रूप में, कुछ सर्वत्र विद्यमान परमात्मा के रूप में तथा कुछ लोग भगवान् के रूप में स्वीकार करते हैं। केन्द्र बिन्दु तो परम सत्य है।

यद्यपि निर्विशेषवादी तथा सगुणवादी एक दूसरे से भिड़ते हैं, किन्तु वे उसी परब्रह्म, उसी परम सत्य पर केन्द्रित होते हैं। योगशास्त्र में कृष्ण का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*कृष्णं पिशंगाम्बरम् अम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदाद्युदायुधम्।* इस तरह से भगवान् के आनन्द दायक शारीरिक स्वरूप, उनके अंगों तथा उनके वेश, का वर्णन किया जाता है। किन्तु *सांख्य-शास्त्र* भगवान् के दिव्य रूप के अस्तित्व को नहीं मानता। *सांख्य-शास्त्र* कहता है कि परब्रह्म के न तो हाथ हैं, न पाँव और न नाम—*ह्यनामरूपगुणपाणिपादमचक्षुरश्रोत्रमेकभद्वितीयमपि नामरूपाधिकं नास्ति।* वैदिक मंत्रों में *अपाणिपादो जवनोग्रहीत* कहा गया है अर्थात् परमेश्वर के पाँव तथा हाथ नहीं हैं, किन्तु जो कुछ भी उन्हें अर्पित किया जाता है उसे वे स्वीकार कर सकते हैं। वस्तुत: ऐसे कथन यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म के हाथ पाँव हैं, किन्तु वे इस बात से इनकार करते हैं कि उनके भौतिक हाथ पाँव हैं। इसीलिए ब्रह्म को *अप्राकृत* कहा गया है। भगवान् कृष्ण के *सच्चिदानन्दविग्रह* है—ऐसा रूप जो नित्यता, ज्ञान तथा आनन्द रूप है, भौतिक रूप नहीं है। सांख्यवादी या ज्ञानी भौतिक रूप को नहीं मानते और भक्तगण भी भलीभाँति जानते हैं कि परम सत्य भगवान् के कोई भौतिक रूप नहीं है।

*ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:।*

*अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्॥*

''गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबों के उद्‌गम हैं। उनका कोई अन्य उद्‌गम नहीं हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं।'' बिना हाथ पाँव वाले ब्रह्म की धारणा तथा हाथ पांव युक्त ब्रह्म की धारणा स्पष्टत: परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों ही परम ब्रह्म पुरुष के विषय में एक ही सत्य पर जाकर मिल जाती हैं। इसलिए यहाँ पर प्रयुक्त *वस्तु निष्ठयो:* शब्द यह सूचित करता है कि योगी तथा सांख्यवादी दोनों ही सत्यता पर विश्वास करते हैं, किन्तु वे भौतिक तथा आध्यात्मिक पहचानों के विभिन्न दृष्टिकोणों से उसके विषय में वादविवाद करते हैं। परब्रह्म या *बृहत्* उभयनिष्ठ बिन्दु है। सांख्यवादी तथा योगी दोनों ही उसी एक ब्रह्म पर स्थित हैं, किन्तु अपने भिन्न दृष्टिकोणों के कारण

उनमें भेद है।

भक्तिशास्त्र में दिये गये निर्देश सही दिशा को इंगित करते हैं, क्योंकि *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं *भक्त्या मामभिजानाति*—एकमात्र भक्ति द्वारा मैं जाना जा सकता हूँ। भक्तगण जानते हैं कि परम पुरुष के कोई भौतिक रूप नहीं है, जबकि ज्ञानी भौतिक रूप का केवल निषेध करते हैं। अतएव मनुष्य को भक्तिमार्ग की शरण लेनी चाहिए। तभी हर बात स्पष्ट हो सकेगी। ज्ञानी लोग विराट रूप पर मन को एकाग्र करते हैं। जो लोग नितान्त भौतिकतावादी हैं उनके लिए प्रारम्भ में यह अच्छी प्रणाली है, किन्तु लगातार विराट रूप के विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं है। जब अर्जुन को कृष्ण का विराट रूप दिखाया गया तो उसने उसे देखा, किन्तु वह उसे निरन्तर देखना नहीं चाहता था। अतएव उसने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अपने आदि द्विभुजी कृष्ण का रूप धारण कर लें। निष्कर्ष यह है कि विद्वानों को भगवान् के आध्यात्मिक रूप पर भक्तों की मन-एकाग्रता में कोई विरोधाभास नहीं दिखता (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि अल्पज्ञ अभक्तजन सोचते हैं कि उनका निष्कर्ष अन्तिम है, किन्तु पूर्णतया विद्वान होने से भक्तगण यह समझ सकते हैं कि भगवान् चरम लक्ष्य हैं।

**योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-**
**मनामरूपो भगवाननन्तः ।**
**नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-**
**र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥ ३३ ॥**

### शब्दार्थ

यः—जो (भगवान्); अनुग्रह-अर्थम्—अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए; भजताम्—उन भक्तों को जो सदैव भक्ति करते हैं; पाद-मूलम्—उनके दिव्य चरणकमलों को; अनाम—किसी भौतिक नाम के बिना; रूपः—या भौतिक रूप; भगवान्—भगवान्; अनन्तः—असीम, सर्वव्यापक तथा नित्य विद्यमान; नामानि—दिव्य नाम; रूपाणि—दिव्य रुप; च—भी; जन्म-कर्मभिः—दिव्य जन्म तथा कार्यों के साथ; भेजे—प्रकट करता है; सः—वह; मह्यम्—मुझ पर; परमः—परम; प्रसीदतु—कृपालु हों।

**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जो कि अचिन्त्य रूप से ऐश्वर्यवान् हैं, जो सारे भौतिक नामों, रूपों तथा लीलाओं से रहित हैं तथा जो सर्वव्यापक हैं, उन भक्तों पर विशेषरूप से कृपालु**

**रहते हैं, जो उनके चरणकमलों की पूजा करते हैं। इस तरह वे विभिन्न लीलाओं सहित दिव्य रूपों तथा नामों को प्रकट करते हैं। ऐसे भगवान्, जो सच्चिदानन्द विग्रह हैं, मुझ पर कृपालु हों।**

**तात्पर्य :** महत्त्वपूर्ण शब्द *अनामरूप:* के विषय में श्रीयुत श्रीधर स्वामी कहते हैं—*प्राकृतनामरूप रहितोऽपि*। *अनाम* शब्द का अर्थ "बिना नाम का" यह सूचित करता है कि भगवान् का कोई भौतिक नाम नहीं है। अपने पुत्र को पुकारने के लिए नारायण नाम का उच्चारण करने मात्र से अजामिल को मोक्ष मिल गया। इसका अर्थ है कि नारायण कोई सामान्य संसारी नाम नहीं। यह अभौतिक है। इसलिए *अनाम* शब्द सूचित करता है कि भगवान् के नाम भौतिक जगत से सम्बन्धित नहीं होते। हरे कृष्ण महामंत्र की ध्वनि भौतिक ध्वनि नहीं। इसी तरह भगवान् का रूप, उनका प्राकट्य तथा कार्य सभी अभौतिक हैं। भक्तों तथा अभक्तों के प्रति अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करने के लिए भगवान् कृष्ण इस भौतिक जगत में नाम, रूप तथा लीलाओं के साथ प्रकट होते हैं, जो सारे के सारे दिव्य हैं। इसे न समझ पाने वाले बुद्धिहीन व्यक्ति इन नामों, रूपों तथा लीलाओं को भौतिक समझते हैं और इसीलिए वे उनके नाम या रूप को स्वीकार करने से इनकार करते हैं।

अभक्त जो यह कहते हैं कि ईश्वर का कोई नाम नहीं है और भक्त जो यह जानते हैं कि उनका नाम भौतिक नहीं है—उन दोनों के निष्कर्ष जाँच करने पर व्यवहारत: एक जैसे हैं। भगवान् के कोई भौतिक नाम, रूप, जन्म, आविर्भाव या तिरोभाव नहीं होता, किन्तु फिर भी वे जन्म लेते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.६) में कहा गया है—

*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।*
*प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥*

यद्यपि भगवान् अजन्मा (*अज*) हैं और उनके शरीर में भौतिक परिवर्तन नहीं होते, फिर भी वे अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और अपने को सदैव दिव्य पद पर (*शुद्ध सत्त्व*) पर बनाये रखते

हैं। इस प्रकार वे अपने दिव्य रूप, नाम तथा कार्य प्रदर्शित करते हैं। यह अपने भक्तों के प्रति उनकी विशेष कृपा है। अन्य लोग इस बात को तर्क करते रहें कि परब्रह्म के रूप है कि नहीं, किन्तु जब भक्त भगवान् को साक्षात् देखता है, तो वह आध्यात्मिक रूप से भावमय हो जाता है।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि भगवान् कुछ नहीं करते। वस्तुत: उनके पास करने के लिए कुछ भी नहीं है, फिर भी उन्हें सब कुछ करना होता है, क्योंकि उनकी स्वीकृति के बिना कोई कुछ नहीं कर सकता। किन्तु अज्ञानी यह नहीं देख सकता कि वे किस तरह कार्य करते हैं और किस तरह समूची प्रकृति उनके निर्देशन में कार्य करती है। उनकी विभिन्न शक्तियाँ पूर्णरूपेण कार्य करती हैं।

*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*

*न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते।*

*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*

*स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥*

(*श्वेताश्वर उपनिषद्* ६.८)

उन्हें स्वयं कुछ भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि उनकी शक्तियाँ पूर्ण हैं, अत: हर काम उनकी इच्छा से तुरन्त पूरा हो जाता है। जिन लोगों को भगवान् की अनुभूति नहीं हुई है, वे यह नहीं देख सकते कि वे किस तरह कार्य करते हैं, अतएव वे यह सोचते हैं कि यदि ईश्वर हो भी तो उसे न तो कुछ करना पड़ता है न ही उसका कोई विशेष नाम है।

वस्तुत: भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के कारण उनका नाम पहले से विद्यमान है। भगवान् कभी-कभी *गुणकर्मनाम* कहलाते हैं, क्योंकि उनका नाम उनके दिव्य कार्यों के अनुसार रखा जाता है। उदाहरणार्थ, कृष्ण का अर्थ है "सर्व आकर्षक।" यह भगवान् का नाम है, क्योंकि उनके दिव्य गुण उन्हें अति आकर्षक बनाते हैं। छोटे बालक के रूप में उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाया और अपने बालपन में उन्होंने कई असुरों को मारा। ऐसे कार्य अति आकर्षक हैं, इसीलिए वे कभी-कभी

गिरिधारी, मधुसूदन, अघनिषूदन इत्यादि कहलाते हैं। चूँकि उन्होंने नन्द महाराज के पुत्र की भूमिका निभाई इसलिए वे नन्द-तनुज कहलाते हैं। ये नाम पहले से हैं, किन्तु बात यह है कि अभक्तगण भगवान् के नामों को समझ नहीं पाते, अतएव वे कभी-कभी *अनाम* अर्थात् बिना नाम के कहलाते हैं। इसका अर्थ हुआ कि उनके कोई भौतिक नाम नहीं हैं। उनके सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं, इसलिए उनके नाम आध्यात्मिक हैं।

सामान्यतया अल्पज्ञ लोग इस भाव में रहते हैं कि भगवान् के कोई रूप या आकार नहीं होता। इसलिए वे अपने आदि कृष्ण, सच्चिदानन्दविग्रह रूप में कुरुक्षेत्र युद्ध में भाग लेने के अपने लक्ष्य को तथा भक्तों की रक्षा करने और असुरों के विनाश की लीलाओं को पूरा करने के लिए प्रकट होते हैं (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। यह तो उनकी कृपा है। जो लोग यह सोचते हैं कि भगवान् के कोई रूप नहीं है और करने के लिए उनके पास कोई काम नहीं है, उन्हें यह दिखाने के लिए कृष्ण आते हैं कि सचमुच वे काम करते हैं। वे इतने यशस्वी ढंग से कार्य करते हैं कि कोई अन्य व्यक्ति ऐसे असामान्य कार्य नहीं कर सकता। यद्यपि वे मनुष्य रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु उन्होंने १६१०८ पत्नियों के साथ विवाह किया था, जो सामान्य व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। भगवान् ऐसे कार्य लोगों को यह दिखाने के लिए करते हैं कि वे कितने महान् हैं, कितने वत्सल हैं और कितने दयालु हैं। यद्यपि उनका आदिनाम कृष्ण है (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*) किन्तु वे असंख्य तरीकों से कार्य करते हैं इसलिए उनके कार्यों के अनुसार उनके हजारों नाम हैं।

**यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां**
**यथाशयं देहगतो विभाति ।**
**यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं**
**स ईश्वरो मे कुरुतां मनोरथम् ॥ ३४॥**

## शब्दार्थ

यः—जो; प्राकृतैः—निम्न श्रेणी के; ज्ञान-पथैः—पूजा के मार्गों द्वारा; जनानाम्—जीवों के; यथा-आशयम्—इच्छा के अनुसार; देह-गतः—हृदय के भीतर स्थित; विभाति—प्रकट होता है; यथा—जिस तरह; अनिलः—वायु; पार्थिवम्—

पृथ्वी का; आश्रितः—प्राप्त करते हुए; गुणम्—गुण ( गंध तथा रंग इत्यादि ); सः—वह; ईश्वरः—भगवान्; मे—मेरा; कुरुताम्—पूरा करे; मनोरथम्—( भक्ति के लिए ) इच्छा।

**जिस तरह वायु भौतिक तत्त्वों के विविध गुण यथा फूल की गंध या वायु में धूल के मिश्रण से उत्पन्न विभिन्न रंग अपने साथ ले जाती है, उसी तरह भगवान् मनुष्य की इच्छाओं के अनुसार पूजा की निम्नतर प्रणालियों के माध्यम से प्रकट होते हैं, यद्यपि वे देवताओं के रूप में प्रकट होते हैं, अपने आदि रूप में नहीं। तो इन अन्य रूपों का क्या लाभ है? ऐसे आदि भगवान् मेरी इच्छाएँ परिपूर्ण करें।**

**तात्पर्य :** निर्विशेषवादी कल्पना करते हैं कि विभिन्न देवता भगवान् के रूप हैं। उदाहरणार्थ, मायावादी पाँच देवताओं ( *पञ्चोपासना*) की पूजा करते हैं। वे वास्तव में भगवान् के रूप में विश्वास नहीं करते, किन्तु पूजा के निमित्त वे किसी रूप को ईश्वर मान लेते हैं। सामान्यतया वे विष्णु का रूप, शिव का रूप, गणेश, सूर्यदेव तथा दुर्गा के रूपों की कल्पना करते हैं। यही *पञ्चोपासना* कहलाती हैं। किन्तु दक्ष किसी काल्पनिक रूप की नहीं, अपितु भगवान् कृष्ण के परम रूप की पूजा करना चाहते थे।

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भगवान् तथा एक सामान्य जीव के अन्तर का वर्णन करते हैं। जैसाकि पिछले किसी श्लोक में इंगित किया जा चुका है—*सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे*—सर्वशक्तिमान भगवान् हर बात जानते हैं, किन्तु जीव वास्तव में भगवान् को नहीं जानता। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है "मैं सब कुछ जानता हूँ, किन्तु कोई भी मुझे नहीं जानता।" भगवान् तथा सामान्य जीव में यही अन्तर है। *श्रीमद्भागवत* में एक स्तुति में महारानी कुन्ती कहती हैं—"हे प्रभु! आप भीतर तथा बाहर विद्यमान हैं, फिर भी कोई आपको देख नहीं सकता।"

बद्धात्मा ज्ञान अथवा कल्पना से भगवान् को नहीं समझ सकता। इसलिए मनुष्य को भगवत्कृपा से भगवान् को जानना चाहिए। वे अपने को प्रकट करते हैं, किन्तु वे कल्पना द्वारा नहीं समझे जा सकते। *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.२९) में कहा गया है—

*अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।*

*जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥*

''हे प्रभु! यदि किसी को आपके चरणकमलों की कृपा का लेशांश भी प्राप्त हो जाये तो वह आपकी महानता को समझ सकता है। पर जो लोग भगवान् को समझने के लिए कल्पना करते हैं, वे आपको नहीं जान पाते, भले ही वे अनेक वर्षों तक वेदों का अध्ययन क्यों न करते रहें।''

यह शास्त्र का निर्णय है। एक सामान्य व्यक्ति बहुत बड़ा दार्शनिक हो सकता है और यह कल्पना कर सकता है कि परम सत्य क्या है, उसका रूप क्या है और वह कहाँ पर विद्यमान है, किन्तु वह इन सत्यों को समझ नहीं सकता। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।* केवल भक्ति के द्वारा मनुष्य भगवान् को समझ सकता है। इसकी व्याख्यां स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.५५) में की है। *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—एकमात्र भक्ति से भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। अज्ञानी लोग भगवान् के रूप के विषय में कल्पना करना या उनके रूप को गढ़ना चाहते हैं, किन्तु भक्तगण वास्तविक भगवान् की पूजा करना चाहते हैं। इसलिए दक्ष स्तुति करते हैं ''कोई चाहे आपको साकार, निर्विशेष या काल्पनिक सोचे, किन्तु मैं आपसे प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वास्तव में आप जिस रूप में हैं उसी रूप में दर्शन पाने की मेरी इच्छा पूरी करें।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर टीका करते हैं कि यह श्लोक विशेषतया उन निर्विशेषवादियों के लिए हैं, जो यह सोचते हैं कि वे स्वयं ब्रह्म हैं, क्योंकि जीव तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं है। मायावादी दार्शनिक सोचता है कि केवल एक परम सत्य है और वह भी वही परम सत्य है। वस्ततुः यह ज्ञान नहीं, अपितु मूर्खता है और यह श्लोक विशेषरूप से ऐसे मूर्ख लोगों के निमित्त है जिनके ज्ञान को माया ने हर लिया है (*माययापहृत ज्ञानाः*)। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि ऐसे *ज्ञानीमानिनः* लोग अपने को बहुत बढ़ा-चढ़ा मानते हैं, लेकिन वास्तव में वे अज्ञानी होते हैं।

इस श्लोक के विषय में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

*स्वदेहस्थं हरिं प्राहुरधमा जीवमेव तु।*

*मध्यमाश्चाप्यनिर्णीतं जीवाद् भिन्नं जनार्दनम्॥*

मनुष्य तीन तरह के होते हैं—*अधम, मध्यम* तथा *उत्तम*। अधम सोचते हैं कि ईश्वर तथा जीव में कोई अन्तर नहीं है, सिवाय इसके कि जीव उपाधियों के अधीन है, जबकि परब्रह्म के कोई उपाधि नहीं होती। उनके मत से ज्योंही भौतिक शरीर की उपाधियाँ विलीन हो जाती हैं जीव ब्रह्म से मिल जाता है। वे *घटाकाश-पटाकाश* का तर्क देते हैं जिसमें शरीर की उपमा उस घट (बर्तन) से दी जाती है, जिसके भीतर तथा बाहर आकाश है। जब यह घट टूटता है, तो भीतर का आकाश बाहरी आकाश से एकाकार हो जाता है, अत: निर्विशेषवादी कहते हैं कि जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। यह उनका तर्क है, किन्तु श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि ऐसा तर्क अधम लोग प्रस्तुत करते हैं। दूसरी श्रेणी (मध्यम) के लोग यह निश्चित नहीं कर पाते कि ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है, किन्तु वे यह मानते हैं कि ऐसा ब्रह्म है, जो सामान्य जीव के कार्यों का नियंत्रण करता है। ऐसे दार्शनिक सामान्य माने जाते हैं। किन्तु सर्वश्रेष्ठ वे हैं, जो परमेश्वर को समझते हैं (*सच्चिदानन्दविग्रह*)। *पूर्णानन्दादिगुणकं सर्वजीव विलक्षणम्*—उनका स्वरूप पूर्णरूपेण आध्यात्मिक, आनन्द से पूर्ण तथा बद्धात्मा या किसी अन्य जीव से सर्वथा भिन्न है। *उत्तमास्तु हरिं प्राहुस्तारतभ्येन तेषुच*—ऐसे दार्शनिक सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान् विभिन्न भौतिक गुणों वाले पूजकों के समक्ष भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को प्रकट करते हैं। वे जानते हैं कि तीन करोड़ तीस लाख देवता बद्धात्मा को यह आश्वस्त करने के लिए कि एक परम शक्ति है और वे उसे इनमें से किसी एक को देवता को पूजने के लिए प्रेरित करने के लिए हैं, जिससे वह भक्तों की संगति से यह समझ सके कि कृष्ण भगवान् हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं। *अहं आदिर्हि देवानाम्*—मैं सारे देवताओं का उद्गम हूँ। *अहं सर्वस्य प्रभव:*—मैं सबों से, यहाँ तक कि ब्रह्मा, शिव तथा

अन्य देवताओं से भी श्रेष्ठ हूँ। ये सब शास्त्र के निष्कर्ष हैं और जो व्यक्ति इन निष्कर्षों को स्वीकार करता है उसे उच्चकोटि का दार्शनिक माना जाना चाहिए। ऐसा दार्शनिक जानता है कि भगवान् देवताओं के स्वामी हैं (*देवदेवेश्वरं सूत्रमानन्दं प्राणवेदिनः*)।

**श्रीशुक उवाच**

**इति स्तुतः संस्तुवतः स तस्मिन्नघमर्षणे ।**
**प्रादुरासीत्कुरुश्रेष्ठ भगवान्भक्तवत्सलः ॥ ३५ ॥**
**कृतपादः सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुजः ।**
**चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनुःपाशगदाधरः ॥ ३६ ॥**
**पीतवासा घनश्यामः प्रसन्नवदनेक्षणः ।**
**वनमालानिवीताङ्गो लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभः ॥ ३७ ॥**
**महाकिरीटकटकः स्फुरन्मकरकुण्डलः ।**
**काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषितः ॥ ३८ ॥**
**त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत्त्रिभुवनेश्वरः ।**
**वृतो नारदनन्दाद्यैः पार्षदैः सुरयूथपैः ।**
**स्तूयमानोऽनुगायद्भिः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥ ३९ ॥**

## शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; स्तुतः—प्रशंसित होकर; संस्तुवतः—स्तुति कर रहे दक्ष का; सः—वह भगवान्; तस्मिन्—उस; अघमर्षणे—अघमर्षण नामक पवित्र स्थान पर; प्रादुरासीत्—प्रकट हुआ; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुवंश में सर्वश्रेष्ठ; भगवान्—भगवान्; भक्त-वत्सलः—अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त दयालु; कृत-पादः—जिसके चरणकमल रखे थे; सुपर्ण-अंसे—उनके वाहन गरुड़ के कंधे पर; प्रलम्ब—अत्यन्त लम्बे; अष्ट-महा-भुजः—आठ बलशाली भुजाओं वाले; चक्र—चक्र; शङ्ख—शंख; असि—तलवार; चर्म—ढाल; इषु—बाण; धनुः—धनुष; पाश—रस्सी; गदा—गदा; धरः—धारण किये; पीत-वासाः—पीताम्बर सहित; घन-श्यामः—जिनेक शरीर का वर्ण गहरे नीले-काले रंग का था; प्रसन्न—अत्यन्त प्रसन्न; वदन—जिसका मुख; ईक्षणः—तथा चितवन; वन-माला—जंगली फूलों की माला से; निवीत-अङ्गः—जिसका शरीर गले से पाँव तक सजा हुआ था; लसत्—चमकता हुआ; श्रीवत्स-कौस्तुभः—कौस्तुभ मणि तथा श्रीवत्स चिह्न; महा-किरीट—विशाल मुकुट का; कटकः—वृत्त, मंडल; स्फुरत्—चमकता हुआ; मकर-कुण्डलः—मकर की आकृति के कान के कुण्डल; काञ्ची—पेटी सहित; अङ्गुलीय—अंगूठी; वलय—कंगन; नूपुर—पायल; अङ्गद—बिजावट; भूषितः—सुसज्जित; त्रै-लोक्य-मोहनम्—तीनों लोकों को मोहित करने वाला; रूपम्—उनका शारीरिक स्वरूप; बिभ्रत्—चमकता हुआ; त्रि-भुवन—तीनों लोकों का; ईश्वरः—परमेश्वर; वृतः—घिरा हुआ; नारद—नारद इत्यादि बड़े बड़े भक्तों से; नन्द-आद्यैः—तथा नन्द इत्यादि; पार्षदैः—नित्य संगियों से; सुर-यूथपैः—तथा देवताओं के प्रधानों द्वारा; स्तूयमानः—स्तुति किये जाने पर; अनुगायद्भिः—उनके पीछे पीछे गाते हुए; सिद्ध-गन्धर्व-चारणैः—सिद्धों, गन्धर्वों तथा चारणों द्वारा।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपने भक्तों के प्रति अत्यधिक स्नेहिल भगवान् हरि दक्ष द्वारा की गई स्तुतियों से अत्यधिक प्रसन्न हुए, अतः वे अघमर्षण नामक पवित्र स्थान पर**

प्रकट हुए। हे श्रेष्ठ कुरुवंशी महाराज परीक्षित! भगवान् के चरणकमल उनके वाहन गरुड़ के कंधों पर रखे थे और वे अपनी आठ लम्बी बलिष्ठ अतीव सुन्दर भुजाओं सहित प्रकट हुए। अपने हाथों में वे चक्र, शंख, तलवार, ढाल, बाण, धनुष, रस्सी तथा गदा धारण किये थे—प्रत्येक हाथ में अलग-अलग हथियार थे और सबके सब चमचमा रहे थे। उनके वस्त्र पीले थे और उनके शरीर का रंग गहरा नीला था। उनकी आँखें तथा मुख अतीव मनोहर थे और उनके गले से लेकर पाँवों तक फूलों की लम्बी माला लटक रही थी। उनका वक्षस्थल कौस्तुभ मणि तथा श्रीवत्स चिह्न से सुशोभित था। उनके सिर पर विशाल गोल मुकुट था और उनके कान मछलियों के सदृश कुण्डलों से सुशोभित थे। ये सारे आभूषण असाधारण रूप से सुन्दर थे। भगवान् अपनी कमर में सोने की पेटी, बाहों में बिजावट, अंगुलियों में अँगूठियाँ तथा पाँवों में पायल पहने थे। इस तरह विविध आभूषणों से सुशोभित भगवान् हरि, जो तीनों लोकों के जीवों को आकर्षित करने वाले हैं, पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनके साथ नारद, नन्द जैसे महान् भक्त तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र इत्यादि प्रमुख देवता एवं उच्चतर लोकों यथा सिद्धलोक, गन्धर्वलोक तथा चारणलोक के निवासी थे। भगवान् के दोनों ओर तथा उनके पीछे भी स्थित ये भक्त निरन्तर उनकी स्तुतियाँ कर रहे थे।

रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः ।
ननाम दण्डवद्भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः ॥ ४० ॥

### शब्दार्थ

रूपम्—दिव्य रूप; तत्—वह; महत्-आश्चर्यम्—अत्यधिक आश्चर्यजनक; विचक्ष्य—देखकर; आगत-साध्वसः—प्रारम्भ में भयभीत हुआ; ननाम—नमस्कार किया; दण्ड-वत्—डण्डे की तरह; भूमौ—भूमि पर; प्रहृष्ट-आत्मा—शरीर, मन तथा आत्मा से प्रसन्न होकर; प्रजापतिः—दक्ष नामक प्रजापति ने।

भगवान् के उस अद्भुत तथा तेजवान स्वरूप को देखकर प्रजापति दक्ष पहले तो कुछ भयभीत हुए, किन्तु बाद में भगवान् को देखकर अतीव प्रसन्न हुए और उन्हें नमस्कार करने के लिए भूमि पर दण्डवत् गिर पड़े।

**न किञ्चनोदीरयितुमशकत्तीव्रया मुदा ।**
**आपूरितमनोद्वारैर्ह्रदिन्य इव निर्झरैः ॥ ४१ ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; किञ्चन—कोई वस्तु; उदीरयितुम्—कहने के लिए; अशकत्—समर्थ था; तीव्रया—अत्यधिक; मुदा—सुख; आपूरित—भरा हुआ; मनः-द्वारैः—इन्द्रियों के द्वारा; ह्रदिन्यः—नदियों; इव—सदृश; निर्झरैः—पर्वत से मूसलाधार वर्षा द्वारा।

**जिस तरह पर्वत से प्रवाहित होने वाले जल से नदियाँ भर जाती हैं उसी तरह दक्ष की सारी इन्द्रियाँ प्रसन्नता से पूरित हो गईं। अत्यधिक सुख के कारण दक्ष कुछ भी नहीं कह सके, अपितु भूमि पर पड़े रहे।**

**तात्पर्य :** जब कोई व्यक्ति वास्तव में भगवान् की अनुभूति करता है या दर्शन करता है, तो वह पूर्ण सुख से पूरित हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने समक्ष देखा तो उन्होंने कहा *स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*—हे प्रभु! मुझे आपसे कुछ भी नहीं माँगना है। अब मैं पूर्णतया तुष्ट हूँ। इसी तरह जब दक्ष प्रजापति ने अपने समक्ष भगवान् को देखा तो वे भूमि पर दण्ड के समान लेट गये और किसी वस्तु के लिए कहने या माँगने में असमर्थ हो गये।

**तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम् ।**
**चित्तज्ञः सर्वभूतानामिदमाह जनार्दनः ॥ ४२ ॥**

शब्दार्थ

तम्—उस ( प्रजापति दक्ष ); तथा—उस तरह से; अवनतम्—अपने सामने नमित; भक्तम्—महान् भक्त को; प्रजा-कामम्—जनसंख्या बढ़ाने का इच्छुक; प्रजापतिम्—प्रजापति ( दक्ष ) को; चित्त-ज्ञः—हृदय की बात समझने वाला; सर्व-भूतानाम्—सारे जीवों के; इदम्—यह; आह—कहा; जनार्दनः—भगवान् ने, जो हर एक की इच्छाओं को पूरा कर सकते हैं।

**यद्यपि प्रजापति दक्ष कुछ भी नहीं कह सके, किन्तु हर एक के हृदय की बात जानने वाले भगवान् ने जब अपने भक्त को इस प्रकार से नमित तथा जनसंख्या बढ़ाने की इच्छा से युक्त देखा तो उन्होंने उसे इस प्रकार से सम्बोधित किया।**

श्रीभगवानुवाच
**प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान् ।**
**यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः ॥ ४३ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्राचेतस—हे प्राचेतस; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; संसिद्धः—सिद्धिप्राप्त; तपसा—तुम्हारी तपस्या से; भवान्—आप; यत्—क्योंकि; श्रद्धया—अतीव श्रद्धा से; मत्-परया—जिसका लक्ष्य मैं हूँ; मयि—मुझमें; भावम्—भाव, आनन्द; परम्—परम; गतः—प्राप्त।

**भगवान् ने कहा : हे परम भाग्यशाली प्राचेतस! तुमने मुझ पर अपनी महती श्रद्धा के कारण परम भक्तिमय भाव को प्राप्त किया है। निस्सन्देह, तुम्हारी महती भक्ति के साथ-साथ तुम्हारी तपस्या के कारण तुम्हारा जीवन अब सफल है। तुमने पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली है।**

**तात्पर्य :** जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१५) में स्वयं भगवान् ने पुष्टि की है, जब किसी को भगवान् की अनुभूति करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, तो वह सर्वोच्च सिद्धि तक पहुँचता है।

*मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।*
*नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥*

"मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में कभी नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।" इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को केवल भक्ति सम्पन्न करके सर्वोच्च सिद्धि की ओर जाने वाले मार्ग का अनुसरण करने की शिक्षा देता है।

**प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः ।**
**ममैष कामो भूतानां यद्भूयासुर्विभूतयः ॥ ४४ ॥**

### शब्दार्थ

प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; अहम्—मैं; ते—तुमसे; प्रजा-नाथ—हे प्रजापति; यत्—क्योंकि; ते—तुम्हारा; अस्य—इस भौतिक जगत का; उद्बृंहणम्—वृद्धि करते हुए; तपः—तपस्या; मम—मेरी; एषः—यह; कामः—इच्छा; भूतानाम्—जीवों का; यत्—जो; भूयासुः—हो; विभूतयः—सभी प्रकार से उन्नति।

**हे प्रजापति दक्ष! तुमने संसार के कल्याण तथा वृद्धि के लिए घोर तपस्या की है। मेरी**

**भी यही इच्छा है कि इस जगत में हरेक प्राणी सुखी हो। इसलिए मैं तुमसे अत्यधिक प्रसन्न हूँ, क्योंकि तुम सम्पूर्ण जगत के कल्याण की मेरी इच्छा को पूरी करने का प्रयत्न कर रहे हो।**

**तात्पर्य :** भौतिक ब्रह्माण्ड के प्रत्येक प्रलय के बाद सारे जीव कारणोदकशायी विष्णु के शरीर में शरण लेते हैं और जब पुन: सृष्टि होती है, तो वे अपनी विविध योनियों में अपने-अपने कार्य पुन: चालू करने के लिए उनके शरीर से बाहर निकल आते हैं। आखिर यह सृष्टि की रचना इस तरह क्यों होती है कि सारे जीवों को भौतिक प्रकृति द्वारा उन पर लादे गये तीन प्रकार के कष्टों को भोगने के लिए बद्ध जीवन में रखा जाता है? यहाँ पर भगवान् दक्ष से कहते हैं, ''तुम सारे जीवों को लाभ पहुँचाना चाहते हो और मेरी भी यही इच्छा है।'' भौतिक जगत के सम्पर्क में आने वाले जीव सुधारे जाने के लिए होते हैं। इस जगत के सारे जीवों ने भगवान् की सेवा के विरुद्ध विद्रोह किया है, अतएव वे इस भौतिक जगत में बारम्बार जन्म लेने के लिए *नित्यबद्ध* के रूप में रहते हैं। हाँ, उनके मुक्त होने का अवसर प्राप्त है, किन्तु फिर भी बद्धजीव इस अवसर का लाभ नहीं उठाते और वे इन्द्रियभोग का जीवन बिताते रहते हैं और इस प्रकार पुन: पुन: जन्म-मृत्यु से दण्डित होते रहते हैं। यह प्रकृति का नियम है। *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कहते हैं—

*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।*

*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥*

''प्रकृति के तीन गुणों वाली मेरी इस दैवी शक्ति को पार कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सरलता से इसे पार कर जाते हैं।'' *भगवद्गीता* में ही अन्यत्र (१५.७) भगवान् कहते हैं—

*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।*

*मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥*

''इस बद्धजगत में सारे जीव विलग हुए मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण वे मन

समेत छहों इन्द्रियों से घोर संघर्ष कर रहे हैं।" इस भौतिक जगत के अन्तर्गत जीव द्वारा जीवन-संघर्ष उसके विद्रोहात्मक स्वभाव के कारण है। जब तक जीव कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं करता, वह इस संघर्षमय जीवन को चालू रखता है।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन कोई सनक नहीं। यह एक प्रामाणिक आन्दोलन है, जिसका गन्तव्य हर बद्धजीव को कृष्णभावनामृत के पद तक उठाने का प्रयास करते हुए उनके कल्याण को बढ़ावा देना है। यदि कोई इस पद को प्राप्त नहीं होता तो वह निरन्तर भौतिक जगत में, कभी ऊपरी लोकों में तो कभी निम्नतर लोकों में, जाता रहता है। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २०.११८) में पुष्टि हुई है—*कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय*—कभी बद्धजीव अविद्या में उतर जाता है और कभी उससे अपेक्षाकृत छूटकर कुछ राहत पाता है। यह है बद्धजीव का जीवन।

प्रजापित दक्ष बद्धजीवों को उत्पन्न करके उन्हें मुक्ति के लिए अवसर प्रदान करने का लाभ प्रदान कराना चाहते हैं। मुक्ति का अर्थ है कृष्ण की शरण ग्रहण करना। यदि कोई कृष्ण की शरण में जाने का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति करता है, तो उसका पितृत्व बहुत उत्तम है। इसी तरह जब गुरु बद्धजीवों को कृष्णभावनाभावित होने का प्रशिक्षण देता है, तो उसका गुरुत्व सफल होता है। यदि कोई व्यक्ति बद्धजीवों को कृष्णभावनाभावित बनने का अवसर प्रदान करता है, तो उसके सारे कार्यों का समर्थन भगवान् करते हैं, जो अत्यधिक प्रसन्न होते हैं जैसाकि यहाँ पर कहा गया है (*प्रीतोऽहम्*)। पूर्ववर्ती आचार्यों के उदाहरणों का पालन करते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के समस्त सदस्यों को चाहिए कि बद्धजीवों को कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रेरित करें तथा उन्हें ऐसा करने की सारी सुविधाएँ प्रदान करके उन्हें लाभ पहुँचाने का प्रयास करें। ऐसे कार्य ही असली कल्याण-कार्य हैं। ऐसे कार्यों के द्वारा प्रचारक या कृष्णभावानामृत का प्रसार करने वाला कोई भी व्यक्ति भगवान् द्वारा मान्य होता है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६८-६९) में पुष्टि की है—

*य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।*

*भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यतसंशयः ॥*

*न च तस्मान्मुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।*

*भविता न च मे तस्माद् अन्यः प्रियतरो भुवि ॥*

''जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है, वह शुद्धभक्ति को निश्चय ही प्राप्त करेगा और अन्त में वह मेरे पास वापस आएगा। इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।''

**ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः ।**
**विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः ॥ ४५ ॥**

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्मा; भवः—शिव; भवन्तः—तुम सारे प्रजापति; च—तथा; मनवः—सारे मनु; विबुध-ईश्वराः—विभिन्न देवता (यथा सूर्य, चन्द्र, शुक्र, मगंल तथा बृहस्पति जो संसार के कल्याण हेतु विभिन्न कार्यों का भार सँभालते हैं); विभूतयः—शक्ति का विस्तार; मम—मेरा; हि—निस्सन्देह; एताः—ये, इन सब; भूतानाम्—सारे जीवों का; भूति—कल्याण के; हेतवः—कारण।

**ब्रह्मा, शिव, मनुगण, उच्च लोकों के अन्य सारे देवता तथा जनसंख्या बढ़ाने वाले तुम सारे प्रजापति सारे जीवों के लाभार्थ कार्य कर रहे हो। इस तरह मेरी तटस्था शक्ति के अंश रूप तुम सभी मेरे विभिन्न गुणों के अवतार हो।**

**तात्पर्य :** भगवान् के नाना प्रकार के अवतार या अंश हैं। उनके स्वयं के या *विष्णुतत्त्व* के अंश *स्वांश* कहलाते हैं, जबकि सारे जीव जो विष्णुतत्त्व नहीं, अपितु *जीव-तत्त्व* हैं *विभिन्नांश* कहलाते हैं। यद्यपि दक्ष प्रजापति ब्रह्मा तथा शिव के समान स्तर पर नहीं हैं, किन्तु उनकी तुलना उनसे की जाती है, क्योंकि वे भगवान् की सेवा में लगे हैं। भगवान् की सेवा में ऐसा नहीं होता कि ब्रह्मा को अत्यधिक बड़ा माना जाये जबकि भगवान् की महिमा का प्रचार करने वाले सामान्य मनुष्य को अत्यन्त निम्न माना जाये। ऐसे अन्तर नहीं होते। कोई भौतिक दृष्टि से चाहे उच्च हो या निम्न, जो कोई भी भगवान् की सेवा में लगा हुआ है, वह उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त प्रिय है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचर्य *तन्त्रनिर्णय* से यह उद्धरण देते हैं—

*विशेषव्यक्तिपात्रत्वाद् ब्रह्माद्यास्तु विभूतयः।*

*तदन्तर्यामिणश्चैव मत्स्याद्या विभवाःस्मृताः॥*

ब्रह्मा से लेकर सारे जीव, जो भगवान् की सेवा में लगे हैं, असाधारण हैं और *विभूति* कहलाते हैं। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.४१) में कहा है—

*यद्यद्विभूतिमत् सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा।*

*तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥*

''तुम जान लो कि सारा ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज की एक चिनगारी मात्र से उद्भूत हैं।'' भगवान् की ओर से कार्य करने के लिए विशेष रूप से शक्तिप्रदत्त जीव *विभूति* कहलाता है, जबकि भगवान् के विष्णु-तत्त्व अवतार, यथा मत्स्य अवतार, *विभव* कहलाते हैं (*केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे*)।

**तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाकृतिः ।**
**अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः ॥ ४६ ॥**

**शब्दार्थ**

तपः—मन का नियंत्रण, योग तथा ध्यान जैसी तपस्याएँ; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; तनुः—शरीर; विद्या—वैदिक शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान; क्रिया—आध्यात्मिक कार्य; आकृतिः—स्वरूप; अङ्गानि—शरीर के अंग; क्रतवः—वैदिक वाड्मय में उल्लिखित कर्मकाण्ड तथा यज्ञ; जाताः—पूर्ण किये गये; धर्मः—कर्मकाण्ड सम्पन्न करने के लिए धार्मिक सिद्धान्त; आत्मा—मेरी आत्मा; असवः—प्राणवायु; सुराः—देवता जो भौतिक जगत के विभिन्न विभागों में मेरे आदेशों को लागू करते हैं।.

**हे ब्राह्मण! ध्यान रूप में तपस्या ही मेरा हृदय है, स्तुतियों तथा मंत्रों के रूप में वैदिक ज्ञान ही मेरा शरीर है और आध्यात्मिक कार्य तथा आनन्दानुभूतियां ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। उचित रीति से सम्पन्न हुए कर्मकाण्ड तथा यज्ञ मेरे शरीर के विविध अंग हैं; पुण्य या आध्यात्मिक कार्यों से उत्पन्न अदृश्य सौभाग्य मेरा मन है और विविध विभागों में मेरे आदेशों को लागू करने वाले देवता मेरे जीवन तथा आत्मा हैं।**

**तात्पर्य :** कभी-कभी नास्तिक लोग तर्क करते हैं कि ईश्वर हमें आँखों से नहीं दिखते,

इसलिए वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते। उनके लिए भगवान् यहाँ पर ऐसी विधि बता रहे हैं जिससे वे ईश्वर को उनके निराकार रूप में देख सकते हैं। बुद्धिमान लोग ईश्वर को साकार रूप में देख सकते हैं जैसा कि शास्त्रों में बतलाया गया है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति ईश्वर का दर्शन करने के लिए आतुर है, वह उन्हें आमने-सामने देखना चाहता है, तो वह इस वर्णन के माध्यम में भगवान् को देख सकता है, जिसमें उनके शरीर के विविध आन्तरिक तथा बाह्य अंगों का चित्रण हुआ है।

आध्यात्मिक जीवन का पहला सिद्धान्त है तपस्या में लगना अर्थात् भौतिक कार्यकलापों से मुख मोड़ना। इसके बाद आध्यात्मिक कार्य आते हैं यथा वैदिक यज्ञ करना, वैदिक ज्ञान का अध्ययन, भगवान् का ध्यान तथा हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन । मनुष्य को चाहिए कि देवताओं का भी सम्मान करे और यह समझे कि वे किस तरह स्थित हैं, किस तरह कार्य करते हैं तथा इस भौतिक जगत के विभिन्न विभागों के कार्यों का किस तरह प्रबन्ध करते हैं। इस तरह मनुष्य देख सकता है कि ईश्वर किस तरह विद्यमान है और भगवान् की उपस्थिति के फलस्वरूप किस तरह हर वस्तु की समुचित व्यवस्था होती है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.१०) में कहा है—

*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।*

*हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥*

‘‘हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है, जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसके शासन के द्वारा यह जगत बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।’’ यदि कोई व्यक्ति भगवान् को देखने में अक्षम है, यद्यपि वे अपने विभिन्न अवतारों में कृष्ण रूप में वर्तमान हैं, तो वह भौतिक प्रकृति के कार्यकलापों को देखकर वेदों में दिये गये निर्देशों के अनुसार भगवान् के निर्विशेष रूप को देख सकता है।

वैदिक आदेशों के अन्तर्गत किया गया कोई भी कार्य धर्म कहलाता है जैसाकि यमदूतों ने वर्णन किया है (*भागवत* ६.१.४०)—

*वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।*

*वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥*

"जो वेदों में निर्धारित हुआ है, वह धर्म है और इसका उल्टा अधर्म है। वेद प्रत्यक्ष भगवान् नारायण हैं तथा स्वतः उत्पन्न हैं। ऐसा हमने यमराज से सुना है।"

*इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है—*

*तपोऽभिमानी रुद्रस्तु विष्णोर्हृदयामाश्रितः।*

*विद्या रूपा तथैवोमा विष्णोस्तनुमुपाश्रिता॥*

*शृंगाराद्याकृतिगतः क्रियात्मा पाकशासनः।*

*अंगेषु क्रतवः सर्वे मध्यदेहे च धर्मराट्।*

*प्राणो वायुश्चित्तगतो ब्रह्माद्याः स्वेषु देवताः॥*

विभिन्न देवता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में कार्य करते हैं और अपने विविध कार्यों के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न नाम पड़े हैं।

**अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्किञ्चान्तरं बहिः ।**
**संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः ॥ ४७॥**

### शब्दार्थ

अहम्—मैं, भगवान्; एव—एकमात्र; आसम्—था; एव—निश्चय ही; अग्रे—प्रारम्भ में, सृष्टि से पूर्व; न—नहीं; अन्यत्—अन्य; किञ्च—कुछ भी; अन्तरम्—मेरे अतिरिक्त; बहिः—बाहरी (चूँकि विराट जगत आध्यात्मिक जगत से बाहर है इसलिए जब भौतिक जगत न था, तो आध्यात्मिक जगत विद्यमान था); संज्ञान-मात्रम्—केवल जीव की चेतना; अव्यक्तम्—अप्रकट; प्रसुप्तम्—सुप्त; इव—सदृश; विश्वतः—सर्वत्र।

**इस विराट जगत की सृष्टि के पूर्व अकेला मैं अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक शक्तियों के साथ विद्यमान था। तब चेतना प्रकट नहीं हुई थी, जिस तरह नींद के समय मनुष्य की चेतना अप्रकट रहती है।**

**तात्पर्य :** *अहम्* शब्द किसी व्यक्ति का सूचक है। जैसा कि वेदों में बतलाया गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—भगवान् असंख्य नित्यों में परम नित्य तथा असंख्य जीवों में सर्वोपरि व्यक्ति हैं। भगवान् ऐसे पुरुष हैं जिसका निर्विशेष रूप भी है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.११)

में कहा गया है—

*वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।*

*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥*

"विद्वान अध्यात्मवादी जो परम सत्य को जानते हैं इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।" परमात्मा तथा निर्विशेष ब्रह्म का विचार सृष्टि के बाद उत्पन्न हुआ। सृष्टि के पूर्व एकमात्र भगवान् विद्यमान थे। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.५५) में दृढ़तापूर्वक घोषणा की गई है—भगवान् को एकमात्र भक्तियोग द्वारा समझा जा सकता है। परम कारण अर्थात् सृष्टि के परम कारण भगवान् हैं, जिन्हें केवल भक्तियोग से समझा जा सकता है। उन्हें चिन्तनपरक दार्शनिक मीमांसा या ध्यान द्वारा नहीं समझा जा सकता, क्योंकि ये सारी विधियाँ भौतिक जगत की सृष्टि के बाद अस्तित्व में आईं। भगवान् की निर्विशेष तथा अन्तर्यामी धारणा भौतिक रूप से कुछ न कुछ दूषित रहती है। इसलिए असली आध्यात्मिक विधि भक्तियोग है। जैसाकि भगवान् ने कहा है— *भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा मुझे जाना जा सकता है। सृष्टि के पूर्व भगवान् पुरुष के रूप में विद्यमान थे, जैसाकि *अहम्* शब्द से सूचित होता है। जब प्रजापति दक्ष ने उन्हें ऐसे पुरुष के रूप में देखा जो सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित थे तो वस्तुत: उसे भक्ति के द्वारा उस *अहम्* शब्द के अर्थ का अनुभव हुआ।

हर व्यक्ति शाश्वत है। चूँकि भगवान् कहते हैं कि वे सृष्टि के पूर्व (*अग्रे*) पुरुष रूप में विद्यमान थे और प्रलय के बाद भी विद्यमान रहेंगे इसलिए भगवान् शाश्वत पुरुष हैं। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *श्रीमद्भागवत* (१०.९.१३-१४) से निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत किया है—

*न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।*

*पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च य:॥*

*तं मत्वात्मजम व्यक्तंमर्त्यलिंगमधोक्षजम्।*

*गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥*

वृन्दावन में भगवान् माता यशोदा के पुत्र के रूप में प्रकट हुए, जिन्होंने भगवान् को रस्सी से इस प्रकार बाँध दिया जिस तरह सामान्य माता अपने भौतिक बालक को बाँधती है। वस्तुत: भगवान् के रूप के बाहरी तथा भीतरी विभाग नहीं हैं (*सच्चिदानन्दविग्रह*), किन्तु जब वे अपने रूप में प्रकट होते हैं, तो अज्ञानी लोग उन्हें सामान्य व्यक्ति समझते हैं। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—यद्यपि वे अपने निजी शरीर में आते हैं, जो कभी नहीं बदलता, किन्तु *मूढ* अर्थात् अज्ञानी लोग सोचते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म ने पुरुष रूप में आने के लिए भौतिक शरीर धारण कर लिया है। साधारण जीव भौतिक शरीर धारण करते हैं किन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते। चूँकि भगवान् परम चेतना हैं, इसलिए यहाँ पर कहा गया है कि *सज्ञानमात्रम्* अर्थात् आदि चेतना, या कृष्णभावनामृत सृष्टि के पूर्व अप्रकट था, यद्यपि भगवान् की चेतना सबों का उद्‌गम है। *भगवद्‌गीता* (२.१२) में भगवान् कहते हैं, "ऐसा कोई समय नहीं था जब मैं या तुम न थे, या ये सारे राजा न थे, न ही भविष्य में हममें से कोई नहीं होगा। इस तरह भगवान् भूत, वर्तमान तथा भविष्य में परम सत्य हैं।

इस सन्दर्भ में मध्वाचार्य ने *मत्स्य पुराण* से दो श्लोक उद्‌धृत किये हैं—

*नानावर्णो हरिस्त्वेको बहुशीर्षभुजो रूपात्।*

*आसील्लये तदन्यत्तु सूक्ष्मरूपं श्रियं विना॥*

*असुप्त: सुप्त इव च मीलिताक्षोऽभवद्धरि:।*

*अन्यत्रानादराद्विष्णौ श्रीश्च लीनेव कथ्यते।*

*सूक्ष्मत्वेन हरौ स्थानाल्लीनमन्यदपीष्यते॥*

हर वस्तु का संहार हो जाने के बाद भगवान् अपने सच्चिदानन्द विग्रह के कारण अपने आदि रूप में रहते हैं, किन्तु अन्य जीवों के शरीर भौतिक होते हैं, अत: पदार्थ पदार्थ में लीन हो जाता है और आत्मा का सूक्ष्म रूप भगवान् के शरीर के भीतर बना रहता है। भगवान् सोते नहीं, किन्तु

सामान्य जीव अगली सृष्टि के होने तक सोये रहते हैं। अज्ञानी या मूढ़ व्यक्ति सोचता है कि प्रलय के बाद भगवान् का ऐश्वर्य विद्यमान नहीं रहता, किन्तु यह तथ्य नहीं है। भगवान् का ऐश्वर्य उसी तरह रहता है, जिस तरह वह आध्यात्मिक जगत में रहता है, केवल भौतिक जगत में हर वस्तु विलीन होती है। *ब्रह्मलीन* अर्थात् परब्रह्म में लीन होना वास्तविक *लीन* या प्रलय नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्योति में शेष बचा सूक्ष्म रूप भौतिक सृष्टि होने पर पुन: भौतिक जगत में लौट आयेगा और पुन: भौतिक रूप धारण करेगा। इसका वर्णन *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते* के रूप में किया गया है। जब भौतिक शरीर का संहार हो जाता है, तो आत्मा अपने सूक्ष्म रूप में बना रहता है और यही बाद में अन्य भौतिक शरीर धारण कर लेता है। यह बद्धजीवों पर लागू होता है, किन्तु भगवान् तो अपनी आदि *चेतना* तथा आध्यात्मिक शरीर में शाश्वत रूप से रहते जाते हैं।

**मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः ।**
**यदासीत्तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः ॥ ४८ ॥**

### शब्दार्थ

मयि—मुझमें; अनन्त-गुणे—असीम शक्ति से युक्त; अनन्ते—असीम; गुणतः—माया नामक मेरी शक्ति से; गुण-विग्रहः—ब्रह्माण्ड जो कि प्रकृति के गुणों का परिणाम है; यदा—जब; आसीत्—जगत में आया; ततः—उसमें; एव—निस्सन्देह; आद्यः—प्रथम जीव; स्वयम्भूः—ब्रह्मा; समभूत्—उत्पन्न हुआ; अजः—यद्यपि भौतिक माता से नहीं।

**मैं असीम शक्ति का आगार हूँ, इसलिए मैं अनन्त या सर्वव्यापक के नाम से प्रसिद्ध हूँ। मेरी भौतिक शक्ति से मेरे भीतर विराट जगत प्रकट हुआ और इस विराट जगत में मुख्य जीव ब्रह्मा प्रकट हुए जो तुम लोगों के स्रोत हैं और वे किसी भौतिक माता से नहीं जन्मे हैं।**

**तात्पर्य :** यह विश्व-सृष्टि के इतिहास का विवरण है। प्रथम कारण तो स्वयं परम पुरुष भगवान् हैं। उनसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा ब्रह्माण्ड के मामलों का कार्यभार सँभालते हैं। भौतिक सृष्टि के विश्व सम्बधी मामले भगवान् की भौतिक शक्ति पर निर्भर करते हैं, जो कि भौतिक सृष्टि के कारण हैं। सम्पूर्ण विराट जगत को यहाँ पर *गुणविग्रह:* अर्थात् भगवान् के गुणों का स्वरूप कहा गया है। विराट जगत से पहली सृष्टि ब्रह्मा की होती है, जो सारे जीवों के कारण

हैं। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य भगवान् के अनन्त गुणों का वर्णन करते हैं—

*प्रत्येकशो गुणानां तु निःसीमत्वमुदीर्यते।*

*तदानन्त्यं तु गुणतस्ते चानन्ता हि संख्यया।*

*अतोऽनन्तगुणो विष्णुर्गुणतोऽनन्त एव च॥*

*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की असंख्य शक्तियाँ हैं और वे सभी असीम हैं। इसलिए स्वयं भगवान् तथा उनके सारे गुण, रूप, लीलाएँ तथा साज-सामग्री भी असीम हैं। चूँकि भगवान् विष्णु में अनन्त गुण हैं, इसलिए वे अनन्त कहलाते हैं।

**स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः ।**
**मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः स्वर्गकर्मणि ॥ ४९ ॥**
**अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम् ।**
**नव विश्वसृजो युष्मान्येनादावसृजद्विभुः ॥ ५० ॥**

### शब्दार्थ

सः—वह ( ब्रह्मा ); वै—निस्सन्देह; यदा—जब; महा-देवः—समस्त देवताओं के प्रधान; मम—मेरा; वीर्य-उपबृंहितः—शक्ति से वर्धित हुआ; मेने—सोचा; खिलम्—अशक्त; इव—मानो; आत्मानम्—स्वयं; उद्यतः—प्रयत्नशील; स्वर्ग-कर्मणि—विश्व-प्रपंचों की सृष्टि में; अथ—उस समय; मे—मेरे द्वारा; अभिहितः—सलाह दिया गया; देवः—उस ब्रह्मा ने; तपः—तपस्या; अतप्यत—सम्पन्न की; दारुणम्—अत्यन्त कठिन; नव—नौ; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड की रचना करने के लिए महत्त्वपूर्ण व्यक्ति; युष्मान्—तुम सभी; येन—जिसके द्वारा; आदौ—प्रारम्भ में; असृजत्—उत्पन्न किया; विभुः—महान्।

**जब ब्रह्माण्ड के मुख्य देवता ब्रह्मा ( स्वयंभू ) मेरी शक्ति के द्वारा प्रेरणा पाकर सृजन करने का प्रयास कर रहे थे तो उन्होंने अपने को असमर्थ पाया। इसलिए मैंने उन्हें सलाह दी और मेरे आदेशों के अनुसार उन्होंने कठिन तपस्या की। इस तपस्या के कारण सृजन के कार्यों में अपनी सहायता के लिए उन्होंने तुम समेत नौ महापुरुषों को उत्पन्न किया।**

**तात्पर्य :** तपस्या के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। किन्तु ब्रह्मा को उनकी तपस्या के कारण इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन करने के लिए शक्ति प्रदान की गई थी। हम जितनी ही तपस्या करते हैं, भगवत्कृपा से हम उतने ही अधिक शक्तिमान बनते हैं, इसलिए ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को

सलाह दी—*तपोदिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद्*—"भक्ति के दैवी पद को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को तपस्या में संलग्न होना चाहिए। ऐसे कार्य से उसका हृदय शुद्ध होता है।" (*भागवत* ५.५.१)। हम अपने भौतिक जगत में अशुद्ध हैं, अतएव हम कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं कर सकते, किन्तु यदि हम अपने जीवन को तपस्या द्वारा शुद्ध कर लें तो भगवत्कृपा से हम आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। इसलिए तपस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है जैसाकि इस श्लोक में बल दिया गया है।

**एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः ।**
**असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम् ॥ ५१ ॥**

**शब्दार्थ**

एषा—यह; पञ्चजनस्य—पञ्चजन की; अङ्ग—हे पुत्र; दुहिता—पुत्री; वै—निस्सन्देह; प्रजापतेः—अन्य प्रजापति; असिक्नी नाम—असिक्नी नामक; पत्नीत्वे—अपनी पत्नी के रूप में; प्रजेश—हे प्रजापति; प्रतिगृह्यताम्—स्वीकार करो।.

**हे पुत्र दक्ष! प्रजापति पञ्चजन के असिक्नी नामक पुत्री है, जिसे मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ जिससे तुम उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर सको।**

**मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः ।**
**मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि ॥ ५२ ॥**

**शब्दार्थ**

मिथुन—पुरुष तथा स्त्री का; व्यवाय—संभोग; धर्मः—जो धार्मिक कृत्य द्वारा स्वीकार करता है; त्वम्—तुम; प्रजा-सर्गम्—जीवों की सृष्टि; इमम्—यह; पुनः—फिर; मिथुन—स्त्री तथा पुरुष के संयोग का; व्यवाय-धर्मिण्याम्—संभोग के धार्मिक कृत्य के अनुसार; भूरिशः—अनेक बार; भावयिष्यसि—तुम उत्पन्न करोगे।.

**अब पुरुष तथा स्त्री रूप में यौन जीवन में संयुक्त हो जाओ और इस तरह संभोग द्वारा तुम इस कन्या के गर्भ से जनसंख्या की वृद्धि करने के लिए सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न कर सकोगे।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (७.११) में भगवान् कहते हैं—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—मैं काम हूँ जो धार्मिक सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं है। भगवान् द्वारा प्रदत्त संभोग धर्म है, किन्तु इन्द्रियभोग के

लिए अभीप्सित नहीं है। संभोग द्वारा इन्द्रियभोग में लिप्त रहने की अनुमति वैदिक सिद्धान्त नहीं देते। केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए कोई भी यौन जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति का पालन कर सकता है। इसलिए इस श्लोक में भगवान् ने दक्ष से कहा ''यह कन्या तुम्हें केवल सन्तानें उत्पन्न करने के लिए यौन जीवन हेतु दी जा रही है, किन्हीं अन्य कार्यों के लिए नहीं। यह अत्यन्त उर्वर है, अतएव तुम जितनी भी सन्तानें उत्पन्न करना चाहोगे, जन्म दे सकोगे।''

इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर टिप्णी करते हैं कि दक्ष को असीमित संभोग की सुविधा प्रदान की गई थी। दक्ष अपने पूर्व जीवन में भी दक्ष के ही नाम से विख्यात था, किन्तु यज्ञ सम्पन्न करते समय उसने शिवजी का अपमान किया था, अतएव उसके सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगा दिया गया था। तब दक्ष ने अपनी इस पतितावस्था के कारण अपना शरीर त्याग दिया, किन्तु उसमें वही असीम यौन इच्छा बनी रही इसलिए उसने तपस्या की जिससे उसने भगवान् को तुष्ट कर लिया जिन्होंने उसे संभोग के लिए असीम शक्ति प्रदान की।

यह ध्यान देना होगा कि यद्यपि संभोग की ऐसी सुविधा भगवान् की कृपा से प्राप्त की जाती है, किन्तु यह सुविधा बढ़े-चढ़े भक्तों को, जो भौतिक इच्छाओं से मुक्त रहते हैं (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*), नहीं प्रदान की जाती। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देना चाहिए कि यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लगे अमरीकी लड़के तथा लड़कियाँ भगवान् की प्रेमाभक्ति के परम लाभ को पाने के लिए कृष्णभावनामृत में प्रगति करना चाहते हैं, तो उन्हें यौन जीवन की इस सुविधा में लिप्त होने से बचना चाहिए। अत: हम सलाह देते हैं कि मनुष्य को कम से कम अवैध संभोग से तो दूर रहना चाहिए इसलिए यदि यौन जीवन के लिए अवसर आयें भी तो मनुष्य को चाहिए कि एकमात्र संतान के लिए संभोग करने की परिसीमा को स्वेच्छा से स्वीकार करे, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। कर्दम मुनि को भी यौन जीवन की सुविधा प्रदान की गई थी, किन्तु उन्हें इसकी रंचमात्र ही इच्छा थी। अतएव देवहूति के गर्भ से सन्तानें उत्पन्न करने के बाद कर्दम मुनि पूर्णतया विरक्त हो गये। तात्पर्य यह है कि यदि कोई भगवद्धाम वापस जाना चाहता है, तो उसे स्वेच्छा से यौन जीवन

से बचना चाहिए। यौन को आवश्यकतानुसार ही स्वीकार करना चाहिए, असीमित रूप में नहीं।

किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि दक्ष ने असीमित यौन की सुविधा पाकर भगवान् की कृपा प्राप्त की। अगले श्लोकों से पता चलेगा कि दक्ष ने पुनः अपराध किया, इस बार यह नारद के चरणकमलों पर था। इसलिए यद्यपि यौन जीवन भौतिक जगत का सर्वोच्च भोग है और यद्यपि भगवत्कृपा से मनुष्य को यौन सुख का अवसर प्राप्त हो सकता है, किन्तु इसमें अपराध करने का खतरा बना रहता है। दक्ष ऐसे अपराधों के लिए उन्मुख था, इसलिए सच सच कहा जाये तो उस पर भगवान् की कृपा नहीं थी। मनुष्य को यौन जीवन के लिए असीम शक्ति पाने के लिए भगवान् से कृपा की याचना नहीं करनी चाहिए।

**त्वत्तोऽधस्तात्प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया ।**
**मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम् ॥ ५३ ॥**

### शब्दार्थ

त्वत्तः—तुम; अधस्तात्—बाद में; प्रजाः—जीव; सर्वाः—सारे; मिथुनी-भूय—यौन जीवन वाले; मायया—माया द्वारा दी गई सुविधाओं या प्रभाव के कारण; मदीयया—मेरा; भविष्यन्ति—हो जायेंगे; हरिष्यन्ति—वे प्रदान करेंगे; च—भी; मे—मेरे प्रति; बलिम्—भेंटें।

**जब तुम हजारों सन्तानों को जन्म दे चुकोगे, तो वे भी मेरी माया द्वारा मोहित की जाती रहेंगी और तुम्हारी ही तरह संभोग में संलग्न होंगी। किन्तु तुम पर और उन पर मेरी कृपा के कारण, वे भी मुझे भक्ति की भेंटें प्रदान कर सकेंगे।**

**श्रीशुक उवाच**
**इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान्विश्वभावनः ।**
**स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ ५४ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी कहने लगे; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; मिषतः तस्य—जब वह ( दक्ष ) स्वयं देख रहा था; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—विश्व के मामलों को उत्पन्न करने वाले; स्वप्न-उपलब्ध-अर्थः—स्वप्न में प्राप्त वस्तु; इव—सदृश; तत्र—वहाँ; एव—निश्चय ही; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गए; हरिः—भगवान् हरि।

**शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्रष्टा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्**

**हरि प्रजापति दक्ष के सामने इस तरह बोल चुके तो वे तुरन्त अन्तर्धान हो गये, मानो वे स्वप्न में अनुभव की गई कोई वस्तु रहे हों।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रजापति दक्ष द्वारा भगवान् से की गई हंसगुह्य प्रार्थनाएँ'' नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter पाँच

# प्रजापति दक्ष द्वारा नारद मुनि को शाप

इस अध्याय में यह बताया गया है कि किस तरह नारद की सलाह मानने से दक्ष के सारे पुत्रों का माया के पाश से उद्धार हो सका जिसके लिए नारद को दक्ष द्वारा शाप दे दिया गया था।

भगवान् विष्णु की माया के प्रभाव से प्रजापति दक्ष ने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। ये पुत्र एक जैसे चरित्र तथा मनोवृत्ति के होने के कारण हर्यश्व कहलाते थे। अपने पिता द्वारा अधिकाधिक सन्तानें उत्पन्न करने का आदेश दिये जाने पर हर्यश्वगण पश्चिम दिशा में उस स्थान पर गये जहाँ सिन्धु नदी अरब सागर से मिलती है। उन दिनों वहाँ पर एक पवित्र झील थी जो नारायण सरस नाम से प्रसिद्ध थी, जहाँ अनेक सन्त पुरुष थे। हर्यश्वगण तपस्या तथा ध्यान करने लगे जो अत्यन्त सम्मानित संन्यास आश्रम के कार्य हैं। किन्तु जब श्रील नारद मुनि ने इन बालकों को मात्र भौतिक सृष्टि के लिए ऐसी प्रशंसनीय तपस्या में रत देखा तो उन्होंने उन सबों को इस प्रवृत्ति से छुड़ाने का विचार किया। नारद मुनि ने इन बालकों को उनके जीवन के परम लक्ष्य के विषय में बतलाया और उन्हें सलाह दी कि वे सन्तानें उत्पन्न करने के लिए सामान्य कर्मी न बनें। इस तरह दक्ष के सारे पुत्र प्रबुद्ध हो गये और वापस न लौटने के विचार से उन्होंने उस स्थान का त्याग कर दिया।

पुत्रों की हानि पर प्रजापति दक्ष अत्यन्त दुखी थे और उन्होंने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये और उन्हें सन्तानें बढ़ाने के लिए आदेश दिया। इन पुत्रों का नाम

सवलाश्व रखा गया जो सन्तानें उत्पन्न करने के लिए भगवान् विष्णु की पूजा करने में लग गये, किन्तु नारद ने उन्हें सन्तानें न उत्पन्न करने तथा साधु बनने के लिए आश्वस्त किया। दो बार जनसंख्या बढ़ाने के अपने प्रयासों को विफल होते देखकर प्रजापति दक्ष नारद मुनि पर अतीव क्रुद्ध हुए और उन्हें यह कहते हुए शाप दिया कि भविष्य में वे किसी भी स्थान में ठहर सकने में समर्थ न हों। चूँकि पूर्ण योग्य होने से नारदमुनि सहिष्णु थे, अतएव उन्होंने दक्ष का शाप स्वीकार कर लिया।

**श्रीशुक उवाच**
**तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः ।**
**हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद्विभुः ॥ १ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्याम्—उस; सः—प्रजापति दक्ष; पाञ्चजन्याम्—पाञ्चजनी नामक अपनी पत्नी; वै—निश्चितही; विष्णु-माया-उपबृंहितः—भगवान् विष्णु की माया द्वारा सक्षम बनाया गया; हर्यश्व-संज्ञान्—हर्यश्व नामक; अयुतम्—दस हजार; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—जन्म दिया; विभुः—शक्तिशाली होने से।

**श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् विष्णु की माया से प्रेरित होकर प्रजापति दक्ष ने पाञ्चजनी ( असिक्नी ) के गर्भ से दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। हे राजन्! ये पुत्र हर्यश्व कहलाये।**

**अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप ।**
**पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥ २ ॥**

**शब्दार्थ**

अपृथक्—एकसमान; धर्म-शीलाः—अच्छा चरित्र तथा स्वभाव; ते—वे; सर्वे—सभी; दाक्षायणाः—दक्ष के पुत्र; नृप—हे राजन्; पित्रा—पिता द्वारा; प्रोक्ताः—आदेश दिये गये; प्रजा-सर्गे—जनसंख्या बढ़ाने के लिए; प्रतीचीम्—पश्चिमी; प्रययुः—वे गये; दिशम्—दिशा में।

**हे राजन्! प्रजापति दक्ष के सारे पुत्र समान रूप से अत्यन्त विनम्र तथा अपने पिता के आदेशों के प्रति आज्ञाकारी थे। जब उनके पिता ने सन्तानें उत्पन्न करने के लिए उन्हें आदेश दिया तो वे सभी पश्चिमी दिशा की ओर चले गये।**

तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः ।
सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥ ३ ॥

### शब्दार्थ

तत्र—उस दिशा में; नारायण-सरः—नारायण सरस नामक झील; तीर्थम्—अत्यन्त पवित्र स्थान; सिन्धु-समुद्रयोः—सिन्धु नदी तथा समुद्र का; सङ्गमः—संगम; यत्र—जहाँ; सु-महत्—अत्यन्त महान्; मुनि—मुनियों; सिद्ध—तथा सिद्ध मनुष्यों द्वारा; निषेवितम्—रहते हुए।

**पश्चिम में, जहाँ सिन्धु नदी सागर से मिलती है, नारायण सरस नामक एक महान् तीर्थस्थान है। वहाँ पर अनेक मुनि तथा आध्यात्मिक चेतना में उन्नत अन्य लोग रहते हैं।**

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥ ४ ॥
तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः ।
प्रजाविवृद्धये यत्तान्देवर्षिस्तान्ददर्श ह ॥ ५ ॥

### शब्दार्थ

तत्—उस तीर्थस्थान का; उपस्पर्शनात्—उस जल में स्नान करने से या इसे छूने से; एव—केवल; विनिर्धूत—पूर्णतया धुल गये; मल-आशयाः—जिनकी अशुद्ध इच्छाएँ; धर्मे—अभ्यासों को; पारमहंस्ये—सर्वोच्च संन्यासियों द्वारा सम्पन्न; च—भी; प्रोत्पन्न—अत्यधिक उन्मुख; मतयः—जिनके मन; अपि उत—यद्यपि; तेपिरे—उन्होंने किया; तपः—तपस्या; एव—निश्चय ही; उग्रम्—कठिन; पितृ-आदेशेन—अपने पिता के आदेश से; यन्त्रिताः—लगाये गये; प्रजा-विवृद्धये—जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से; यत्तान्—तैयार; देवर्षिः—नारद ऋषि; तान्—उनको; ददर्श—देखा; ह—निस्सन्देह।

**उस तीर्थस्थान में हर्यश्वगण नियमित रूप से नदी का जल स्पर्श करने और उसमें स्नान करने लगे। धीरे धीरे अत्यधिक शुद्ध हो जाने पर वे परमहंसों के कार्यों के प्रति उन्मुख हो गये। फिर भी चूँकि उनके पिता ने उन्हें जनसंख्या बढ़ाने का आदेश दिया था, अतः पिता की इच्छापूर्ति के लिए उन्होंने कठिन तपस्या की। एक दिन जब महर्षि नारद ने इन बालकों को जनसंख्या बढ़ाने के लिए ऐसी उत्तम तपस्या करते देखा तो वे उनके निकट आये।**

उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः ।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः ॥ ६ ॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम् ।

बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम् ॥ ७॥
नदीमुभयतो वाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम् ।
क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमि ॥ ८॥

## शब्दार्थ

उवाच—उसने कहा; च—भी; अथ—इस प्रकार; हर्यश्वाः—हे हर्यश्वो, प्रजापति दक्ष के पुत्रो; कथम्—क्यों; स्त्रक्ष्यथ—उत्पन्न करोगे; वै—निस्सन्देह; प्रजाः—सन्तानें; अदृष्ट्वा—बिना देखे; अन्तम्—अन्त; भुवः—इस पृथ्वी का; यूयम्—तुम सभी; बालिशाः—अनुभवहीन; बत—हाय; पालकाः—यद्यपि शासन चलाने वाले राजकुमार; तथा—उसी तरह भी; एक—एक; पुरुषम्—मनुष्य; राष्ट्रम्—राज्य; बिलम्—छेद; च—भी; अदृष्ट-निर्गमम्—जिससे कोई बाहर नहीं आ रहा; बहु-रूपाम्—अनेक रूप धारण करते हुए; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; अपि—भी; पुमांसम्—मनुष्य को; पुंश्चली-पतिम्—वेश्या का पति; नदीम्—नदी को; उभयतः—दोनों ओर से; वाहाम्—बहती है; पञ्च-पञ्च—पाँच गुणित पाँच ( पच्चीस ); अद्भुतम्—आश्चर्य; गृहम्—घर; क्वचित्—कहीं पर; हंसम्—हंस; चित्र-कथम्—जिसकी कथा विचित्र है; क्षौर-पव्यम्—तेज छूरों तथा बज्रों से बना; स्वयम्—स्वयं; भ्रमि—घूमने वाला।

**महामुनि नारद ने कहा : हे हर्यश्वो! तुमने पृथ्वी के छोरों को नहीं देखा है। एक ऐसा राज्य है, जिसमें केवल एक व्यक्ति रहता है और उसमें जहाँ पर एक छेद है, उसमें से भीतर घुसने वाला कभी निकल कर बाहर नहीं आता। वहाँ पर एक स्त्री है, जो अत्यन्त कुमार्गिनी ( असाध्वी ) है और वह नाना प्रकार के आकर्षक वस्त्रों से अपने को सुसज्जित करती है और वहाँ जो पुरुष रहता है, वह उसका पति है। उस राज्य में एक नदी है, जो दोनों दिशाओं में बहती है, पच्चीस पदार्थों से बना हुआ एक अद्भुत घर है, एक हंस है, जो नाना प्रकार की ध्वनियाँ करता है और एक स्वतः घूमने वाली वस्तु है, जो तेज छूरों तथा वज्रों से बनी है। तुम लोगों ने इन सबों को नहीं देखा इसलिए तुम लोग उच्च ज्ञान से रहित अनुभवहीन बालक हो। तो फिर तुम किस तरह सन्तान उत्पन्न करोगे?**

**तात्पर्य :** नारद मुनि ने देखा कि हर्यश्व नामक बालक पहले से शुद्ध हो चुके थे, क्योंकि वे तीर्थस्थान में रह रहे थे और वे एक तरह से मुक्ति पाने ही वाले थे। तो फिर उन्हें उस गृहस्थ जीवन में बँधने के लिए क्यों प्रोत्साहित किया जाये जो इतना अंधकारमय है कि एक बार प्रवेश करने पर इसे छोड़ा नहीं जा सकता? इस रूपक के माध्यम से नारद मुनि ने उन्हें इस पर विचार करने के लिए कहा कि गृहस्थ-जीवन में बँधने के लिए उन्हें अपने पिता के आदेश का पालन क्यों करना चाहिए। परोक्ष में नारद मुनि ने उनसे अपने हृदयों के भीतर परमात्मा या भगवान् विष्णु की

स्थिति ढूँढ़ने के लिए कहा, क्योंकि तभी वे सही अर्थ में अनुभवी होंगे। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति इस भौतिक परिवेश में बुरी तरह लिप्त है और अपने हृदय के भीतर नहीं झाँकता वह अधिकाधिक माया में बद्ध होता है। नारद मुनि का उद्देश्य प्रजापति दक्ष के पुत्रों का ध्यान सामान्य किन्तु प्रजनन के जटिल मामलों में न उलझाकर आध्यात्मिक साक्षात्कार की ओर मोड़ना था। ऐसी ही सलाह प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को दी थी ( *भागवत* ७.५.५)—

*तत्साधु मन्येऽसुरवर्यदेहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।*

*हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेता॥*

गृहस्थ-जीवन के अंधकारपूर्ण कुएँ में मनुष्य सदैव चिन्ताओं से भरा रहता है, क्योंकि वह नश्वर शरीर धारण किये रहता है। यदि मनुष्य अपने को इस चिन्ता से मुक्त करना चाहता है, तो उसे तुरन्त गृहस्थ जीवन त्याग कर वृन्दावन में भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। नारदमुनि ने हर्यश्वों को गृहस्थ-जीवन में प्रवेश न करने की सलाह दी। चूँकि वे पहले से आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े थे तो फिर वे इस तरह क्यों बद्ध हो?

**कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः ।**
**अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; स्व-पितुः—अपने पिता का; आदेशम्—आदेश; अविद्वांसः—अज्ञान; विपश्चितः—प्रत्येक बात जानने वाला; अनुरूपम्—तुम्हारे अनुरूप; अविज्ञाय—बिना जाने; अहो—हाय; सर्गम्—सृष्टि; करिष्यथ—तुम करोगे।

**हाय! तुम्हारा पिता तो सर्वज्ञ है, किन्तु तुम उनके असली आदेश को नहीं जानते। अपने पिता के असली उद्देश्य को जाने बिना तुम किस तरह सन्तान उत्पन्न करोगे?**

श्रीशुक उवाच

**तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया ।**
**वाचः कूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्—वह; निशम्य—सुनकर; अथ—इसके बाद; हर्यश्वाः—प्रजापति दक्ष के सारे पुत्र; औत्पत्तिक—स्वभावतः जाग्रत; मनीषया—विचार करने की शक्ति होने से; वाचः—वाणी का; कूटम्—आसानी से समझ में न आने वाली बात; तु—लेकिन; देवर्षेः—नारद मुनि की; स्वयम्—स्वयं; विममृशुः—विचार किया; धिया—पूरी बुद्धि से।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : नारदमुनि के गूढ़ शब्दों को सुनकर हर्यश्वों ने अपनी स्वाभाविक बुद्धि से दूसरों से सहायता लिये बिना विचार किया।**

**भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम् ।**
**अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

भूः—पृथ्वी; क्षेत्रम्—कार्यक्षेत्र; जीव-संज्ञम्—कर्म के विभिन्न फलों से बँधने की आध्यात्मिक जीव की उपाधि; यत्—जो; अनादि—अनादि काल से विद्यमान; निज-बन्धनम्—अपना ही बन्धन उत्पन्न करके; अदृष्ट्वा—देखे बिना; तस्य—इसका; निर्वाणम्—अन्त; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—क्षणिक सकाम कर्मों से; भवेत्—हो सकता है।

**[हर्यश्वों ने नारद के शब्दों का अर्थ इस प्रकार समझा] *भूः* शब्द कर्मक्षेत्र का द्योतक है। यह भौतिक शरीर जो मनुष्य के कर्मों का फल होता है, उसका कर्मक्षेत्र है और यह उसे झूठी उपाधियाँ देता है। अनादि काल से मनुष्य को विविध प्रकार के भौतिक शरीर प्राप्त होते रहे हैं, जो भौतिक जगत से बन्धन के मूल हैं। यदि कोई मनुष्य मूर्खतावश क्षणिक सकाम कर्मों में अपने को लगाता है और इस बन्धन को समाप्त करने की ओर नहीं देखता तो उसको कर्मों का क्या लाभ मिलेगा?**

**तात्पर्य :** नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों से रूपक शैली में दस विषयों की चर्चा की—राजा, राज्य, नदी, घर, भौतिक तत्त्व इत्यादि। इन सबों पर स्वयं विचार करने के बाद हर्यश्व यह समझ सके कि जीव अपने शरीर में बन्दी बनकर सुख ढूँढता है, किन्तु वह इसमें रुचि नहीं लेता कि इस बन्धन से किस तरह मुक्त हुआ जाये? यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं, क्योंकि भौतिक जगत में सारे जीव विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त करने से अत्यन्त सक्रिय हैं। मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिए रात दिन काम करता है और शूकर तथा कूकर जैसे पशु भी इन्द्रियतृप्ति हेतु दिनरात कार्य करते हैं। पक्षी, पशु तथा अन्य सारे बद्धजीव शरीर के भीतर बन्दी आत्मा को जाने

बिना विविध कार्यों में लगे रहते हैं। विशेषतया मनुष्य शरीर पाकर उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह इस तरह कर्म करे कि वह अपने को इस बन्धन से छुड़ा सके। किन्तु नारद या उनकी परम्परा के उनके प्रतिनिधि के उपदेशों के बिना लोग मायासुख भोगने के लिए अन्धाधुन्ध शारीरिक कार्यों में लगे रहते हैं। वे यह नहीं जानते कि अपने भौतिक बन्धन से किस तरह मुक्त हुआ जाये। इसलिए ऋषभदेव ने कहा कि ऐसा कर्म तनिक भी उत्तम नहीं, क्योंकि यह आत्मा को बारम्बार शरीर के बन्धन में डालता है, जो तीन प्रकार के तापों के अधीन है।

प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्व तुरन्त ही नारद के उपदेशों का तात्पर्य समझ गये। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन विशेषतया ऐसे ही प्रबोधन के लिए है। हम लोग मानवता को प्रबुद्ध बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं जिससे लोगों को यह ज्ञान हो कि उन्हें आत्म-साक्षात्कार तथा एक शरीर से दूसरे शरीर में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के निरन्तर बन्धन से मुक्ति के लिए तपस्या करनी चाहिए। किन्तु माया अत्यन्त प्रबल है, वह इस ज्ञान के मार्ग में रोड़े अटकाने में दक्ष है। इसलिए कभी-कभी मनुष्य कृष्णभावनामृत आन्दोलन में जुड़ जाता है, किन्तु इस आन्दोलन के महत्त्व को न समझने से वह पुनः माया के चंगुल में फँस जाता है।

**एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान्स्वाश्रयः परः ।**
**तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १२ ॥**

### शब्दार्थ

एकः—एक; एव—निस्सन्देह; ईश्वरः—परम नियन्ता; तुर्यः—चतुर्थ दिव्य अवस्था, तुरीय; भगवान्—भगवान्; स्व-आश्रयः—स्वतंत्र, अपना ही आश्रय होने से; परः—इस भौतिक सृष्टि के परे; तम्—उसको; अदृष्ट्वा—बिना देखे; अभवम्—जो उत्पन्न नहीं हुआ; पुंसः—मनुष्य का; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—क्षणिक सकाम कर्मों से; भवेत्—हो सकता है।

**[नारद मुनि ने कहा था कि एक ऐसा राज्य है जहाँ केवल एक नर है। हर्यश्वों को इस कथन के आशय की अनुभूति हुई] एकमात्र भोक्ता भगवान् हैं, जो हर वस्तु को हर जगह देखते हैं। वे षड्ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और अन्य सबों से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। वे कभी भी भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित नहीं होते, क्योंकि वे सदा से इस भौतिक सृष्टि से परे रहे**

**हैं। यदि मानव-समाज के सदस्य ज्ञान तथा कर्मों की प्रगति के माध्यम से उन परम पुरुष को नहीं समझते बल्कि क्षणिक सुख के लिए रात-दिन कुत्ते-बिल्लियों की तरह अत्यधिक कठोर श्रम करते हैं, तो उनके कार्यों से क्या लाभ?**

**तात्पर्य :** नारद मुनि ने ऐसे राज्य का उल्लेख किया था जहाँ केवल एक राजा है, जिसका प्रतियोगी कोई नहीं है। सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत में तथा विराट जगत में विशेषरुप से केवल एक स्वामी या भोक्ता—भगवान् है, जो इस भौतिक जगत से परे है। इसलिए भगवान् को *तुर्य* अर्थात् चतुर्थ अवस्था में स्थित कहा गया है। उन्हें *अभव* भी कहा गया है। *भव* शब्द *भू* से निकला है, जिसका अर्थ ''जन्म'' होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१९) में कहा गया है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*—इस भौतिक जगत में जीवों को बारम्बार जन्म लेना और विनष्ट होना पड़ता है। किन्तु भगवान् न तो *भूत्वा* हैं न *प्रलीयते*। वे शाश्वत हैं। दूसरे शब्दों में, वे उन मनुष्यों या पशुओं की तरह जन्म लेने के लिए बाध्य नहीं हैं, जो आत्मा को न जानने के कारण बारम्बार जन्म लेते तथा मरते हैं। भगवान् कृष्ण में ऐसे शरीर-परिवर्तन नहीं होते और जो अन्यथा सोचता है, वह मूर्ख माना जाता है (*अवजानन्ति मां मानुषीं मूढा तनुमाश्रितम्*)। नारद मुनि यह सलाह देते हैं कि मनुष्य बिल्लियों तथा बन्दरों की तरह उछल-कूद में असली लाभ के बिना अपना समय व्यर्थ न गँवाये। मनुष्य का कर्तव्य है कि भगवान् को समझे।

**पुमान्नैवैति यद्गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा ।**
**प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १३ ॥**

### शब्दार्थ

पुमान्—मनुष्य; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; एति—वापस आता है; यत्—जिस तक; गत्वा—जाकर; बिल-स्वर्गम्—पाताल तक; गतः—गया हुआ; यथा—जिस तरह; प्रत्यक्-धाम—तेजोमय आध्यात्मिक जगत; अविदः—अज्ञानी मनुष्य का; इह—इस भौतिक जगत में; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—नश्वर सकाम कर्म से; भवेत्—हो सकता है।

**[नारद मुनि ने कहा था कि एक बिल या छेद है, जिसमें प्रवेश करने के बाद कोई लौटता नहीं। हर्यश्व इस रूपक का अर्थ समझ गये।] एक बार जो व्यक्ति पाताल नामक**

**निम्नतर लोकों में प्रवेश करता है, वह मुश्किल से लौटता देखा जाता है। इसी तरह यदि कोई वैकुण्ठ धाम ( प्रत्यग् धाम ) में प्रवेश करता है, तो वह इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता। यदि कोई ऐसा स्थान है जहाँ जाकर मनुष्य इस दुखमय भौतिक जीवन में नहीं लौटता तो फिर नश्वर भौतिक जगत में बन्दरों की तरह उछलने-कूदने एवं उस स्थान को न देखने या समझने से क्या लाभ? इससे क्या लाभ होगा?**

**तात्पर्य :** जैसा कि *भगवद्गीता* (१५.६) में कहा गया है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ जाकर कोई इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता। इस क्षेत्र का बारम्बार वर्णन हुआ है। *भगवद्गीता* में अन्यत्र (४.९) कृष्ण कहते हैं—

*जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।*

*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥*

''हे अुर्जन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।''

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण को, जिनका परमेश्वर के रूप में वर्णन किया जा चुका है, ठीक से समझ जाता है, तो वह अपना भौतिक शरीर त्यागने के बाद लौटकर यहाँ नहीं आता। इसी तथ्य को *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में बतलाया गया है। *पुमान् नैवैति यद् गत्वा*—वह इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता, अपितु ज्ञान का शाश्वत आनन्दमय जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम लौट जाता है। लोग इसकी परवाह क्यों नहीं करते? इस भौतिक जगत में कभी मनुष्य के रूप में, कभी देवता के रूप में और कभी कुत्ते या बिल्ली के रूप में पुनः जन्म लेने से क्या लाभ मिलेगा? इस तरह से समय व्यर्थ गँवाने से क्या लाभ? कृष्ण ने *भगवद्गीता* (८.१५) में अत्यन्त बलपूर्वक कहा है—

*मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।*

*नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥*

"मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।" मनुष्य को असली चिन्ता अपने को जन्म-मृत्यु के पिष्टपेषण से मुक्त करने तथा आध्यात्मिक जगत में परमेश्वर के साथ रहकर जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने की होनी चाहिए। इन श्लोकों में दक्ष के पुत्र बारम्बार कहते हैं—*किम् असत्कर्मभिर्भवेत्*—अस्थायी सकाम कर्मों का क्या लाभ है"

**नानारूपात्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता ।**
**तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १४॥**

### शब्दार्थ

नाना—विविध; रूपा—रूप या वेश वाले; आत्मनः—जीव की; बुद्धिः—बुद्धि; स्वैरिणी—वेश्या जो स्वतंत्र रूप से नाना प्रकार के वस्त्रों तथा गहनों से अपने को सजाती है; इव—सदृश; गुण-अन्विता—रजोगुण इत्यादि से समन्वित; तत्-निष्ठाम्—उसका अन्त; अगतस्य—जिसने नहीं प्राप्त किया है उसका; इह—इस भौतिक जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—नश्वर सकाम कर्म करने से क्या लाभ।

**[ नारद मुनि ने एक स्त्री का वर्णन किया था, जो पेशेवर वेश्या है। हर्यश्वों को इस स्त्री की पहचान समझ में आ गई ] रजोगुण से मिश्रित हुई प्रत्येक जीव की अस्थिर बुद्धि उस वेश्या के समान है, जो किसी के ध्यान को आकृष्ट करने के लिए अपने वस्त्र बदलती रहती है। यदि कोई मनुष्य यह जाने बिना कि यह किस तरह हो रहा है, पूरी तरह क्षणभंगुर सकाम कर्मों में लगा रहता है, तो उसे वास्तव में क्या लाभ मिलता है?**

**तात्पर्य :** जिस स्त्री का पति नहीं होता वह अपने को स्वतंत्र घोषित कर देती है, जिसका अर्थ है कि वह वेश्या बन जाती है। वेश्या सामान्यतया अपने शरीर के अधोभाग के प्रति मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से नाना प्रकार के वस्त्र धारण करती है। आजकल स्त्री के लिए नग्नप्राय घूमने, अपने शरीर के अधोभाग को किञ्चित् ही ढकने का अत्यधिक विज्ञापित फैशन इसलिए चल पड़ा है, जिससे मनुष्य का ध्यान यौन सुख के लिए उसके गुप्त अंगों की ओर खिंचे। अपने शरीर के अधोभाग की ओर मनुष्य को आकृष्ट करने में लगाई जाने वाली बुद्धि एक पेशेवर वेश्या की बुद्धि होती है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्ण के या कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रति

अपना ध्यान नहीं मोड़ता, उस जीव की बुद्धि वेश्या की ही तरह केवल वस्त्र बदलती है। ऐसी मूर्खतापूर्ण बुद्धि से क्या लाभ? मनुष्य को बुद्धिपूर्वक इस तरह से सचेत होना चाहिए कि उसे एक शरीर से दूसरे शरीर में बदलाव न करना पड़े।

कर्मीजन किसी भी क्षण अपने पेशे बदल देते हैं, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपना पेशा नहीं बदलता, क्योंकि उसका एकमात्र पेशा हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा कृष्ण का ध्यान आकृष्ट करना तथा नित्य फैशन न बदलकर अत्यन्त सादा जीवन बिताना है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में फैशनपरस्त लोगों को एक ही फैशन—सिर मुड़ाये तथा तिलक धारण किये वैष्णव वेश—अपनाने की शिक्षा दी जाती है। उन्हें मन, वस्त्र तथा भोजन में सदैव स्वच्छ रहने की शिक्षा दी जाती है, जिससे वे कृष्णभावनामृत में स्थिर हो सकें। अपने वस्त्र को बदलते रहने से, कभी लम्बे बाल तथा लम्बी दाढ़ी रखने से, तो कभी अन्य प्रकार से वेश धारण करने से क्या लाभ? यह अच्छी बात नहीं है। मनुष्य को ऐसे फालतू कार्यों में समय नहीं गँवाना चाहिए। उसे सदैव कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए तथा दृढ़संकल्प के साथ भक्ति-रूप उपचार का सेवन करना चाहिए।

**तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत् ।**
**तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १५ ॥**

### शब्दार्थ

तत्-सङ्ग—बुद्धिरूपी वेश्या की संगति से; भ्रंशित—हरी गई; ऐश्वर्यम्—स्वतंत्रता का ऐश्वर्य; संसरन्तम्—भौतिक जीवन-शैली बिताते हुए; कु-भार्य-वत्—उस व्यक्ति की तरह जिसकी पत्नी दूषित है; तत्-गतीः—दूषित बुद्धि की हरकतें; अबुधस्य—न जानने वाले की; इह—इस जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्मों के करने से क्या लाभ हो सकता है?.

**[ नारद मुनि ने एक ऐसे मनुष्य की भी बात कही थी जो वेश्या का पति है। हर्यश्वों ने इसे इस प्रकार समझा ] यदि कोई पुरुष किसी वेश्या का पति बनता है, तो वह अपनी सारी स्वतंत्रता खो देता है। इसी तरह यदि जीव की बुद्धि दूषित है, तो वह अपने भौतिकतावादी जीवन को बढ़ा लेता है। भौतिक प्रकृति से निराश होकर उसे बुद्धि की गतियों का अनुसरण**

**करना पड़ता है, जो सुख तथा दुख की विविध स्थितियों को लाती हैं। यदि कोई ऐसी स्थितियों में सकाम कर्म करता है, तो इससे क्या लाभ होगा?**

**तात्पर्य :** दूषित बुद्धि की उपमा वेश्या से दी गई है। जिसने अपनी बुद्धि को शुद्ध नहीं बनाया है, वह उस वेश्या के द्वारा नियंत्रित कहा जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*—जो लोग वास्तव में गम्भीर हैं, वे एक प्रकार की बुद्धि द्वारा चालित होते हैं और वह है कृष्णभावनामृत की बुद्धि। *बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्*—जो उचित बुद्धि में स्थिर नहीं है, वह जीवन के अनेक गुणों की खोज कर लेता है। इस तरह भौतिक कार्यों में लगा होने से वह प्रकृति के विभिन्न गुणों के सम्पर्क में आता है और तरह-तरह के तथाकथित सुख तथा दुख पाता है। यदि कोई पुरुष किसी वेश्या का पति बनता है, तो वह सुखी नहीं हो सकता। इसी तरह जो व्यक्ति भौतिक बुद्धि तथा भौतिक चेतना के आदेशों का पालन करता है, वह कभी भी सुखी नहीं होगा।

मनुष्य को सही ढंग से प्रकृति के कार्यों को समझना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।*

*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥*

"जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्त्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।" यद्यपि मनुष्य प्रकृति के आदेशों का पालन करता होता है, किन्तु वह प्रसन्नतापूर्वक अपने को प्रकृति का स्वामी या पति मानता है। उदाहरणार्थ, विज्ञानीजन जन्म-जन्मांतर भौतिक प्रकृति का स्वामी बनने का प्रयास करते हैं और उस परम पुरुष को समझने की परवाह नहीं करते जिनके निर्देशानुसार इस भौतिक जगत की सारी वस्तुएँ गतिशील हैं। भौतिक प्रकृति के स्वामी बनने के प्रयास में वे नकली देवताओं की तरह हैं, जो जनता में यह घोषित करते

हैं कि एक दिन वैज्ञानिक प्रगति ईश्वर के तथाकथित नियंत्रण को रोकने में समर्थ हो जायेगी। किन्तु वास्तव में जीव ईश्वर के विधानों को नियंत्रित करने में असमर्थ रहता है और वह दूषित बुद्धि रूपी वेश्या की संगति करने तथा विविध भौतिक शरीर स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१३.२२) में कहा गया है—

*पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।*

*कारणं गुणसंगोऽस्य सदसदयोनिजन्मसु॥*

"इस प्रकार जीव प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करता हुआ प्रकृति का ही अनुसरण करता है। यह उस प्रकृति के साथ उसकी संगति के कारण है। इस तरह उसे विभिन्न योनियों में अच्छे तथा बुरे का सामना करता पड़ता है।" यदि कोई व्यक्ति क्षणिक सकाम कर्मों में पूरी तरह लगा रहता है और इस असली समस्या को हल नहीं करता तो उसे क्या लाभ मिलेगा?

**सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम् ।**
**मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १६ ॥**

**शब्दार्थ**

सृष्टि—सृष्टि; अप्यय—प्रलय; करीम्—करने वाली; मायाम्—मोहिनी शक्ति; वेला-कूल-अन्त—किनारे के निकट; वेगिताम्—अत्यन्त तेज होने से; मत्तस्य—उन्मत्त का; ताम्—उस भौतिक प्रकृति को; अविज्ञस्य—न जानने वाला; किम् असत्-कर्मभि: भवेत्—क्षणिक सकाम कर्म करने से क्या लाभ हो सकता है।

**[ नारद मुनि ने कहा था कि एक नदी है, जो दोनों दिशाओं में बहती है। हर्यश्वों ने इस कथन का तात्पर्य समझा ] भौतिक प्रकृति दो प्रकार से कार्य करती है—सृजन द्वारा तथा संहार द्वारा। इस तरह भौतिक प्रकृति-रूपी नदी दोनों दिशाओं में बहती है। जो जीव अनजाने में इस नदी में गिर जाता है, वह इसकी लहरों में डूबता-उतराता जाता है और चूँकि नदी के किनारों के निकट धारा अधिक तेज रहती है, इसलिए वह बाहर निकल पाने में असमर्थ रहता है। माया-रूपी उस नदी में सकाम कर्म करने से क्या लाभ होगा?**

**तात्पर्य :** मनुष्य माया-रूपी नदी की लहरों में डूबता-उतराता रह सकता है, किन्तु वह ज्ञान

तथा तपस्या के तटों पर आकर इन लहरों से बाहर भी निकल सकता है। किन्तु इन किनारों के निकट लहरें बड़ी प्रबल रहती हैं, अत: यदि वह यह नहीं समझता है कि वह लहरों द्वारा कैसे इधर उधर फैंका जा रहा है और वह क्षणिक सकाम कर्मों में लगा रहे तो उसे क्या लाभ मिलेगा?

*ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में एक कथन है—

*सृष्टि स्थिति प्रलयसाधनशक्तिरेका*

*छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।*

माया शक्ति, दुर्गा, *सृष्टि-स्थिति-प्रलय* का कार्यभार सँभालती है और वह भगवान् के निर्देशन में कार्य करती है (*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*)। जब मनुष्य अविद्या की नदी में गिर जाता है, तो वह लहरों द्वारा इधर-उधर उछाला जाता है, किन्तु वही माया उसे बचा भी सकती है, यदि वह कृष्ण की शरण में जाता है या कृष्णभावनाभावित बन जाता है। कृष्णभावनामृत ज्ञान तथा तपस्या है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति वैदिक वाङ्मय से ज्ञान ग्रहण करता है, किन्तु साथ ही साथ उसे तपस्या करनी चाहिए।

भौतिक जीवन से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा, यदि वह तथाकथित विज्ञान की प्रगति में बुरी तरह लगा रहेगा तो उसे कौन सा लाभ प्राप्त होगा? यदि वह प्रकृति की लहरों द्वारा बहा ले जाया जाता है, तो महान् विज्ञानी या दार्शनिक होने का क्या अर्थ? संसारी विज्ञान तथा दर्शन भी भौतिक सृष्टियाँ हैं। मनुष्य को समझना चाहिए कि माया किस तरह कार्य करती है और मनुष्य किस तरह अविद्या-रूपी नदी की उफनती लहरों से छुड़ाया जा सकता है। यह उसका प्रथम कर्तव्य है।

**पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पण: ।**
**अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १७॥**

### शब्दार्थ

पञ्च-विंशति—पच्चीस; तत्त्वानाम्—तत्त्वों में से; पुरुषः—भगवान्; अद्भुत-दर्पणः—अद्भुत का प्रकट कर्ता; अध्यात्मम्—समस्त कार्यों तथा कारणों का द्रष्टा; अबुधस्य—न जानने वाले का; इह—इस संसार में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणभंगुर सकाम कार्यों में लगे रहने से क्या लाभ हो सकता है?.

**[ नारद मुनि ने कहा था कि पच्चीस तत्त्वों से बना हुआ एक घर है। हर्यश्वों को यह रूपक समझ में आ गया ] भगवान् पच्चीस तत्त्वों के आगार हैं और परम पुरुष होने के कारण कार्य-कारण के संचालक रूप में वे उनकी अभिव्यक्ति करते हैं। यदि कोई व्यक्ति क्षणभंगुर सकाम कर्मों में अपने को लगाता है और उस परम पुरुष को नहीं जानता तो उसे क्या लाभ प्राप्त होगा?**

**तात्पर्य :** दार्शनिक तथा विज्ञानी आदि कारण खोजने के लिए पांडित्यपूर्ण शोध करते हैं, किन्तु उन्हें वैज्ञानिक ढंग से ऐसा करना चाहिए, किसी सनक में आकर नहीं, न ही विचित्र सिद्धान्तों के माध्यम से ऐसा करना चाहिए। आदि कारण के विज्ञान की व्याख्या विविध वैदिक ग्रन्थों में ही हुई है। *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः*। *वेदान्त सूत्र* बताता है कि मनुष्य को परमात्मा विषयक पूछताछ करनी चाहिए। ब्रह्म विषयक ऐसी पूछताछ *ब्रह्म जिज्ञासा* कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में परम सत्य या *तत्त्व* की व्याख्या की गई है—

*वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।*

*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥*

"परम सत्य को जानने वाले विद्वान अध्यात्मवादी इस अद्वैत तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।" नवदीक्षितों को परम सत्य निर्विशेष ब्रह्म के रूप में प्रतीत होते हैं और बढ़े-चढ़े योगियों को परमात्मा रूप में। किन्तु भक्तजन जो कि उनसे भी बढ़े-चढ़े होते हैं परमात्मा को भगवान् विष्णु के रूप में समझते हैं।

यह भौतिक विराट जगत भगवान् कृष्ण या विष्णु की शक्ति का विस्तार है।

*एकदेश स्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।*

*परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥*

''इस जगत में हम जो भी देखते हैं वह उन भगवान् की विविध शक्तियों का केवल विस्तार है, जो उस अग्नि की तरह हैं, जो एक स्थान में स्थित होते हुए भी दूर-दूर तक अपना प्रकाश फैलाती है।'' (*विष्णु पुराण*)। सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् का विस्तार है। इसलिए यदि परम कारण को खोजने के लिए कोई व्यक्ति शोधकार्य न करके ओछे नश्वर कार्यों में झूठे ही अपने को लगाता है, तो फिर महत्त्वपूर्ण विज्ञानी या दार्शनिक के रूप में मान्यता की माँग करने से क्या लाभ? यदि वह परम कारण को नहीं जानता तो उसके वैज्ञानिक तथा दार्शनिक शोध से क्या लाभ?

*पुरुष* अर्थात् आदि पुरुष—भगवान् विष्णु—को एकमात्र भक्ति द्वारा समझा जा सकता है। *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—एकमात्र भक्ति द्वारा उन परम पुरुष को समझा जा सकता है, जो सभी वस्तुओं के पीछे हैं। मनुष्य को यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि भौतिक तत्त्व भगवान् की भिन्न कनिष्ठा शक्ति हैं और जीव भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति है। हम पदार्थ तथा आत्मा सहित जो भी अनुभव करते हैं वह भगवान् विष्णु की दो शक्तियों, कनिष्ठा (अपरा) शक्ति तथा श्रेष्ठ (परा) शक्ति, का संयोग है। मनुष्य को चाहिए कि सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक तथ्यों का तथा उस स्थायी स्थान का, जहाँ से फिर लौटने की आवश्यकता नहीं पड़ती, (*यद्गत्वा न निवर्तन्ते*) गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करे। मानव समाज को इसका अध्ययन करना चाहिए, किन्तु लोग ऐसे ज्ञान का अनुशीलन न करके क्षणिक सुख तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होते हैं जिनका अन्त पादहीन शीर्षहीन (बिना सिरपैर वाली) कामवासना में होता है। ऐसे कार्यों से कोई लाभ नहीं है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में अपने को लगाना चाहिए।

**ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम् ।**
**विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १८ ॥**

### शब्दार्थ

ऐश्वरम्—ईश्वर का ज्ञान या कृष्णभावनामृत लाना; शास्त्रम्—वैदिक साहित्य; उत्सृज्य—त्यागकर; बन्ध—बन्धन का; मोक्ष—तथा मोक्ष का; अनुदर्शनम्—विधियों की जानकारी देना; विविक्त-पदम्—आत्मा को पदार्थ से पृथक् करना; अज्ञाय—न जानते हुए; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणभंगुर सकाम कर्मों का क्या लाभ हो सकता है।

**[ नारद मुनि ने हंस की बात की थी। इस श्लोक में हंस की व्याख्या की गई है ]। वैदिक ग्रन्थ ( शास्त्र ) भलीभाँति यह बताते हैं, कि समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति के स्रोत भगवान् को किस तरह समझना चाहिए। दरअसल, वे इन दोनों शक्तियों की विस्तार से व्याख्या करते हैं। हंस वह है, जो पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर करता है, जो हर वस्तु के सार को ग्रहण करता है और जो बन्धन के तथा मोक्ष के उपायों की व्याख्या करता है। शास्त्रों के शब्द विविध प्रकार की ध्वनियों के रूप में हैं। यदि कोई मूर्ख धूर्त व्यक्ति नश्वर कार्यों में लगने के लिए इन शास्त्रों के अध्ययन को ताक पर रख देता है, तो फिर परिणाम क्या होगा?**

**तात्पर्य :** कृष्णभावनामृत आन्दोलन वैदिक साहित्य को आधुनिक भाषाओं में, विशेषतया अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा जर्मन जैसी पाश्चात्य भाषाओं में, प्रस्तुत करने के लिए अति उत्सुक है। पाश्चात्य जगत के कर्णधार, अमरीकी तथा यूरोपियन, आधुनिक सभ्यता की *प्रतिमाएँ* बन चुके हैं, क्योंकि भौतिक सभ्यता की प्रगति के लिए पाश्चात्य लोग अस्थायी कार्यों में अत्यन्त कुशल हैं। किन्तु विवेकवान् व्यक्ति यह देख सकता है कि सारे भव्य कार्य, यद्यपि नश्वर जीवन के लिए कदाचित् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु शाश्वत जीवन से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता। सारा जगत पश्चिम की भौतिकतावादी सभ्यता की नकल कर रहा है, अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन मूल संस्कृत वैदिक ग्रन्थों का पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद करके पाश्चात्य लोगों को ज्ञान प्रदान करने में अत्यधिक रुचि रखता है।

*विविक्त-पदम्* शब्द द्योतक है जीवन के लक्ष्य से सम्बन्धित तार्किक प्रवचनों के मार्ग का। यदि जीवन में जो महत्त्वपूर्ण है, उसकी विवेचना नहीं की जाती तो मनुष्य अंधकार में जा गिरता है और जीवन के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। तो फिर ज्ञान में प्रगति करने से उसे क्या लाभ?

पश्चिम के लोग अपने छात्रों को हिप्पी बनते देख रहे हैं, यद्यपि विश्वविद्यालयीन् शिक्षा के लिए वहाँ भव्य प्रबन्ध हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन गुमराह, नशीली दवाओं के अभ्यस्त छात्रों को कृष्ण की सेवा में लगाकर उन्हें मानव समाज के लिए कल्याण के कार्यों की ओर मोड़ने का प्रयास कर रहा है।

**कालचक्रं भ्रमि तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत् ।**
**स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

काल-चक्रम्—नित्यकाल का चक्र; भ्रमि—स्वतः घूमता हुआ; तीक्ष्णम्—अत्यन्त तेज; सर्वम्—समस्त; निष्कर्षयत्—हाँकते हुए; जगत्—संसार; स्व-तन्त्रम्—स्वतंत्र तथाकथित विज्ञानियों तथा दार्शनिकों की परवाह न करते हुए; अबुधस्य—( काल के नियम को ) न जानने वाले का; इह—इस भौतिक जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्मों में लगने से क्या लाभ।

**[ नारद मुनि ने तेज छुरों तथा वज्रों से बनी एक भौतिक वस्तु की बात की थी। हर्यश्वों ने इस रूपक को इस प्रकार समझा ] नित्य काल बहुत ही तीक्ष्णता से गति करता है, मानो छुरों तथा वज्रों से बना हुआ हो। यह काल अबाध रूप से तथा पूर्णतया स्वतंत्र होकर सारे जगत के कार्यों का संचालन करता है। यदि मनुष्य नित्य काल तत्त्व का अध्ययन करने का प्रयास नहीं करता तो वह क्षणिक भौतिक कार्यों को करने से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है?**

**तात्पर्य :** यह श्लोक *क्षौर-पव्यं स्वयं भ्रमि* शब्दों की व्याख्या करता है, जो नित्य काल की कक्ष्या का विशेष रूप से द्योतन करने वाले हैं। कहा जाता है कि काल तथा लहरें किसी मनुष्य की प्रतीक्षा नहीं करते। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य पण्डित के नैतिक उपदेशों के अनुसार—

*आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्य स्वर्णकोटिभिः ।*

*न चेन्निरर्थकं नीतिः का च हानिस्ततोऽधिका॥*

करोड़ों डालर देकर भी जीवन का एक क्षण वापस नहीं लिया जा सकता। इसलिए मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि यदि वह अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ में गँवा देता है, तो कितनी बड़ी क्षति होती है। जीवन के लक्ष्य को न समझते हुए पशु की तरह जीवन बिताते हुए मनुष्य

मूर्खतावश यह सोचता है कि शाश्वतता नाम की कोई वस्तु नहीं है और उसका पचास, साठ या हद से हद सौ वर्षों का जीवन ही सब कुछ है। यह सबसे बड़ी मूर्खता है। काल शाश्वत है और इस भौतिक जगत में मनुष्य अपने शाश्वत जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। यहाँ पर काल की उपमा तेज छुरे से दी गई है। छुरा तो बाल मूंडने के लिए होता है, किन्तु यदि ठीक से नहीं चलाया जाता तो गजब ढा सकता है। मनुष्य को सलाह दी जाती है, कि अपनी आयु का दुरुपयोग करके विपत्ति न खड़ी करे। उसे अत्यन्त सावधान रहकर अपने जीवन की अवधि का उपयोग आध्यात्मिक साक्षात्कार या कृष्णभावनामृत के लिए करना चाहिए।

**शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम् ।**
**कथं तदनुरूपाय गुणविस्रम्भ्युपक्रमेत् ॥ २० ॥**

**शब्दार्थ**

शास्त्रस्य—शास्त्रों का; पितुः—पिता का; आदेशम्—आदेश; यः—जो कोई; न—नहीं; वेद—समझता है; निवर्तकम्—जो जीवन की भौतिक शैली का अन्त कर देता है; कथम्—कैसे; तत्-अनुरूपाय—शास्त्रों के आदेश का पालन करने के लिए; गुण-विस्रम्भी—प्रकृति के तीन गुणों में फँसा व्यक्ति; उपक्रमेत्—सन्तति उत्पन्न करने के काम में लग सकता है।

**[ नारद मुनि ने पूछा था कि मनुष्य किस तरह अज्ञानवश अपने ही पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है। हर्यश्वों ने इस प्रश्न का अर्थ समझ लिया था ] मनुष्य को शास्त्र के मूल आदेशों को स्वीकार करना चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को द्वितीय जन्म के चिह्नरूप में यज्ञोपवीत ( जनेऊ ) प्रदान किया जाता है। वह प्रामाणिक गुरु से शास्त्रों के आदेश प्राप्त कर चुकने के फलस्वरूप दूसरा जन्म पाता है। इसलिए शास्त्र असली पिता है। सारे शास्त्रों का आदेश है कि मनुष्य अपने जीवन की भौतिक शैली को समाप्त कर दे। यदि वह पिता अर्थात् शास्त्रों के आदेशों का उद्देश्य नहीं समझता तो वह अज्ञानी है। जो पिता अपने पुत्र को भौतिक कार्यों में लगाये रखने का प्रयत्न करता है, उसके वचन पिता के असली आदेश नहीं होते।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (१६.७) का कथन हैं—*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः—*

असुरगण जो मनुष्यों से निम्न हैं, किन्तु पशु नहीं कहलाते, *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति* अर्थात् करणीय कार्य तथा अकरणीय कार्य का अर्थ नहीं समझते। भौतिक जगत में हर व्यक्ति भौतिक जगत पर यथाशक्य प्रभुत्त्व जताना चाहता है। यह *प्रवृत्ति मार्ग* कहलाता है। किन्तु सारे शास्त्र *निवृत्ति मार्ग* का उपदेश देते हैं अर्थात् भौतिकतावादी जीवन-शैली से छुटकारे की सलाह देते हैं। वैदिक सभ्यता दुनिया में सबसे पुरानी है, वैदिक शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी इस बात पर सहमत हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धशास्त्रों में भगवान् बुद्ध यह उपदेश देते हैं कि भौतिकतावादी जीवन-शैली त्याग कर मनुष्य *निर्वाण* प्राप्त कर सकता है। बाइबिल भी एक शास्त्र है, उसमें भी यही उपदेश मिलेगा कि मनुष्य भौतिकतावादी जीवन का अन्त कर दे और भगवद्धाम वापस जाये। हम किसी भी शास्त्र की परीक्षा करें, विशेषतया वैदिक शास्त्र की, तो यही उपदेश दिया जाता है कि मनुष्य अपने भौतिकतावादी जीवन का परित्याग करे और अपने आदि आध्यात्मिक जीवन में वापस आये। शंकराचार्य ने भी यही निष्कर्ष प्रतिपादित किया। *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—यह भौतिक जगत या भौतिकतावादी जीवन केवल माया या भ्रम है, अतएव मनुष्य अपने मायामय या भ्रामक कार्यों को बन्द करके ब्रह्म-पद को प्राप्त करे।

शास्त्र शब्द विशेषतया वैदिक ज्ञान ग्रन्थों का द्योतक है। *साम, यजुर, ऋग् तथा अथर्व*—ये चारों वेद तथा इन वेदों से ज्ञान प्राप्त करने वाले अन्य ग्रन्थ वैदिक ग्रन्थ माने जाते हैं। *भगवद्गीता* समस्त वैदिक ज्ञान का सार है, अतएव यह ऐसा शास्त्र है, जिसके उपदेशों को विशेष रूप से मानना चाहिए। समस्त शास्त्रों के इस सार में कृष्ण स्वयं उपदेश देते हैं कि मनुष्य अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर उनकी शरण ग्रहण करे (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)।

मनुष्य को शास्त्र के नियमों का पालन करने की दीक्षा दी जानी चाहिए। दीक्षा देते समय कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य से शास्त्र के परम वक्ता कृष्ण से उपदेश लेते हुए, भौतिकतावादी जीवनशैली के सिद्धान्तों को भुलाकर शास्त्र के निर्णय को प्राप्त होना चाहिए, ऐसी माँग करता है। इसलिए हम जिन सिद्धान्तों की सलाह देते हैं, वे हैं—अवैध यौन, नशा, जुआ खेलना तथा

मांसाहार—इन सबका निषेध। इन चार प्रकार के निषिद्ध कार्यों के त्याग से बुद्धिमान व्यक्ति भौतिकतावादी जीवन से मुक्ति पा लेगा और भगवद्धाम वापस जा सकेगा।

पिता तथा माता के आदेशों के विषय में यह कहा जा सकता है कि सारे जीव, जिसमें बिल्लियाँ, कुत्ते तथा सर्प जैसे तुच्छ जीव सम्मिलित हैं, माता-पिता से जन्म पाते हैं। अतः भौतिक माता-पिता पा लेना कोई समस्या नहीं है। प्रत्येक योनि में, जन्म-जन्मांतर जीव को माता-पिता मिलते हैं। किन्तु मानव-समाज में यदि मनुष्य अपने भौतिक माता-पिता तथा उनके आदेशों से तुष्ट हो जाता है और गुरु बनाकर तथा शास्त्रों में शिक्षित होकर आगे उन्नति नहीं करता है, तो वह निश्चित रुप से अंधकार में बना रहता है। भौतिक माता-पिता का महत्त्व तभी है जब वे अपने पुत्र को मृत्यु के चंगुल से मुक्त बनने में शिक्षित कराने में रुचि लेते हों। जैसाकि ऋषभदेव ने ( *भागवत* ५.५.१८) उपदेश दिया है—*पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्। न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्*। जो व्यक्ति अपने आश्रित पुत्र को मृत्यु के आसन्न संकट से न बचा सके, उसे पिता या माता बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जो माता-पिता अपने पुत्र को बचाना नहीं जानते, उनका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि ऐसे माता-पिता किसी भी योनि में, यहाँ तक कि कुत्तों, बिल्लियों आदि की योनि को भी, प्राप्त हो सकते हैं। केवल ऐसे माता-पिता जो अपने पुत्र को आध्यात्मिक पद तक उठा सकें प्रामाणिक माता-पिता हैं। इसलिए वैदिक-प्रणाली में कहा जाता है *जन्मना जायते शूद्रः*—भौतिक माता पिता से जन्म लेने वाला शूद्र के तुल्य होता है। किन्तु जीवन का उद्देश्य ब्राह्मण अर्थात् उच्चकोटि का मनुष्य बनना है।

उच्चकोटि का बुद्धिमान व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है, क्योंकि वह परब्रह्म अर्थात् परम सत्य को जानता है। वैदिक आदेशों के अनुसार *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—इस विज्ञान को जानने के लिए मनुष्य को प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो शिष्य को यज्ञोपवीत द्वारा दीक्षा देगा जिससे वह वैदिक ज्ञान समझ सके। *जन्मना जायते शूद्रः संस्कारद्धि भवेद् द्विजः।* प्रामाणिक गुरु के प्रयास से ब्राह्मण बनना *संस्कार* कहलाता है। दीक्षा के बाद मनुष्य शास्त्र-अध्ययन में लग जाता

है। शास्त्र विद्यार्थी को शिक्षा देता है कि भौतिकतावादी जीवन से किस तरह छुटकारा पाकर भगवद्धाम लौटा जाये।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन भौतिकतावादी जीवन से विरक्त होकर भगवान् के पास लौटने के इस उच्चतर ज्ञान की शिक्षा देता है, किन्तु दुर्भाग्यवश बहुत से माता-पिता इस आन्दोलन से अधिक सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारे छात्रों के माता-पिता के अतिरिक्त अनेक व्यापारी जन भी असन्तुष्ट हैं, क्योंकि हम अपने छात्रों को नशा, मांसाहार, अवैध मैथुन तथा जुआ खेलने की आदतों को छोड़ने की शिक्षा देते हैं। यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार होता है, तो तथाकथित व्यापारियों को अपने कसाईघर, शराब खाने तथा अपनी सिगरेट फैक्टरियाँ बन्द करनी पड़ेंगी। इसलिए वे भी अत्यधिक भयभीत हैं। किन्तु हमारे पास अपने शिष्यों को भौतिकतावादी जीवन से छुटकारा दिलाने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है। हमें उन्हें भौतिक जीवन से विपरीत जीवन की शिक्षा देनी चाहिए जिससे हम उन्हें जन्म-मृत्यु के चक्कर से बचा सकें।

इसलिए नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों को सलाह दी कि संतति उत्पन्न करने के बजाय अच्छा हो कि वे उसका परित्याग करें और शास्त्रों के आदेशानुसार आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करें। *भगवद्गीता* (१६.२३) में शास्त्रों की महत्ता का उल्लेख हुआ है—

*यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।*

*न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥*

"जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है उसे न तो सिद्धि, न सुख और न ही परम गति की प्राप्ति हो पाती है।"

**इति व्यवसिता राजन्हर्यश्वा एकचेतसः ।**
**प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम् ॥ २१ ॥**

**शब्दार्थ**

इति—इस प्रकार; व्यवसिताः—नारद मुनि के उपदेशों से पूर्णतया आश्वस्त हुए; राजन्—हे राजन्; हर्यश्वाः—प्रजापति दक्ष के पुत्र; एक-चेतसः—सभी एकमत होने से; प्रययुः—विदा ली; तम्—नारदमुनि को; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; पन्थानम्—पथ पर; अनिवर्तनम्—जिससे इस भौतिक जगत में फिर से कोई वापस नहीं आता।

**शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्! नारद मुनि के उपदेशों को सुनने के बाद प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों को पूरी तरह से समझ में आ गया। उन सबों ने उनके उपदेशों में विश्वास किया और वे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे। उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लेने पर उन्होंने उस महामुनि की प्रदक्षिणा की और उस पथ का अनुसरण किया जिससे कोई इस जगत में फिर नहीं लौटता।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक से हम दीक्षा तथा गुरु-शिष्य के कर्तव्यों का अर्थ समझ सकते हैं। गुरु कभी भी अपने शिष्य को यह शिक्षा नहीं देता, ''मुझसे मंत्र लो, मुझे कुछ धन दो और इस योग पद्धति का अभ्यास करके तुम भौतिकतावादी जीवन में दक्ष बन जाओगे।'' यह गुरु का कर्तव्य नहीं है। प्रत्युत गुरु अपने शिष्य को शिक्षा देता है कि किस तरह भौतिकतावादी जीवन का परित्याग करना चाहिए और शिष्य का कर्तव्य है कि वह उसके उपदेशों को हृदयंगम करे और अन्ततः भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग का अनुसरण करे, जहाँ से कोई भी इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता।

नारद मुनि के उपदेशों को सुनने के बाद प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों ने सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न करने तथा उनकी देखभाल करने की झंझट में पड़ने के बजाय भौतिकतावादी जीवन में न फँसने का निश्चय किया। यह व्यर्थ में फंसने की बात होती। हर्यश्वों ने पाप-पुण्य के कर्मों का विचार नहीं किया, उनके भौतिकतावादी पिता ने जनसंख्या बढ़ाने का उन्हें आदेश दिया था, किन्तु नारद मुनि के वचनों में आकर वे उस आदेश का पालन नहीं कर सके। नारद मुनि ने उनके गुरु के रूप में उन्हें ये शास्त्रीय उपेदश दिये कि उन्हें इस भौतिक जगत का परित्याग कर देना चाहिए और उन्होंने प्रामाणिक शिष्यों की तरह उनके आदेशों का पालन किया। मनुष्य को इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोकों में चक्कर लगाते रहने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि कोई सर्वोच्च लोक,

ब्रह्मलोक, भी चला जाता है, तो भी उसे लौटना होगा (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। कर्मियों के प्रयास समय का अपव्यय होते हैं। मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने का प्रयास करना चाहिए। यही जीवन की सिद्धि है। जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् कहते हैं—

*आब्रह्म भुवनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।*

*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥*

"इस जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम तक सारे लोक दुखों के घर हैं जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।"

**स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे ।**
**अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

स्वर-ब्रह्मणि—आध्यात्मिक ध्वनि में; निर्भात—मन के समक्ष स्पष्ट रूप से रखते हुए; हृषीकेश—भगवान् कृष्ण का, जो कि इन्द्रियों के स्वामी हैं; पदाम्बुजे—चरणकमलों पर; अखण्डम्—अटूट; चित्तम्—चेतना; आवेश्य—लगाकर; लोकान्—सारे लोकों; अनुचरत्—चारों ओर यात्रा की; मुनिः—नारदमुनि ने।.

**संगीत यंत्रों में सात स्वरों—ष, ऋ, गा, म, प, ध तथा नि का प्रयोग किया जाता है, किन्तु ये सातों स्वर मूलतः सामवेद से आये। महामुनि नारद भगवान् की लीलाओं का वर्णन करते हुए ध्वनियाँ करते हैं। ऐसी दिव्य ध्वनियों यथा हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, से वे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करते हैं। इस तरह वे इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। हर्यश्वों का उद्धार करने के बाद नारद मुनि ने अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में सदा स्थिर रखते हुए सारे लोकों में अपनी यात्रा जारी रखी।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर नारद मुनि की अच्छाई का वर्णन हुआ है। वे सदैव भगवान् की लीलाओं का कीर्तन करते हैं और पतितात्माओं का उद्धार करके भगवद्धाम वापस भेजते हैं। इस सम्बन्ध में

श्रील भक्तिविनोदठाकुर का गीत है,

*नारद मुनि, बाजाय वीणा,*

*राधिका-रमण'-नामे ।*

*नाम अमनि, उदित हय,*

*भकत-गीत-सामे ॥*

*अमिय-धारा, वरिषे घन,*

*श्रवण-युगले गिया ।*

*भकत-जन, सघने नाचे,*

*भरिया आपन हिया ॥*

*माधुरी-पूर, आसब पशि',*

*माताय जगत्-जने।*

*केह वा कांदे केह वा नाचे,*

*केह माते मने मने॥*

*पञ्च-वदन, नारदे धरि'*

*प्रेमेर सघन रोल।*

*कमलासन, नाचिया बले'*

*'बोल बोल हरि बोल'॥*

*सहस्त्रानन, परम-सुखे,*

*'हरि हरि' बलि'' गाय।*

*नाम-प्रमावे, मातिल विश्व*

*नाम-रस सबे पाय॥*

*श्रीकृष्ण-नाम, रसने स्फुरि',*

*पुरा'ल आमार आश।*

*श्री-रूप-पदे याचये इहा*

*भकति विनोद दास॥*

इस गीत का तात्पर्य है कि महात्मा नारद मुनि *राधिकारमण* अर्थात् कृष्ण के दूसरे नाम की ध्वनि निकलाते हुए एक तारवाला यंत्र, वीणा, बजाते हैं। ज्योंही वे तार झंकारते हैं सारे भक्त अतीव सुन्दर ध्वनि करने लगते हैं। तारवाले यंत्र के साथ गायन अमृत की वर्षा जैसा प्रतीत होता है और सारे भक्त भाव-विभोर होकर जी-भर नाचते हैं। नाचते समय वे भाव में उन्मत्त हो जाते हैं मानो *माधुरीपूर* नामक शराब पी रहे हों। उनमें से कुछ चिल्लाते हैं, कुछ नाचते हैं और कुछ खुलकर न नाचने के कारण मन ही मन नाचते हैं। शिवजी नारद मुनि का आलिंगन करते हैं और उनसे भावविष्ट वाणी में बातें करने लगते हैं। शिवजी को नारद के साथ नाचते देखकर ब्रह्माजी भी यह कहते हुए सम्मिलित हो जाते हैं, ''सभी लोग उच्चारण करो—हरिबोल! हरिबोल!'' स्वर्ग के राजा इन्द्र भी क्रमश: प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ हो लेते हैं और नाचने तथा हरिबोल! हरि बोल! का उच्चारण करने लगते हैं। इस तरह ईश्वर के पवित्र नाम की दिव्य ध्वनि के प्रभाव से सारा ब्रह्माण्ड भावमय हो जाता है। भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं ''जब ब्रह्माण्ड भावमय हो जाता है, तो मेरी इच्छा तुष्ट हो जाती है। अतएव मैं रूप गोस्वामी के चरणकमलों पर प्रार्थना करता हूँ कि हरे नाम का यह कीर्तन इसी तरह उत्तम ढंग से चलता रहे।''

ब्रह्माजी नारदमुनि के गुरु हैं और नारद मुनि व्यास देव के गुरु हैं तथा व्यासदेव मध्वाचार्य के गुरु हैं। इस तरह गौड़ीय-माध्व-सम्प्रदाय नारदमुनि की गुरु परम्परा में आता है। इस गुरु-परम्परा के सदस्यों, दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को चाहिए कि हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे की दिव्य ध्वनि का कीर्तन करते हुए नारद मुनि के चरणचिह्नों का अनुसरण करें। उन्हें हरे कृष्ण मंत्र की ध्वनि तथा *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* एवं *चैतन्य चरितामृत* के उपदेशों द्वारा पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए सर्वत्र

जाना चाहिए। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे। यदि कोई वास्तव में नारदमुनि के उपदेशों का पालन करे तो वह आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगति कर सकता है। यदि कोई नारद मुनि को प्रसन्न कर लेता है, तो भगवान् हृषीकेश भी प्रसन्न हो जाते हैं (*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*)। वर्तमान (सन्निकट का) गुरु नारदमुनि का प्रतिनिधि होता है। नारदमुनि के उपदेशों तथा वर्तमान गुरु के उपदेशों में कोई अन्तर नहीं होता। नारद मुनि तथा वर्तमान गुरु दोनों ही कृष्ण की उन्हीं शिक्षाओं का प्रवचन करते हैं, जिन्हें कृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं (१८.६५-६६)—

*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।*

*मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥*

*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*

*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥*

''सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो। समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों के फल से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। शोक मत करो।''

**नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम् ।**
**अन्वतप्यत कः शोचन्सुप्रजस्त्वं शुचां पदम् ॥ २३॥**

### शब्दार्थ

नाशम्—हानि; निशम्य—सुनकर; पुत्राणाम्—अपने पुत्रों की; नारदात्—नारद से; शील-शालिनाम्—सुशील व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ; अन्वतप्यत—सहन किया; कः—प्रजापति दक्ष; शोचन्—शोक करते हुए; सु-प्रजस्त्वम्—दस हजार सुशील पुत्रों वाला; शुचाम्—शोक का; पदम्—स्थान।

**प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्व अत्यन्त सुशील, सुसंस्कृत पुत्र थे, किन्तु दुर्भाग्यवश नारद मुनि के उपदेशों से वे अपने पिता के आदेश से विपथ हो गये। जब दक्ष ने यह समाचार सुना, जिसे उन तक नारद मुनि लाये थे, तो वे पश्चाताप करने लगे। यद्यपि वे ऐसे उत्तम पुत्रों**

**के पिता थे, किन्तु वे सब उनके हाथ से निकल चुके थे। निश्चय ही यह शोचनीय था।**

**तात्पर्य :** प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्व निश्चय ही सुशील, विद्वान तथा बढ़े-चढ़े थे और अपने पिता के आदेशानुसार वे सब अपने परिवार के लिए उत्तम पुत्र उत्पन्न करने के लिए तपस्या हेतु गये थे। किन्तु नारद मुनि ने उनके उत्तम स्वभाव तथा संस्कृति का लाभ उठाकर उन्हें समुचित निर्देश दिया कि वे इस भौतिक जगत में न फँसें, अपितु अपने ज्ञान तथा संस्कृति का उपयोग अपने भौतिक मामलों को समाप्त करने में करें। हर्यश्वों ने नारद मुनि के आदेश का पालन किया, किन्तु जब इसका समाचार प्रजापति दक्ष के पास लाया गया तो प्रजापति नारद मुनि के इन कार्यों से सुखी होने के बजाय अतीव दुखी हुए। इसी तरह हम अधिक से अधिक युवाओं को उनके परम लाभ हेतु कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लाने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु इस आन्दोलन में शरीक होने वाले युवकों के माता-पिता अत्यधिक दुखी होने से शोक कर रहे हैं और इसके विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं। निस्सन्देह, प्रजापति दक्ष ने नारद मुनि के विरुद्ध कोई प्रचार नहीं किया, लेकिन जैसाकि हम बाद में देखेंगे, दक्ष ने नारद मुनि को उनके उपकारी कार्यों के लिए शाप दिया। यह है भौतिकतावादी जीवन की शैली। भौतिकतावादी माता-पिता अपने पुत्रों को सन्तानें उत्पन्न करने में लगाये रखना, सुधरी आर्थिक स्थिति के लिए प्रयत्न करते रहना तथा भौतिकतावादी जीवन में सड़ते रहने देना चाहते हैं। जब उनकी सन्तानें बर्बाद हो जाती हैं, व्यर्थ के नागरिक बनती हैं, तो वे दुखी नहीं होते किन्तु वे तब शोक करते हैं, जब वे जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में शरीक हो जाते हैं। माता-पिताओं तथा कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बीच यह शत्रुता सनातन काल से चली आ रही है। यहाँ तक कि नारद मुनि की भी निन्दा की गई तो दूसरों के विषय में क्या कहा जाये? फिर भी नारद मुनि कभी अपने मिशन को नहीं त्यागते। यथासम्भव पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए वे अपनी वीणा बजाते रहते हैं और हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे की दिव्य ध्वनि का उच्चारण करते रहते हैं।

**स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः ।**
**पुत्रानजनयद्दक्षः सवलाश्वान्सहस्त्रिणः ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

सः—प्रजापति दक्षः; भूयः—पुनः; पाञ्चजन्यायाम्—अपनी पत्नी अस्किनी या पाञ्चजनी के गर्भ से; अजेन—ब्रह्मा द्वारा; परिसान्त्वितः—सान्त्वना दिये जाने पर; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—उत्पन्न किया; दक्षः—प्रजापति दक्ष ने; सवलाश्वान्—सवलाश्वों के नामवाले; सहस्त्रिणः—एक हजार।

**जब प्रजापति दक्ष अपने खोये हुए पुत्रों के लिए शोक कर रहे थे तो ब्रह्मा ने उपदेश देकर उन्हें सान्त्वना दी और उसके बाद दक्ष ने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से एक हजार सन्तानें और उत्पन्न कीं। इस बार के उनके पुत्र सवलाश्व कहलाये।**

**तात्पर्य :** प्रजापति दक्ष का यह नाम इसलिए पड़ा था, क्योंकि वे सन्तानें उत्पन्न करने में दक्ष थे। (दक्ष का अर्थ है "पटु")। पहले उन्होंने अपनी पत्नी के गर्भ से दस हजार सन्तानें उत्पन्न की और जब ये सन्तानें खो गईं—जब वे भगवद्धाम चली गईं तो उन्होंने सन्तानों की दूसरी टोली उत्पन्न की जो सवलाश्व कहलाई। प्रजापति दक्ष सन्तानें उत्पन्न करने में अत्यन्त दक्ष हैं और नारदमुनि समस्त बद्धजीवों का उद्धार करके उन्हें भगवद्धाम वापस भेजने में दक्ष हैं। अतएव भौतिकतावादी दक्ष आध्यात्मिक दक्ष नारद मुनि से सहमत नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नारद मुनि हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन करने का अपना कार्य त्याग देंगे।

**ते च पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः ।**
**नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः ॥ २५ ॥**

### शब्दार्थ

ते—ये पुत्र ( सवलाश्व ); च—तथा; पित्रा—अपने पिता द्वारा; समादिष्टाः—आदेश दिये गये; प्रजा-सर्गे—सन्तति या जनसंख्या बढ़ाने में; धृत-व्रताः—व्रत स्वीकार किया; नारायण-सरः—नारायण सरस नामक पवित्र झील; जग्मुः—गये; यत्र—जहाँ; सिद्धाः—पूरा किया; स्व-पूर्व-जाः—उनके बड़े भाई जो पहले वहाँ गये थे।

**सन्तानें उत्पन्न करने के अपने पिता के आदेशानुसार पुत्रों की यह दूसरी टोली भी नारायण सरस नामक उस स्थान पर गई, जहाँ उनके भाइयों ने इसके पूर्व नारद के उपदेशों का पालन करते हुए सिद्धि प्राप्त की थी। तपस्या का महान् व्रत लेकर सवलाश्व उस पवित्र**

**स्थान पर रहने लगे।**

**तात्पर्य :** प्रजापति दक्ष ने अपने पुत्रों की दूसरी टोली को उसी स्थान पर भेजा जहाँ उनके पहले पुत्रों ने सिद्धि प्राप्त की थी। अपने पुत्रों की दूसरी टोली को उसी स्थान पर भेजने में वे तनिक भी नहीं हिचकिचाये, यद्यपि ये भी नारद के उपदेशों के शिकार हो सकते थे। वैदिक संस्कृति के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने से पूर्व ब्रह्मचारी के रूप में आध्यात्मिक ज्ञान के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। यह वैदिक प्रणाली है। अत: प्रजापति दक्ष ने अपने पुत्रों की दूसरी टोली को सांस्कृतिक प्रगति के लिए भेजा, यद्यपि वहाँ यह खतरा था कि नारद के उपदेशों से वे अपने बड़े भाइयों की तरह कहीं बुद्धिमान न बन जाँय। कर्तव्यनिष्ठ पिता के रूप में उन्होंने अपने पुत्रों को जीवन की पूर्णता विषयक सांस्कृतिक उपदेश प्राप्त करने की अनुमति देने में हिचकिचाहट नहीं की। वे उन पर निर्भर रहे कि वे भगवद्धाम वापस जाना चाहते हैं या भौतिक जगत में इसी विभिन्न योनियों में सड़ना चाहते हैं। सभी परिस्थितियों में पिता का कर्तव्य है कि अपने पुत्रों को सांस्कृतिक शिक्षा दे और बाद में वे यह निश्चय करें कि वे किस मार्ग पर जाना चाहते हैं। जिम्मेदार पिताओं को चाहिए वे अपने पुत्रों को, जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सान्निध्य में सांस्कृतिक उन्नति कर रहे हैं, न रोकें। यह पिता का कर्तव्य नहीं होता। पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों को पूर्ण स्वतंत्रता दे कि वे गुरु के उपदेशों का पालन करते हुए आध्यात्मिक रूप से उन्नत हो जाने पर अपने मन के अनुसार चुनाव करें।

**तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।**
**जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तत्र महत्तपः ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

तत्—उस तीर्थस्थान के; उपस्पर्शनात्—जल में नियमित स्नान करने से; एव—निस्सन्देह; विनिर्धूत—पूर्णतया शुद्ध हुए; मल-आशयाः—हृदय के भीतर की सारी धूल से; जपन्तः—कीर्तन करते या गुनगुनाते हुए; ब्रह्म—ॐ से शुरु होने वाले

मंत्र ( यथा ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ); परमम्—चरम लक्ष्य; तेपुः—सम्पन्न किया; तत्र—वहाँ; महत्—महान्; तपः—तपस्या ।.

**नारायण सरस पर पुत्रों की दूसरी टोली ने पहली टोली की ही तरह तपस्या की। उन्होंने पवित्र जल में स्नान किया और इसके स्पर्श से उनके हृदयों की सारी मलिन भौतिक इच्छाएँ दूर हो गईं। उन्होंने ॐकार से प्रारम्भ होने वाले मंत्रों का मन में जप किया और कठिन तपस्याएं की।**

**तात्पर्य :** प्रत्येक वैदिक मंत्र *ब्रह्म* कहलाता है, क्योंकि प्रत्येक मंत्र के प्रारम्भ में ॐ या *ॐकार ब्रह्माक्षर* होता है। उदाहरणार्थ, *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। भगवद्गीता* (७.८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*प्रणवः सर्ववेदेषु*—सारे वैदिक मंत्रों में मेरा प्रतिनिधित्व प्रणव या ॐकार द्वारा होता है। इस तरह ॐकार से प्रारम्भ होने वाले वैदिक मंत्रों का उच्चारण कृष्ण के नाम का प्रत्यक्ष उच्चारण है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। कोई चाहे *ॐकार* उच्चारण करे या भगवान् को कृष्ण कहकर सम्बोधित करे, अर्थ एकसा होता है, किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने यह संस्तुति की है कि इस युग में हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन किया जाये (*हरेर्नामैव केवलम्*)। यद्यपि हरे कृष्ण तथा ॐकार से प्रारम्भ होने वाले वैदिक मंत्रों में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु इस युग के आध्यात्मिक आन्दोलन के नायक श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है कि मनुष्य हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन करें।

**अब्भक्षाः कतिचिन्मासान्कतिचिद्वायुभोजनाः ।**
**आराधयन्मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम् ॥ २७॥**
**ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने ।**
**विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय महाहंसाय धीमहि ॥ २८॥**

### शब्दार्थ

अप्-भक्षाः—केवल जल पीते हुए; कतिचित् मासान्—कुछ महीनों तक; कतिचित्—कुछ; वायु-भोजनाः—वायु खाते हुए अथवा केवल श्वास लेते हुए; आराधयन्—पूजा की; मन्त्रम् इमम्—इस मंत्र का, जो नारायण से अभिन्न है; अभ्यस्यन्तः—अभ्यास करते हुए; इडः-पतिम्—सभी मंत्रों के स्वामी, भगवान् विष्णु को; ॐ—हे प्रभु; नमः—सादर नमस्कार; नारायणाय—नारायण को; पुरुषाय—परम पुरुष को; महा-आत्मने—उच्च परमात्मा; विशुद्ध-सत्त्व-

धिष्ण्याय—सदैव दिव्य धाम में स्थित रहने वाले; महा-हंसाय—महान् हंस के समान भगवान् को; धीमहि—हम सदैव अर्पित करते हैं।

**प्रजापति दक्ष के पुत्रों ने कुछ महीनों तक केवल जल पिया और वायु खायी। इस तरह महान् तपस्या करते हुए उन्होंने इस मंत्र का जाप किया, ''हम उन भगवान् नारायण को नमस्कार करते हैं, जो सदैव अपने दिव्य धाम में स्थित रहते हैं। चूँकि वे परम पुरुष ( परमहंस ) हैं, अतएव हम उन्हें सादर नमस्कार करते हैं।''**

**तात्पर्य :** इन श्लोकों से ऐसा लगता है कि महामंत्र या वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ-साथ कठिन तपस्या भी करनी चाहिए। कलियुग के लोग यहाँ पर उल्लिखित कठिन तपस्या केवल जल पीते हुए तथा महीनों तक केवल वायु खाते हुए नहीं कर सकते। लोगों को ऐसी विधि की नकल नहीं करनी चाहिए। किन्तु उन्हें कम से कम चार अवांछित तत्त्वों अर्थात् अवैध मैथुन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने का परित्याग करके थोड़ी सी तपस्या करनी चाहिए। इस तपस्या को कोई भी कर सकता है और फिर हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण तुरन्त ही प्रभावशाली होगा। उसे तपस्या की विधि का परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो उसे गंगा या यमुना के जल में स्नान करना चाहिए या गंगा-यमुना की अनुपस्थिति में उसे समुद्र के जल में स्नान करना चाहिए। यह तपस्या का एक अंग है। इसलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने दो अत्यन्त विशाल केन्द्रों की स्थापना की है—एक वृन्दावन में और दूसरा मायापुर नवद्वीप में। वहाँ पर मनुष्य गंगा में या यमुना में स्नान कर सकता है, हरे कृष्णमंत्र का कीर्तन कर सकता है और इस तरह सिद्ध बनकर भगवद्धाम वापस जा सकता है।

**इति तानपि राजेन्द्र प्रजासर्गधियो मुनिः ।**
**उपेत्य नारदः प्राह वाचः कूटानि पूर्ववत् ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तान्—उनको ( प्रजापति दक्ष के पुत्र सवलाश्वों को ); अपि—भी; राजेन्द्र—हे राजा परीक्षित; प्रजा-सर्ग-धियः—जो इस विचार के थे कि सन्तान उत्पन्न करना सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है; मुनिः—महान् ऋषि; उपेत्य—पास जाकर; नारदः—नारद ने; प्राह—कहा; वाचः—शब्द; कूटानि—गूढ़ पहेली जैसे; पूर्व-वत्—पहले की ही तरह।

**हे राजा परीक्षित! नारदमुनि प्रजापति दक्ष के उन पुत्रों के पास पहुँचे जो सन्तान उत्पन्न करने के लिए तपस्या में लगे हुए थे और उनसे उसी तरह के गूढ़ शब्द कहे जैसे उनके ज्येष्ठ भाइयों से कहे थे।**

**दाक्षायणाः संशृणुत गदतो निगमं मम ।**
**अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातृणां भ्रातृवत्सलाः ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

दाक्षायणाः—हे प्रजापित दक्ष के पुत्रो; संशृणुत—ध्यानपूर्वक सुनो; गदतः—जो मैं कह रहा हूँ; निगमम्—उपदेश; मम—मेरा; अन्विच्छत—अनुगमन करो; अनुपदवीम्—मार्ग; भ्रातृणाम्—अपने भाइयों का; भ्रातृ-वत्सलाः—हे अपने भाइयों के परम वत्सल।.

**हे दक्षपुत्रो! मेरे उपदेशरूपी वचनों को ध्यानपूर्वक सुनो। तुम सभी अपने ज्येष्ठ भाइयों, हर्यश्वों, के प्रति अति वत्सल हो। अतएव तुम्हें उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।**

**तात्पर्य :** नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्रों की दूसरी टोली को उनके भाइयों के प्रति स्वाभाविक प्रेम को जाग्रत करके प्रोत्साहित किया। उन्होंने यह प्रेरणा दी कि वे अपने ज्येष्ठ भाइयों का अनुगमन करें यदि उन्हें उनसे तनिक भी प्रेम है। पारिवारिक स्नेह अतीव प्रबल होता है, अतएव नारद मुनि ने उन्हें हर्यश्वों के साथ पारिवारिक सन्बन्ध को स्मरण कराने की चाल चली। सामान्यतया *निगम* शब्द वेदों का द्योतक हैं, किन्तु यहाँ पर यह शब्द वेदों में निहित उपदेशों का द्योतक है। *श्रीमद्भागवत* का कथन है—*निगम कल्पतरोर्गलितं फलम्*—वैदिक उपदेश वृक्ष के समान हैं जिसका पका हुआ फल *श्रीमद्भागवत* है। नारद मुनि इस फल को बाँटने में लगे हैं, अतएव उन्होंने अज्ञानी मानव-समाज के लाभ हेतु व्यासदेव को इस महापुराण *श्रीमद्भागवत* की रचना करने के लिए आदेश दिया।

*अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।*

*लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥*

“जीव के भौतिक कष्ट, जिन्हें वह अनर्थ समझता है, भक्तियोग द्वारा सीधे कम किये जा

सकते हैं, किन्तु जन सामान्य इसे नहीं जानता, इसलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया जिसका सम्बन्ध परम सत्य से है।'' *भागवत* १.७.६)। लोग अज्ञान के कारण दुख पा रहे हैं और सुख के लिए वे गलत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। यह अनर्थ कहलाता है। ये भौतिक कार्यकलाप उन्हें कभी सुखी नहीं बना सकेंगे, इसीलिए नारद ने व्यासदेव को *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों को आंकित करने का आदेश दिया। व्यासदेव ने वस्तुतः नारद की आज्ञा का पालन किया और इसे सम्पन्न किया। *श्रीमद्भागवत* वेदों का परम उपदेश है। *गलितं फलम्*—*श्रीमद्भागवत* वेदों का पका हुआ फल है।

**भ्रातॄणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित् ।**
**स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते ॥ ३१ ॥**

### शब्दार्थ

**भ्रातॄणाम्**—ज्येष्ठ भाइयों का; **प्रायणम्**—मार्ग; **भ्राता**—आज्ञाकारी भाई; **यः**—जो; **अनुतिष्ठति**—अनुगमन करता है; **धर्म-वित्**—धार्मिक सिद्धान्तों का ज्ञाता; **सः**—वह; **पुण्य-बन्धुः**—अत्यधिक पवित्र; **पुरुषः**—पुरुष; **मरुद्भिः**—वायु के देवताओं के; **सह**—साथ; **मोदते**—जीवन का आनन्द भोगता हैं।

**धर्म के नियमों से अवगत भाई अपने ज्येष्ठ भाइयों के पदचिन्हों का अनुगमन करता है। अत्यधिक बढ़े-चढ़े होने से ऐसा पवित्र भाई मरुत जैसे देवताओं की संगति करने तथा आनन्द भोगने का अवसर प्राप्त करता है, जो सभी प्रकार से अपने भाइयों के प्रति स्नेहिल है।**

**तात्पर्य :** विभिन्न भौतिक सम्बन्धों में अपने-अपने विश्वास के अनुसार लोग विभिन्न लोकों में भेजे जाते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि जो अपने भाइयों का अति आज्ञाकारी होता है उसे उनके ही जैसे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और मरुद्लोक पहुँचने का अवसर प्राप्त करना चाहिए। नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्रों की दूसरी टोली को उनके अपने बड़े भाइयों का अनुगमन करने तथा आध्यात्मिक जगत पहुँचने के लिए सलाह दी।

एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः ।
तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातृणामेव मारिष ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इतना; उक्त्वा—कहकर; प्रययौ—उस स्थान से चले गये; नारदः—नारद मुनि; अमोघ-दर्शनः—जिनकी चितवन सर्वमंगलमय है; ते—वे; अपि—भी; च—तथा; अन्वगमन्—अनुगमन किया; मार्गम्—मार्ग का; भ्रातृणाम्—अपने पहले वाले भाइयों का; एव—निस्सन्देह; मारिष—हे महान् आर्य राजा।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे आर्यों में सर्व अग्रणी! नारदमुनि, जिनकी कृपादृष्टि कभी व्यर्थ नहीं जाती, प्रजापति दक्ष के पुत्रों से इतना कहकर अपनी योजना के अनुसार वहाँ से विदा हो गये। दक्ष के पुत्रों ने अपने बड़े भाइयों का अनुसरण किया। सन्तानें उत्पन्न करने का प्रयास न करके वे कृष्णभावनामृत में लग गये।

सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः ।
नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सध्रीचीनम्—पूर्णतया सही; प्रतीचीनम्—सर्वोच्च लक्ष्य, भक्ति, की लक्षित जीवन शैली अपनाने से प्राप्य; परस्य—भगवान् का; अनुपथम्—मार्ग; गताः—ग्रहण करके; न—नहीं; अद्य अपि—आज तक भी; ते—वे ( प्रजापति दक्ष के पुत्र ); निवर्तन्ते—वापस आये हैं; पश्चिमाः—पश्चिमी ( जो बीत चुके हैं ); यामिनीः—रातें; इव—सदृश।

सवलाश्वों ने सही मार्ग अपनाया जो भक्ति को प्राप्त करने के निमित्त जीवन-शैली द्वारा प्राप्य है या भगवान् की कृपा से प्राप्य है। वे रात्रियों की तरह पश्चिम की ओर गये हैं, किन्तु अभी तक वापस नहीं आये हैं।

एतस्मिन्काल उत्पातान्बहून्पश्यन्प्रजापतिः ।
पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाशृणोत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इस; काले—समय में; उत्पातान्—उत्पात; बहून्—अनेक; पश्यन्—देखकर; प्रजापतिः—प्रजापति दक्ष ने; पूर्व-वत्—पहले की तरह; नारद—नारद मुनि द्वारा; कृतम्—किया हुआ; पुत्र-नाशम्—अपने पुत्रों की क्षति; उपाशृणोत्—सुना।

इस समय प्रजापति दक्ष ने अनेक अपशकुन देखे और विविध स्रोतों से सुना कि उनके पुत्रों की दूसरी टोली, सवलाश्वों, ने नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार अपने ज्येष्ठ भाइयों के

**ही मार्ग का अनुसरण किया है।**

**चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः ।**
**देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः ॥ ३५॥**

शब्दार्थ

चुक्रोध—अत्यन्त क्रुद्ध हुआ; नारदाय—नारदमुनि पर; असौ—वह ( दक्ष ); पुत्र-शोक—अपने पुत्रों की क्षति के शोक के कारण; विमूर्च्छितः—प्रायः अचेत; देवर्षिम्—देवर्षि नारद को; उपलभ्य—देखकर; आह—कहा; रोषात्—महान् क्रोध वश; विस्फुरित—काँपते हुए; अधरः—होठों वाला।.

**जब दक्ष ने सुना कि सवलाश्वों ने भी भक्ति में संलग्न होने के लिए इस जगत को छोड़ दिया है, तो वे नारद पर क्रुद्ध हुए और शोक के कारण वे अचेतप्राय हो गये। जब दक्ष की नारद से भेंट हुई तो क्रोध से दक्ष के होंठ काँपने लगे और वे इस प्रकार बोले।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि नारदमुनि ने प्रियव्रत तथा उत्तानपाद से लेकर स्वायंभुव मनु के सारे परिवार का उद्धार किया था। उन्होंने उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव का उद्धार किया था और प्राचीनबर्हि तक का उद्धार किया जो सकाम कर्मों में लगा हुआ था। तो भी वे प्रजापति दक्ष का उद्धार नहीं कर पाये। प्रजापति दक्ष ने नारद को अपने समक्ष देखा, क्योंकि नारद स्वयं उसका उद्धार करने आये थे। नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पास उनकी शोकाकुल दशा में मिलने का अवसर निकाला, क्योंकि शोकविह्वल दशा भक्तियोग को समझने के लिए उपयुक्त समय होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है—चार प्रकार के लोग—*आर्त* (दुखी), *अर्थार्थी* (धन की आवश्यकता वाला), *जिज्ञासु* (जो पूछताछ करना चाहता है) तथा *ज्ञानी* (ज्ञानवान्)—भक्ति को समझने की कोशिश करते हैं। प्रजापति दक्ष अपने पुत्रों की क्षति होने के कारण अत्यन्त विषाद में था, अतएव नारद ने भौतिक बन्धन से मुक्ति के विषय में उसे उपदेश देने का अवसर ढूँढ निकाला।

श्रीदक्ष उवाच

**अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया ।**

**असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥ ३६ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-दक्षः उवाच—प्रजापति दक्ष ने कहा; अहो असाधो—हे अत्यन्त बेईमान अभक्त; साधूनाम्—भक्तों तथा महामुनियों के समाज का; साधु-लिङ्गेन—सन्त पुरुषों का वेश धारण किये; नः—हमको; त्वया—तुम्हारे द्वारा; असाधु—बेईमानी; अकारि—की गई है; अर्भकाणाम्—अनुभवहीन बेचारे बालकों को; भिक्षोः मार्गः—भिखारी या भिक्षुक संन्यासी का मार्ग; प्रदर्शितः—दिखाया गया।

**प्रजापति दक्ष ने कहा : हाय नारदमुनि! तुम सन्त पुरुष का वेश धारण करते हो, किन्तु तुम वास्तव में सन्त हो नहीं। यद्यपि अब मैं गृहस्थ जीवन में हूँ, किन्तु मैं सन्तपुरुष हूँ। तुमने मेरे पुत्रों को संन्यास का मार्ग दिखाकर मेरे साथ निन्दनीय अन्याय किया है।**

**तात्पर्य :** श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा—*संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोके गाय* (*चैतन्य-चरितामृत* मध्य १२.५१)। समाज में अनेक संन्यासी, वानप्रस्थ, गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी मिलेंगे, किन्तु यदि वे सब अपने कर्तव्यों के अनुसार उचित ढंग से रहें तो उन्हें साधु समझा जाता है। प्रजापति दक्ष निश्चय ही साधु थे, क्योंकि उन्होंने ऐसी महान् तपस्या की थी कि भगवान् विष्णु उनके समक्ष प्रकट हुए थे। तो भी उनमें त्रुटि निकालने की मनोवृत्ति थी उन्होंने अनुचित तौर पर सोचा कि नारद मुनि असाधु हैं, क्योंकि नारद ने उनके इरादों को ध्वस्त कर दिया था। दक्ष ने अपने पुत्रों को नारायण सरस के पास तपस्या करने के लिए इस अभिलाषा से भेजा था कि वे ज्ञान से युक्त पूर्णतया गृहस्थ बन सकें। किन्तु नारद मुनि ने तपस्या में उनकी अति उच्च स्थिति का लाभ उठाकर उन्हें संन्यास आश्रम में वैष्णव बनने का उपेदश दिया। यही नारद मुनि तथा उनके अनुयायियों का कर्तव्य है। उन्हें चाहिए कि वे सबों को इस जगत का परित्याग करने और भगवद्धाम लौटने का मार्ग दिखलाएँ। किन्तु प्रजापति दक्ष अपने पुत्रों के सम्बन्ध में नारद मुनि द्वारा किये गये कर्तव्यों की महानता को नहीं देख सके। नारद मुनि के आचरण को समझने में असमर्थ दक्ष ने नारद पर *असाधु* होने का दोषारोपण किया।

इस सन्दर्भ में *भिक्षोर्मार्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। संन्यासी को त्रिदण्डीभिक्षु कहा जाता है, क्योंकि उसका कर्तव्य है कि वह गृहस्थों के घरों से भिक्षा माँगे और गृहस्थों को आध्यात्मिक

उपदेश दे। संन्यासी को द्वार द्वार जाकर भिक्षा माँगने की अनुमति है, किन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकता। गृहस्थ चार आश्रमों के अनुसार अपनी जीविका चला सकता है, ब्राह्मण गृहस्थ विद्वान बनकर तथा सामान्य लोगों को भगवान् की पूजा करने की विधि बताकर जीविका अर्जित कर सकता है। वह स्वयं पूजा का कार्य कर सकता है। इसलिए यह कहा जाता है कि एकमात्र ब्राह्मण ही अर्चाविग्रह–पूजा में लगें और लोग अर्चाविग्रह पर जो भी प्रसाद भेंट करें उसे वे ग्रहण करें। यद्यपि कभी–कभी ब्राह्मण दान ले सकता है, किन्तु वह निजी भरण–पोषण के लिए नहीं, अपितु अर्चाविग्रह की पूजा करने के लिए होता है। इस तरह ब्राह्मण अपने भावी इस्तेमाल के लिए कुछ भी संग्रह नहीं करता। इसी तरह क्षत्रिय नागरिकों से कर वसूल सकते हैं और उन्हें नागरिकों की रक्षा भी करनी चाहिए, विधि–विधानों को लागू करना चाहिए और कानून तथा व्यवस्था बनाये रखना चाहिए। वैश्यों को कृषि तथा गो–रक्षा के द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिए तथा शूद्रों को तीनों उच्च वर्णों की सेवा करके अपनी जीविका चलानी चाहिए। ब्राह्मण बने बिना कोई संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। संन्यासी तथा ब्रह्मचारी द्वार–द्वार जाकर भीख माँग सकते हैं, किन्तु गृहस्थ नहीं।

प्रजापति दक्ष ने नारद मुनि की निन्दा की, क्योंकि द्वार–द्वार भिक्षा माँगने वाले ब्रह्मचारी नारद ने दक्ष के उन पुत्रों को संन्यासी बना दिया था, जो गृहस्थ बनने के लिए प्रशिक्षित किये जा रहे थे। दक्ष नारद पर अत्यधिक क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्होंने सोचा कि नारद ने उनके साथ घोर अन्याय किया है। दक्ष के मतानुसार, नारद मुनि ने दक्ष के अनुभवहीन पुत्रों को गुमराह किया था (*असाध्वकार्यर्भकाणाम्*)। दक्ष अपने पुत्रों को अबोध बालक मानता था जिन्हें नारद ने संन्यास आश्रम दिखला कर गुमराह बनाया। इन सब बातों के कारण प्रजापति दक्ष ने नारदमुनि पर दोषारोपण किया कि वे असाधु थे और उन्हें साधु का वेश धारण नहीं करना चाहिए था।

कभी–कभी सन्तपुरुष को गृहस्थों द्वारा गलत समझ लिया जाता है, विशेषतया जब वह गृहस्थों के युवा पुत्रों को कृष्णभावनामृत स्वीकार करने का उपदेश देता है। सामान्यतया एक

गृहस्थ सोचता है कि गृहस्थ जीवन में प्रवेश किये बिना वह संन्यास आश्रम में ठीक से प्रवेश नहीं कर सकता। यदि कोई युवा व्यक्ति नारद के या उनकी गुरु-परम्परा के किसी सदस्य के उपदेशों के अनुसार संन्यास आश्रम का मार्ग अपनाता है, तो उसके माता-पिता अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं। यही घटना हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भी देखी जाती है, क्योंकि हम पाश्चात्य देशों के सारे युवा बालकों को संन्यास मार्ग अपनाने के लिए शिक्षा दे रहे हैं। हम गृहस्थ जीवन की अनुमति देते हैं, किन्तु गृहस्थ भी त्याग के मार्ग का पालन करता है। यहाँ तक कि गृहस्थ को अनेक बुरी आदतों को छोड़ना पड़ता है, जिससे उसके माता-पिता सोचते हैं कि उसका जीवन एक तरह से विनष्ट हो गया है। हम मांसहार, अवैध मैथुन, जुआ तथा नशा की अनुमति नहीं देते; फलस्वरूप माता-पिता आश्चर्य करते हैं कि किस तरह जीवन सकारात्मक हो सकता है, जबकि इतने निषेध लगे हुए हैं। विशेषतया पाश्चात्य देशों में ये चार निषिद्ध कार्य एक तरह से आधुनिक जनसमूह के प्राणाधार हैं। इसलिए माता-पिता कभी-कभी हमारे आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, जिस तरह प्रजापति दक्ष को नारद के कार्य अच्छे नहीं लगे और उन्होंने नारद पर बेईमानी का दोषारोपण कर दिया। भले ही माता-पिता हम पर रुष्ट हों, किन्तु हमें बिना हिचक के अपना कर्तव्य निभाना है, क्योंकि हम नारदमुनि की शिष्य-परम्परा में हैं।

गृहस्थ जीवन में लिप्त रहने वाले लोग आश्चर्य करते हैं, कि किस तरह कृष्णभावनामृत में साधु बनने मात्र के लिए ही कोई गृहस्थ जीवन के भोग को त्याग सकता है, जो कि काम-भोग के लिए छूट है। वे यह नहीं जानते कि गृहस्थ को मिली यौन जीवन की छूट तब तक नियमित नहीं की जा सकती जब तक वह साधु का जीवन न बिताए। अत: वैदिक सभ्यता का आदेश है कि पचास वर्ष की आयु होते ही मनुष्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दे। यह अनिवार्य है। किन्तु आधुनिक सभ्यता गुमराह हो चुकी है, अत: गृहस्थ लोग मृत्यु तक पारिवारिक जीवन में लगे रहना चाहते हैं, इसीलिए वे कष्ट उठाते हैं। ऐसे मामलों में नारद मुनि के शिष्य तरुण पीढ़ी के सभी सदस्यों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में तुरन्त शरीक होने की सलाह देते हैं। इसमें कोई बुराई

नहीं है।

**ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् ।**
**विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः ॥ ३७॥**

शब्दार्थ

ऋणैः—कर्जे से; त्रिभिः—तीन; अमुक्तानाम्—ऐसे पुरुषों का जो मुक्त नहीं हैं; अमीमांसित—विचार न करते हुए; कर्मणाम्—कर्तव्य-पथ; विघातः—नष्ट कर देते हैं; श्रेयसः—सौभाग्य-पथ का; पाप—हे परम पापी ( नारद मुनि ); लोकयोः—लोकों का; उभयोः—दोनों; कृतः—किया हुआ।.

**प्रजापति दक्ष ने कहा : मेरे पुत्र अपने तीन ऋणों से मुक्त भी नहीं हुए थे। दरअसल, उन्होंने ठीक से अपने कर्तव्यों पर विचार भी नहीं किया था। रे नारदमुनि! रे साक्षात् पापकर्म! तुमने इस जगत में उनके सौभाग्य की प्रगति में बाधा डाली है और दूसरी बात यह कि अभी भी वे सन्त पुरुषों, देवताओं तथा अपने पिता के ऋणी हैं।**

**तात्पर्य :** ज्योंही ब्राह्मण जन्मता है उस पर तीन ऋण चढ़ जाते हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। सन्त पुरुषों के ऋण से उऋण होने के लिए ब्राह्मण के पुत्र को ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है। देवऋण से उऋण होने के लिए कर्मकाण्ड करना तथा पितृऋण से उऋण होने के लिए उसे सन्तान उत्पन्न करना आवश्यक है। प्रजापति दक्ष ने तर्क किया है कि यद्यपि मुक्ति के लिए संन्यास आश्रम की संस्तुति की जाती है, किन्तु जब तक वह देवताओं, सन्तों तथा अपने पिता के प्रति कर्तव्यों को पूरा नहीं कर लेता वह मुक्ति नहीं पा सकता। चूँकि दक्ष के पुत्र इन तीन ऋणों से मुक्त नहीं हो पाये थे, अतः नारद मुनि उन्हें संन्यास जीवन की ओर कैसे ले गये? स्पष्ट है कि प्रजापति दक्ष को शास्त्रों का अन्तिम निर्णय ज्ञात न था। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

*देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।*
*सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥*

हर व्यक्ति देवताओं, सामान्य जीवों, अपने परिवार, पिता इत्यादि का ऋणी होता है, किन्तु

यदि कोई मुक्तिप्रदाता कृष्ण या मुकुन्द की शरण में पूरी तरह चला जाता है, तो यदि वह यज्ञ न भी करे तो भी सारे ऋणों से उऋण हो जाता है। यदि कोई उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के लिए भौतिक जगत का परित्याग कर देता है जिनके चरणकमल हर एक के आश्रय हैं, तो वह अपने ऋणों से उऋण हुए बिना ही मुक्त हो जाता है। यह शास्त्र का निर्णय है। अत: नारद मुनि प्रजापति दक्ष के पुत्रों को तुरन्त ही इस भौतिक जगत का परित्याग करने तथा भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए उपदेश देने में पूरी तरह से सही थे। दुर्भाग्यवश, हर्यश्वों तथा सवलाश्वों के पिता प्रजापति दक्ष नारदमुनि द्वारा की गई महती सेवा को समझ नहीं सके। अतएव दक्ष ने उन्हें *पाप* (साक्षात् पापकर्म) तथा *असाधु* (असन्त पुरुष) कहकर सम्बोधित किया। चूँकि नारद मुनि महान् सन्त तथा वैष्णव थे, अतएव उन्होंने प्रजापति दक्ष के ऐसे समस्त आरोपों को सहन कर लिया। उन्होंने प्रजापति दक्ष के सारे पुत्रों का उद्धार करके, उन्हें भगवद्धाम वापस जाने में समर्थ बनाकर वैष्णव के रूप में अपना कर्तव्य पूरा किया।

**एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः ।**
**पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः ॥ ३८ ॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; त्वम्—तुम (नारद); निरनुक्रोशः—दयाविहीन; बालानाम्—अबोध, अनुभवहीन बालकों का; मति-भित्—चेतना को दूषित करते हुए; हरेः—भगवान् के; पार्षद-मध्ये—निजी संगियों के बीच; चरसि—विचरण करते हुए; यशः-हा—भगवान् को बदनाम करने वाले; निरपत्रपः—निर्लज्ज (यद्यपि तुम नहीं जानते कि तुम क्या कर रहे हो, किन्तु तुम पापकर्म कर रहे हो)।

**प्रजापति दक्ष ने आगे कहा : इस तरह अन्य जीवों के प्रति हिंसा करके भी अपने को भगवान् विष्णु का पार्षद कहते हुए तुम भगवान् को बदनाम कर रहे हो। तुमने व्यर्थ ही अबोध बालकों में संन्यास की प्रवृत्ति उत्पन्न की, इसलिए तुम निर्लज्ज निर्दयी हो। तुम भगवान् के निजी संगियों के साथ किस तरह विचरण कर सकते हो?**

**तात्पर्य :** प्रजापति दक्ष की यह मनोवृत्ति आज भी बनी हुई है। जब युवागण कृष्णभावनामृत आन्दोलन में शरीक होते हैं, तो उनके पिता एवं तथाकथित अभिभावक कृष्णभावनामृत आन्दोलन

के संस्थापक पर अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि उनके पुत्रों को व्यर्थ ही प्रेरित करके उन्हें खाने, पीने तथा मौज उड़ाने के भौतिक भोगों से वंचित कर दिया गया है। कर्मी यह सोचते हैं कि इस भौतिक जगत में वर्तमान जीवन का पूरी तरह भोग किया जाना चाहिए और उच्चलोकों में जाने के लिए कुछ पुण्यकर्म भी कर लिये जाने चाहिए जिससे अगले जीवन में भी आनन्द-भोग हो सके। किन्तु योगी और वह भी भक्तियोगी, इस भौतिक जगत के मतों के प्रति क्रूर होता है। वह उन्नत भौतिकतावादी सभ्यता में दीर्घजीवन का भोग करने के लिए देवलोकों की यात्रा करने में रुचि नहीं रखता। जैसाकि प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायतेत्रिदश-पूर् आकाशपुष्पायते*—भक्त के लिए ब्रह्म में तादात्म्य नरक के तुल्य है और देवलोकों का जीवन मृगतृष्णा के समान है, जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। शुद्ध भक्त योगसिद्धि, उच्चलोकों की यात्रा या ब्रह्म से एकाकार होने में रुचि नहीं रखता। वह तो एकमात्र भगवान् की सेवा करने में रुचि रखता है। चूँकि प्रजापति दक्ष कर्मी थे, अत: वे नारद मुनि की उस महती सेवा नहीं सराह सके जो उन्होंने उनके ग्यारह हजार पुत्रों के प्रति की थी। उल्टे, उन्होंने नारदमुनि पर पापी होने का दोषारोपण किया और यह आरोप लगाया कि चूँकि नारद मुनि भगवान् के साथ रहते हैं इसलिए भगवान् भी बदनाम हो जायेंगे। इस तरह दक्ष ने निन्दा की कि नारद मुनि भगवान् के प्रति अपराधी हैं, यद्यपि वे भगवान् के पार्षद जाने जाते हैं।

**ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातरा: ।**
**ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम् ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

ननु—अब; भागवता:—भगवद्भक्त; नित्यम्—शाश्वत रूप से; भूत-अनुग्रह-कातरा:—पतित बद्धजीवों को वर देने के लिए अतीव उत्सुक; ऋते—सिवाय; त्वाम्—तुम्हारे; सौहृद-घ्नम्—मैत्री तोड़ने वाले ( अतएव भागवतों में गिनती किये जाने के अयोग्य ); वै—निस्सन्देह; वैरम्-करम्—तुम शत्रुता उत्पन्न करते हो; अवैरिणाम्—जो शत्रु नहीं हैं ऐसे पुरुषों के प्रति।

**तुम्हें छोड़कर अन्य सारे भगवद्भक्त बद्धजीवों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं और दूसरों को लाभ पहुँचाने के इच्छुक रहते हैं। यद्यपि तुम भक्त का वेश धारण करते हो, किन्तु तुम उन**

**लोगों के साथ शत्रुता उत्पन्न करते हो जो तुम्हारे शत्रु नहीं हैं, या तुम मित्रों के बीच मैत्री तोड़ते हो और शत्रुता उत्पन्न करते हो। क्या इन गर्हित कार्यों को करते हुए अपने को भक्त कहने से लज्जित नहीं होते?**

**तात्पर्य :** नारद मुनि की शिष्य-परम्परा के सेवकों को ऐसी निन्दाओं को सहन करना पड़ेगा। हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के माध्यम से कठोर विधियों का पालन करते हुए युवाओं को भक्त बनने तथा भगवद्धाम वापस जाने के लिए प्रशिक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु हमारी सेवा की प्रशंसा न तो भारत में की जाती है न ही पाश्चात्य देशों में, जहाँ हम इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार करने का प्रयास कर रहे हैं। भारत में ब्राह्मण जाति के लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के शत्रु बन चुके हैं, क्योंकि हम विदेशियों को, जो कि म्लेच्छ तथा यवन माने जाते हैं, ब्राह्मण-पद तक ऊपर उठाते हैं। हम उन्हें तपस्या का प्रशिक्षण देते हैं और उनका यज्ञोपवीत करके उन्हें ब्राह्मण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। इस तरह भारत के ब्राह्मण जाति के लोग पाश्चात्य जगत में हमारे कार्यकलापों से अत्यधिक अप्रसन्न हैं। पश्चिम में भी जो युवा इस आन्दोलन में शामिल होते हैं उनके माता-पिता भी हमारे शत्रु बन गये हैं। शत्रु बनाना हमारा कार्य नहीं, किन्तु विधि ही ऐसी है कि अभक्तगण हमारे प्रति सदैव शत्रुभाव रखेंगे। फिर भी जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है भक्त को सहिष्णु तथा दयालु दोनों ही होना चाहिए। प्रचार-कार्य में रत भक्तगणों को अज्ञानी लोगों द्वारा आरोपित होने के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर भी उन्हें पतित बद्धजीवों के प्रति अत्यन्त दयालु रहना चाहिए, यदि नारद मुनि की गुरु शिष्य परम्परा का कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य पालन करता है, तो उसकी सेवा अवश्य ही मान्य होगी। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.६८-६९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

*य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।*

*भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशय:॥*

*न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम:।*

*भविता न च मे तस्मादन्य: प्रियतरो भुवि॥*

''जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है, वह शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है और अन्त में वह मेरे पास वापस आता है। इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।'' हमें भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रचार करते रहना है और शत्रुओं से डरना नहीं है। हमारा एकमात्र कर्तव्य अपने इस प्रचार द्वारा, जो श्री चैतन्य तथा भगवान् कृष्ण द्वारा सेवा के रूप में स्वीकार किया जायेगा, भगवान् को तुष्ट करना है।

इस श्लोक में *सुहृद-घ्नम्* (मैत्री तोड़ने वाला) शब्द का प्रयोग हुआ है। चूँकि नारद मुनि तथा उनकी गुरु शिष्य परम्परा के सदस्य मैत्री तथा पारिवारिक जीवन को छिन्न-भिन्न करते हैं, अतएव कभी-कभी उन्हें *सुहृदघ्नम्*, अर्थात् सम्बन्धियों के बीच शत्रुता उत्पन्न करने वाला, कहा जाता है। वस्तुत: ऐसे भक्त हर जीव के मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*), किन्तु भ्रमवश उन्हें शत्रु समझा जाता है। प्रचार कार्य कठिन तथा अकृतज्ञ कार्य हो सकता है, किन्तु प्रचारक को भगवान् के आदेशों का पालन करना चाहिए और भौतिकतावादी व्यक्तियों से निडर रहना चाहिए।

**नेत्थं पुंसां विराग: स्यात्त्वया केवलिना मृषा ।**
**मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम् ॥ ४० ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; इत्थम्—इस तरह से; पुंसाम्—पुरुषों का; विराग:—वैराग्य; स्यात्—सम्भव है; त्वया—तुम्हारे द्वारा; केवलिना मृषा—मिथ्या ज्ञान वाला; मन्यसे—मैं सोचता हूँ; यदि—यदि; उपशमम्—भौतिक भोग का वैराग्य; स्नेह-पाश—स्नेह के बन्धन; निकृन्तनम्—काटते हुए।

**प्रजापति दक्ष ने आगे कहा : यदि तुम यह सोचते हो कि वैराग्य की भावना जाग्रत कर देने से ही मनुष्य भौतिक जगत से विरक्त हो जायेगा तो मैं कहूँगा कि पूर्णज्ञान के जाग्रत हुए बिना तुम्हारी तरह केवल वेश बदलने से सम्भवतया वैराग्य नहीं उत्पन्न किया जा सकता।**

**तात्पर्य :** प्रजापति दक्ष का यह कहना सही था कि मात्र वेश बदलने से कोई इस भौतिक जगत से विरक्त नहीं हो जाता। कलियुग के संन्यासी जो कि अपने श्वेत वस्त्रों को बदलकर गेरुवा

वस्त्र धारण करते हैं और तब सोचते हैं कि वे चाहे जो भी करें, तो वे भौतिकतावादी गृहस्थों से भी अधिक गर्हित हैं। इसकी संस्तुति कहीं नहीं की गई। प्रजापति दक्ष इस दोष को इंगित करने में बिल्कुल सही थे, किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि नारद मुनि ने हर्यश्वों तथा सवलाश्वों में पूर्ण ज्ञान के माध्यम से वैराग्य की भावना जाग्रत की थी। ऐसा ही प्रबुद्ध वैराग्य वांछनीय है। मनुष्य को पूर्णज्ञान के साथ संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए (*ज्ञान वैराग्य*), क्योंकि जीवन की सिद्धि तभी सम्भव है जब वह इस भौतिक जगत को इस तरह से छोड़े। उच्च पद तक सरलता से पहुँचा जा सकता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के कथनों (१.२.७) से समर्थित होता है—

*वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।*
*जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥*

"भगवान् कृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को तुरन्त अहैतुक ज्ञान तथा संसार से वैराग्य प्राप्त हो जाता है।" यदि कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् वासुदेव की भक्ति में लगता है, तो उसमें ज्ञान तथा वैराग्य स्वत: प्रकट होते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। प्रजापति दक्ष का यह दोषारोपण कि नारद ने उनके पुत्रों को ज्ञान के पद तक ऊपर नहीं उठाया था, सच नहीं था। प्रजापति दक्ष के सारे पुत्रों को सर्वप्रथम ज्ञान के पद तक उठाया गया था और तब उन्होंने स्वत: इस संसार का परित्याग किया था। संक्षेपत:, जब तक मनुष्य का ज्ञान जाग्रत नहीं होता, वैराग्य नहीं आ सकता, क्योंकि उच्च ज्ञान के बिना मनुष्य भौतिक भोग के प्रति आसक्ति को त्याग नहीं सकता।

**नानुभूय न जानाति पुमान्विषयतीक्ष्णताम् ।**
**निर्विद्यते स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधी: परै: ॥ ४१ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; अनुभूय—अनुभव करके; न—नहीं; जानाति—जानता है; पुमान्—पुरुष; विषय-तीक्ष्णताम्—भौतिक भोग की तीक्ष्णता; निर्विद्यते—कट जाता है; स्वयम्—स्वयं; तस्मात्—उससे; न तथा—उस तरह का नहीं; भिन्न-धी:—बदली हुई बुद्धि वाला; परै:—अन्यों द्वारा।

**निस्सन्देह, भौतिक भोग ही सभी दुखों का कारण है, किन्तु कोई इसे तब तक नहीं**

**छोड़ पाता जब तक वह स्वयं यह अनुभव नहीं कर लेता कि यह कितना कष्टप्रद हैं। इसलिए मनुष्य को तथाकथित भौतिक भोग में रहने देना चाहिए, साथ ही साथ उसे इस मिथ्या भौतिक सुख के कष्ट का अनुभव करने के ज्ञान में प्रगति करते रहने देना चाहिए। तब अन्यों की सहायता के बिना ही वह भौतिक भोग को घृणित पायेगा। जिनके मन अन्यों द्वारा परिवर्तित किये जाते हैं, वे उतने विरक्त नहीं होते जितने कि निजी अनुभव वाले व्यक्ति।**

**तात्पर्य :** यह कहा जाता है कि जब तक स्त्री गर्भवती नहीं होती वह शिशु को जन्म देने के कष्ट को नहीं समझ सकती। *बन्ध्या कि बुझिबे प्रसववेदना। बंध्या* शब्द का अर्थ है बाँझ औरत। ऐसी स्त्री शिशु को जन्म नहीं दे सकती तो भला वह प्रसवपीड़ा का कैसे अनुभव कर सकती है? प्रजापति दक्ष की विचारधारा के अनुसार स्त्री को पहले गर्भवती होना चाहिए और तब शिशु प्रसव की पीड़ा का अनुभव करना चाहिए। तब, यदि वह बुद्धिमती है, तो वह पुन: गर्भवती नहीं होना चाहेगी। किन्तु वास्तव में यह तथ्य नहीं है। यौन सुख इतना प्रबल होता है, कि स्त्री गर्भवती हो जाती है और शिशुजन्म के समय कष्ट पाती है, किन्तु अपने इस अनुभव के बावजूद वह पुन: गर्भवती होती है। प्रजापति दक्ष की विचारधारा के अनुसार मनुष्य को पहले भौतिक भोग में अपने को लिप्त करना चाहिए जिससे ऐसे भोग के कष्ट का अनुभव करने के बाद वह स्वत: विरक्त बन जायेगा। किन्तु भौतिक प्रकृति इतनी प्रबल है कि मनुष्य पग-पग पर कष्ट भोगने पर भी भोग करने के अपने प्रयासों को बन्द नहीं करेगा (*तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदु:खभाज:*)। ऐसी स्थिति में जब तक नारद मुनि जैसे भक्त की या गुरु-शिष्य परम्परा में उनके सेवक की सगंति प्राप्त नहीं होती, मनुष्य की सुप्त वैराग्य भावना को जाग्रत नहीं किया जा सकता। यह तथ्य नहीं है कि चूँकि भौतिक भोग में अनेक कष्टप्रद स्थितियाँ निहित होती हैं, इसलिए मनुष्य स्वत: विरक्त हो जायेगा। मनुष्य को नारद मुनि जैसे भक्त के आशीर्वाद की आवश्यकता होती है। तभी वह भौतिक जगत के प्रति अपनी आसक्ति से विरक्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के तरुण-तरुणियों ने भौतिक भोग की भावना का परित्याग किसी अभ्यास से नहीं किया, अपितु श्री चैतन्य महाप्रभु एवं

उनके सेवकों की कृपा से किया है।

**यन्नस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम् ।**
**कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम् ॥ ४२ ॥**

शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे लिए; त्वम्—तुम; कर्म-सन्धानाम्—जो वैदिक आदेशों के अनुसार सकाम कर्मकाण्डों का दृढ़ता से पालन करता है; साधूनाम्—जो ईमानदार हैं ( क्योंकि हम उच्च सामाजिक स्तर तथा शारीरिक सुविधाओं की ईमानदरीपूर्वक खोज करते हैं ); गृह-मेधिनाम्—यद्यपि पत्नी तथा बच्चों के साथ रह रहे; कृतवान् असि—उत्पन्न किया है; दुर्मर्षम्—असह्य; विप्रियम्—गलत; तव—तुम्हारा; मर्षितम्—क्षमा किया हुआ।

**यद्यपि मैं अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ गृहस्थ जीवन में रहता हूँ, किन्तु मैं पापफलों से रहित जीवन का आनन्द भोगने के लिए सकाम कर्म में लगकर वैदिक आदेशों का ईमानदारी के साथ पालन करता हूँ। मैंने सभी प्रकार के यज्ञ सम्पन्न किये हैं जिनमें देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ सम्मिलित हैं। चूँकि ये यज्ञ व्रत कहलाते हैं इसलिए मैं गृहव्रत कहलाता हूँ। दुर्भाग्यवश तुमने मेरे पुत्रों को अकारण ही वैराग्य के मार्ग में गुमराह करके मुझे अत्यधिक दुख पहुँचाया है। इसे एक बार तो सहन किया जा सकता है।**

**तात्पर्य :** प्रजापति दक्ष यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे अत्यन्त सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उन्होंने नारदमुनि से तब कुछ नहीं कहा जब उन्होंने अकारण ही उनके दस हजार अबोध पुत्रों को वैराग्य मार्ग अपनाने के लिए फुसला लिया था। कभी-कभी गृहस्थों को *गृहमेधी* होने का दोषी ठहराया जाता है, क्योंकि गृहमेधी बिना आध्यात्मिक उन्नति के पारिवारिक जीवन से तुष्ट रहते हैं। किन्तु गृहस्थ तो इससे भिन्न होते हैं, क्योंकि वे अपनी पत्नियों तथा बच्चों के साथ गृहस्थ जीवन तो बिताते हैं, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के लिए उत्सुक रहते हैं। यह सिद्ध करना चाहते हुए कि वे नारद मुनि के प्रति उदार रहे हैं, प्रजापति दक्ष ने बलपूर्वक कहा कि जब नारद ने उनके पहले वाले पुत्रों को गुमराह किया, तो उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की थी; वे दयालु तथा सहिष्णु बने रहे। किन्तु वे दुखी थे, क्योंकि नारद मुनि ने दुबारा उनके पुत्रों को गुमराह किया। इसलिए वे यह सिद्ध करना चाहते थे, कि यद्यपि नारद साधु का-सा वेश बनाये रहते हैं, किन्तु वास्तव में वे साधु

नहीं है, बल्कि गृहस्थ होते हुए वे स्वयं नारद मुनि से बड़े साधु हैं।

**तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः ।**
**तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम् ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ

तन्तु-कृन्तन—हे शैतान, जिसने निर्दयतापूर्वक मेरे पुत्रों को मुझसे विलग कर दिया है; यत्—जो; नः—हमको; त्वम्—तुम; अभद्रम्—अशभु वस्तु; अचरः—किया है; पुनः—फिर से; तस्मात्—इसलिए; लोकेषु—ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सभी लोकों में; ते—तुम्हारा; मूढ—रे धूर्त, जो यही नहीं जानता कि कैसे व्यवहार करना चाहिए; न—नहीं; भवेत्—हो सकता है; भ्रमतः—भ्रमण करने वाले; पदम्—धाम, घर।

**तुमने मेरे पुत्रों को मुझसे एक बार विलग कराया और अब पुनः तुमने वही अशुभ कार्य किया है। अतः तुम धूर्त हो जो यह नहीं जानता कि अन्यों के साथ किस तरह व्यवहार करना चाहिए। भले ही तुम ब्रह्माण्ड भर में भ्रमण करते रहते हो, किन्तु मैं शाप देता हूँ कि तुम्हारा कहीं भी निवासस्थान न हो।**

**तात्पर्य :** चूँकि प्रजापित ऐसे *गृहमेधी* थे, जो गृहस्थ जीवन में बने रहना चाहते थे, अतएव उन्होंने सोचा कि यदि नारद एक स्थान में न रहने पायें, अपितु सारे जगत में भ्रमण करते रहें तो उनके लिए यह बड़ा दण्ड होगा। किन्तु वस्तुतः प्रचारक के लिए ऐसा दण्ड वरदान बन जाता है। प्रचारक *परिव्राजकाचार्य* कहलाता है अर्थात् ऐसा *आचार्य* या शिक्षक जो मानव-समाज के लाभ हेतु सदैव विचरण करता रहता है। प्रजापति दक्ष ने यह कहते हुए नारद मुनि को शाप दिया कि यद्यपि उन्हें सारे ब्रह्माण्ड में भ्रमण करने की सुविधा है, किन्तु वे किसी एक स्थान में कभी ठहर नहीं सकेंगे। नारदमुनि की परम्परा में मैं भी शापित हुआ हूँ। यद्यपि ऐसे अनेक केन्द्र हैं, जो मेरे रहने के लिए उपयुक्त स्थान हो सकते हैं, किन्तु मैं कहीं भी ठहर नहीं पाता, क्योंकि मैं अपने तरुण शिष्यों के माता-पिताओं द्वारा शापित हूँ। जब से कृष्णभावनामृत आन्दोलन चालू किया गया है, मैंने वर्ष में दो-तीन बार सारे संसार की यात्रा की है और जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ वहाँ मुझे आरामदेह स्थान ठहरने को दिये जाते हैं, किन्तु मैं कहीं भी तीन दिन या एक सप्ताह से अधिक रुक नहीं पाता हूँ। मैं अपने शिष्यों के माता-पिताओं के इस शाप की परवाह नहीं करता, किन्तु

अब यह आवश्यक है कि मैं किसी एक स्थान पर अन्य कार्य को—*श्रीमद्भागवत* के इस अनुवाद को—पूरा करने के लिए ठहरूँ। यदि मेरे तरुण शिष्य, विशेषरुप से वे जिन्होंने संन्यास ग्रहण किया है, सारे जगत में भ्रमण करने का कार्यभार ले सकें तो मेरे लिए यह संम्भव हो सकता है कि मैं माता-पिताओं का यह शाप इन तरुण प्रचारकों पर अन्तरित कर सकूँ। तब मैं सुविधापूर्वक एक स्थान पर अनुवाद का कार्य करने के लिए बैठ सकूँगा।

**श्रीशुक उवाच**
**प्रतिजग्राह तद्बाढं नारदः साधुसम्मतः ।**
**एतावान्साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥ ४४॥**

**शब्दार्थ**

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; प्रतिजग्राह—स्वीकार किया; तत्—वह; बाढम्—तथास्तु; नारदः—नारदमुनि; साधु-सम्मतः—जो माने हुए साधु हैं; एतावान्—इतना; साधु-वादः—साधु पुरुष के अनुकूल; हि—निस्सन्देह; तितिक्षेत—वह सहन कर सके; ईश्वरः—यद्यपि प्रजापति दक्ष को शाप देने में समर्थ; स्वयम्—स्वयं।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! चूँकि नारद मुनि माने हुए साधु पुरुष हैं, अतः जब प्रजापति दक्ष ने उन्हें शाप दिया तो उन्होंने उत्तर दिया *तद् बाढम्*—''ठीक, तुमने जो भी कहा है उत्तम है। मैं इस शाप को स्वीकार करता हूँ।'' वे चाहते तो उलट कर प्रजापति दक्ष को शाप दे सकते थे, किन्तु उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की, क्योंकि वे सहिष्णु तथा दयालु साधु हैं।**

**तात्पर्य :** जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२१) में कहा गया है—

*तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।*

*अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥*

''साधु के लक्षण हैं कि वह सहिष्णु, दयालु तथा सभी जीवों के प्रति मैत्रीपूर्ण होता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त होता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे गुण उदात्त होते हैं।'' चूँकि नारदमुनि सर्वाधिक उच्च साधु या भक्त हैं, अतः उन्होंने प्रजापति दक्ष का उद्धार करने हेतु उस शाप को मौन भाव से सह लिया। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने सारे भक्तों

को इसी सिद्धान्त की शिक्षा दी है—

*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।*

*अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि: ॥*

''मनुष्य को चाहिए कि अपने को रास्ते के तिनके से भी तुच्छ समझकर मन में विनम्र भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित होना चाहिए तथा दूसरों को आदर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में वह भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है।'' जो व्यक्ति श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेशों का पालन करते हुए संसार-भर में या सारे ब्रह्माण्ड में भगवान् की महिमा का प्रचार करता है उसे घास या तिनके से भी अधिक विनम्र तथा वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए, क्योंकि प्रचारक आरामदेह जीवन नहीं बिता सकता। निस्सन्देह, प्रचारक को अनेक अवरोधों का सामना करना पड़ता है। वह कभी-कभी न केवल शापित होता है, अपितु उसे शारीरिक चोटें भी सहनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, जब नित्यानन्द प्रभु जगाइ तथा माधाइ नामक दो उचक्के भाइयों के पास कृष्णभावनामृत का प्रचार करने गये तो उन्होंने उन्हें चोट पहुँचाई जिससे उनके सिर से खून बहने लगा था। फिर भी उन्होंने सहिष्णुतापूर्वक उन दोनों उचक्कों का उद्धार किया जिससे वे पूर्ण वैष्णव बन गये। प्रचारक का यही कर्तव्य है। जीसस क्राइस्ट को तो शूली पर भी चढ़ना पड़ा था। अतएव नारदमुनि को दिया गया शाप अधिक आश्चर्यप्रद नहीं था और उन्होंने उसे सह लिया।

अब यह पूछा जा सकता है कि नारदमुनि प्रजापति दक्ष के सम्मुख क्यों रुके रहे और उनके सारे दोषारोपों तथा शापों को सहते रहे? क्या यह दक्ष के उद्धार के लिए था? उत्तर है—हाँ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि प्रजापति दक्ष द्वारा अपमानित होने के बाद नारदमुनि को वहाँ से तुरन्त चले जाना चाहिए था, किन्तु वे जानबूझकर दक्ष के कटु शब्दों को सुनने के लिए रुके रहे जिससे दक्ष का क्रोध शान्त हो जाये। प्रजापति दक्ष कोई सामान्य व्यक्ति न थे। उन्होंने

अनेक पुण्यकर्मों के फल संचित कर रखे थे। इसलिए नारद मुनि को आशा थी कि शाप देने के बाद दक्ष तुष्ट होकर तथा क्रोध से मुक्त होकर अपने दुर्व्यवहार के लिए पश्चात्ताप करेंगे और इस तरह वैष्णव बनने का अवसर प्राप्त करेंगे तथा उनका उद्धार हो सकेगा। जब जगाइ तथा माधाइ ने नित्यानन्द का अपमान किया, तो नित्यानन्द सहनशील बनकर खड़े रहे, इसलिए दोनों भाई उनके चरणों पर गिर पड़े और उन्होंने पश्चात्ताप किया। फलस्वरूप बाद में वे पूर्ण वैष्णव बन गये।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रजापति दक्ष द्वारा नारदमुनि को शाप'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter छह

# दक्ष की कन्याओं का वंश

इस अध्याय में बताया गया है कि प्रजापति दक्ष की पत्नी असिक्नी के गर्भ से साठ पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से वे विभिन्न पुरुषों को दान दे दी गईं। नारद मुनि ने दक्ष की इन सन्तानों को स्त्री जाति होने के कारण वैराग्य-जीवन निर्वाह करने का उपदेश नहीं दिया। इस प्रकार इन पुत्रियों को नारदमुनि से बचा लिया गया। इन पुत्रियों में से दस धर्मराज के साथ ब्याह दी गईं, तेरह कश्यप मुनि को और सत्ताईस चन्द्रदेव को दे दी गईं। इस प्रकार पचास पुत्रियाँ बाँट दी गई। शेष दस पुत्रियों में से चार कश्यप को और दो-दो भूत, अंगिरा तथा कृशाश्व को प्रदान की गईं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि विभिन्न महापुरुषों के साथ इन साठों कन्याओं के संयोग से ही यह समस्त ब्रह्माण्ड विभिन्न प्रकार की जीवात्माओं से परिपूर्ण हो सका, जिसमें मनुष्य, देवता, असुर, पशु, पक्षी तथा नाग सम्मिलित हैं।

**श्रीशुक उवाच**

**ततः प्राचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयम्भुवा ।**
**षष्टिं सञ्जनयामास दुहितृः पितृवत्सलाः ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत:—इस घटना के बाद; प्राचेतस:—दक्ष; असिक्न्याम्—असिक्नी नामक पत्नी से; अनुनीत:—शान्त किये गये; स्वयम्भुवा—श्रीब्रह्मा के द्वारा; षष्टिम्—साठ; सञ्जनयाम् आस—उत्पन्न किया; दुहितृ:—कन्याएँ; पितृ-वत्सला:—अपने पिता की परम प्यारी।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन्! तदनन्तर ब्रह्माजी की प्रार्थना पर प्रजापति दक्ष ने, जिन्हें प्राचेतस कहा जाता है, अपनी पत्नी असिक्नी के गर्भ से साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। सभी कन्याएँ अपने पिता को अत्यधिक स्नेह करती थीं।**

**तात्पर्य :** अपने अनेक पुत्रों की हानि की घटनाओं के बाद दक्ष को नारद मुनि के प्रति की गई अज्ञता पर पश्चात्ताप हुआ। तब श्री ब्रह्मा दक्ष के पास गये और उनको फिर सन्तान उत्पन्न करने की सलाह दी। इस बार दक्ष सावधान थे, अत: उन्होंने पुत्रों के बजाय कन्याएँ ही उत्पन्न कीं जिससे नारद उन्हें संन्यास स्वीकार करने पर विवश करके विरक्त न बना सकें। स्त्रियों के लिए वैराग्य नहीं बना है, उन्हें तो अपने अच्छे पतियों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, क्योंकि यदि पति मुक्ति का पात्र है, तो उसकी पत्नी को स्वयमेव मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जैसा कि शास्त्रों का कथन है, पत्नी अपने पति के पवित्र कार्यों में हिस्सा बँटाने वाली होती है। अत: स्त्री को चाहिए कि वह अपने पति की पतिव्रता और आज्ञाकारिणी बने। तभी बिना किसी भिन्न प्रयास के वह अपने पति के लाभ में हिस्सा बँटा सकती है।

**दश धर्माय कायादाद्द्विषट्त्रिणव चेन्दवे ।**
**भूताङ्गिर:कृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापरा: ॥ २॥**

### शब्दार्थ

दश—दस; धर्माय—राजा धर्म अर्थात् यमराज को; काय—कश्यप को; अदात्—दे दिया; द्वि-षट्—छह की दूनी तथा एक ( तेरह ); त्रि-नव—नौ का तिगुना ( सत्ताईस ); च—भी; इन्दवे—चन्द्रदेव को; भूत-अङ्गिर:-कृशाश्वेभ्य:—भूत, अंगिरा तथा कृशाश्व को; द्वे द्वे—दो दो; तार्क्ष्याय—पुन: कश्यप को; च—तथा; अपरा:—शेष।

**उन्होंने धर्मराज ( यमराज ) को दस, कश्यप को तेरह, चन्द्रमा को सत्ताईस तथा अंगिरा, कृशाश्व एवं भूत को दो-दो कन्याएँ दान स्वरूप दे दीं। शेष चार कन्याएँ कश्यप को दे दी गईं ( इस प्रकार कश्यप को कुल सत्रह कन्याएँ प्राप्त हुईं )।**

नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानां च मे शृणु ।
यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

नामधेयानि—विभिन्न नाम; अमूषाम्—उनको; त्वम्—तुम; स-अपत्यानाम्—अपनी संतानों सहित; च—तथा; मे—मुझसे; शृणु—कृपया सुनिये; यासाम्—उन सबों के; प्रसूति-प्रसवैः—अनेक सन्तानों तथा वंशजों के द्वारा; लोकाः—समस्त लोक; आपूरिताः—बसे हुए हैं; त्रयः—तीन ( ऊपरी, बीच के तथा निम्न लोक )।

अब मुझसे इन समस्त कन्याओं तथा उनके वंशजों के नाम सुनो, जिनसे ये तीनों लोक पूरित हैं।

भानुर्लम्बा ककुद्यामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती ।
वसुर्मुहूर्ता सङ्कल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ्शृणु ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

भानुः—भानु; लम्बा—लम्बा; ककुत्—ककुद; यामिः—यामि; विश्वा—विश्वा; साध्या—साध्या; मरुत्वती—मरुत्वती; वसुः—वसु; मुहूर्ता—मुहूर्ता; सङ्कल्पा—संकल्पा; धर्म-पत्न्यः—यमराज की पत्नियाँ; सुतान्—उनके पुत्र; शृणु—सुनो।

यमराज को प्रदत्त दस कन्याओं के नाम थे भानु, लम्बा, ककुद, यामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता तथा संकल्पा। अब उनके पुत्रों के नाम सुनो।

भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप ।
विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्नवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भानोः—भानु के गर्भ से; तु—निस्सन्देह; देव-ऋषभः—देव-ऋषभ; इन्द्रसेनः—इन्द्रसेन; ततः—उस ( देवऋषभ ) से; नृप—हे राजन्; विद्योतः—विद्योत; आसीत्—उत्पन्न हुआ; लम्बायाः—लम्बा के गर्भ से; ततः—उससे; च—तथा; स्तनयित्नवः—समस्त बादल।

हे राजन्! भानु के गर्भ से देव-ऋषभ नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके इन्द्रसेन नाम का एक पुत्र हुआ। लम्बा के गर्भ से विद्योत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने समस्त बादलों को जन्म दिया।

ककुदः सङ्कटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः ।

भुवो दुर्गाणि यामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ककुदः—ककुद के गर्भ से; सङ्कटः—संकट; तस्य—उसके; कीकटः—कीकट; तनयः—पुत्र; यतः—जिससे; भुवः—पृथ्वी के; दुर्गाणि—अनेक देवता, इस ब्रह्माण्ड के रक्षक ( जिनका नाम दुर्गा है ); यामेयः—यमी के; स्वर्गः—स्वर्ग; नन्दिः—नन्दि; ततः—उस ( स्वर्ग ) से; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

**ककुद के गर्भ से संकट नाम का पुत्र हुआ जिसके पुत्र का नाम कीकट था। कीकट से दुर्गा नामक देवतागण हुए। यामी के पुत्र का नाम स्वर्ग था जिससे नन्दि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।**

विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजांस्तान्प्रचक्षते ।
साध्योगणश्च साध्याया अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

विश्वे-देवाः—विश्वदेव नाम के देवता; तु—लेकिन; विश्वायाः—विश्वा से; अप्रजान्—पुत्ररहित; तान्—उनको; प्रचक्षते—कहा जाता है; साध्यः-गणः—साध्य नाम के देवतागण; च—तथा; साध्यायाः—साध्या के गर्भ से; अर्थसिद्धिः—अर्थ सिद्धि; तु—लेकिन; तत्-सुतः—साध्यों का पुत्र।

**विश्वा के पुत्र विश्वदेव हुए, जिनके कोई सन्तान नहीं थी। साध्या के गर्भ से साध्यगण हुए जिनके पुत्र का नाम अर्थसिद्धि था।**

मरुत्वांश्च जयन्तश्च मरुत्वत्या बभूवतुः ।
जयन्तो वासुदेवांश उपेन्द्र इति यं विदुः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मरुत्वान्—मरुत्वान; च—भी; जयन्तः—जयन्त; च—तथा; मरुत्वत्याः—मरुत्वती से; बभूवतुः—जन्म लिया; जयन्तः—जयन्त; वासुदेव-अंशः—वासुदेव के अंश स्वरूप; उपेन्द्रः—उपेन्द्र; इति—इस प्रकार; यम्—जिसको; विदुः—जानते हैं।

**मरुत्वती के गर्भ से मरुत्वान तथा जयन्त नामक दो पुत्रों ने जन्म लिया। जयन्त भगवान् वासुदेव के अंश हैं और उपेन्द्र कहे जाते हैं।**

मौहूर्तिका देवगणा मुहूर्तायाश्च जज्ञिरे ।
ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मौहूर्तिकाः—मौहूर्तिक गण; देव-गणाः—देवता; मुहूर्तायाः—मुहूर्ता के गर्भ से; च—तथा; जज्ञिरे—जन्म ग्रहण किया; ये—जिन सबों ने; वै—निस्सन्देह; फलम्—फल, परिणाम; प्रयच्छन्ति—प्रदान करते हैं; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; स्व-स्व—अपना-अपना; काल-जम्—काल से उत्पन्न।

मुहूर्ता के गर्भ से मौहूर्तिकगण नामक देवताओं ने जन्म ग्रहण किया। ये देवता अपने-अपने कालों में जीवात्माओं को उनके कर्मों का फल प्रदान करने वाले हैं।

सङ्कल्पायास्तु सङ्कल्पः कामः सङ्कल्पजः स्मृतः ।
वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु ॥ १० ॥
द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वास्तुर्विभावसुः ।
द्रोणस्याभिमतेः पत्न्या हर्षशोकभयादयः ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

सङ्कल्पायाः—संकल्पा के गर्भ से; तु—लेकिन; सङ्कल्पः—संकल्प; कामः—काम; सङ्कल्प-जः—संकल्प का पुत्र; स्मृतः—विख्यात; वसवः अष्टौ—आठों वसु; वसोः—वसु के; पुत्राः—पुत्र; तेषाम्—उनके; नामानि—नाम; मे—मुझसे; शृणु—सुनो; द्रोणः—द्रोण; प्राणः—प्राण; ध्रुवः—ध्रुव; अर्कः—अर्क; अग्निः—अग्नि; दोषः—दोष; वास्तुः—वास्तु; विभावसुः—विभावसु; द्रोणस्य—द्रोण के; अभिमतेः—अभिमति से; पत्न्याः—पत्नी; हर्ष-शोक-भय-आदयः—हर्ष, शोक, भय आदि नाम वाले पुत्र।

संकल्पा का पुत्र संकल्प कहलाया जिससे काम की उत्पत्ति हुई। वसु के पुत्र अष्ट वसु कहलाये। उनके नाम सुनो—द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वास्तु तथा विभावसु। द्रोण नामक वसु की पत्नी अभिमति से हर्ष, शोक, भय इत्यादि पुत्रों का जन्म हुआ।

प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः ।
ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

प्राणस्य—प्राण की; ऊर्जस्वती—ऊर्जस्वती; भार्या—पत्नी; सहः—सह; आयुः—आयुस्; पुरोजवः—पुरोजव; ध्रुवस्य—ध्रुव की; भार्या—पत्नी; धरणिः—धरणि; असूत—उत्पन्न किया; विविधाः—अनेक; पुरः—नगर।

प्राण की पत्नी ऊर्जस्वती के गर्भ से सह, आयुस तथा पुरोजव नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ध्रुव की पत्नी का नाम धरणी था जिसके गर्भ से विभिन्न नगरों की उत्पत्ति हुई।

अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः ।
अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

अर्कस्य—अर्क की; वासना—वासना; भार्या—पत्नी; पुत्राः—कई पुत्र; तर्ष-आदयः—तर्ष इत्यादि; स्मृताः—विख्यात; अग्नेः—अग्नि की; भार्या—पत्नी; वसोः—वसु की; धारा—धारा; पुत्राः—पुत्र; द्रविणक-आदयः—द्रविणक इत्यादि।

**अर्क की पत्नी वासना के गर्भ से कई पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें तर्ष प्रमुख था। अग्नि नामक वसु की पत्नी धारा से द्रविणक इत्यादि कई पुत्र उत्पन्न हुए।**

स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः ।
दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला ॥ १४॥

### शब्दार्थ

स्कन्दः—स्कन्द; च—भी; कृत्तिका-पुत्रः—कृत्तिका का पुत्र; ये—जो; विशाख-आदयः—विशाख इत्यादि; ततः—उस (स्कन्द) से; दोषस्य—दोष का; शर्वरी-पुत्रः—उसकी पत्नी शर्वरी का पुत्र; शिशुमारः—शिशुमार; हरेः कला—भगवान् का अंश।

**अग्नि की दूसरी पत्नी कृत्तिका से स्कन्द (कार्तिकेय) नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके पुत्रों में विशाख प्रमुख था। दोष नामक वसु की पत्नी शर्वरी से शिशुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो श्रीभगवान् का अंश था।**

वास्तोराङ्गिरसीपुत्रो विश्वकर्माकृतीपतिः ।
ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद्विश्वे साध्या मनोः सुताः ॥ १५॥

### शब्दार्थ

वास्तोः—वास्तु; आङ्गिरसी—आंगिरसी नामक पत्नी से; पुत्रः—पुत्र; विश्वकर्मा—विश्वकर्मा; आकृती-पतिः—आकृती का पति; ततः—उससे; मनुः चाक्षुषः—मनु जिनका नाम चाक्षुष है; अभूत्—उत्पन्न हुआ; विश्वे—विश्वदेवगण; साध्याः—साध्यगण; मनोः—मनु के; सुताः—पुत्र।

**वास्तु नामक वसु की पत्नी आंगिरसी से महान् शिल्पी विश्वकर्मा का जन्म हुआ। विश्वकर्मा आकृती के पति बने जिनसे चाक्षुष मनु ने जन्म ग्रहण किया। मनु के पुत्र विश्वदेव तथा साध्यगण कहलाये।**

विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम् ।
पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु ॥ १६॥

### शब्दार्थ

विभावसोः—विभावसु के; असूत—उत्पन्न हुए; ऊषा—उषा; व्युष्टम्—व्युष्ट; रोचिषम्—रोचिष; आतपम्—आतप; पञ्चयामः—पंचयाम; अथ—तत्पश्चात्; भूतानि—जीवात्माएँ; येन—जिसके द्वारा; जाग्रति—जाग्रित होते हैं; कर्मसु—भौतिक कार्यों में।

**विभावसु की पत्नी ऊषा के तीन पुत्र उत्पन्न हुए—व्युष्ट, रोचिष तथा आतप। इनमें से आतप के पञ्चयाम ( दिन ) उत्पन्न हुआ जो समस्त जीवात्माओं को भौतिक कार्यों के लिए प्रेरित करता है।**

**सरूपासूत भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः ।**
**रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः ॥ १७॥**
**अजैकपादहिर्ब्रध्नो बहुरूपो महानिति ।**
**रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोराः प्रेतविनायकाः ॥ १८॥**

शब्दार्थ

सरूपा—सरूपा ने; असूत—उत्पन्न किया; भूतस्य—भूत की; भार्या—पत्नी; रुद्रान्—रुद्रों को; च—तथा; कोटिशः—एक करोड़; रैवतः—रैवत; अजः—अज; भवः—भव; भीमः—भीम; वामः—वाम; उग्रः—उग्र; वृषाकपिः—वृषाकपि; अजैकपात्—अजैकपात्; अहिर्ब्रध्नः—अहिर्ब्रध्न; बहुरूपः—बहुरूप; महान्—महान्; इति—इस प्रकार; रुद्रस्य—इन रुद्रों के; पार्षदाः—उनके पार्षद; च—तथा; अन्ये—अन्य; घोराः—अत्यन्त भयानक; प्रेत—भूत; विनायकाः—तथा विनायक।

**भूत की पत्नी सरूपा ने एक करोड़ रुद्रों को जन्म दिया, जिनमें से प्रमुख ग्यारह रुद्र ये हैं—रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपात्, अहिर्ब्रध्न, बहुरूप तथा महान्। भूत की दूसरी पत्नी भूता से उनके साथी भयंकर भूतों तथा विनायकादि का जन्म हुआ।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि भूत के दो पत्नियाँ थीं। इनमें से पहली पत्नी सरूपा ने ग्यारह रुद्रों को जन्म दिया और दूसरी पत्नी से रुद्र के पार्षदगण उत्पन्न हुए, जिन्हें भूत तथा विनायक कहा जाता है।

**प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितृनथ ।**
**अथर्वाङ्गिरसं वेदं पुत्रत्वे चाकरोत्सती ॥ १९॥**

शब्दार्थ

प्रजापतेः अङ्गिरसः—अंगिरा नामक अन्य प्रजापति को; स्वधा—स्वधा; पत्नी—पत्नी; पितृन्—पितरगण; अथ—तत्पश्चात्; अथर्व-आङ्गिरसम्—अथर्वांगिरस; वेदम्—साक्षात् वेद; पुत्रत्वे—पुत्र के रूप में; च—तथा; अकरोत्—स्वीकार किया; सती—सती ने।

**प्रजापति अंगिरा के दो पत्नियाँ थीं—स्वधा तथा सती। स्वधा ने समस्त पितरों को पुत्र रूप में स्वीकार किया और सती ने अथर्वांगिरस वेद को ही पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया।**

**कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूमकेतुमजीजनत् ।**
**धिषणायां वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम् ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

कृशाश्वः—कृशाश्व; अर्चिषि—अर्चिस; भार्यायाम्—अपनी पत्नी से; धूमकेतुम्—धूमकेतु को; अजीजनत्—जन्म दिया; धिषणायाम्—धिषणा नामक पत्नी से; वेदशिरः—वेदशिरा; देवलम्—देवल; वयुनम्—वयुन; मनुम्—मनु।

**कृश्वाश्व के अर्चिस् तथा धिषणा नामक दो पत्नियाँ थीं। अर्चिस् से धूमकेतु और धिषणा से वेदशिरा, देवल, वयुन तथा मनु नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए।**

**तार्क्ष्यस्य विनता कद्रूः पतङ्गी यामिनीति च ।**
**पतङ्ग्यसूत पतगान्यामिनी शलभानथ ॥ २१ ॥**
**सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद्यज्ञेशवाहनम् ।**
**सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

तार्क्ष्यस्य—तार्क्ष्य अर्थात् कश्यप की; विनता—विनता; कद्रूः—कद्रू; पतङ्गी—पतंगी; यामिनी—यामिनी; इति—इस प्रकार; च—तथा; पतङ्गी—पतंगी ने; असूत—जन्म दिया; पतगान्—विभिन्न प्रकार के पक्षी; यामिनी—यामिनी ने; शलभान्—टिड्डियों को (जन्म दिया); अथ—तत्पश्चात्; सुपर्णा—विनता नामक पत्नी ने; असूत—जन्म दिया; गरुडम्—विख्यात पक्षिराज गरुड़ को; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यज्ञेश-वाहनम्—भगवान् विष्णु का वाहन; सूर्य-सूतम्—सूर्यदेव का सारथी; अनूरुम्—अनुरु; च—तथा; कद्रूः—कद्रू ने; नागान्—सर्पों को; अनेकशः—अनेक प्रकार के।

**कश्यप अर्थात् तार्क्ष्य की चार पत्नियाँ थीं—विनता (सुपर्णा), कद्रू, पतंगी तथा यामिनी। पतंगी ने नाना प्रकार के पक्षियों को जन्म दिया और यामिनी ने टिड्डियों को। विनता (सुपर्णा) ने भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ तथा सूर्यदेव के सारथी अनूरु अथवा अरुण को जन्म दिया। कद्रू के गर्भ से अनेक प्रकार के नाग उत्पन्न हुए।**

**कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत ।**
**दक्षशापात्सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ

कृत्तिका-आदीनि—कृत्तिका इत्यादि; नक्षत्राणि—नक्षत्रगण; इन्दोः—चन्द्रदेव की; पत्न्यः—पत्नियाँ; तु—लेकिन; भारत—हे महाराज परीक्षित, भारत के वंशधर; दक्ष-शापात्—दक्ष के शाप से; सः—चन्द्रदेव; अनपत्यः—सन्तानरहित; तासु—अनेक पत्नियों में; यक्ष्म-ग्रह-अर्दितः—क्षय रोग से पीड़ित।

**हे भारतश्रेष्ठ महाराज परीक्षित! कृत्तिका नामक राशियाँ चन्द्रदेव की पत्नियाँ थीं। चूँकि प्रजापति दक्ष ने चन्द्रदेव को शाप दिया था कि उसे क्षय रोग हो जाये, अतः किसी भी पत्नी से कोई सन्तान नहीं हुई।**

**तात्पर्य :** चूँकि चन्द्रदेव रोहिणी पर विशेष अनुरक्त था, अतः वह अन्य पत्नियों की उपेक्षा करने लगा। अतः अपनी कन्याओं के इस शोक को देखकर प्रजापति दक्ष अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उसे शाप दे दिया।

**पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः ।**
**शृणु नामानि लोकानां मातृणां शङ्कराणि च ॥ २४॥**
**अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् ।**
**अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ॥ २५ ॥**
**मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः ।**
**तिमेर्यादोगणा आसन्श्वापदाः सरमासुताः ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ

पुनः—फिर; प्रसाद्य—प्रसन्न करके; तम्—उसको ( प्रजापति दक्ष को ); सोमः—चन्द्रदेव; कलाः—प्रकाश के अंश; लेभे—प्राप्त किया; क्षये—क्रमिक ह्रास में ( कृष्ण पक्ष ); दिताः—हटा दिया; शृणु—सुनो; नामानि—सभी नामों; लोकानाम्—लोकों के; मातृणाम्—माताओं के; शङ्कराणि—मंगलकारी; च—तथा; अथ—अब; कश्यप-पत्नीनाम्—कश्यप की पत्नियों के; यत्-प्रसूतम्—जिनसे उत्पन्न; इदम्—यह; जगत्—सारा ब्रह्माण्ड; अदितिः—अदिति; दितिः—दिति; दनुः—दनु; काष्ठा—काष्ठा; अरिष्टा—अरिष्टा; सुरसा—सुरसा; इला—इला; मुनिः—मुनि; क्रोधवशा—क्रोधवशा; ताम्रा—ताम्रा; सुरभिः—सुरभि; सरमा—सरमा; तिमिः—तिमि; तिमेः—तिमि से; यादः-गणाः—जलचर; आसन्—प्रकट हुए; श्वापदाः—सिंह तथा बाघ जैसे हिंसक पशु; सरमा-सुताः—सरमा के पुत्र।

**तत्पश्चात् चन्द्रदेव ने प्रजापति को विनीत वचनों के द्वारा प्रसन्न करके रुग्णावस्था में क्षीण हुए प्रकाश को फिर से प्राप्त कर लिया, किन्तु तो भी उनके कोई सन्तान नहीं हुई। चन्द्रमा कृष्णपक्ष में अपना प्रकाश खो देता है, किन्तु शुक्ल पक्ष में उसे पुनः प्राप्त कर लेता**

है। हे राजा परीक्षित! अब मुझसे कश्यप की पत्नियों के नाम सुनो, जिनके गर्भ से इस समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणी उत्पन्न हुए हैं। वे लगभग समस्त ब्रह्माण्ड के सचराचर की माताएँ हैं और उनके नामों को सुनना शुभ है। उनके नाम हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा तथा तिमि। तिमि के गर्भ से समस्त जलचर उत्पन्न हुए और सरमा से सिंह तथा बाघ जैसे क्रूर पशु उत्पन्न हुए।

सुरभेर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा नृप ।
ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

सुरभेः—सुरभि के गर्भ से; महिषाः—भैंस; गावः—गाएँ; ये—जो; च—तथा; अन्ये—अन्य; द्वि-शफाः—फटे खुरों वाले, खुरदार; नृप—हे राजा; ताम्रायाः—ताम्रा से; श्येन—बाज, चील्ह; गृध्र-आद्याः—गीध इत्यादि; मुनेः—मुनि से; अप्सरसाम्—अप्सराओं के; गणाः—समूह।

हे राजा परीक्षित! सुरभि के गर्भ से भैंस, गाय तथा अन्य फटे खुरों वाले पशु उत्पन्न हुए, जब कि ताम्रा के गर्भ से बाज, गीध तथा अन्य बड़े शिकारी पक्षियों ने जन्म लिया। मुनि से अप्सराएँ उत्पन्न हुईं।

दन्दशूकादयः सर्पा राजन्क्रोधवशात्मजाः ।
इलाया भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः ॥ २८॥

शब्दार्थ

दन्दशूक-आदयः—दंदशूक तथा अन्य सर्प; सर्पाः—रेंगने वाले प्राणी; राजन्—हे राजन्; क्रोधवशा-आत्म-जाः—क्रोधवशा से उत्पन्न; इलायाः—इला के गर्भ से; भूरुहाः—लताएँ तथा वृक्ष; सर्वे—समस्त; यातुधानाः—मानवभक्षी, राक्षस; च—भी; सौरसाः—सुरसा के गर्भ से।

क्रोधवशा से दंदशूक नामक सर्प, रेंगने वाले अन्य प्राणी तथा मच्छर उत्पन्न हुए। इला के गर्भ से समस्त लताएँ तथा वृक्ष उत्पन्न हुए। सुरसा के गर्भ से राक्षसों ने जन्म लिया।

अरिष्टायास्तु गन्धर्वाः काष्ठाया द्विशफेतराः ।
सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकाञ्शृणु ॥ २९॥

द्विमूर्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः ।
अयोमुखः शङ्कुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः ॥ ३० ॥
पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापनः ।
धूम्रकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च दुर्जयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अरिष्टायाः—अरिष्टा के गर्भ से; तु—लेकिन; गन्धर्वाः—सारे गन्धर्व; काष्ठायाः—काष्ठा से; द्वि-शफ-इतराः—दो खुरों वाले पशुओं से इतर पशु यथा घोड़े इत्यादि, जिनके खुर विभाजित नहीं हैं; सुताः—पुत्र; दनोः—दनु के गर्भ से; एक-षष्टिः—इकसठ; तेषाम्—उनके; प्राधानिकान्—प्रमुख प्रमुख; शृणु—सुनो; द्विमूर्धा—द्विमूर्धा; शम्बरः—शम्बर; अरिष्टः—अरिष्ट; हयग्रीवः—हयग्रीव; विभावसुः—विभावसु; अयोमुखः—अयोमुख; शङ्कुशिराः—शंकुशिरा; स्वर्भानुः—स्वर्भानु; कपिलः—कपिल; अरुणः—अरुण; पुलोमा—पुलोमा; वृषपर्वा—वृषपर्वा; च—भी; एकचक्रः—एकचक्र; अनुतापनः—अनुतापन; धूम्रकेशः—धूम्रकेश; विरूपाक्षः—विरूपाक्ष; विप्रचित्तिः—विप्रचित्ति; च—तथा; दुर्जयः—दुर्जय।

अरिष्टा के गर्भ गन्धर्व उत्पन्न हुए और काष्ठा से घोड़े इत्यादि एक खुर वाले पशु। हे राजन्! दनु के इकसठ पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें से अठारह प्रमुख हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शंकुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोमा, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति तथा दुर्जय।

स्वर्भानोः सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचिः किल ।
वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

स्वर्भानोः—स्वर्भानु की; सुप्रभाम्—सुप्रभा; कन्याम्—कन्या, पुत्री; उवाह—ब्याह किया; नमुचिः—नमुचि ने; किल—निस्सन्देह; वृषपर्वणः—वृषपर्व का; तु—लेकिन; शर्मिष्ठाम्—शर्मिष्ठा; ययातिः—राजा ययाति; नाहुषः—नहुष का पुत्र; बली—अत्यन्त बलवान्।

स्वर्भानु की कन्या सुप्रभा से नमुचि ने विवाह किया। वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा नहुष के पुत्र महाबली राजा ययाति को दी गई।

वैश्वानरसुता याश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः ।
उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ॥ ३३ ॥
उपदानवीं हिरण्याक्षः क्रतुर्हयशिरां नृप ।
पुलोमां कालकां च द्वे वैश्वानरसुते तु कः ॥ ३४ ॥
उपयेमेऽथ भगवान्कश्यपो ब्रह्मचोदितः ।

पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः ॥ ३५॥
तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता ।
जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

वैश्वानर-सुताः—वैश्वानर की पुत्रियाँ; याः—जो; च—तथा; चतस्रः—चार; चारु-दर्शनाः—अत्यन्त सुन्दरी; उपदानवी—उपदानवी; हयशिरा—हयशिरा; पुलोमा—पुलोमा; कालका—कालका; तथा—और; उपदानवीम्—उपदानवीसे; हिरण्याक्षः—असुर हिरण्याक्षने; क्रतुः—क्रतु ने; हयशिराम्—हयशिरा ने; नृप—हे राजन्; पुलोमाम् कालकाम् च—पुलोमा तथा कालका ने; द्वे—दोनों; वैश्वानर-सुते—वैश्वानर की कन्याएँ; तु—लेकिन; कः—प्रजापति ने; उपयेमे—ब्याह किया; अथ—तब; भगवान्—परम शक्तिमान; कश्यपः—कश्यप मुनि; ब्रह्म-चोदितः—ब्रह्मा के अनुनय-विनय से; पौलोमाः कालकेयाः च—पौलोम तथा कालकेय नामक; दानवाः—दानव; युद्ध-शालिनः—युद्धप्रिय, योद्धा; तयोः—उनमें से; षष्टि-सहस्राणि—साठ हजार; यज्ञ-घ्नान्—यज्ञ को विध्वंस करने वाले; ते—तुम्हारे; पितुः—पिता का; पिता—पिता; जघान—मार डाला; स्वः-गतः—स्वर्गलोक में; राजन्—हे राजन्; एकः—अकेले; इन्द्र-प्रियम्-करः—राजा इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए।

दनु के पुत्र वैश्वानर के चार सुन्दर कन्याएँ थीं जिनके नाम थे—उपदानवी, हयशिरा, पुलोमा तथा कालका। इनमें से उपदानवी के साथ हिरण्याक्ष का तथा हयशिरा के साथ क्रतु का विवाह हुआ। तत्पश्चात् श्रीब्रह्मा के अनुनय-विनय पर प्रजापति कश्यप ने वैश्वानर की अन्य दो कन्याओं, पुलोमा तथा कालका के साथ विवाह कर लिया। कश्यप की इन दोनों पत्नियों के गर्भ से साठ हजार पुत्र हुए जो पौलोम तथा कालकेय के नाम से विख्यात हुए, जिनमें से निवातकवच प्रमुख था। वे सब अत्यन्त वीर तथा युद्ध कुशल थे और उनका लक्ष्य मुनियों के द्वारा सम्पन्न यज्ञों में विध्न डालना था। हे राजन्! जब तुम्हारे पितामह अर्जुन स्वर्ग लोक गये तो उन्होंने अकेले ही इन असुरों का वध किया था जिससे राजा इन्द्र उनका परम प्रिय बन गया।

विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतं चैकमजीजनत् ।
राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागताः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

विप्रचित्तिः—विप्रचित्तिने; सिंहिकायाम्—अपनी पत्नी सिंहिका के गर्भ से; शतम्—एक सौ; च—तथा; एकम्—एक; अजीजनत्—जन्म दिया; राहु-ज्येष्ठम्—जिनमें से राहु सबसे बड़ा है; केतु-शतम्—एक सौ केतु; ग्रहत्वम्—ग्रह होने का; ये—सबके सब; उपागताः—प्राप्त किया।

विप्रचित्ति को अपनी पत्नी सिंहिका से एक सौ एक पुत्र प्राप्त हुए जिनमें राहु सबसे

ज्येष्ठ था और अन्य एक सौ केतु थे। इन सबों को प्रभावशाली ग्रहों ( लोकों ) में स्थान प्राप्त हुआ।

अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः ।
यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावातरद्विभुः ॥ ३८ ॥
विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः ।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शत्रु उरुक्रमः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अतः—अब; श्रूयताम्—सुनो; वंशः—वंश; यः—जो; अदितेः—अदिति से; अनुपूर्वशः—तिथिवार क्रम में; यत्र—जिसमें; नारायणः—भगवान्; देवः—ईश्वर; स्व-अंशेन—अपने अंश से; अवातरत्—अवतार लिया; विभुः—परमेश्वर; विवस्वान्—विवस्वान्; अर्यमा—अर्यमा; पूषा—पूषा; त्वष्टा—त्वष्टा; अथ—तत्पश्चात्; सविता—सविता; भगः—भग; धाता—धाता; विधाता—विधाता; वरुणः—वरुण; मित्रः—मित्र; शत्रुः—शत्रु; उरुक्रमः—उरुक्रम।

अब सुनो, मैं अदिति की वंश-परम्परा का तिथि-क्रमानुसार वर्णन कर रहा हूँ। इस वंश में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण ने स्वांश रूप में अवतार लिया। अदिति के पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शत्रु तथा उरुक्रम।

विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयत वै मनुम्
मिथुनं च महाभागा यमं देवं यमीं तथा ।
सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विवस्वतः—सूर्यदेव की; श्राद्धदेवम्—श्राद्धदेव नामक; संज्ञा—संज्ञा ने; असूयत—जन्म दिया; वै—निस्सन्देह; मनुम्—मनु को; मिथुनम्—युगल; च—तथा; महा-भागा—परमभाग्यवती संज्ञा; यमम्—यमराज को; देवम्—देवता; यमीम्—उनकी बहन यमी को; तथा—और; सा—वह; एव—भी; भूत्वा—होकर; अथ—तब; वडवा—घोड़ी; नासत्यौ—अश्विनी कुमारों को; सुषुवे—जन्म दिया; भुवि—पृथ्वी पर।

सूर्यदेव विवस्वान् की भाग्यवती पत्नी संज्ञा से श्राद्धदेव मनु तथा यमराज और यमुना नदी ( यमी ) का जोड़ा उत्पन्न हुआ। तब यमी ने घोड़ी का रूप धारण करके इस पृथ्वी पर विचरण करते हुए अश्विनी कुमारों को जन्म दिया।

छाया शनैश्चरं लेभे सावर्णिं च मनुं ततः ।
कन्यां च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

छाया—सूर्यदेव की अन्य पत्नी छाया ने; शनैश्चरम्—शनि को; लेभे—उत्पन्न किया; सावर्णिम्—सावर्णि; च—तथा; मनुम्—मनु को; ततः—उस (विवस्वान्) से; कन्याम्—एक पुत्री; च—भी; तपतीम्—तपती नाम की; या—जो; वै—निस्सन्देह; वव्रे—ब्याह किया; संवरणम्—संवरण को; पतिम्—पति।

सूर्य की अन्य पत्नी छाया से शनैश्चर तथा सावर्णि मनु नामक दो पुत्र तथा तपती नामक एक पुत्री उत्पन्न हई जिसने संवरण के साथ विवाह कर लिया।

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः ।
यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अर्यम्णः—अर्यमा की; मातृका—मातृका; पत्नी—पत्नी; तयोः—उनके संयोग से; चर्षणयः सुताः—अनेक विद्वान पुत्र; यत्र—जिनमें; वै—निस्सन्देह; मानुषी—मनुष्य की; जातिः—जाति; ब्रह्मणा—श्रीब्रह्मा के द्वारा; च—तथा; उपकल्पिता—सृष्टि की गई।

अर्यमा की पत्नी मातृका की कुक्षि से कई विद्वान पुत्र उत्पन्न हुए। श्रीब्रह्मा ने उन्हीं में से मनुष्य की जातियों की सृष्टि की जो आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति से सम्पन्न हैं।

पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत्पुरा ।
योऽसौ दक्षाय कुपितं जहास विवृतद्विजः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

पूषा—पूषा; अनपत्यः—संतानरहित; पिष्ट-अदः—आटा खाकर निर्वाह करने वाला; भग्न-दन्तः—टूटे दाँतों वाला; अभवत्—हो गया; पुरा—प्राचीन काल में; यः—जो; असौ—वह; दक्षाय—दक्ष पर; कुपितम्—अत्यन्त क्रुद्ध; जहास—हँसा; विवृत-द्विजः—दाँत निकालकर।

पूषा के कोई सन्तान नहीं हुई। जब भगवान् शिव दक्ष पर क्रुद्ध हुए तो पूषा दाँत निकाल कर हँसा था। अतः उसके दाँत जाते रहे और तब से वह पिसा हुआ अन्न खाकर जीवन-निर्वाह करता रहा।

त्वष्टुर्दैत्यात्मजा भार्या रचना नाम कन्यका ।
सन्निवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान् ॥ ४४ ॥

### शब्दार्थ

त्वष्टुः—त्वष्टा की; दैत्य-आत्म-जा—असुर की कन्या; भार्या—पत्नी; रचना—रचना; नाम—नाम की; कन्यका—कुमारी; सन्निवेशः—सन्निवेश; तयोः—उन दोनों के; जज्ञे—उत्पन्न हुआ; विश्वरूपः—विश्वरूप; च—तथा; वीर्यवान्—अत्यन्त बलशाली।

**दैत्यों की पुत्री रचना प्रजापति त्वष्टा की पत्नी बनी। उसके गर्भ से सन्निवेश तथा विश्वरूप नामक दो अत्यन्त पराक्रमी पुत्र हुए।**

**तं वव्रिरे सुरगणा स्वस्त्रीयं द्विषतामपि ।**
**विमतेन परित्यक्ता गुरुणाङ्गिरसेन यत् ॥ ४५ ॥**

### शब्दार्थ

तम्—उस ( विश्वरूप ) को; वव्रिरे—पुरोहित के रूप में स्वीकार किया; सुर-गणाः—देवताओं ने; स्वस्त्रीयम्—पुत्री का पुत्र; द्विषताम्—शत्रु असुरों की; अपि—यद्यपि; विमतेन—अपमानित होकर; परित्यक्ताः—छोड़े हुए; गुरुणा—अपने गुरु; आङ्गिरसेन—बृहस्पति द्वारा; यत्—क्योंकि।

**यद्यपि विश्वरूप देवताओं के कट्टर शत्रु असुरों की पुत्री का पुत्र था, किन्तु उन्होंने ब्रह्मा की आज्ञा से उसे अपना पुरोहित बनाना स्वीकार किया। देवताओं द्वारा अपमान किये जाने पर गुरु बृहस्पति ने इनका परित्याग कर दिया था, इसीलिए इन्हें पुरोहित की आवश्यकता पड़ी।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत, ''दक्ष की कन्याओं का वंश'' नामक नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter सात

# इन्द्र द्वारा गुरु बृहस्पति का अपमान

इस अध्याय में बताया गया है, कि स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पति के चरणकमलों के प्रति अपराध किया; फलतः बृहस्पति ने देवताओं का परित्याग कर दिया जिससे वे पुरोहितविहीन हो गये। किन्तु देवताओं के अनुनय-विनय पर ब्राह्मण त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप ने पुरोहित बनना स्वीकार कर लिया।

एक बार देवताओं के राजा इन्द्र अपनी पत्नी शचीदेवी के साथ विराजमान थे और सिद्ध, चारण तथा गंधर्व जैसे देवतागण उनकी प्रशंसा कर रहे थे, तभी देवताओं के गुरु बृहस्पति ने उस सभा में प्रवेश किया। अपने ऐश्वर्य के मद में चूर होने के कारण इन्द्र ने बृहस्पति का सत्कार नहीं किया, इससे बृहस्पति को इन्द्र के भौतिक ऐश्वर्य में मद में चूर होने का पता लग गया। अतः वे इन्द्र को पाठ पढ़ाने के लिए सभा से चुपके से निकल लिये। इन्द्र को पश्चात्ताप हुआ कि अपने ऐश्वर्य-मद के कारण वह अपने गुरु का आदर करना भूल गया। वह अपने गुरु से क्षमा माँगने के लिए अपने महल से चल पड़ा, किन्तु कहीं भी उसकी बृहस्पति से भेंट नहीं हुई।

अपने गुरु का निरादर करने के कारण इन्द्र का सारा ऐश्वर्य जाता रहा और असुरों ने एक बड़े युद्ध में देवताओं को परास्त करके इन्द्र के सिंहासन को हथिया लिया। तब इन्द्र देवताओं सहित ब्रह्माजी की शरण में आया। स्थिति से अवगत होने पर श्रीब्रह्मा ने गुरु के प्रति किये गये इस अपराध के लिए देवताओं की भर्त्सना की। ब्रह्माजी की आज्ञानुसार देवताओं ने विश्वरूप को, जो त्वष्टा का पुत्र एवं ब्राह्मण था, अपना पुरोहित बना लिया। तब उन्होंने विश्वरूप के पौरोहित्य में यज्ञ किये और असुरों पर विजय प्राप्त की।

**श्रीराजोवाच**
**कस्य हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः ।**
**एतदाचक्ष्व भगवञ्छिष्याणामक्रमं गुरौ ॥ १ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-राजा उवाच—राजा ने पूछा; कस्य हेतोः—किस कारण से; परित्यक्ताः—त्यागे गये; आचार्येण—अपने गुरु बृहस्पति द्वारा; आत्मनः—अपने ही; सुराः—समस्त देवता; एतत्—यह; आचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; भगवन्—हे मुनि (शुकदेव गोस्वामी); शिष्याणाम्—शिष्यों का; अक्रमम्—अपराध; गुरौ—गुरु के प्रति।

**महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे महामुनि! देवताओं के गुरु बृहस्पति ने देवताओं का परित्याग क्यों किया जो उनके ही शिष्य थे। देवताओं ने अपने गुरु के साथ ऐसा कौन सा अपराध किया? कृपया मुझसे इस घटना का वर्णन करें।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है—

*सप्तमे गुरुणा त्यक्तैर्देवैर्दैत्यपराजितैः ।*

*विश्वरूपो गुरुत्वेन वृतो ब्रह्मोपदेशतः ॥*

''इस सातवें अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार देवताओं द्वारा बृहस्पति का तिरस्कार हुआ, किस प्रकार बृहस्पति ने उन्हें त्यागा और किस प्रकार असुरों से पराजित होकर देवताओं ने ब्रह्माजी के उपदेशानुसार अपना यज्ञ कराने के लिए विश्वरूप को पुरोहित रूप में स्वीकार किया।''

श्रीबादरायणिरुवाच

**इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः ।**
**मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैरृभुभिर्नृप ॥ २ ॥**

**विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः ।**
**सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३ ॥**

**विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः ।**
**निषेव्यमाणो मघवान्स्तूयमानश्च भारत ॥ ४ ॥**

**उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः ।**
**पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा ॥ ५ ॥**

**युक्तश्चान्यैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः ।**
**विराजमानः पौलम्या सहार्धासनया भृशम् ॥ ६ ॥**

**स यदा परमाचार्यं देवानामात्मनश्च ह ।**
**नाभ्यनन्दत सम्प्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ ७ ॥**

**वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् ।**
**नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥ ८ ॥**

## शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया; इन्द्रः—राजा इन्द्र; त्रि-भुवन-ऐश्वर्य—तीनों लोकों के ऐश्वर्य का स्वामी होने के कारण; मद—घमंड से; उल्लङ्घित—जिसने उल्लंघन किया; सत्-पथः—वैदिक सभ्यता का मार्ग; मरुद्भिः—वायु के देवताओं द्वारा, जो मरुत्गण कहलाते हैं; वसुभिः—आठ वसुओं द्वारा; रुद्रैः—ग्यारह रुद्रों के द्वारा; आदित्यैः—आदित्यों के द्वारा; ऋभुभिः—ऋभुओं के द्वारा; नृप—हे राजन्; विश्वेदेवैः च—तथा विश्वदेवों के द्वारा; साध्यैः—साध्यों के द्वारा; च—भी; नासत्याभ्याम्—दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा; परिश्रितः—घिरे हुए; सिद्ध—सिद्धलोक के निवासियों द्वारा; चारण—सभी चारण; गन्धर्वैः—तथा गन्धर्वों से; मुनिभिः—बड़े बड़े साधुओं द्वारा; ब्रह्मवादिभिः—अत्यन्त विद्वान निर्गुणवादियों द्वारा; विद्याधर-अप्सरोभिः च—तथा विद्याधरों और अप्सराओं द्वारा; किन्नरैः—किन्नरों के द्वारा; पतग-उरगैः—पक्षियों तथा सर्पों के द्वारा; निषेव्यमाणः—सेवित होकर; मघवान्—राजा इन्द्र; स्तूयमानः च—तथा स्तुति किये जाने पर; भारत—हे महाराज परीक्षित; उपगीयमानः—कीर्ति का गान होने पर; ललितम्—अत्यन्त मधुर; आस्थान—अपनी सभा में; अध्यासन-आश्रितः—सिंहासन पर विराजमान; पाण्डुरेण—श्वेत; आतपत्रेण—सिर के ऊपर

छत्र सहित; चन्द्र-मण्डल-चारुणा—चन्द्रमा के मंडल के समान सुन्दर; युक्तः—से युक्त; च अन्यैः—तथा अन्य से; पारमेष्ठ्यैः—महाराजोचित; चामर—चँवर; व्यजन-आदिभिः—पंखे आदि सामग्रियों से; विराजमानः—चमकता हुआ; पौलम्या—अपनी पत्नी शची के; सह—साथ; अर्ध-आसनया—आधे सिंहासन पर स्थित; भृशम्—अत्यधिक; सः—वह ( इन्द्र ); यदा—जब; परम-आचार्यम्—परमादरणीय गुरु को; देवानाम्—समस्त देवताओं के; आत्मनः—स्वयं का; च—और; ह—निस्सन्देह; न—नहीं; अभ्यनन्दत—सत्कार किया; सम्प्राप्तम्—सभा में प्रकट होकर; प्रत्युत्थान—सिंहासन से उठकर; आसन-आदिभिः—तथा आसन इत्यादि से; वाचस्पतिम्—देवताओं के पुरोहित, बृहस्पति को; मुनि-वरम्—साधुओं में श्रेष्ठ; सुर-असुर-नमस्कृतम्—देवताओं तथा असुरों के द्वारा समान रूप से सम्मानित; न—नहीं; उच्चचाल—उठकर खड़ा हुआ; आसनात्—सिंहासन से; इन्द्रः—इन्द्र; पश्यन् अपि—देखकर भी; सभा-आगतम्—सभा में आते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! एक बार तीनों लोकों के ऐश्वर्य से अत्यधिक गर्वित हो जाने के कारण स्वर्ग के राजा इन्द्र ने वैदिक आचार-संहिता का उल्लंघन कर दिया। वे सिंहासन पर आसीन थे और उनके चारों ओर मरुत, वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु, विश्वदेव, साध्य, अश्विनी-कुमार, सिद्ध, चारण, गंधर्व तथा सभी बड़े बड़े ऋषि मुनियों के अतिरिक्त विद्याधर, अप्सराएँ, किन्नर, पतग ( पक्षी ) तथा उरग ( सर्प ) भी बैठे थे। वे सभी इन्द्र की स्तुति और सेवा कर रहे थे और अप्सराएँ तथा गन्धर्व नृत्य कर रहे थे और अपने मधुर वाद्ययंत्रों के साथ गायन कर रहे थे। इन्द्र के सर पर पूर्ण चन्द्रमा के समान तेजवान् श्वेत छत्र तना था, चँवर झला जा रहा था और समस्त राजसी ठाठ-बाट सजा था। इन्द्र अपनी अर्धांगिनी शचीदेवी सहित सिंहासन पर बैठे थे तभी उस सभा में परम साधु बृहस्पति का प्रवेश हुआ। सर्वश्रेष्ठ साधु बृहस्पति इन्द्र समेत सभी देवताओं के गुरु थे और देवताओं तथा असुरों के द्वारा समान रूप से सम्मानित थे। तो भी अपने गुरु को समक्ष देखकर इन्द्र न तो अपने आसन से उठा, न अपने गुरु को बैठने के लिए आसन दिया और न उनका आदर पूर्वक सत्कार ही किया। तात्पर्य यह है कि इन्द्र ने सम्मानसूचक कोई भी कार्य नहीं किया।

ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः ।
आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वाञ्श्रीमदविक्रियाम् ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निर्गत्य—बाहर जाकर; सहसा—अचानक; कविः—परम विद्वान; आङ्गिरसः—बृहस्पति; प्रभुः—देवताओं के स्वामी; आययौ—लौटे; स्व-गृहम्—अपने घर को; तूष्णीम्—मौन; विद्वान्—ज्ञात करके; श्री-मद-विक्रियाम्—ऐश्वर्य के मद से विकार ग्रस्त।

बृहस्पति को सब कुछ ज्ञात था कि भविष्य में क्या होने वाला है। इन्द्र द्वारा सारे शिष्टाचार का उल्लंघन देखकर वे पूरी तरह समझ गये कि इन्द्र ऐश्वर्य के मद से फूल उठा है। वे चाहते तो इन्द्र को शाप दे सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे उस सभा से निकलकर चुपचाप अपने घर चले आये।

तर्ह्येव प्रतिबुध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः ।
गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

तर्हि—तब तुरन्त; एव—निस्सन्देह; प्रतिबुध्य—समझकर; इन्द्रः—राजा इन्द्र; गुरु-हेलनम्—गुरु की अवहेलना; आत्मनः—अपने; गर्हयाम् आस—पश्चात्ताप करने लगा; सदसि—उस सभा में; स्वयम्—स्वयं; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मना—अपने द्वारा।

स्वर्ग के राजा इन्द्र ने तुरन्त ही अपनी भूल समझ ली। यह जानते हुए कि उन्होंने अपने गुरु का निरादर किया है, उन्होंने उस सभा के समस्त सदस्यों के समक्ष स्वयं ही अपनी भर्त्सना की।

अहो बत मयासाधु कृतं वै दभ्रबुद्धिना ।
यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

अहो—ओह; बत—निस्सन्देह; मया—मेरे द्वारा; असाधु—निरादरपूर्ण; कृतम्—कार्य; वै—निश्चय ही; दभ्र-बुद्धिना—मन्द बुद्धि होने से; यत्—क्योंकि; मया—मेरे द्वारा; ऐश्वर्य-मत्तेन—भौतिक ऐश्वर्य के नशे में चूर होने के कारण; गुरुः—गुरु; सदसि—इस सभा में; कात्-कृतः—दुर्व्यवहार किया गया।

ओह! अपनी अल्प बुद्धि के कारण तथा भौतिक ऐश्वर्य के मद-वश मैंने यह क्या कर लिया! जब मेरे गुरु इस सभा में प्रविष्ट हुए तो मैंने उनका सत्कार क्यों नहीं किया? सचमुच मैंने उनका अनादर किया है।

को गृध्येत्पण्डितो लक्ष्मीं त्रिपिष्टपपतेरपि ।
ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

कः—कौन; गृध्येत्—स्वीकार करेगा; पण्डितः—विद्वान मनुष्य; लक्ष्मीम्—ऐश्वर्य; त्रि-पिष्ट-प-पतेः अपि—यद्यपि मैं देवताओं का स्वामी हूँ; यया—जिससे; अहम्—मैं; आसुरम्—आसुरी; भावम्—विचार; नीतः—लाकर; अद्य—अब; विबुध—देवताओं के, जो सतोगुण युक्त हैं; ईश्वरः—राजा।

**यद्यपि मैं सतोगुणी देवताओं का राजा हूँ, किन्तु थोड़े से ऐश्वर्य से गर्वित और अहंकार से दूषित था। भला ऐसी दशा में कौन इस ऐश्वर्य को स्वीकार करेगा जिससे उसका पतन हो? हाय! मेरे धन एवं ऐश्वर्य को धिक्कार है!**

**तात्पर्य :** श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रीभगवान् से प्रार्थना की थी—*न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये*—"हे ईश्वर, मुझे न तो धन या भौतिक ऐश्वर्य की कामना है, न मैं चाहता हूँ कि मेरे अनेक अनुयायी हों जो मुझे अपना नायक मानें, न ही मुझे अपने आपको प्रसन्न रखने के लिए किसी सुन्दर स्त्री की आवश्यकता है।" *मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि*—"मुझे मुक्ति भी नहीं चाहिए। मैं तो यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मांतर आपका आज्ञाकारी दास बना रहूँ।" प्रकृति का नियम है कि जब कोई अत्यन्त ऐश्वर्यशाली हो जाता है, तो उसका पतन होने लगता है। यह व्यष्टि तथा समष्टि पर समान रूप से लागू होता है। सभी देवता सतोगुणी हैं, किन्तु कभी-कभी देवताओं के राजा इन्द्र के उच्च पद जैसी स्थिति पर अवस्थित राजा भी अपने ऐश्वर्य के कारण नीचे गिर जाते हैं। आजकल हम अमरीका में वास्तव में यही देख रहे हैं। समग्र अमरीकी राष्ट्र ने आदर्श मनुष्य उत्पन्न किये बिना भौतिक ऐश्वर्य में प्रगति करने का प्रयास किया है। इसका फल यह हुआ है कि सभी अमरीकी लोग अमरीकी समाज में अत्याचारों से आक्रान्त हैं और आश्चर्यचकित हैं कि अमरीका में इतना अनाचार कैसे व्याप्त है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (७.५.३१) में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—जो प्रबुद्ध नहीं हैं, उनको जीवन का उद्देश्य, जो वास्तव में भगवान् के धाम को जाना है, ज्ञात नहीं है; अतः वे व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही प्रकार से तथाकथित भौतिक सुविधाओं को भोगना चाहते हैं और सुरा तथा सुन्दरी के आदी हो जाते हैं। ऐसे समाज का व्यक्ति चतुर्थ श्रेणी से भी निम्न होता है। वे अवांछित हैं और वर्णसंकर कहलाते हैं और जैसा कि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, वर्णसंकर जनता की वृद्धि

से नारकीय समाज की सृष्टि होती है। आज अमरीकी लोग अपने आपको ऐसे ही समाज में पाते हैं।

किन्तु सौभाग्यवश अमरीका में हरे कृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात हो चुका है और अनेक भाग्यशाली नवयुवक इस आन्दोलन के प्रति सचेष्ट हैं। इसके द्वारा लोग उच्च चरित्र वाले आदर्श व्यक्ति बन रहे हैं, जो मांसाहार, अवैध मैथुन, मद्यपान तथा द्यूत क्रीड़ा से अपने को सर्वथा दूर रखते हैं। यदि अमरीकी लोग अपने राष्ट्र के अवनत अपराधपूर्ण जीवन पर रोक लगाने के लिए उत्सुक हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अंगीकार करें और ऐसे मानव-समाज का निर्माण करें जो *भगवद्गीता* में उल्लिखित है ( *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः*)। उन्हें चाहिए कि समाज को प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के व्यक्तियों में विभाजित कर लें। चूँकि उनमें अभी चतुर्थ श्रेणी से भी नीचे के लोग उत्पन्न हो रहे हैं, अतः अपराधी समाज के संकटों से कैसे बचा जा सकता है? बहुत काल बीता, श्रीइन्द्र को अपने गुरु बृहस्पति का अनादर करने पर पश्चात्ताप हुआ था। इसी प्रकार, यह सलाह दी जाती है कि अमरीकी लोग अपनी भ्रमपूर्ण उन्नत सभ्यता के लिए पश्चात्ताप करें। उन्हें चाहिए कि भगवान् कृष्ण के प्रतिनिधि गुरु से उपदेश ग्रहण करें। यदि वे ऐसा करेंगे तो सुखी होंगे और उनका राष्ट्र आदर्श राष्ट्र बनेगा जो सारे विश्व का पथप्रदर्शक बन सकेगा।

**यः पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन्न कञ्चन ।**
**प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदुः ॥ १३॥**

शब्दार्थ

यः—जो भी; पारमेष्ठ्यम्—राजसी; धिषणम्—सिंहासन पर; अधितिष्ठन्—आसीन; न—नहीं; कञ्चन—कोई भी; प्रत्युत्तिष्ठेत्—पहले उठना चाहिए; इति—इस प्रकार; ब्रूयुः—जो ऐसा कहते हैं; धर्मम्—धर्मादेश; ते—वे; न—नहीं; परम्—अत्यधिक; विदुः—जानते हैं।

**यदि कोई यह कहे कि राजा के उच्च सिंहासन पर आसीन व्यक्ति को दूसरे राजा या ब्राह्मण के सत्कार हेतु उठकर खड़ा नहीं होना चाहिए, तो यही समझना चाहिए कि वह श्रेष्ठ**

**धार्मिक नियमों को नहीं जानता।**

**तात्पर्य :** इस प्रसंग के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जब कोई राजा या राष्ट्रपति अपने सिंहासन पर आसीन हो तो सभा में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का सत्कार करना उसके लिए आवश्यक नहीं है, किन्तु उसे चाहिए कि अपने श्रेष्ठजनों, यथा गुरु, ब्राह्मण तथा वैष्णवों, का आदर करे। उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए इसके अनेक उदाहरण हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण सिंहासन पर आसीन थे और सौभाग्यवश नारद ने उनकी सभा में प्रवेश किया, तो वे नारद को नमस्कार करने के लिए अपने पार्षदों सहित उठकर खड़े हो गये। नारद को ज्ञात था कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं और श्रीकृष्ण भी जानते थे कि नारद उनके भक्त हैं, किन्तु तो भी भगवान् श्रीकृष्ण ने धार्मिक शिष्टाचार का पालन किया। चूँकि नारद एक ब्रह्मचारी, ब्राह्मण तथा महान् भक्त थे, इसलिए राजा के पद पर होते हुए भी श्रीकृष्ण ने नारद को सादर नमस्कार किया। वैदिक सभ्यता में ऐसा आचरण देखा जाता है। जिस सभ्यता में लोग यह नहीं जानते कि नारद तथा कृष्ण के प्रतिनिधियों का किस प्रकार सत्कार किया जाये, किस प्रकार समाज का निर्माण हो और किस प्रकार कृष्णभावनामृत में अग्रसर हुआ जाये, भले ही वह सभ्यता प्रौद्योगिकी की दृष्टि से जिसका सम्बन्ध नई कारें बनाने और नए गगनचुम्बी भवन निर्माण करने और बाद में उन्हें तोड़ कर और नए बनाने में कितनी ही समुन्नत क्यों न हो, वह मानव सभ्यता नहीं है। मानव-सभ्यता तभी प्रगति करती है जब उसके लोग चातुर्वर्ण्य प्रणाली का पालन करते हों। प्रथम श्रेणी के लोगों को सलाहकार के रूप में, द्वितीय श्रेणी के लोगों को प्रशासक के रूप में, तृतीय श्रेणी के लोगों को अन्नोत्पादन तथा गोरक्षा के लिए और चतुर्थ श्रेणी के लोगों को समाज की तीनों उच्च श्रेणियों की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जो आदर्श समाज की इस प्रणाली को नहीं मानता उसे पंचम श्रेणी का माना जाना चाहिए। वैदिक नियमों तथा विधानों से विहीन समाज मानवता के लिए तनिक भी सहायक नहीं हो सकता। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है— *धर्मं ते न परं विदुः*—ऐसा समाज न तो जीवन के उद्देश्य से परिचित है और न श्रेष्ठ धार्मिक नियमों से।

**तेषां कुपथदेष्टृणां पततां तमसि ह्यधः ।**
**ये श्रद्दध्युर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव ॥ १४॥**

शब्दार्थ

तेषाम्—उन ( बुरे नेताओं ) का; कु-पथ-देष्टृणाम्—कुमार्ग दिखाने वाले; पतताम्—स्वयं गिरकर; तमसि—अंधकार में; हि—निस्सन्देह; अधः—नीचे; ये—जो कोई; श्रद्दध्युः—श्रद्धा रखते हैं; वचः—शब्द; ते—वे; वै—निस्सन्देह; मज्जन्ति—डूब जाते हैं; अश्म-प्लवाः—पत्थर की नाव; इव—के समान।

**जो नेता अज्ञानी हैं और लोगों को विनाश के कुमार्ग पर ले जाते हैं ( जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है ) वे वास्तव में पत्थर की नाव पर सवार हैं और उनके पीछे अंधे होकर चलने वाले भी वैसे हैं। पत्थर की नाव पानी में नहीं तैर सकती। वह तो यात्रियों समेत पानी में डूब जायेगी। इसी प्रकार जो लोग मनुष्यों को कुमार्ग पर ले जाते हैं, वे अपने अनुयायियों समेत नरक को जाते हैं।**

**तात्पर्य :** वैदिक ग्रन्थों ( *भागवत* ११.२०.१७) में कहा गया है—

*नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्*

हम सभी बद्धजीव अज्ञान के सागर में गिरे हुए हैं, किन्तु सौभाग्यवश हमारा मनुष्य-शरीर सागर को पार करने का सुअवसर प्रदान करता है, क्योंकि यह एक सुन्दर नाव के समान है। जब गुरु-रूपी कप्तान इस नाव का निर्देशन करता है, तो यह सरलतापूर्वक सागर को पार कर लेती है। यही नहीं, वैदिक उपदेश रूपी अनुकूल हवाओं के द्वारा नाव को पार करने में सहायता मिलती है। यदि कोई इस अज्ञानसागर को पार करने की समस्त सुविधाओं का लाभ नहीं उठाता तो वह निश्चय ही आत्मघात करता है।

जो पत्थर की बनी नाव में सवार होता है, समझो वह डूब गया। सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए मानवता को सबसे पहले उन छद्म-नेताओं का परित्याग करना होगा जो पत्थर की नाव सामने लाते हैं। समस्त मानव समाज ऐसी भयावह स्थिति में है कि इसे बचाने के लिए वेदों के आदर्श उपदेशों का पालन आवश्यक है। ऐसे उपदेशों का सार *भगवद्गीता* के रूप में उपलब्ध है। मनुष्य

को चाहिए कि वे अन्य उपदेशों को ग्रहण न करके गीता के ही उपदेशों का अनुसरण करे, क्योंकि उसमें जीव का उद्देश्य सुस्पष्ट मिलता है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—"अन्य समस्त धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो।" भले ही कोई श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न माने, किन्तु उनके उपदेश इतने उच्च तथा मानवता के लिए इतने उपयोगी हैं कि उनके पालन करने से मनुष्य बच सकता है। अन्यथा वह योग की व्यायाम सम्बन्धी विधियों तथा अनधिकारिक चिन्तन (ध्यान) के द्वारा ठगा जाता रहेगा। इस प्रकार वह पत्थर की नाव में सवार होता रहेगा जो समस्त यात्रियों सहित डूबती रहेगी। दुर्भाग्यवश, अमरीकी लोग भौतिक अव्यवस्था से उबरने के लिए उत्सुक तो दिखते हैं, किन्तु कभी-कभी वे पत्थर की नाव बनाने वालों का समर्थन करने लगते हैं। इससे उनको लाभ नहीं होने वाला। उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन के रूप में श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त उचित नाव को ग्रहण करें। तब वे सरलता से बच सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है—*अश्ममय: प्लवो येषां ते यथा मज्जन्तं प्लवम् अनुमज्जन्ति तथेति राजनित्युपदेष्ट्रिषु स्वसभ्येषु कोपो व्यंजित:*। यदि यह समाज राजनीति के द्वारा निर्देशित होता रहेगा और एक राष्ट्र दूसरे के ऊपर हावी होता रहेगा तो यह अवश्य ही पत्थर की नाव के समान डूब जायेगा। इससे मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य समझने, ईश्वर को जानने तथा मानव उद्देश्य को पूरा करने के लिए मनुष्यों को कृष्णभावनामृत की शरण लेनी चाहिए।

**अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम् ।**
**प्रसादयिष्ये निशठः शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन् ॥ १५ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—अत:; अहम्—मैं; अमर-आचार्यम्—देवताओं के गुरु को; अगाध-धिषणम्—अगाध आत्मज्ञान से युक्त; द्विजम्—पूर्ण ब्राह्मण को; प्रसादयिष्ये—मैं प्रसन्न करूँगा; निशठः—बिना कपट के; शीर्ष्णा—अपने शिर से; तत्-चरणम्—उनके चरणकमल का; स्पृशन्—स्पर्श करके।

**राजा इन्द्र ने कहा—अत: अब मैं अत्यन्त खुले मन से तथा निष्कपट भाव से देवताओं**

**के गुरु बृहस्पति के चरणारविन्द में अपना शीश झुकाऊँगा। सात्त्विक होने के कारण वे समस्त ज्ञान से पूर्णतया अवगत हैं और ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं। अब मैं उनके चरणारविन्द का स्पर्श करके उन्हें प्रसन्न करने के उद्देश्य से प्रणाम करूँगा।**

**तात्पर्य :** चेत होने पर राजा इन्द्र की समझ में आया कि वह अपने गुरु बृहस्पति का निष्ठावान् शिष्य नहीं है। अत: उसने निश्चय किया कि अब वह *निशठ* अर्थात् निष्कपट बनेगा। *निशठ: शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन्*—उसने अपने गुरु के चरणों को शिर से स्पर्श करने का निश्चय किया। इस उदाहरण से हमें विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा व्यक्त नियम को सीखना चाहिए—

*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो*

*यस्याप्रसादान्न गति: कुतोऽपि*

''गुरु की कृपा से श्रीकृष्ण की कृपा का आशीर्वाद मिलता है। बिना गुरु के प्रसाद के मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता।'' शिष्य को कभी-भी अपने गुरु के प्रति दंभी और कृतघ्न नहीं होना चाहिए। श्रीमद्भागवत (११.१७.२७) में गुरु को आचार्य कहा गया हैं—*आचार्यं मां विजानीयान्*—श्रीभगवान् का कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि गुरु को ही साक्षात् भगवान् मानकर उसका आदर करे। नावमन्येत कर्हिचित्—कभी भी आचार्य का अनादर न करे। न मर्त्य-बुध्यासूयेत्—आचार्य को कभी सामान्य जन नहीं समझना चाहिए। अधिक परिचय से अनादर होता है, किन्तु आचार्य के साथ व्यवहार करते समय सतर्क रहना चाहिए। *अगाध धिष्णां द्विजम्*—आचार्य पूर्ण ब्राह्मण होता है और वह अपने शिष्य के कर्मों के निर्देशन की अपार बुद्धि रखता है। इसीलिए श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (४.३४) में कहते हैं—

*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।*

*उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन:॥*

''गुरु के निकट जाकर सत्य को जानने का प्रयत्न करो। उनसे विनीत होकर प्रश्न करो और उनकी सेवा करो। वे सत्य को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तुम्हें ज्ञान प्रदान करेंगे।'' मनुष्य

को गुरु की शरण में पूर्णरूपेण जाना चाहिए और सेवा द्वारा (*सेवया*) अधिक आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

**एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान्गृहात् ।**
**बृहस्पतिर्गतोऽदृष्टां गतिमध्यात्ममायया ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चिन्तयतः—गम्भीरतापूर्वक सोचते हुए; तस्य—वह; मघोनः—इन्द्र; भगवान्—परम शक्तिमान; गृहात्—अपने घर से; बृहस्पतिः—बृहस्पति; गतः—चले गये; अदृष्टाम्—अदृश्य; गतिम्—दशा को; अध्यात्म—आत्मचेतना में अत्यधिक उठा हुआ होने के कारण; मायया—अपनी शक्ति से।

**जिस समय देवताओं के राजा इन्द्र इस प्रकार सोच रहे थे और अपनी ही सभा में पश्चात्ताप कर रहे थे, परम शक्तिमान गुरु बृहस्पति उनके भाव को जान गये। अतः अदृश्य होकर वे अपने घर से चले गये, क्योंकि राजा इन्द्र की अपेक्षा वे आत्मज्ञान में अत्यधिक आगे थे।**

**गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन्भगवान्स्वराट् ।**
**ध्यायन्धिया सुरैर्युक्तः शर्म नालभतात्मनः ॥ १७ ॥**

शब्दार्थ

गुरोः—अपने गुरु का; न—नहीं; अधिगतः—पाकर; संज्ञाम्—चिह्न; परीक्षन्—चारों ओर खोजते हुए; भगवान्—महान् शक्तिशाली इन्द्र; स्वराट्—स्वतंत्र; ध्यायन्—ध्यान धरते हुए; धिया—बुद्धि से; सुरैः—देवताओं से; युक्तः—घिरे हुए; शर्म—शान्ति; न—नहीं; अलभत—प्राप्त किया; आत्मनः—मानसिक।

**यद्यपि इन्द्र ने अन्य देवताओं की सहायता से गुरु बृहस्पति की काफी खोजबीन की, किन्तु वे उन्हें न पा सके। तब इन्द्र ने सोचा, "हाय! मेरे गुरु मुझसे अप्रसन्न हो गये हैं और अब सौभाग्य प्राप्त करने का मेरे पास कोई अन्य साधन नहीं रह गया है।" यद्यपि इन्द्र देवताओं से घिरे हुए थे, किन्तु उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिल सकी।**

**तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम् ।**
**देवान्प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥ १८ ॥**

शब्दार्थ

तत् श्रुत्वा—उस समाचार को सुनकर; एव—निस्सन्देह; असुराः—असुर; सर्वे—सभी; आश्रित्य—शरण जाकर; औशनसम्—शुक्राचार्य के; मतम्—आदेश; देवान्—देवता; प्रत्युद्यमम्—के विरुद्ध आक्रमण; चक्रुः—किया; दुर्मदाः—मूर्ख; आततायिनः—युद्ध के लिए शस्त्रास्त्रों से सज्जित।

इन्द्र की दयनीय दशा का समाचार पाकर असुरों ने अपने गुरु शुक्राचार्य के आदेश से अपने आपको हथियारों से सज्जित किया और देवताओं के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

तैर्विसृष्टेषुभिस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्नाङ्गोरुबाहवः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तैः—उनके ( असुरों के ) द्वारा; विसृष्ट—फेंके गये; इषुभिः—तीरों के द्वारा; तीक्ष्णैः—अत्यन्त नुकीले; निर्भिन्न—भेदकर; अङ्ग—शरीर; उरु—जंघा; बाहवः—तथा भुजाएँ; ब्रह्माणम्—ब्रह्माजी की; शरणम्—शरण में; जग्मुः—गये; सह-इन्द्राः—राजा इन्द्र के साथ; नत-कन्धराः—अपने शीश झुकाये हुए।

जब असुरों के तीक्ष्ण बाणों से देवताओं के शिर, जंघाएँ, बाँहें तथा शरीर के अन्य अंग क्षत-विक्षत हो गये तो इन्द्र समेत सभी देवता, कोई अन्य उपाय न देखकर नतमस्तक होकर तुरन्त श्रीब्रह्मा की शरण लेने तथा उचित आदेश प्राप्त करने के लिए पहुँचे।

तांस्तथाभ्यर्दितान्वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः ।
कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको ( देवताओं को ); तथा—उस प्रकार; अभ्यर्दितान्—असुरों के हथियारों से चोट खाकर; वीक्ष्य—देखकर; भगवान्—परम शक्तिमान; आत्म-भूः—ब्रह्माजी; अजः—जो सामान्य जन की तरह जन्म नहीं लेता; कृपया—अहैतुकी कृपावश; परया—अधिक; देवः—श्री ब्रह्मा ने; उवाच—कहा; परिसान्त्वयन्—उन्हें सान्त्वना देकर।

जब सर्वाधिक शक्तिमान ब्रह्माजी ने असुरों के बाणों से शरीर बुरी तरह घायल हुए देवताओं को अपनी ओर आते देखा तो उन्होंने अपनी अहैतुकी कृपावश उन्हें ढाढ़स बँधाया और इस प्रकार बोले।

श्रीब्रह्मोवाच

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत् ।

**ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—श्रीब्रह्मा ने कहा; अहो—ओह; बत—बड़ा आश्चर्य है; सुर-श्रेष्ठाः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; हि—निस्सन्देह; अभद्रम्—अन्याय; वः—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—किया हुआ; महत्—महान्; ब्रह्मिष्ठम्—परब्रह्म के प्रति आज्ञाकारी पुरुष; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण का; दान्तम्—मन तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला; ऐश्वर्यात्—अपने भौतिक ऐश्वर्य से; न—नहीं; अभ्यनन्दत—उचित रीति से स्वागत किया।

**श्रीब्रह्मा ने कहा, हे श्रेष्ठ देवताओ! तुम लोगों ने अपने ऐश्वर्य-मद के कारण सभा में आने पर बृहस्पति का सत्कार नहीं किया। वे परब्रह्म-ज्ञाता और इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं, अतः वे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं। अतः यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि तुम लोगों ने उनके साथ इस प्रकार दुर्व्यवहार किया है।**

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी ने बृहस्पति के ब्राह्मण-गुणों को पहचान लिया था, क्योंकि वे परब्रह्म के ज्ञाता होने के कारण देवताओं के गुरु थे। बृहस्पति ने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया था, अत: वे योग्यतम ब्राह्मण थे। ब्रह्माजी ने देवताओं की प्रताड़ना की, क्योंकि उन्होंने अपने गुरु का समुचित सत्कार नहीं किया था। श्रीब्रह्मा ने उन्हें यह बताना चाहा कि किसी भी दशा में गुरु का निरादर नहीं होना चाहिए था। जब बृहस्पति ने देवताओं की सभा में प्रवेश किया, तो देवताओं तथा उनके राजा इन्द्र ने समझा कि वे तो प्रत्येक दिन आते रहते हैं, अत: उनको विशेष सम्मान प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जैसा कहा गया है, अधिक घनिष्ठता से घृणा उत्पन्न होती है। अत्यधिक क्रुद्ध होने के कारण बृहस्पति ने तुरन्त ही इन्द्र का महत्त्व छोड़ दिया। इस प्रकार इन्द्र सहित सभी देवता बृहस्पति के चरणारविन्द के प्रति अपराधी सिद्ध हुए। चूँकि ब्रह्माजी को इसका पता था, इसलिए उन्होंने इस उपेक्षा के लिए उन्हें धिक्कारा। नरोत्तम दास ठाकुर का एक गीत है, जिसे हम लोग नित्य ही गाते हैं। उसमें कहा गया है *चक्षु-दान दिल येई, जन्मे-जन्मे प्रभु सेइ* गुरु शिष्य को आध्यात्मिक चक्षु प्रदान करते हैं, अत: गुरु को जन्म-जन्मांतर स्वामी (प्रभु) समझना चाहिए। किसी भी दशा में गुरु का निरादर नहीं किया जाना चाहिए, किन्तु देवताओं ने अपने भौतिक ऐश्वर्यों से फूल कर अपने गुरु का अनादर किया। अत: *श्रीमद्भागवत*

(११.१७.२७) का उपदेश है *आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत्*–आचार्य को सदैव नमस्कार करना चाहिए, आचार्य को सामान्य पुरुष मान कर उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए।

**तस्यायमनयस्यासीत्परेभ्यो वः पराभवः ।**
**प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत्सुराः ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

तस्य—उस; अयम्—यह; अनयस्य—तुम्हारी कृतघ्नता का; आसीत्—था; परेभ्यः—अन्यों के द्वारा; वः—तुम सबों की; पराभवः—पराजय; प्रक्षीणेभ्यः—निर्बल होते हुए भी; स्व-वैरिभ्यः—तुम्हारे अपने शत्रुओं द्वारा जो पहले तुम्हारे द्वारा पराजित हुए थे; समृद्धानाम्—तुम्हारे ऐश्वर्यशाली होने से; च—तथा; यत्—जो; सुराः—हे देवो।.

**हे देवो! तुम लोग बृहस्पति के प्रति किये गये अपने दुराचरण के कारण असुरों के द्वारा पराजित हुए हो। अन्यथा असुर तो अत्यन्त निर्बल थे और तुम लोगों के द्वारा अनेक बार पराजित हो चुके थे। भला फिर ऐश्वर्य से इतना समृद्ध होते हुए तुम लोग उनसे कैसे हार सकते थे?**

**तात्पर्य :** असुरों से निरन्तर लड़ते रहने के लिए देव विख्यात हैं। ऐसी लड़ाइयों में सदा असुर ही पराजित होते थे, किन्तु इस बार देवता पराजित हुए थे। क्यों? जैसाकि यहाँ बताया गया है, इसका कारण था कि उन्होंने अपने गुरु का अपमान किया था। गुरु के प्रति असम्मान का भाव ही असुरों से उनकी पराजय का कारण था। शास्त्रों का वचन है कि जो अपने सम्मानीय बड़े व्यक्ति का अनादर करता है उसकी आयु क्षीण होती है; उसके पुण्य कार्यों के फल का क्षय होता है और इस प्रकार उसकी अवनति होती है।

**मघवन्द्विषतः पश्य प्रक्षीणान्गुर्वतिक्रमात्**
**सम्प्रत्युपचितान्भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः ।**
**आददीरन्निलयनं ममापि भृगुदेवताः ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ

मघवन्—हे इन्द्र; द्विषतः—तुम्हारे शत्रु; पश्य—जरा देखो; प्रक्षीणान्—( पहले ) अत्यन्त निर्बल होने से; गुरु-अतिक्रमात्—अपने गुरु शुक्राचार्य का अनादर करने से; सम्प्रति—इस समय; उपचितान्—शक्तिशाली; भूयः—पुनः; काव्यम्—अपने गुरु, शुक्राचार्य को; आराध्य—पूजा करके; भक्तितः—अत्यन्त भक्ति सहित; आददीरन्—ले सकते हैं; निलयनम्—धाम, सत्यलोक को; मम—मेरा; अपि—भी; भृगु-देवताः—भृगु के शिष्य शुक्राचार्य के प्रबल भक्त।

**हे इन्द्र! तुम्हारे शत्रु असुरगण शुक्राचार्य के प्रति अनादर करने के कारण अत्यन्त निर्बल हो गये थे, किन्तु अब उन्होंने अत्यन्त भक्तिपूर्वक शुक्राचार्य की पूजा की है, अतः वे पुनः बलशाली बन गये हैं। अपनी भक्ति के द्वारा उन्होंने अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली है, कि वे अब मुझसे मेरा धाम ( सत्यलोक ) तक लेने में समर्थ हो चुके हैं।**

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी ने देवताओं को यह बतलाना चाहा कि कोई भी अपने गुरु के बल पर इस संसार में अत्यन्त शक्तिशाली बन सकता है और गुरु की अप्रसन्नता से सब कुछ खो भी सकता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के एक गीत से इसकी पुष्टि होती है।

*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो*

*यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि*

"गुरु की कृपा से श्रीकृष्ण की कृपा का आशीर्वाद प्राप्त होता है। गुरु की कृपा के बिना उन्नति नहीं हो सकती।" यद्यपि ब्रह्माजी के समक्ष सभी असुर तुच्छ हैं, किन्तु उन्होंने गुरु के बल से इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि ब्रह्माजी से उनके धाम ब्रह्मलोक को भी छीन सकते थे। अतः हम गुरु से प्रार्थना करते हैं

*मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।*

*यत्कृपा तमहं वन्दे श्रीगुरुं दीनतारणम्॥*

गुरु की कृपा से गूँगा भी महान् वक्ता बन सकता है और पंगु व्यक्ति पर्वत लाँघ सकता है। अतः जीवन में सफलता चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह इस शास्त्र-वचन को स्मरण रखे, जिसका उपदेश श्रीब्रह्मा ने दिया।

**त्रिपिष्टपं किं गणयन्त्यभेद्य-**

मन्त्रा भृगूणामनुशिक्षितार्थाः ।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां
भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम् ॥ २४॥

### शब्दार्थ

त्रि-पिष्ट-पम्—ब्रह्माजी सहित सभी देवतागण; किम्—क्या; गणयन्ति—परवाह करते हैं; अभेद्य-मन्त्राः—गुरु के आदेशों के पालन के लिए दृढ़प्रतिज्ञ; भृगूणाम्—भृगूमुनि के शिष्यों का, यथा शुक्राचार्य; अनुशिक्षित-अर्थाः—शिक्षाओं का पालन करने के हेतु; न—नहीं; विप्र—ब्राह्मण; गोविन्द—भगवान् श्रीकृष्ण; गो—गाएँ; ईश्वराणाम्—पूजनीय व्यक्तियों का; भवन्ति—हैं; अभद्राणि—दुर्भाग्य; नर-ईश्वराणाम्—अथवा उन राजाओं को जो इस नियम का पालन करते हैं।

**शुक्राचार्य के शिष्य, असुरगण अपने गुरु की शिक्षाओं के पालन में दृढ़प्रतिज्ञ होने के कारण देवताओं की अब तनिक भी परवाह नहीं करते। सच तो यह है कि जो राजा अथवा अन्य व्यक्ति ब्राह्मणों, गायों तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की कृपा में अटूट श्रद्धा रखते हैं और इन तीनों की सदैव पूजा करते हैं, वे अपनी स्थिति में सदैव बलशाली रहते हैं।**

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी की शिक्षाओं से यह पता चलता है कि हर एक व्यक्ति को ब्राह्मणों, गायों तथा भगवान् की श्रद्धा समेत पूजा करनी चाहिए। श्रीभगवान् *गोब्राह्मण हिताय च* अर्थात् वे गायों तथा ब्राह्मणों पर अत्यन्त कृपालु हैं। अत: जो व्यक्ति गोविन्द की पूजा करता है उसे गायों तथा ब्राह्मणों की पूजा करके उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए। यदि सरकार द्वारा ब्राह्मणों, गायों तथा गोविन्द (श्रीकृष्ण) की पूजा की जाती है, तो उसकी कहीं भी पराजय नहीं होती; अन्यथा उसकी सर्वत्र पराजय और भर्त्सना होती रहती है। वर्तमान समय में सारे संसार की सरकारें ब्राह्मणों, गायों तथा गोविन्द का सत्कार नहीं करतीं; फलस्वरूप सर्वत्र अराजकता व्याप्त है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देवताओं ने एक ब्राह्मण गुरु बृहस्पति के प्रति अनादर प्रदर्शित किया था, अत: महान् ऐश्वर्यशाली होते हुए भी उन्हें असुरों से पराजित होना पड़ा।

तद्विश्वरूपं भजताशु विप्रं
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम् ।
सभाजितोऽर्थान्स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥ २५॥

### शब्दार्थ

तत्—अतः; विश्वरूपम्—विश्वरूप; भजत—गुरु रूप में पूजा करो; आशु—शीघ्र ही; विप्रम्—पूर्ण ब्राह्मण; तपस्विनम्—तपस्वी; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र; अथ—तथा; आत्म-वन्तम्—अत्यन्त स्वतंत्र; सभाजितः—पूज्य; अर्थान्—स्वार्थ; सः—वह; विधास्यते—पूरा करेगा; वः—तुम सबों का; यदि—यदि; क्षमिष्यध्वम्—तुम सहन करो; उत—निस्सन्देह; अस्य—उसका; कर्म—कार्य ( दैत्यों की सहायता का )।

**हे देवो! मैं तुम्हें त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाने का आदेश देता हूँ। तुम उन्हें अपना गुरु स्वीकार करो। वे अत्यन्त शुद्ध एवं शक्तिशाली तपस्वी ब्राह्मण हैं। तुम्हारी पूजा से प्रसन्न होकर वे तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे, यदि तुम लोग उनके असुरों के प्रति झुकाव को सहन कर सको।**

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी ने देवताओं को सलाह दी कि वे त्वष्टा के पुत्र को अपना गुरु मान लें, यद्यपि वे सदैव असुरों के शुभेच्छु रहे हैं।

श्रीशुक उवाच

**त एवमुदिता राजन्ब्रह्मणा विगतज्वराः ।**
**ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन् ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—सभी देवता; एवम्—इस प्रकार; उदिताः—शिक्षा पाकर; राजन्—हे राजा परीक्षित; ब्रह्मणा—श्रीब्रह्मा द्वारा; विगत-ज्वराः—असुरों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों से मुक्त होकर; ऋषिम्—परम साधु; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र के पास; उपव्रज्य—जाकर; परिष्वज्य—हृदय से लगाकर; इदम्—यह; अब्रुवन्—बोले।

**श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा इस प्रकार श्रीब्रह्मा के द्वारा आदेशित एवं अपनी चिन्ता से मुक्त होकर सभी देवता त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप ऋषि के पास गये। हे राजन्! उन्होंने विश्वरूप को हृदय से लगा लिया और इस प्रकार बोले।**

श्रीदेवा ऊचुः

**वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते ।**
**कामः सम्पाद्यतां तात पितृणां समयोचितः ॥ २७॥**

### शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; वयम्—हम सब; ते—तुम्हारे; अतिथयः—अतिथि, मेहमान; प्राप्ताः—आये हैं; आश्रमम्—तुम्हारे आवास; भद्रम्—कल्याण; अस्तु—हो; ते—तुम्हारा; कामः—कामना; सम्पाद्यताम्—पूरी हो; तात—हे प्रिय; पितृणाम्—तुम्हारे पिता के तुल्य हम सबों का; समयोचितः—इस समय के अनुकूल, सामयिक।

**देवताओं ने कहा, हे विश्वरूप! तुम्हारा कल्याण हो। हम सभी देवता तुम्हारे अतिथि**

**होकर तुम्हारे आश्रम में आये हैं। चूँकि हम तुम्हारे पिता तुल्य हैं इसलिए समयानुसार हमारी इच्छाओं को पूरा करो।**

**पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम् ।**
**अपि पुत्रवतां ब्रह्मन्किमुत ब्रह्मचारिणाम् ॥ २८ ॥**

### शब्दार्थ

पुत्राणाम्—पुत्रों का; हि—निस्सन्देह; परः—श्रेष्ठ; धर्मः—धर्म; पितृ-शुश्रूषणम्—पितरों की सेवा; सताम्—उत्तम; अपि—भी; पुत्र-वताम्—पुत्रवानों का; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; किम् उत—क्या कहना; ब्रह्मचारिणाम्—ब्रह्मचारियों का।

**हे ब्राह्मण! पुत्र का परम धर्म है कि वह अपने माता-पिता की सेवा करे, भले ही उसके भी अपने पुत्र क्यों न हों और फिर उस पुत्र का क्या कहना जो ब्रह्मचारी हो?**

**आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।**
**भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः ॥ २९ ॥**
**दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम् ।**
**अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

आचार्यः—अपने आचरण द्वारा वैदिक ज्ञान प्रदान करने वाला शिक्षक या गुरु; ब्रह्मणः—समस्त वेदों की; मूर्तिः—साक्षात्; पिता—पिता; मूर्तिः—साक्षात्; प्रजापतेः—श्रीब्रह्मा की; भ्राता—भाई; मरुत्-पतेः मूर्तिः—साक्षात् इन्द्र; माता—माता; साक्षात्—साक्षात्; क्षितेः—पृथ्वी का; तनुः—शरीर; दयायाः—कृपा की; भगिनी—बहन; मूर्तिः—साक्षात्; धर्मस्य—धर्म का; आत्म—स्वयं; अतिथिः—अतिथि; स्वयम्—स्वयं; अग्नेः—अग्निदेव का; अभ्यागतः—आमंत्रित मेहमान; मूर्तिः—साक्षात्; सर्व-भूतानि—समस्त जीव; च—तथा; आत्मनः—परमेश्वर विष्णु का।

**आचार्य अर्थात् गुरु, जो समस्त वैदिक ज्ञान की शिक्षा देता है और यज्ञोपवीत प्रदान करके दीक्षित करता है साक्षात् वेद है। इसी प्रकार पिता ब्रह्मा का रूप, भाई राजा इन्द्र का, माता पृथ्वीलोक तथा बहन कृपा की, अतिथि धर्म का, आमंत्रित मेहमान अग्निदेव का और समस्त जीव भगवान् विष्णु का साक्षात् रूप होते हैं।**

**तात्पर्य :** चाणक्य पंडित की नीति *आत्मवत् सर्वभूतेषु* के अनुसार सभी जीवों को अपने समान देखना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ है कि किसी को तुच्छ मानकर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। चूँकि परमात्मा प्रत्येक जीव के शरीर में स्थित हैं, अतः जीव का भगवान् के मन्दिर के

तुल्य आदर होना चाहिए। इस श्लोक में बताया गया है कि गुरु, पिता, भाई, बहन, अतिथि इत्यादि का किस प्रकार सम्मान किया जाना चाहिए।

**तस्मात्पितृणामार्तानामार्तिं परपराभवम् ।**
**तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥**

**शब्दार्थ**

तस्मात्—अत:; पितृणाम्—पितरों का; आर्तानाम्—जो संकटग्रस्त हैं; आर्तिम्—शोक; पर-पराभवम्—शत्रुओं द्वारा पराजित होकर; तपसा—तुम्हारे तपोबल से; अपनयन्—हटाकर; तात—हे पुत्र; सन्देशम्—हमारी इच्छा; कर्तुम् अर्हसि—पूरा करने में समर्थ हो।

**हे पुत्र! हम अपने शत्रुओं से पराजित होने के कारण अत्यन्त शोकमग्न हैं। तुम अपने तपोबल से हमारे कष्टों को दूर करके हमारी इच्छाओं को पूरा करो। हमारी प्रार्थनाओं को पूरा करो।**

**वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम् ।**
**यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा ॥ ३२ ॥**

**शब्दार्थ**

वृणीमहे—हम चुनते हैं; त्वा—तुमको; उपाध्यायम्—शिक्षक तथा गुरु; ब्रह्मिष्ठम्—परब्रह्म को पूरी तरह जानने के कारण; ब्राह्मणम्—योग्य ब्राह्मण; गुरुम्—पूर्ण गुरु; यथा—जिससे; अञ्जसा—सरलता से; विजेष्यामः—हम पराजित कर सकें; सपत्नान्—अपने प्रतिद्वन्द्वी को; तव—तुम्हारे; तेजसा—तपोबल से।

**चूँकि तुम परब्रह्म से पूर्णतया परिचित हो और पूर्ण ब्राह्मण हो, अतः तुम जीवन के सभी आश्रमों के गुरु हो। हम तुम्हें अपना गुरु तथा अध्यक्ष स्वीकार करते हैं जिससे तुम्हारे तपोबल से हम अपने उन शत्रुओं को, जिन्होंने हमें परास्त किया है, सरलता से जीत सकें।**

**तात्पर्य :** मनुष्य को चाहिए कि किसी विशेष कार्य के लिए विशेष प्रकार के गुरु के पास जाये। अत: यद्यपि विश्वरूप देवताओं से निम्न स्तर पर थे, किन्तु असुरों को जीतने के लिए उन्होंने विश्वरूप को अपना गुरु बनाना स्वीकार किया।

**न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम् ।**

**छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन्वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम् ॥ ३३॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; गर्हयन्ति—मना करते हैं; हि—निस्सन्देह; अर्थेषु—स्वार्थ के लिए; यविष्ठ-अङ्घ्रि—अपने से छोटे के चरणकमलों पर; अभिवादनम्—नमस्कार; छन्दोभ्यः—वैदिक मंत्रों से; अन्यत्र—छोड़कर; न—नहीं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वयः—आयु; ज्यैष्ठ्यस्य—गुरुता का; कारणम्—कारण।

**देवताओं ने आगे कहा हमसे छोटे होने के कारण अपनी आलोचना से मत डरो। ऐसा शिष्टाचार वैदिक मंत्रों पर लागू नहीं होता। वैदिक मंत्रों को छोड़कर, सर्वत्र गुरुता आयु से निर्धारित होती है, किन्तु यदि कोई वैदिक मंत्रों के उच्चारण में बढ़ाचढ़ा हो तो ऐसे कम आयु वाले व्यक्ति को भी नमस्कार किया जा सकता है। अतः तुम भले ही सम्बन्ध में हमसे छोटे हो, किन्तु तुम बिना किसी हिचक के हमारे पुरोहित हो सकते हो।**

**तात्पर्य :** कहा गया है *वृद्धत्वं वयसा विना* आयु में बड़ा न होकर भी मनुष्य वृद्ध (ज्येष्ठ) हो सकता है। यदि कोई ज्ञान में वरिष्ठ है, तो वृद्ध न होते हुए भी वह ज्येष्ठ हो जाता है। विश्वरूप देवताओं का भतीजा होने के कारण उनसे छोटा था, किन्तु वे उसे अपना पुरोहित बनाना चाहते थे, अत: उसे उनका नमस्कार स्वीकार करना पड़ेगा। देवताओं ने स्पष्ट किया कि इसमें उसे हिचकना नहीं चाहिए; वह उनका पुरोहित बन सकता है, क्योंकि वह वैदिक ज्ञान में आगे है। इसी प्रकार चाणक्य पंडित का भी उपदेश है *नीचादप्युत्तमं ज्ञानम्* मनुष्य समाज की नीची श्रेणी के व्यक्ति से भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सर्वोच्च वर्ण के सदस्य होने से ब्राह्मण शिक्षक होते हैं, किन्तु यदि किसी निम्न परिवार का व्यक्ति, यथा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के परिवार का व्यक्ति ज्ञानी है, तो उसे शिक्षक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने रामानन्द राय (*श्रीचैतन्य-चरितामृत* मध्य ८.१२८) के समक्ष अपने विचार व्यक्त करते हुए स्वीकार किया है कि

*किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय।*

*येइ कृष्ण-तत्त्व-वेत्ता, सेइ 'गुरु' हय॥*

चाहे कोई ब्राह्मण हो या शूद्र अथवा गृहस्थ या संन्यासी इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। ये तो सभी भौतिक उपाधियाँ हैं। आत्मज्ञानी पुरुष के लिए ये उपाधियाँ व्यर्थ हैं। अत: यदि कोई

कृष्णभावनामृत के विज्ञान में सिद्ध है, तो वह गुरु बन सकता है, चाहे मनुष्य-समाज में उसकी स्थिति कैसी भी क्यों न हो।

श्रीऋषिरुवाच
**अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरहित्ये महातपाः ।**
**स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः श्लक्ष्णया गिरा ॥ ३४॥**

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अभ्यर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; पौरहित्ये—पुरोहिती स्वीकार करने के लिए; महा-तपाः—परम तपस्वी; सः—वह; विश्वरूपः—विश्वरूप; तान्—देवताओं से; आह—बोला; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; श्लक्ष्णया—मृदु; गिरा—वाणी से।.

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा जब सब देवताओं ने महान् विश्वरूप से पुरोहित बनने के लिए प्रार्थना की तो महातपस्वी विश्वरूप अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया।**

श्रीविश्वरूप उवाच
**विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्चउपव्ययम् ।**
**कथं नु मद्विधो नाथा लोकेशैरभियाचितम्**
**प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः स एव स्वार्थ उच्यते ॥ ३५॥**

शब्दार्थ

श्री-विश्वरूपः उवाच—श्री विश्वरूप ने कहा; विगर्हितम्—निन्दनीय; धर्म-शीलैः—धर्म में आस्था रखने वाले; ब्रह्म-वर्चः—ब्राह्मण के तेज का; उपव्ययम्—क्षीण करता है; कथम्—कैसे; नु—निस्सन्देह; मत्-विधः—मुझ जैसा पुरुष; नाथाः—हे स्वामीगण; लोक-ईशैः—विभिन्न लोकों के शासकों द्वारा; अभियाचितम्—विनय; प्रत्याख्यास्यति—मना करेगा; तत्-शिष्यः—उनका शिष्य; सः—वह; एव—निस्सन्देह; स्व-अर्थः—वास्तविक हित, स्वार्थ; उच्यते—कहलाता है।.

**श्री विश्वरूप ने कहा, हे देवो! यद्यपि पुरोहिती स्वीकारने की निन्दा की जाती है, कि इसकी स्वीकृति से पूर्व-अर्जित ब्रह्मतेज घटता है, किन्तु मुझ जैसा व्यक्ति आपकी व्यक्तिगत प्रार्थना को कैसे ठुकरा सकता है? आप सभी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के महान् आदेशक हैं। मैं तो आपका शिष्य हूँ और मुझे तो आपसे अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करनी चाहिए। अतः मैं आपको ‘न’ नहीं कर सकता। मैं अपने ही स्वार्थ के लिए इसे स्वीकार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** योग्य ब्राह्मण के कार्य हैं : पठन, पाठन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह। यजन

तथा याजन शब्द यह बताते हैं कि ब्राह्मण को जनसमुदाय के उत्थान के लिए पुरोहित बनना होता है। जो कोई गुरु का पद स्वीकार कर लेता है, वह अपने यजमान के पापपूर्ण बन्धनों के फलों को निरस्त करता है। इस प्रकार पुरोहित या गुरु द्वारा किये गये पूर्व पुण्यकर्मों के फल का ह्रास होता है। इसीलिए विद्वान ब्राह्मण पुरोहिती स्वीकार नहीं करते। तो भी परम विद्वान ब्राह्मण विश्वरूप ने देवताओं के प्रति सम्मान रखने के कारण उनकी पुरोहिती स्वीकार की।

**अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनं**
**तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।**
**कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः**
**पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः ॥ ३६ ॥**

### शब्दार्थ

अकिञ्चनानाम्—उन पुरुषों का जिन्होंने संसार से विरक्त होने के लिए तपस्या करनी स्वीकार की है; हि—निश्चय ही; धनम्—सम्पत्ति; शिल—खेत में गिरे हुए अन्न का संग्रह; उञ्छनम्—थोक बाजार में गिरे हुए अन्न का संग्रह; तेन—उस उपाय के द्वारा; इह—यहाँ; निर्वर्तित—प्राप्त करके; साधु—महान् साधुओं के; सत्-क्रियः—समस्त पुण्य कर्म; कथम्—कैसे; विगर्ह्यम्—निन्दनीय; नु—निस्सन्देह; करोमि—करूँगा; अधीश्वराः—हे लोकों के महान् अधीक्षको; पौरोधसम्—पुरोहिती कर्म; हृष्यति—प्रसन्न होता है; येन—जिससे; दुर्मतिः—अल्पज्ञानी।

**हे लोकपालो! सच्चा ब्राह्मण वह है, जिसके कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं होती है, वह शिलोच्छन वृत्ति से ही अपना उदर-पोषण करता है। दूसरे शब्दों में, वह खेतों में गिरे हुए और बड़े-बड़े हाट-स्थलों पर गिरे हुए अन्न को बीनता है। इस प्रकार गृहस्थ ब्राह्मण जो वास्तव में तपस्या के सिद्धान्त का पालन करते हुए स्वयं का तथा अपने परिवार का भरण करता है और आवश्यक पुण्य कर्म करता रहता है। जो ब्राह्मण पुरोहिती कर्म द्वारा धन अर्जित करके सुखी बनना चाहता है, वह अत्यन्त तुच्छ मन वाला होता है। बताओ, मैं इस पुरोहिती को कैसे स्वीकार करूँ?**

**तात्पर्य :** उच्च श्रेणी का ब्राह्मण अपने शिष्यों या यजमानों से कोई दक्षिणा नहीं लेता। वह तपस्या में संलग्न रहकर खेतों में जाकर किसानों द्वारा ब्राह्मणों के लिए छोड़े गये अन्न को एकत्र करना श्रेष्ठ समझता है। इसी प्रकार ऐसे ब्राह्मण हाटों में जाते हैं जहाँ व्यापारी अन्नों का थोक क्रय-

विक्रय करते हैं और इस प्रकार वहाँ व्यापारियों द्वारा छोड़ा हुआ बहुत-सा अन्न इकठ्ठा करते हैं। इस तरह ऐसे उच्च ब्राह्मण अपना तथा अपने परिवार का भरण करते हैं। ऐसे पुरोहित अपने शिष्यों से कुछ भी नहीं माँगते। उन्हें क्षत्रियों या वैश्यों की तरह ऐश्वर्य में जीवन बिताने, नकल करने की इच्छा नहीं होती। तात्पर्य यह कि शुद्ध ब्राह्मण स्वेच्छा से गरीबी का जीवन स्वीकार करता है और भगवान् के अनुग्रह पर ही पूर्णतः निर्भर रहता है। बहुत समय नहीं बीता, नवद्वीप के निकट कृष्णनगर में एक ब्राह्मण रहता था जिसे स्थानीय जमींदार व्रज कृष्णचन्द्र ने आर्थिक सहायता पहुँचानी चाही। किन्तु ब्राह्मण ने इसे अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि वह अपने गृहस्थ जीवन में ही अधिक प्रसन्न है क्योंकि उसे अपने शिष्यों से चावल मिल जाता है और इमली की पत्तियों की वह सब्जी बना लेता है। उसे जमींदार से सहायता लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि ब्राह्मण को भले ही अपने शिष्यों से प्रभूत धन प्राप्त हो, किन्तु उसे चाहिए कि पुरोहिती से प्राप्त इस धन को वह अपने व्यक्तिगत लाभ में न खर्चे, उसे वह परमेश्वर की सेवा में लगाये।

**तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभिः प्रार्थितं कियत् ।**
**भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये ॥ ३७॥**

### शब्दार्थ

तथा अपि—तो भी; न—नहीं; प्रतिब्रूयाम्—मैं अस्वीकार कर सकता हूँ; गुरुभिः—अपने गुरु तुल्य व्यक्तियों के द्वारा; प्रार्थितम्—प्रार्थना; कियत्—तुच्छ; भवताम्—आप सबों की; प्रार्थितम्—इच्छा; सर्वम्—पूर्ण; प्राणैः—अपने जीवन से; अर्थैः—अपने धन से; च—भी; साधये—मैं पूरा करूँगा।

**आप सभी मुझसे बड़े हैं। अतः भले ही पुरोहिती को स्वीकार करना निन्दनीय है, मैं आप लोगों की छोटी-से-छोटी प्रार्थना को नकार नहीं सकता। मैं आपका पुरोहित बनना स्वीकार करता हूँ। मैं अपना जीवन तथा धन अर्पित करके आपकी प्रार्थना पूरी करूँगा।**

श्रीबादरायणिरुवाच

**तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः ।**
**पौरहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥ ३८ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; तेभ्यः—उन ( देवताओं ) को; एवम्—इस प्रकार; प्रतिश्रुत्य—वचन देकर; विश्वरूपः—विश्वरूप; महा-तपाः—महापुरुष; पौरहित्यम्—पुरोहिती कार्य; वृतः—उनके द्वारा घिरा; चक्रे—करने लगे; परमेण—परम; समाधिना—मनोयोग से।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्! देवताओं को यह वचन देकर, चारों ओर से देवताओं से घिरे हुए महान् विश्वरूप अत्यन्त उत्साह एवं मनोयोग से आवश्यक पुरोहिती कर्म करने लगा।**

**तात्पर्य :** *समाधिना* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समाधि का अर्थ है स्थिर मन से पूर्णतया तल्लीन होना। विश्वरूप अत्यन्त विद्वान ब्राह्मण था। उसने न केवल देवताओं की प्रार्थना स्वीकार की वरन् उनकी प्रार्थना को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया और अविचल चित्त से पुरोहिती कर्म करने लगा। तात्पर्य यह है कि उसने किसी आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं वरन् देवताओं को लाभ पहुँचाने के लिए पुरोहिताई स्वीकार की। यही पुरोहित का कर्तव्य है। अतः पुरोहित शब्द का तात्पर्य है परिवार का हित करने वाला। *पुरः* शब्द का दूसरा अर्थ परिवार और *हित* का अर्थ कल्याण है। पुरः शब्द का अर्थ है—प्रथम। पुरोहित का प्रथम कर्तव्य है कि वह सभी प्रकार से अपने शिष्यों का आध्यात्मिक तथा आर्थिक लाभ सोचे। तभी वह संतुष्ट रहता है। पुरोहित को कभी भी अपने स्वार्थ के लिए वैदिक अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।

**सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया ।**
**आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

सुर-द्विषाम्—देवों के शत्रु; श्रियम्—ऐश्वर्य; गुप्ताम्—सुरक्षित; औशनस्य—शुक्राचार्य की; अपि—यद्यपि; विद्यया—प्रतिभा से; आच्छिद्य—संग्रह करके; अदात्—दिया है; महा-इन्द्राय—राजा इन्द्र को; वैष्णव्या—भगवान् विष्णु की; विद्यया—प्रार्थना से; विभुः—अत्यन्त शक्तिमान विश्वरूप।

**यद्यपि शुक्राचार्य ने अपनी प्रतिभा एवं नीति-बल से देवताओं के शत्रुओं के नाम से**

**विख्यात असुरों के ऐश्वर्य को सुरक्षित कर दिया था, किन्तु अत्यन्त शक्तिमान विश्वरूप ने नारायण कवच नामक एक सुरक्षात्मक स्तोत्र की रचना की। इस बुद्धिमत्तापूर्ण मंत्र से उन्होंने असुरों का ऐश्वर्य छीन कर स्वर्ग के राजा इन्द्र को दे दिया।**

**तात्पर्य :** देवों तथा असुरों का अन्तर यही है कि देवता भगवान् विष्णु के भक्त हैं जबकि असुर शिवजी, देवी काली तथा देवी दुर्गा के भक्त हैं। कभी-कभी असुर ब्रह्मा के भी भक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी का भक्त था, रावण शिवजी का तथा महिषासुर देवी दुर्गा का। देवतागण भगवान् विष्णु के भक्त होते हैं (*विष्णु भक्तः स्मृतो दैव*) जबकि असुर सदैव विष्णु भक्तों अर्थात् वैष्णवों के विरोधी होते हैं (*आसुरस्तद्विपर्ययः*)। वैष्णवों के विरोध हेतु असुरगण शिवजी, श्रीब्रह्मा, काली, दुर्गा इत्यादि के भक्त बन जाते हैं। पुराकाल में देवों तथा असुरों में शत्रुता थी जो अब भी चल रही है, क्योंकि शिवजी, देवी दुर्गा के भक्त भगवान् विष्णु के भक्त वैष्णवों से सदैव द्वेष रखते हैं। भगवान् विष्णु तथा शिवजी के भक्तों के बीच का यह तनाव सदा रहा है। स्वर्गलोक में असुरों तथा सुरों के बीच दीर्घकाल तक युद्ध चलता रहा है।

यहाँ हम देखते हैं कि विश्वरूप ने देवताओं के लिए एक सुरक्षा कवच तैयार किया जो विष्णुमंत्र से पूरित था। कभी-कभी विष्णुमंत्र को विष्णुज्वर और इसी प्रकार शिवमंत्र को शिवज्वर कहते हैं। हम शास्त्रों में असुरों तथा सुरों के बीच होने वाले युद्धों में कभी कभी शिवज्वर तथा विष्णुज्वर का प्रयोग होते पाते हैं।

इस श्लोक में आगत *सुर-द्विषाम्* शब्द का अर्थ 'देवताओं के शत्रुओं का' है, जिससे भी नास्तिकों का बोध होता है। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र कहा गया है कि भगवान् बुद्ध का जन्म असुरों अथवा नास्तिकों को विमोहित करने के लिए हुआ। भगवान् अपने भक्तों को नित्य ही आशीर्वाद देते हैं। इसकी पुष्टि भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* (९.३१) में करते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—''हे कुन्तीपुत्र! मैं निर्भीकतापूर्वक घोषित करता हूँ कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।''

**यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः ।**
**तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः ॥ ४० ॥**

शब्दार्थ

यया—जिससे; गुप्तः—सुरक्षित; सहस्र-अक्षः—एक हजार नेत्रों वाले इन्द्र देवता ने; जिग्ये—जीता; असुर—असुरों की; चमूः—सैन्यशक्ति; विभुः—अत्यन्त शक्तिशाली होकर; ताम्—उससे; प्राह—बोला; सः महेन्द्राय—स्वर्ग के राजा महेन्द्र को; विश्वरूपः—विश्वरूप; उदार-धीः—अत्यन्त उदार चित्त वाला।

**अत्यन्त उदारचित्त वाले विश्वरूप ने राजा इन्द्र ( सहस्राक्ष ) को वह गुप्त स्तोत्र बता दिया जिससे इन्द्र की रक्षा हो सकी और असुरों की सैन्यशक्ति जीत ली गई।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''इन्द्र द्वारा गुरु बृहस्पति का अपमान'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter आठ

# नारायण-कवच

इस अध्याय में बताया गया है कि स्वर्ग के राजा इन्द्र ने किस प्रकार असुरों के सैनिकों पर विजय प्राप्त की। इसमें विष्णु-मंत्र कवच का भी वर्णन हुआ है।

इस कवच के द्वारा रक्षा प्राप्त करने के लिए पहले कुश को छूना चाहिए और आचमन-मंत्रों के द्वारा मुख धोना चाहिए। मौन धारण करते हुए आठ अक्षरों वाले विष्णु-मंत्र को शरीर के अंगों में और बारह अक्षरों वाले मंत्र को हाथों में धारण करना चाहिए। आठ अक्षर वाला मंत्र है—*ॐ नमो नारायणाय।* इस मंत्र को शरीर के अगले तथा पिछले सभी भागों में न्यस्त करना चाहिए। बारह अक्षरी मंत्र जो प्रणव ॐकार से प्रारम्भ होता है और इस प्रकार है—*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*। हर अँगुली में एक-एक अक्षर धारण करे और उसके के पहले प्रणव ॐकार धारण करे। तत्पश्चात् ॐ वैष्णाय नम: का उच्चारण करें जो छ: अक्षरों वाला मंत्र है। फिर इस मंत्र के अक्षरों को क्रम से हृदय, सिर, दोनों भौंहों के बीच, शिखापर तथा आँखों के बीच धारण करे और

तब *म: अस्त्राय फट्* का जप करे और इस मंत्र से चारों ओर से अपनी रक्षा करे। *नादेवो देवम् अर्चयेत्*—अर्थात् जो देव पद तक ऊपर नहीं उठ पाया है, वह इस मंत्र का जप नहीं कर सकता। शास्त्र के इस आदेशानुसार मनुष्य को चाहिए कि वह गुण की दृष्टि से अपने को परमेश्वर से अभिन्न माने।

इस निवेदन के पश्चात् गरुड़देव पर आसीन अष्टभुजी भगवान् विष्णु की प्रार्थना करे। साथ ही मत्स्य, वामन, कूर्म, नृसिंह, वराह, परशुराम, रामचन्द्र (लक्ष्मण के अग्रज), नर-नारायण, दत्तात्रेय, कपिल, सनत्कुमार, हयग्रीव, नारददेव (भक्त के अवतार), धन्वन्तरि, ऋषभदेव, यज्ञ, बलराम, व्यासदेव, बुद्धदेव तथा केशव का ध्यान करे। वृन्दावन के स्वामी गोविन्द तथा चिदाकाश के स्वामी नारायण, मधुसूदन, त्रिधामा, माधव, हृषीकेश, पद्मनाभ, जनार्दन, दामोदर, विश्वेश्वर के साथ-साथ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का भी ध्यान धरे। भगवान् के साक्षात् अंश, स्वांश तथा शक्त्यावेश अवतारों की स्तुति करने के बाद भगवान् नारायण के आयुधों, यथा सुदर्शन, गदा, शंख, खड्ग तथा तीर की भी स्तुति करे।

इस विधि को बताने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को बताया कि वृत्रासुर के भाई विश्वरूप ने किस प्रकार नारायण-कवच की महिमा का वर्णन इन्द्र से किया।

**श्रीराजोवाच**
**यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान्रिपुसैनिकान् ।**
**क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम् ॥ १ ॥**
**भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् ।**
**यथाततायिनः शत्रून्येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥ २ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; यया—जिससे (आध्यात्मिक-कवच से); गुप्तः—सुरक्षित; सहस्र-अक्षः—एक हजार नेत्रों वाला राजा इन्द्र; स-वाहान्—अपने वाहनों सहित; रिपु-सैनिकान्—शत्रुओं के सिपाही तथा सेना-नायक; क्रीडन् इव—खेल के समान; विनिर्जित्य—जीतकर; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों (उच्च, मध्य तथा निम्नलोक) का; बुभुजे—भोग किया; श्रियम्—ऐश्वर्य; भगवन्—हे मुनि; तत्—वह; मम—मुझको; आख्याहि—कृपया बताइये; वर्म—

मंत्र से निर्मित कवच; नारायण-आत्मकम्—नारायण की कृपा से युक्त; यथा—जिस प्रकार; आततायिनः—जो उसे मारना चाह रहे थे; शत्रून्—शत्रु; येन—जिससे; गुप्तः—रक्षित होकर; अजयत्—जीत लिया; मृधे—युद्ध में।.

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे प्रभो! कृपा करके मुझे वह विष्णु-मंत्र-कवच बताएँ जिससे राजा इन्द्र की रक्षा हो सकी और वह अपने शत्रुओं को उनके वाहनों सहित परास्त करके तीनों लोकों के ऐश्वर्य का उपभोग कर सका। कृपया मुझे वह नारायण-कवच बताएँ जिसके द्वारा इन्द्र ने युद्ध में अपने उन शत्रुओं को हराकर सफलता प्राप्त की जो उसे मारने का प्रयत्न कर रहे थे।

श्रीबादरायणिरुवाच
वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते ।
नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु ॥ ३ ॥

## शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृतः—चुना गया; पुरोहितः—पुरोहित; त्वाष्ट्रः—त्वष्टा का पुत्र; महेन्द्राय—राजा इन्द्र के लिए; अनुपृच्छते—इन्द्र द्वारा पूछे जाने पर; नारायण-आख्यम्—नारायण-कवच नामक; वर्म—मंत्र से निर्मित सुरक्षा कवच; आह—उसने कहा; तत्—वह; इह—यह; एक-मनाः—ध्यानपूर्वक; शृणु—मुझसे सुनो।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—देवताओं के राजा इन्द्र ने देवताओं के द्वारा पुरोहित के रूप में नियुक्त विश्वरूप से नारायण-कवच के सम्बन्ध में पूछा। विश्वरूप द्वारा दिये गये उत्तर को तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

श्रीविश्वरूप उवाच
धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः ।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥ ४ ॥
नारायणपरं वर्म सन्नह्येद्भय आगते ।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥ ५ ॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोंकारादीनि विन्यसेत् ।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥ ६ ॥

## शब्दार्थ

श्री-विश्वरूपः उवाच—श्रीविश्वरूप ने कहा; धौत—पूरी तरह धोया हुआ; अङ्घ्रि—पाँव; पाणिः—हाथ; आचम्य—आचमन करके ( नियत मंत्र का जप करने के बाद तीन बार जल चूसना ); स-पवित्रः—कुश की बनी पवित्री या पैती ( जिन्हें प्रत्येक हाथ की अँगुलियों में पहना जाता है ); उदक्-मुखः—उत्तर की ओर मुख; कृत—करके; स्व-अङ्ग-कर-

न्यासः—शरीर के आठ भाग तथा हाथों के बारह भागों का मानसिक समर्पण ( न्यास ); मन्त्राभ्याम्—दो मंत्रों ( ॐ नमो भगवते वासुदेवाय तथा ॐ नमो नारायणाय ) के साथ; वाक्-यतः—मौन रहकर; शुचिः—पवित्र होकर; नारायण-परम्—भगवान् नारायणमय; वर्म—कवच; सन्नह्येत्—धारण करे; भये—जब डर; आगते—आया है; पादयोः—दोनों पैरों पर; जानुनोः—दोनों घुटनों पर; ऊर्वोः—दोनों जाँघों पर; उदरे—पेट पर; हृदि—हृदय पर; अथ—इस प्रकार; उरसि—छाती पर; मुखे—मुँह में; शिरसि—सिर पर; आनुपूर्व्यात्—एक के बाद एक, क्रमशः; ओंकार-आदीनि—ऊँकार से प्रारम्भ करके; विन्यसेत्—रखे; ॐ—प्रणव; नमः—नमस्कार; नारायणाय—भगवान् नारायण को; इति—इस प्रकार; विपर्ययम्—विपरीत क्रम-से, उलटकर; अथ अपि—और भी; वा—अथवा।

विश्वरूप ने कहा—किसी प्रकार के भय का अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य को चाहिए कि पहले अपने हाथ-पाँव धोये और तब यह मंत्र—ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा / यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः / श्रीविष्णु श्रीविष्णु श्रीविष्णु—जप कर आचमन करे। तब उसे चाहिए कि कुश को छूकर शान्त भाव से उत्तर की ओर मुख करके बैठ जाये। पूर्णतया शुद्ध होने पर उसे चाहिए कि आठ शब्दों वाले मंत्र को अपने शरीर के दाहिनी ओर के आठ भागों में छुवाये और बारह शब्दों वाले मंत्र को हाथों में छुवाये। फिर नारायण-कवच से स्वयं को इस प्रकार बाँधे—पहले आठ शब्दों वाले मंत्र ( ॐ नमो नारायणाय ) का जप करते हुए, प्रथम शब्द ॐ या प्रणव से प्रारम्भ करके अपने हाथों से अपने शरीर के आठों अंगों का स्पर्श करे—पहले दोनों पाँव छुए फिर क्रमशः घुटने, जाँघ, पेट, हृदय, छाती, मुँह तथा सिर को छुये। इसके बाद उलटे क्रम से मंत्र का जप करे अर्थात् अन्तिम शब्द 'य' से प्रारम्भ करे और अपने शरीर के अंगों को भी उलटे क्रम से छुए। ये दोनों विधियाँ क्रमशः उत्पत्ति-न्यास तथा संहार-न्यास कहलाती हैं।

करन्यासं ततः कुर्याद्द्वादशाक्षरविद्यया ।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७॥

### शब्दार्थ

कर-न्यासम्—करन्यास नामक कर्मकाण्ड, जिसमें अँगुलियों के लिए मंत्र के अक्षर होते है; ततः—तत्पश्चात्; कुर्यात्—करे; द्वादश-अक्षर—बारह अक्षरों वाला; विद्यया—मंत्र से; प्रणव-आदि—ऊँकार से प्रारम्भ करके; य-कार-अन्तम्—य अक्षर में अन्त होने तक; अङ्गुलि—अंगुलियों पर, तर्जनी से प्रारम्भ करके; अङ्गुष्ठ-पर्वसु—अँगूठों के पोरों ( गाँठों ) तक।

तब उसे चाहिए कि बारह अक्षरों वाले मंत्र ( ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ) का जप करे। इस मंत्र के बारह अक्षरों को दाहिने हाथ की तर्जनी से प्रारम्भ करके बाँये हाथ की तर्जनी

तक प्रत्येक अँगुली के छोर पर प्रत्येक अक्षर का उच्चारण करते हुए रखे। शेष चार अक्षरों को अँगूठों के पोरों पर रखे।

न्यसेद्धृदय ओंकारं विकारमनु मूर्धनि ।
षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया न्यसेत् ॥ ८ ॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु ।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद्बुधः ॥ ९ ॥
सविसर्गं फडन्तं तत्सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् ।
ॐ विष्णवे नम इति ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

न्यसेत्—रखे; हृदये—हृदय पर; ओंकारम्—प्रणव, ॐकार; वि-कारम्—विष्णवे का 'वि' अक्षर; अनु—तत्पश्चात्; मूर्धनि—शिर के ऊपर; ष-कारम्—'ष' अक्षर; तु—तथा; भ्रुवोः मध्ये—दोनों भौंहों के बीच; ण-कारम्—'ण' अक्षर; शिखया—चोटी ( शिखा ) पर; न्यसेत्—रखे; वेकारम्—'वे' अक्षर; नेत्रयोः—दोनों नेत्रों के मध्य; युञ्ज्यात्—रखा जाये; न-कारम्—नमः शब्द का 'न' अक्षर; सर्व-सन्धिषु—सभी जोड़ों पर; म-कारम्—नमः शब्द का 'म' अक्षर; अस्त्रम्—हथियार; उद्दिश्य—ध्यान करते हुए; मन्त्र-मूर्तिः—मंत्र का स्वरूप; भवेत्—हो; बुधः—बुद्धिमान मनुष्य; स-विसर्गम्—विसर्ग ( अः ) सहित; फट्-अन्तम्—फट् ध्वनि से अन्त होने वाला; तत्—उस; सर्व-दिक्षु—सभी दिशाओं में; विनिर्दिशेत्—बाँध दे; ॐ—प्रणव; विष्णवे—भगवान् विष्णु को; नमः—नमस्कार; इति—इस प्रकार।

फिर उसे छः अक्षरों वाला मंत्र ( ॐ विष्णवे नमः ) जपना चाहिए। उसे ॐ को अपने हृदय पर, 'वि को शिरो भाग पर, 'ष' को भौहों के मध्य, 'ण' को चोटी पर तथा 'वे' को नेत्रों के मध्य रखना चाहिए। तब मंत्र जपकर्ता 'न' अक्षर को अपने शरीर के समस्त जोड़ों पर रखे और 'म' अक्षर को अस्त्र के रूप में ध्यान धरे। इस प्रकार वह साक्षात् मंत्र हो जायेगा। तत्पश्चात् उसे चाहिए कि अन्तिम शब्द 'म' में विसर्ग लगाकर 'मः अस्त्राय फट्' इस मंत्र का जप पूर्व दिशा से प्रारम्भ करके सभी दिशाओं में करे। इस तरह सभी दिशाएँ इस मंत्र के सुरक्षा-कवच से बँध जायेंगी।

आत्मानं परमं ध्यायेद्ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् ।
विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; परमम्—परम को; ध्यायेत्—ध्यान धरे; ध्येयम्—ध्यान धरने योग्य; षट्-शक्तिभिः—छहों ऐश्वर्य से; युतम्—युक्त; विद्या—विद्या; तेजः—प्रभाव; तपः—तपस्या; मूर्तिम्—साक्षात्; इमम्—यह; मन्त्रम्—मंत्र को; उदाहरेत्—जप करे।.

**इस प्रकार जप कर लेने के पश्चात् मनुष्य को चाहिए कि वह छः ऐश्वर्यों से युक्त तथा ध्यातव्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने आपको गुण की दृष्टि से तदाकार समझे। तब उसे चाहिए कि वह निम्नलिखित नारायण-कवच अर्थात् भगवान् नारायण की सुरक्षा स्तुति का जप करे।**

**ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां**
**न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।**
**दरारिचर्मासिगदेषुचाप-**
**पाशान्दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; हरिः—भगवान्; विदध्यात्—हमें प्रदान करें; मम—मेरा; सर्व-रक्षाम्—सभी ओर से सुरक्षा; न्यस्त—रखा हुआ; अङ्घ्रि-पद्मः—जिनके चरणकमल; पतगेन्द्र-पृष्ठे—समस्त पक्षियों के राजा गरुड़ की पीठ पर; दर—शंख; अरि—चक्र; चर्म—ढाल; असि—तलवार; गदा—गदा; इषु—तीर; चाप—धनुष; पाशान्—पाश, फंदा; दधानः—ग्रहण किये हुए; अष्ट—आठ; गुणः—सिद्धियों से युक्त; अष्ट—आठ; बाहुः—भुजाएँ।.

**परमेश्वर पक्षिराज गरुड़ की पीठ पर आसीन हैं और अपने चरण-कमल से उसका स्पर्श कर रहे हैं। वे अपने हाथों में शंख, चक्र, ढाल, तलवार, गदा, तीर, धनुष तथा पाश धारण किये हैं। ऐसे आठ भुजाओं वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सभी समय मेरी रक्षा करें। वे सर्वशक्तिमान हैं, क्योंकि वे आठ योग-शक्तियों ( अणिमा, लघिमा इत्यादि ) से समन्वित हैं।**

**तात्पर्य :** ईश्वर से तादात्म्य का चिन्तन *अहंग्रहोपासना* कहलाती है। इस उपासना से कोई ईश्वर नहीं बन जाता, किन्तु गुणों की दृष्टि से वह अपने आप को परमेश्वर के समान मानता है। यह मानकर कि जिस प्रकार नदी का जल समुद्र के जल के समान है उसी प्रकार व्यक्ति की आत्मा परमात्मा का धर्मा सम है, उसे इस श्लोक में बताई विधि से परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए और उनकी शरण में जाना चाहिए। जीवात्माएँ सदैव परमेश्वर के अधीन हैं, फलतः उनका कर्तव्य है कि सभी परिस्थितियों में सुरक्षित रहने के लिए भगवान् से कृपा-याचना करें।

**जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्ति-**
**र्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।**
**स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्**
**त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥ १३ ॥**

### शब्दार्थ

जलेषु—जल में; माम्—मुझको; रक्षतु—बचाएं; मत्स्य-मूर्तिः—मत्स्य रूप में परमेश्वर; यादः-गणेभ्यः—हिंस्र जलजन्तुओं से; वरुणस्य—वरुण नामक देवता के; पाशात्—बंदी बनाने वाले फंदे से; स्थलेषु—स्थल पर; माया-वटु—वामन के रूप में ईश्वर का कृपामय रूप; वामनः—वामनदेव; अव्यात्—रक्षा करें; त्रिविक्रमः—त्रिविक्रम, जिनके तीन चरणों ने बलि के तीनों लोक नाप लिए; खे—आकाश में; अवतु—ईश्वर रक्षा करें; विश्वरूपः—विराट ब्रह्माण्ड रूप।

**जल के भीतर वरुण देवता के पार्षद हिंस्र पशुओं से मत्स्यरूप धारण करने वाले भगवान् मेरी रक्षा करें। उन्होंने अपनी माया का विस्तार करके वामन का रूप धारण किया। वामन-देव स्थल पर मेरी रक्षा करें। उनका विराट स्वरूप, विश्वरूप, तीनों लोकों, को जीतने वाला है, आकाश में मेरी रक्षा करे।**

**तात्पर्य :** इस मंत्र के द्वारा भगवान् के मत्स्य, वामन तथा विश्वरूप अवतारों से जल, स्थल तथा आकाश में सुरक्षा के हेतु प्रार्थना की जाती है।

**दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः**
**पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।**
**विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं**
**दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥ १४ ॥**

### शब्दार्थ

दुर्गेषु—दुर्गम स्थानों में; अटवि—घने जंगल में; आजि-मुख-आदिषु—युद्धस्थल इत्यादि में; प्रभुः—परमेश्वर; पायात्—वे रक्षा करें; नृसिंहः—भगवान् नृसिंह देव; असुर-यूथप—असुरों के नायक, हिरण्यकशिपु का; अरिः—शत्रु; विमुञ्चतः—छोड़ा गया; यस्य—जिसका; महा-अट्ट-हासम्—महान् तथा भयानक अट्टहास; दिशः—समस्त दिशाएँ; विनेदुः—अनुगूँजित; न्यपतन्—गिर पड़े; च—तथा; गर्भाः—असुरों की पत्नियों के गर्भ।

**हिरण्यकशिपु के शत्रु रूप में प्रकट होने वाले भगवान् नृसिंह देव समस्त दिशाओं में मेरी रक्षा करें। उनके घोर अट्टहास से समस्त दिशाएँ गूँज उठी थीं और असुरों की पत्नियों के गर्भपात हो गये थे। भगवान् जंगल तथा युद्धभूमि जैसे विकट स्थानों में कृपा करके मेरी**

रक्षा करें।

**रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः**
**स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः ।**
**रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे**
**सलक्ष्मणोऽव्याद्भरताग्रजोऽस्मान् ॥ १५ ॥**

### शब्दार्थ

रक्षतु—ईश्वर रक्षा करें; असौ—वह; मा—मुझको; अध्वनि—मार्ग में; यज्ञ-कल्पः—जिनकी पुष्टि यज्ञों के द्वारा की जाती है, यज्ञमूर्ति; स्व-दंष्ट्रया—अपनी ही दाढ़ों से; उन्नीत—उठाया जाकर; धरः—पृथ्वी लोक; वराहः—भगवान् वराह; रामः—भगवान् राम; अद्रि-कूटेषु—पर्वतों की चोटियों पर; अथ—तब; विप्रवासे—विदेशों में; स-लक्ष्मणः—अपने भाई लक्ष्मण सहित; अव्यात्—रक्षा करें; भरत-अग्रजः—महाराज भरत के ज्येष्ठ भ्राता; अस्मान्—हमारी।

**परम अविनाशी भगवान् को यज्ञों के द्वारा जाना जाता है, इसीलिए वे यज्ञेश्वर कहलाते हैं। भगवान् वराह के रूप में अवतार लेकर उन्होंने पृथ्वी लोक को ब्रह्माण्ड के गर्त से जल में से निकालकर अपनी नुकी दाढ़ों में धारण किया। ऐसे भगवान् मार्ग में दुष्टों से मेरी रक्षा करें। परशुराम मेरी पर्वत शिखरों पर रक्षा करें और भरत के अग्रज भगवान् रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण सहित विदेशों में मेरी रक्षा करें।**

**तात्पर्य :** राम तीन हैं। परशुराम (जामदाग्न्य), दूसरे भगवान् रामचन्द्र तथा तीसरे श्रीबलराम। इस श्लोक में आगत *रामोऽद्रिकूटेष्व अथ* में श्री परशुराम का संकेत है। महाराज भरत या लक्ष्मण के भाई भगवान् रामचन्द्र हैं।

**मामुग्रधर्मादखिलात्प्रमादा**
**न्नारायणः पातु नरश्च हासात् ।**
**दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः**
**पायाद्गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

माम्—मुझको; उग्र-धर्मात्—अनावश्यक धार्मिक नियमों से; अखिलात्—सभी प्रकार के कार्यों से; प्रमादात्—पागलपन में किये गये; नारायणः—भगवान् नारायण; पातु—रक्षा करें; नरः च—तथा नर; हासात्—वृथा गर्व से; दत्तः—दत्तात्रेय; तु—निस्सन्देह; अयोगात्—मिथ्या योग के मार्ग से; अथ—निस्सन्देह; योग-नाथः—समस्त योगशक्तियों के स्वामी,

योगेश्वर; पायात्—रक्षा करें; गुण-ईशः—समस्त आध्यात्मिक गुणों के स्वामी; कपिलः—श्रीकपिल; कर्म-बन्धात्—कर्मों के बन्धन से।

**मिथ्या धर्मों के अनावश्यक पालन तथा प्रमादवश कर्तव्यच्युत होने से भगवान् नारायण मेरी रक्षा करें। नर-रूप में प्रकट भगवान् मुझे वृथा गर्व से बचाएँ। भक्तियोग के पालन से च्युत होने से योगेश्वर दत्तात्रेय मेरी रक्षा करें। समस्त श्रेष्ठ गुणों के स्वामी कपिल सकाम कर्म के भौतिक बन्धन से मेरी रक्षा करें।**

**सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा-**
**द्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात् ।**
**देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात्**
**कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात् ॥ १७॥**

### शब्दार्थ

सनत्-कुमारः—परम ब्रह्मचारी सनत्कुमार; अवतु—रक्षा करें; काम-देवात्—कामदेव के चंगुल से अर्थात् कामवासनाओं से; हय-शीर्षा—हयग्रीव ईश्वर का अवतार जिसका मुख घोड़े के समान था; माम्—मुझको; पथि—मार्ग में; देव-हेलनात्—ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा परमेश्वर को नमस्कार न करने से; देवर्षि-वर्यः—देवर्षियों में श्रेष्ठ, नारद; पुरुष-अर्चन-अन्तरात्—विग्रह के पूजन में हुए अपराधों से; कूर्मः—भगवान् कूर्म (कच्छप); हरिः—भगवान् हरि; माम्—मुझको; निरयात्—नरक से; अशेषात्—असीम।

**सनत्कुमार कामवासनाओं से मेरी रक्षा करें। जैसे ही मैं कोई शुभकार्य शुरू करूँ, श्रीहयग्रीव मेरी रक्षा करें जिससे मैं परमेश्वर को नमस्कार न करने का अपराधी न बनूँ। श्रीविग्रह की अर्चना में कोई अपराध न हो इसके लिए देवर्षि नारद मेरी रक्षा करें। भगवान् कूर्म असीम नरकलोक में गिरने से मुझे बचाएँ।**

**तात्पर्य :** प्रत्येक प्राणी में कामेच्छाएँ प्रबल होती हैं और भक्ति मार्ग में ये ही सबसे अधिक बाधक हैं। अतः जो कामेच्छाओं के वश में बुरी तरह फंसे हैं उन्हें चाहिए कि परम ब्रह्मचारी भक्त सनत्कुमार की शरण ग्रहण करें। नारद मुनि अर्चना के पथप्रदर्शक हैं और *नारद-पंचरात्र* के रचयिता हैं जिसमें श्रीविग्रह की अर्चना की विधियाँ दी हुई हैं। चाहे कोई घर में श्रीविग्रह की पूजा करे या मन्दिर में, अर्चना में होने वाले बत्तीस प्रकार के अपराधों से बचने के लिए देवर्षि नारद के अनुग्रह की आकांक्षा करनी चाहिए। श्रीविग्रह-अर्चा में होने वाले इन अपराधों का उल्लेख

*भक्तिरसामृत-सिन्धु* नामक पुस्तक में हुआ है।

**धन्वन्तरिर्भगवान्पात्वपथ्याद्**
**द्वन्द्वाद्भयादृषभो निर्जितात्मा ।**
**यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद्**
**बलो गणात्क्रोधवशादहीन्द्रः ॥ १८ ॥**

### शब्दार्थ

धन्वन्तरिः—वैद्यराज धन्वन्तरि; भगवान्—श्रीभगवान्; पातु—मेरी रक्षा करें; अपथ्यात्—स्वास्थ्य के लिए हानिकर वस्तुओं, यथा मांस तथा मादक द्रव्यों से; द्वन्द्वात्—द्विधा से; भयात्—भय से; ऋषभः—श्रीऋषभदेव; निर्जित-आत्मा—मन तथा स्वयं को वश में रखने वाला; यज्ञः—यज्ञ; च—तथा; लोकात्—जनता के अपयश से; अवतात्—रक्षा करें; जन-अन्तात्—अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न भयानक परिस्थितियों से; बलः—भगवान् बलराम; गणात्—गणों से; क्रोध-वशात्—क्रुद्ध सर्पों से; अहीन्द्रः—शेष नाग के रूप में भगवान् बलराम।

**श्रीभगवान् अपने धन्वन्तरि अवतार के रूप में मुझे अवांछित खाद्य पदार्थों से दूर रखें और शारीरिक रुग्णता से मेरी रक्षा करें। अपनी अन्तः तथा बाह्य इन्द्रियों को वश में करने वाले श्रीऋषभदेव सर्दी तथा गर्मी के द्वैत से उत्पन्न भय से मेरी रक्षा करें। भगवान् यज्ञ जनता से मिलने वाले अपयश तथा हानि से मेरी रक्षा करें और शेष-रूप भगवान् बलराम मुझे ईर्ष्यालु सर्पों से बचायें।**

**तात्पर्य :** इस भौतिक जगत में रहने के लिए मनुष्य को अनेक विपत्तियों का सामना करना होता है, जिनका उल्लेख इस श्लोक में हुआ है। उदाहरणार्थ, अवांछित भोजन (कुपथ्य) से स्वास्थ्य को भय रहता है, अतः ऐसे भोजन का त्याग कर देना चाहिए। इस मामले में धन्वन्तरि हमारी रक्षा कर सकते हैं। चूँकि भगवान् विष्णु समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं, अतः वे चाहें तो हमें अन्य जीवों के उपद्रवों, अर्थात् अधिभौतिक उपद्रवों से बचा सकते हैं। भगवान् बलराम शेष के अवतार हैं, अतः वे चाहें तो हमें क्रुद्ध सर्पों अथवा द्वेषपूर्ण व्यक्तियों से बचा सकते हैं, जो हमेशा घात लगाए बैठे रहते हैं।

**द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्**

**बुद्धस्तु पाषण्डगणप्रमादात् ।**
**कल्किः कलेः कालमलात्प्रपातु**
**धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥ १९ ॥**

### शब्दार्थ

द्वैपायनः—वैदिक ज्ञान के दाता श्रील व्यासदेव; भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का सर्वशक्तिमान अवतार; अप्रबोधात्—शास्त्र के अज्ञान से; बुद्धः तु—तथा भगवान् बुद्ध; पाषण्ड-गण—अबोध व्यक्तियों में मायाजाल फैलाने वाले नास्तिकों का; प्रमादात्—पागलपन से; कल्किः—केशव के अवतार भगवान् कल्कि; कलेः—इस कलियुग के; काल-मलात्—इस युग के अंधकार से; प्रपातु—रक्षा करें; धर्म-अवनाय—धर्म की रक्षा हेतु; उरु—महान्; कृत-अवतारः—जो अवतरित हुए।

**वैदिक-ज्ञान से विहीन होने के कारण सभी प्रकार की अविद्या से श्रीभगवान् के अवतार व्यासदेव मेरी रक्षा करें। वेद विरुद्ध कर्मों से तथा आलस्य से, जिसके कारण प्रमादवश वेद ज्ञान तथा अनुष्ठान भूल जाते हैं, भगवान् बुद्धदेव मुझे बचाएँ। भगवान् कल्कि देव, जिनका अवतार धार्मिक नियमों की रक्षा के लिए हुआ, मुझे कलियुग की मलिनता से बचायें।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में श्रीभगवान् के विभिन्न अवतारों का उल्लेख हुआ है, जो विभिन्न कार्यों के लिए प्रकट होते हैं। महामुनि श्रील व्यासदेव ने समस्त मानव समाज के कल्याण के लिए वेदों की रचना की। यदि कोई इस कलिकाल में भी अविद्या की प्रतिक्रिया से बचना चाहता है, तो उसे चाहिए कि श्रील व्यासदेव की रचनाएँ पढ़े। इनके नाम हैं—चारों वेद (*साम, यजुर, ऋग्* तथा *अथर्व*), १०८ उपनिषदें, *वेदान्त सूत्र* (ब्रह्मसूत्र), *महाभारत, श्रीमद्भागवत* महापुराण (ब्रह्मसूत्र पर व्यासदेव का भाष्य) तथा अन्य सत्रह *पुराण*। श्रील व्यासदेव की कृपा से ही हमारे पास दिव्य ज्ञान की इतनी कृतियाँ हैं जिनसे हम अपने को अविद्या के चंगुल से बचा सकते हैं।

जैसाकि श्रील जयदेव गोस्वामी ने अपने दशावतार स्तोत्र में बताया है, भगवान् बुद्ध ने वैदिक ज्ञान की निन्दा की।

*निन्दसि यज्ञविधरेहह श्रतिजातं*

*सदयहृदयदर्शितपशुघातम्*

*केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे॥*

भगवान् बुद्ध का उद्देश्य जनता को पशु-बध के कुकृत्य से बचाना और विरीह पशुओं का बध होने से बचाना था। जब पाखंडी लोग वैदिक यज्ञों के बहाने पशुओं का बध कर रहे थे तो भगवान् बुद्ध ने कहा, ''यदि वेद पशु-वध की आज्ञा देते हैं, तो मैं वैदिक नियमों को नहीं मानता।'' इस प्रकार उन्होंने उन लोगों की रक्षा की जो वैदिक नियमों का पालन कर रहे थे। अतः मनुष्यों को चाहिए कि भगवान् बुद्ध की शरण में जाँय जिससे वे वैदिक आज्ञाओं का दुरुपयोग न करें।

कल्कि अवतार हिंस्र अवतार है, जो कलियुग में उत्पन्न नास्तिकों के विनाश के लिए है। अब कलियुग के इस प्रारम्भ काल में अनेक अधर्म व्याप्त हैं और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ेगा अनेकानेक छद्म धार्मिक सिद्धान्तों का प्रवेश होता जायेगा और लोग भगवान् कृष्ण द्वारा बताये गये उन असली धार्मिक नियमों को भूलते जायेंगे, जिन्हें उन्होंने कलियुग के प्रारम्भ होने के पूर्व ही कहा था। ये नियम थे भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण। दुर्भाग्यवश कलियुग के कारण, मूर्ख व्यक्ति कृष्ण के चरणकमलों की शरण नहीं लेते हैं यहाँ तक कि अधिकांश ऐसे व्यक्ति भी जो अपने को वैदिक धर्म का पालन करने वाले बताते हैं, वास्तव में वैदिक नियमों के विरोधी हैं। आये दिन वे नये-नये धर्मों को गढ़ते रहते हैं और कहते रहते हैं कि मुक्ति का मार्ग यही है। नास्तिक मनुष्य प्रायः कहते हैं— *यत मत तत पथ*। इसके अनुसार मनुष्य समाज में सैकड़ों-हजारों मत-मतान्तर हैं जिनमें से प्रत्येक वैध है। दुष्टों की इस विचारधारा से वेदवर्णित धार्मिक नियमों की हत्या हो गई है और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ता जायेगा ऐसी विचारधाराएँ और बलवती होती जायेंगी। कलियुग के अन्तिम चरण में केशव का सबसे हिंस्र अवतार कल्किदेव के रूप में होगा जो समस्त नास्तिकों का वध करके केवल भगवान् के भक्तों की रक्षा करेगा।

**मां केशवो गदया प्रातरव्याद्**
**गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः ।**
**नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्तिर्**
**मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥ २० ॥**

### शब्दार्थ

माम्—मुझको; केशवः—भगवान् केशव; गदया—अपनी गदा से; प्रातः—प्रातःकाल; अव्यात्—रक्षा करें; गोविन्दः—भगवान् गोविन्द; आसङ्गवम्—दिन के चढ़े; आत्त-वेणुः—अपनी बाँसुरी लेकर; नारायणः—चतुर्भुज भगवान् नारायण; प्राह्णः—दोपहर के पूर्व; उदात्त-शक्तिः—विभिन्न प्रकार की शक्तियों को वश में रखने वाले; मध्यम्-दिने—दोपहर को; विष्णुः—भगवान् विष्णु; अरीन्द्र-पाणिः—शत्रुओं को मारने के लिए हाथ में चक्र धारण किये।

**भगवान् केशव दिन के पहले चरण में अपनी गदा से तथा दिन के दूसरे चरण में अपनी बाँसुरी से गोविन्द मेरी रक्षा करें। सर्व शक्तियों से सम्पन्न भगवान् नारायण दिन के तीसरे चरण में और शत्रुओं का वध करने के लिए हाथ में चक्र धारण करनेवाले भगवान् विष्णु दिन के चौथे चरण में मेरी रक्षा करें।**

**तात्पर्य :** वैदिक ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार दिन तथा रात को बारह-बारह घंटों में विभाजित न करके तीस घटिकाओं (प्रत्येक २४ मिनट की) में विभाजित किया जाता है। सामान्यतः प्रत्येक दिन तथा रात छः समान चरणों में बँटी होती है जिनमें से प्रत्येक भाग पाँच घटिका का होता है। दिन तथा रात के इन विभिन्न विभागों में से प्रत्येक में भगवान् को भिन्न-भिन्न नामों से रक्षा के लिए सम्बोधित किया जा सकता है। मथुरा नामक पवित्र स्थान के स्वामी भगवान् केशव दिन के प्रथम चरण के तथा वृन्दावन के अधीक्षक गोविन्द दिन के दूसरे चरण के स्वामी हैं।

**देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा**
**सायं त्रिधामावतु माधवो माम् ।**
**दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे**
**निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः ॥ २१ ॥**

### शब्दार्थ

देवः—भगवान्; अपराह्णे—दिन के पंचम चरण में; मधु-हा—मधुसूदन; उग्र-धन्वा—शार्ङ्ग नाम के प्रचण्ड धनुष को धारण करने वाले; सायम्—दिन के छठे चरण में, संध्या समय; त्रि-धामा—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर त्रिमूर्ति; अवतु—रक्षा करें; माधवः—माधव; माम्—मुझको; दोषे—रात के प्रथम भाग में; हृषीकेशः—श्रीहृषीकेश; उत—भी; अर्ध-रात्रे—रात्रि के दूसरे भाग अथवा अर्ध रात्रि में; निशीथे—रात्रि के तीसरे चरण में; एकः—अकेले; अवतु—रक्षा करें; पद्मनाभः—भगवान् पद्मनाभ।

**असुरों के लिए भयावना धनुष धारण करने वाले भगवान् मधुसूदन दिन के पंचम चरण में मेरी रक्षा करें। संध्या समय ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर त्रिमूर्ति के रूप में प्रकट होकर**

भगवान् माधव और रात्रि प्रारम्भ होने पर भगवान् हृषीकेश मेरी रक्षा करें। अर्ध रात्रि में ( रात्रि के दूसरे तथा तीसरे चरण में ) केवल भगवान् पद्मनाभ मेरी रक्षा करें।

श्रीवत्सधामापररात्र ईशः
प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः ।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते
विश्वेश्वरो भगवान्कालमूर्तिः ॥ २२॥

शब्दार्थ

श्रीवत्स-धामा—श्रीवत्स चिह्न धारण करने वाले भगवान्; अपर-रात्रे—रात्रि के चतुर्थ भाग में; ईशः—परमेश्वर; प्रत्यूषे—रात्रि के अन्त में; ईशः—परमेश्वर; असि-धरः—हाथ में तलवार धारण करने वाले; जनार्दनः—भगवान् जनार्दन; दामोदरः—भगवान् दामोदर; अव्यात्—वे रक्षा करें; अनुसन्ध्यम्—प्रत्येक संध्या को; प्रभाते—प्रातःकाल ( राति के छठे भाग ); विश्व-ईश्वरः—समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी; भगवान्—श्रीभगवान्; काल-मूर्तिः—साक्षात् काल।

वक्ष पर श्रीवत्स धारण करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्धरात्रि के पश्चात् से आकाश के गुलाबी होने तक मेरी रक्षा करें। खड्गधारी भगवान् जनार्दन रात्रि के समाप्त होने पर ( रात्रि की अंतिम चार घटिकाओं में ) मेरी रक्षा करें। भगवान् दामोदर बड़े भोर में तथा भगवान् विश्वेश्वर दिन तथा रात की संधियों के समय मेरी रक्षा करें।

चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि
भ्रमत्समन्ताद्भगवत्प्रयुक्तम् ।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु
कक्षं यथा वातसखो हुताशः ॥ २३॥

शब्दार्थ

चक्रम्—भगवान् का चक्र; युग-अन्त—युग के अन्त में; अनल—विध्वंसक अग्नि सदृश; तिग्म-नेमि—तीक्ष्ण किनारे; भ्रमत्—घूमते हुए; समन्तात्—चारों ओर; भगवत्-प्रयुक्तम्—भगवान् द्वारा लगाया गया; दन्दग्धि दन्दग्धि—पूरी तरह जला दें; अरि-सैन्यम्—हमारे शत्रुओं की सेना; आशु—शीघ्रता से; कक्षम्—सूखी घास; यथा—सदृश; वात-सखः—वायु का मित्र; हुताशः—धधकती आग।

श्रीभगवान् द्वारा चलाया जाने वाला तथा चारों दिशाओं में घूमने वाला तीखे किनारे वाला उनका चक्र युगान्त में प्रलय-अग्नि के समान विनाशकारी है। जिस प्रकार प्रातःकालीन मन्द पवन के सहयोग से धधकती अग्नि सूखी घास को भस्म कर देती है, उसी

प्रकार यह सदुर्शन चक्र हमारे शत्रुओं को जला कर भस्म कर दे।

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि ।
कुष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥ २४॥

### शब्दार्थ

गदे—श्रीभगवान् के हाथों में स्थित हे गदा; अशनि—वज्र के समान; स्पर्शन—जिसका स्पर्श; विस्फुलिङ्गे—अग्नि की चिनगारियाँ छोड़ता हुआ; निष्पिण्ढि निष्पिण्ढि—कुचल दीजिये, कुचल दीजिये; अजित-प्रिया—श्रीभगवान् को अत्यन्त प्रिय; असि—हो; कुष्माण्ड—कुष्माण्ड नामक निशाचर; वैनायक—वैनायक नामक प्रेत; यक्ष—यक्ष नामक भूत प्रेत; रक्षः—राक्षस; भूत—भूत नामक प्रेत; ग्रहान्—तथा ग्रह नामक दुष्ट असुर; चूर्णय—चूर-चूर कर दो; चूर्णय—चूर-चूर कर दो; अरीन्—मेरे शत्रुओं को।

हे श्रीभगवान् के हाथ की गदे! तुम वज्र के समान शक्तिशाली अग्नि की चिनगारियाँ उत्पन्न करो, तुम भगवान् की अत्यन्त प्रिय हो। मैं भी उन्हीं का दास हूँ, अतः कुष्माण्ड, वैनायक, यक्ष, राक्षस, भूत तथा ग्रह-गणों को कुचल देने में मेरी सहायता करो। कृपापूर्वक उन्हें चूर चूर कर दो।

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृ-
पिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो
भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन् ॥ २५॥

### शब्दार्थ

त्वम्—तुम; यातुधान—राक्षस; प्रमथ—प्रमथगण; प्रेत—प्रेतगण; मातृ—माताएँ; पिशाच—पिशाच; विप्र-ग्रह—ब्रह्म राक्षस; घोर-दृष्टीन्—अत्यन्त भयानक नेत्रों वाले; दरेन्द्र—हे भगवान् के हाथों के शंख, पांचजन्य; विद्रावय—भगा दें; कृष्ण-पूरितः—कृष्ण द्वारा फूँके जाने पर; भीम-स्वनः—अत्यन्त डरावना शब्द करते हुए; अरेः—शत्रु के; हृदयानि—हृदयों को; कम्पयन्—हिलाते हुए।

भगवान् के हाथों में धारण किए हुए हे शंखश्रेष्ठ, हे पांचजन्य! तुम भगवान् श्रीकृष्ण की श्वास से सदैव पूरित हो, अतः तुम ऐसी डरावनी ध्वनि उत्पन्न करो जिससे राक्षस, प्रमथ भूत, प्रेत, माताएँ, पिशाच तथा ब्रह्म राक्षस जैसे शत्रुओं के हृदय काँपने लगें।

त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्य-
मीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि ।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय
द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम् ॥ २६ ॥

### शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तिग्म-धार-असि-वर—हे तीक्ष्ण धारवाली श्रेष्ठ तलवार; अरि-सैन्यम्—शत्रु के सैनिकों को; ईश-प्रयुक्तः—श्रीभगवान् द्वारा काम में लाई जाने वाली; मम—मेरा; छिन्धि छिन्धि—खण्ड-खण्ड कर दो, खण्ड-खण्ड कर दो; चक्षूंषि—आँखें; चर्मन्—हे ढाल; शत-चन्द्र—एक सौ चन्द्रमाओं के समान तेजवान् मण्डल; छादय—ढक दो; द्विषाम्—मुझसे विद्वेष करने वालों को; अघोनाम्—पूर्ण पापी; हर—निकाल लो; पाप-चक्षुषाम्—पापपूर्ण आँखों वाले।

हे तलवारों में श्रेष्ठ तीक्ष्ण धार वाली तलवार! तुम श्रीभगवान् द्वारा काम में लायी जाती हो। कृपा करके तुम मेरे शत्रुओं के सैनिकों को खण्ड-खण्ड कर दो; कृपया उन्हें खण्ड-खण्ड कर दो। हे सैकड़ों चन्द्रमण्डल के समान वृत्ताकारों से अंकित तेजमान ढाल! पापी दुश्मनों की आँखें ढक दो और उनकी पापी आँखों को निकाल लो।

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत्केतुभ्यो नृभ्य एव च ।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योऽंहोभ्य एव च ॥ २७॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपानुकीर्तनात् ।
प्रयान्तु सङ्क्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः ॥ २८ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे; भयम्—भय; ग्रहेभ्यः—ग्रह नामक असुर से; अभूत्—था; केतुभ्यः—गिरने वाले तारों से; नृभ्यः—विद्वेषी मनुष्यों से; एव च—भी; सरीसृपेभ्यः—साँपों या बिच्छुओं से; दंष्ट्रिभ्यः—बाघों, भेड़ियों तथा असुरों जैसे तीक्ष्ण दाँतों वाले पशुओं से; भूतेभ्यः—भूतों से अथवा भौतिक तत्त्वों ( क्षिति, जल, अग्नि आदि ) से. ); अंहोभ्यः—पापकर्मों से; एव च—भी; सर्वाणि एतानि—ये सब; भगवत्-नाम-रूप-अनुकीर्तनात्—श्रीभगवान् के दिव्य रूप, नाम, लक्षण तथा वैशिष्ट्य के कीर्तन से; प्रयान्तु—प्राप्त होने दो; सङ्क्षयम्—पूर्ण विनाश को; सद्यः—तुरन्त; ये—जो; नः—हमारा; श्रेयः-प्रतीपकाः—कल्याण में बाधक।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा साजसामग्री का कीर्तन हमें अशुभ नक्षत्रों, केतुओं, विद्वेषी मनुष्यों, सर्पों, बिच्छुओं तथा बाघों-भेड़ियों जैसे पशुओं के प्रभाव से बचाये। वह प्रेतों से तथा क्षिति, जल, पावक, वायु, जैसे भौतिक तत्त्वों और तड़ित से तथा पूर्व पापों से हमारी रक्षा करे। हम अपने शुभ जीवन में इन बाधाओं से सदैव भयभीत रहते हैं, अतः हरे कृष्ण महामंत्र के जप से इन सबका पूर्ण विनाश हो।

**गरुडो भगवान्स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः ।
रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

गरुडः—भगवान् विष्णु का वाहन, गरुड़; भगवान्—श्रीभगवान् के समान शक्तिशाली; स्तोत्र-स्तोभः—जिनकी स्तुति चुने हुए श्लोकों एवं गीतों से की जाती है; छन्दः-मयः—साक्षात् वेद; प्रभुः—भगवान्; रक्षतु—रक्षा करें; अशेष-कृच्छ्रेभ्यः—अनन्त दुखों से; विष्वक्सेनः—श्रीविष्वक्सेन; स्व-नामभिः—अपने पवित्र नाम से।

**भगवान् विष्णु के वाहन श्रीगरुड़ श्रीभगवान् के समान शक्तिशाली होने के कारण सर्वपूज्य हैं। वे साक्षात् वेद हैं और चुने हुए श्लोकों से उनकी पूजा की जाती है। वे सभी भयानक स्थितियों में हमारी रक्षा करें। भगवान् विष्वक्सेन अपने पवित्र नामों के द्वारा हमें सभी संकटों से बचायें।**

**सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः ।
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान्पान्तु पार्षदभूषणाः ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

सर्व-आपद्भ्यः—सभी प्रकार की विपत्तियों से; हरेः—श्रीभगवान् का; नाम—पवित्र नाम; रूप—दिव्य रूप; यान—वाहन; आयुधानि—तथा सभी शस्त्रास्त्र; नः—हमारी; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रिय; मनः—मन; प्राणान्—प्राण वायु; पान्तु—रक्षा तथा पालन करें; पार्षद-भूषणाः—आभूषण तुल्य पार्षद गण।

**श्रीभगवान् के पवित्र नाम, दिव्य रूप, वाहन तथा आयुध, जो उनके पार्षदों के समान उनकी शोभा बढ़ाने वाले हैं, हमारी बुद्धि, इन्द्रियों, मन तथा प्राण की सभी प्रकार के संकटों से रक्षा करें।**

**तात्पर्य :** दिव्य रूप भगवान् के अनेक पार्षद हैं जिनमें उनके आयुध तथा वाहन भी सम्मिलित हैं। आध्यात्मिक जगत में कुछ भी भौतिक नहीं है। तलवार, धनुष, गदा, चक्र तथा भगवान् के शरीर को अलंकृत करने वाली प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक जीवनी शक्ति है। इसीलिए भगवान् को 'अद्वय-ज्ञान' कहा गया है, जिससे यह सूचित होता है कि उनमें तथा उनके नाम, रूप, गुण, आयुध इत्यादि में कोई अन्तर नहीं है। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक अस्तित्त्व की श्रेणी में है। वे विभिन्न रूपों में भगवान् की सेवा में काम आती हैं।

यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत् ।
सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान्; एव—निश्चय ही; वस्तुतः—अन्तिम रूप से; सत्—प्रकट; असत्—अप्रकट; च—तथा; यत्—जो भी; सत्येन—सत्य से; अनेन—यह; नः—हमारे; सर्वे—सभी; यान्तु—चले जाँय, दूर हों; नाशम्—संहार को; उपद्रवाः—उपद्रव।

यह सूक्ष्म तथा स्थूल दृश्य जगत भौतिक है, तो भी यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न है, क्योंकि वस्तुतः वे ही समस्त कारणों के कारण हैं। कारण तथा कार्य वास्तव में एक ही हैं, क्योंकि कार्य में कारण विद्यमान रहता है। अतः परम सत्य श्रीभगवान् हमारे समस्त संकटों को अपने किसी भी शक्तिशाली अंग से नष्ट कर सकते हैं।

यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् ।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥ ३२ ॥
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान्हरिः ।
पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; ऐकात्म्य—विभिन्न रूपों में प्रकट एकरूपता; अनुभावानाम्—विचारकों के; विकल्प-रहितः—भेद रहित; स्वयम्—स्वयं; भूषण—अलंकरण; आयुध—शस्त्रास्त्र; लिङ्ग-आख्याः—गुण तथा विभिन्न नाम; धत्ते—धारण करता है; शक्तीः—ऐश्वर्य, प्रभाव, शक्ति, ज्ञान, सौंदर्य तथा त्याग जैसी शक्तियाँ; स्व-मायया—अपनी आत्मशक्ति के प्रसार से; तेन एव—उसके द्वारा; सत्य-मानेन—वास्तविक ज्ञान; सर्व-ज्ञः—सर्वज्ञाता; भगवान्—श्रीभगवान्; हरिः—जीवात्माओं के मोह को हरने वाले; पातु—रक्षा करें; सर्वैः—सभी; स्व-रूपैः—अपने रूपों से; नः—हमको; सदा—सदैव; सर्वत्र—सभी जगहों पर; सर्व-गः—सर्वव्यापी।

श्रीभगवान्, जीवात्माएँ, भौतिक शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति तथा सम्पूर्ण सृष्टि—वे सभी व्यष्टियाँ हैं। अन्ततोगत्वा ये सब मिलकर परब्रह्म का निर्माण करती हैं। अतः जो आत्मज्ञानी हैं, वे भिन्नता में एकता देखते हैं। ऐसे बढ़ेचढ़े पुरुषों के लिए भगवान् के शारीरिक अलंकरण, उनके नाम, उनका यश, उनके लक्षण एवं रूप तथा आयुध उनकी शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके समुन्नत आध्यात्मिक ज्ञान के अनुसार विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाले सर्वज्ञ भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं। वे सदैव सभी विपदाओं से सर्वत्र हमारी रक्षा करें।

**तात्पर्य :** आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत पुरुष जानता है, कि एकमात्र श्रीभगवान् का ही अस्तित्त्व है। *भगवद्गीता* (९.४) में भी इसकी पुष्टि हुई है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—*मया ततम् इदं सर्वम्*—इससे सूचित होता है कि प्रत्येक दिखने वाली वस्तु उनकी शक्ति का प्रसार है। *विष्णु पुराण* (१.२२.५२) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

*एकदेश स्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।*

*परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदम् अखिलं जगत्॥*

"जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर अपने प्रकाश तथा ताप को सर्वत्र फैलाती है, उसी प्रकार सर्वशक्तिमान श्रीभगवान् यद्यपि वैकुण्ठ धाम में स्थित हैं, किन्तु उनका विस्तार भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में विभिन्न शक्तियों के द्वारा होता है।" चूँकि कार्य-कारण परमेश्वर ही हैं, अतः उनमें कोई अन्तर नहीं होता। फलतः श्रीभगवान् के अलंकरण तथा आयुध उनकी आत्म-शक्ति के प्रसार होने के कारण उनसे अभिन्न हैं। भगवान् तथा उनकी विविध रूप से प्रस्तुत शक्तियों में कोई अन्तर नहीं है। *पद्मपुराण* से भी इसकी पुष्टि होती है—

*नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।*

*पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान् नामनामिनोः॥*

भगवान् का पवित्र नाम पूर्णतया भगवान् के समरूप है। पूर्ण शब्द का अर्थ है 'पूरा'। जिस प्रकार भगवान् सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ हैं, उसी तरह भगवान् के नाम, रूप, गुण, साज-सामग्री तथा उनकी प्रत्येक वस्तु पूर्ण शुद्ध, नित्य तथा निष्कलुष है। भगवान् के आभूषणों एवं वाहनों की स्तुति मिथ्या नहीं है, क्योंकि वे भगवान् के ही समान उत्तम हैं। भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतः वे घट-घट वासी हैं और प्रत्येक वस्तु उनमें स्थित है। अतः भगवान् के आयुधों या आभूषणों की पूजा में भी वही शक्ति है, जो भगवान् की पूजा में। मायावादी या तो भगवान् के रूप को अस्वीकार करते हैं या कहते हैं कि वह माया या छद्म है, किन्तु भली-भाँति विचार करने पर पता लगेगा कि यह कथन स्वीकार्य नहीं है। यद्यपि भगवान् का आदि रूप तथा उनका निराकार अंश

एक हैं, किन्तु भगवान् अपने रूप, गुण तथा धाम को शाश्वत रूप से बनाये रखते हैं। इसलिए इस स्तुति— *पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः*—में कहा गया है कि विभिन्न रूपों में सर्वत्र व्याप्त भगवान् हमारी हर जगह रक्षा करें। भगवान् सदैव ही सर्वत्र अपने नाम, रूप, गुण, लक्षण तथा साज सामग्री से विद्यमान रहते हैं और इन सबों में भक्तों की रक्षा करने की समान शक्ति रहती है। श्रील मध्वाचार्य ने इस की व्याख्या इस प्रकार से की है—

*एक एव परो विष्णुर्भूषाहेति ध्वजेष्वजः।*

*तत्तच्छक्तिप्रदत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितः।*

*सत्येनानेन मां देवः पातु सर्वेश्वरो हरिः॥*

**विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्ता-**
**दन्तर्बहिर्भगवान्नारसिंहः ।**
**प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन**
**स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः ॥ ३४॥**

## शब्दार्थ

विदिक्षु—सभी कोनों में; दिक्षु—समस्त दिशाओं में ( पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण ) में; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अधः—नीचे; समन्तात्—चारों ओर; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; भगवान्—श्रीभगवान्; नारसिंहः—नृसिंह( आधे सिंह तथा आधे मनुष्य ) देव के रूप में; प्रहापयन्—पूर्णतया विनष्ट करते हुए; लोक-भयम्—पशु, विष, आयुध, जल, वायु, अग्नि इत्यादि से उत्पन्न भय; स्वनेन—अपनी गर्जना से अथवा अपने भक्त प्रह्लाद महाराज के स्वर से; स्व-तेजसा—अपने निजी तेज से; ग्रस्त—आच्छादित; समस्त—अन्य सभी; तेजाः—प्रभाव।

**प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंहदेव के पवित्र नाम का उच्चस्वर से जप किया। अपने भक्त प्रह्लाद महाराज के लिए गर्जना करने वाले श्रीनृसिंहदेव! आप उन संकटों के भय से हमारी रक्षा करें जो विष, आयुध, जल, अग्नि, वायु इत्यादि के द्वारा समस्त दिशाओं में महा-भटों के द्वारा फैलाया जा चुका है। हे भगवान्! आप अपने दिव्य प्रभाव से इनके प्रभाव को आच्छादित कर लें। नृसिंहदेव समस्त दिशि-दिशाओं में, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर हमारी रक्षा करें।**

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम् ।
विजेष्यसेऽञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मघवन्—हे इन्द्र; इदम्—यह; आख्यातम्—कह सुनाया; वर्म—रहस्यमय कवच; नारायण-आत्मकम्—नारायण से सम्बन्धित; विजेष्यसे—तुम जीतोगे; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; येन—जिससे; दंशितः—सुरक्षित होकर; असुर-यूथपान्—असुरों के मुखियों को।

विश्वरूप ने आगे कहा—हे इन्द्र! मैंने तुमसे नारायण के इस गुप्त कवच को कह सुनाया। तुम इस सुरक्षात्यक कवच को धारण करके असुरों के नायकों को जीतने में निश्चय ही समर्थ होगे।

एतद्धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा ।
पदा वा संस्पृशेत्सद्यः साध्वसात्स विमुच्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; धारयमाणः—धारण करने वाला व्यक्ति; तु—लेकिन; यम् यम्—जिस किसी को; पश्यति—देखता है; चक्षुषा—अपनी आँखों से; पदा—अपने पैरों से; वा—अथवा; संस्पृशेत्—छूता है; सद्यः—तुरन्त; साध्वसात्—समस्त भय से; सः—वह; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

यदि कोई इस कवच को धारण करता है, तो वह जिस किसी को अपने नेत्रों से देखता है, अथवा पैरों से छू देता है, वह तुरन्त ही उपर्युक्त समस्त संकटों से विमुक्त हो जाता है।

न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत् ।
राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याध्यादिभ्यश्च कर्हिचित् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कुतश्चित्—कहीं से; भयम्—भय; तस्य—उसका; विद्याम्—यह रहस्यमय स्तोत्र; धारयतः—प्रयोग करते हुए; भवेत्—प्रकट हो; राज—सरकार से; दस्यु—चोर-उचक्कों से; ग्रह-आदिभ्यः—असुरों आदि से; व्याधि-आदिभ्यः—रोगों इत्यादि से; च—भी; कर्हिचित्—किसी समय।

नारायण-कवच नामक यह स्तोत्र नारायण के दिव्यरूप से सम्बद्ध सूक्ष्म ज्ञान से युक्त है। जो इस स्तोत्र का प्रयोग करता है, वह सरकार, लुटेरों, दुष्ट असुरों या किसी प्रकार के रोग द्वारा न तो विचलित किया जाता है न ही सताया जाता है।

इमां विद्यां पुरा कश्चित्कौशिको धारयन्द्विजः ।
योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि ॥ ३८ ॥

### शब्दार्थ

इमाम्—यह; विद्याम्—स्तोत्र; पुरा—प्राचीन काल में; कश्चित्—कोई; कौशिकः—कौशिक; धारयन्—प्रयोग करके; द्विजः—ब्राह्मण; योग-धारणया—योग बल से; स्व-अङ्गम्—अपना शरीर; जहौ—त्याग दिया; सः—वह; मरु-धन्वनि—मरुस्थल में।

हे देवेन्द्र! प्राचीन काल में कौशिक नाम के एक ब्राह्मण ने इस कवच का प्रयोग किया और उसने अपने योगबल से मरुभूमि में जान बूझ कर अपना शरीर त्याग दिया।

तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा ।
ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः ॥ ३९ ॥

### शब्दार्थ

तस्य—उसके मृतशरीर के; उपरि—ऊपर; विमानेन—विमान से; गन्धर्व-पतिः—गन्धर्व लोक के राजा चित्ररथ; एकदा—एक बार; ययौ—गया; चित्ररथः—चित्ररथ; स्त्रीभिः—अनेक सुन्दर स्त्रियों द्वारा; वृतः—घिरा हुआ; यत्र—जहाँ; द्विज-क्षयः—ब्राह्मण कौशिक मरा था।

एक बार अनेक सुन्दरियों से घिरा, गन्धर्वलोक का राजा चित्ररथ अपने विमान से उस स्थान के ऊपर से निकला, जहाँ वह ब्राह्मण मरा था और उसका मृत शरीर पड़ा हुआ था।

गगनान्न्यपतत्सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः ।
स वालिखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः ।
प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात् ॥ ४० ॥

### शब्दार्थ

गगनात्—आकाश से; न्यपतत्—गिरा; सद्यः—अचानक; स-विमानः—अपने विमान समेत; हि—निश्चय ही; अवाक्-शिराः—नीचे की ओर सिर किये; सः—वह; वालिखिल्य—वालिखिल्य नामक मुनियों के; वचनात्—उपदेश से; अस्थीनि—सभी अस्थियाँ; आदाय—लाकर; विस्मितः—आश्चर्यचकित; प्रास्य—फेंक कर; प्राची-सरस्वत्याम्—पूर्व की ओर बहने वाली सरस्वती नदी में; स्नात्वा—उस नदी में नहाकर; धाम—धाम को; स्वम्—अपने; अन्वगात्—लौट गया।

अचानक चित्ररथ सिर के बल अपने विमान सहित नीचे गिरने पर विवश कर दिया गया। उसे आश्चर्य हुआ। वालिखिल्य मुनियों ने उसे आदेश दिया कि उस ब्राह्मण की अस्थियाँ वह निकट ही स्थित सरस्वती नदी में प्रवाहित कर दे। उसे ऐसा ही करना पड़ा तथा अपने धाम लौटने के पूर्व नदी में स्नान करना पड़ा।

श्रीशुक उवाच
य इदं शृणुयात्काले यो धारयति चादृतः ।
तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यः—जो कोई; इदम्—यह; शृणुयात्—सुनेगा; काले—भय के समय; यः—जो कोई; धारयति—इस स्तोत्र का प्रयोग करता है; च—भी; आदृतः—श्रद्धा तथा आदर के साथ; तम्—उसको; नमस्यन्ति—नमस्कार करते हैं; भूतानि—सभी जीव; मुच्यते—छूट जाते हैं; सर्वतः—समस्त; भयात्—भयों से।

**श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे महाराज परीक्षित! जो कोई इस कवच का उपयोग करता है अथवा इसके विषय में श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक श्रवण करता है, वह भौतिक संसार की स्थितियों से उत्पन्न समस्त प्रकार के भयों से तुरन्त मुक्त हो जाता है और सभी जीवों द्वारा पूजा जाता है।**

एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

एताम्—यह; विद्याम्—स्तोत्र; अधिगतः—प्राप्त; विश्वरूपात्—विश्वरूप ब्राह्मण से; शत-क्रतुः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; त्रैलोक्य-लक्ष्मीम्—तीनों लोकों का समस्त ऐश्वर्य; बुभुजे—भोग किया; विनिर्जित्य—जीतकर; मृधे—युद्ध में; असुरान्—सभी असुरों को।

**एक सौ यज्ञों को करने वाले राजा इन्द्र ने इस रक्षा-स्तोत्र को विश्वरूप से प्राप्त किया। असुरों को जीत लेने के बाद उसने तीनों लोकों के सभी ऐश्वर्य का भोग किया।**

**तात्पर्य :** विश्वरूप द्वारा स्वर्ग के राजा इन्द्र को प्रदत्त यह गुह्य मंत्रमय कवच इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि इन्द्र असुरों को जीत सका और अबाध रूप से तीनों लोकों का ऐश्वर्य भोग सका। इस प्रसंग में मध्वाचार्य का कहना है—

*विद्याः कर्माणि च सदा गुरोः प्राप्ताः फलप्रदाः ।*

*अन्यथा नैव फलदाः प्रसन्नोक्ताः फलप्रदाः ॥*

मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु से ही सभी प्रकार के मंत्र ग्रहण करे; अन्यथा मंत्र सफल

नहीं होता। *भगवद्गीता* (४.३४) में भी ऐसा ही कहा गया है—

*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।*

*उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥*

''सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम्, विनम्र जिज्ञासा तथा निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जाने। तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश दे सकते हैं'' सभी प्रकार के मंत्रों को वैध गुरु से ग्रहण करना चाहिए और शिष्यों को चाहिए कि गुरु के चरणकमलों की शरण में जाकर उसे सभी प्रकार से प्रसन्न रखें। *पद्मपुराण* में यह भी कहा गया है—*सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता: ।* शिष्य परम्पराएँ या सम्प्रदाय चार प्रकार के हैं—ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय तथा कुमार सम्प्रदाय। यदि कोई आध्यात्मिक ज्ञान में अग्रसर होना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह इन प्रामाणिक सम्प्रदायों में से किसी से मंत्र ग्रहण करे अन्यथा वह आध्यात्मिक जीवन में कभी अग्रसर नहीं हो सकेगा।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत ''नारायण-कवच'' नामक नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter नौ

# वृत्रासुर राक्षस का आविर्भाव

इस अध्याय में बताया गया है कि स्वर्ग के राजा इन्द्र ने विश्वरूप का वध कर दिया, अत: विश्वरूप के पिता ने इन्द्र को मारने के लिए एक यज्ञ किया। जब उस यज्ञ से वृत्रासुर उत्पन्न हुआ तो देवता डर के मारे श्रीभगवान् की शरण में गये और उनका यशोगान करने लगे।

चूँकि विश्वरूप ने चुपके से स्नेहवश, असुरों को यज्ञ की हवि प्रदान की थी, अत: जब इन्द्र को यह पता लगा तो उसने विश्वरूप का सिर काट लिया। बाद में इन्द्र को विश्वरूप को मारने का पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि विश्वरूप ब्राह्मण था। इन्द्र चाहता तो ब्रह्महत्या के पापपूर्ण कृत्य को

निष्प्रभावी बना सकता था, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उलटे उसने हत्या का पाप स्वीकार कर लया। बाद में उसने पाप को स्थल, जल, वृक्ष तथा स्त्रियों में बाँट दिया। चूँकि पृथ्वी ने पाप का चतुर्थांश स्वीकार किया, इसलिए पृथ्वी का एक भाग मरुस्थल बन गया। वृक्षों ने भी उतना ही पाप स्वीकार किया, इसलिए उनसे रस चूसता है, जिसे पीना मना है। स्त्रियों ने पाप का चतुर्थांश ग्रहण किया था, इसलिए वे मासिक धर्म के समय अस्पृश्य होती हैं। चूँकि जल ने भी पाप स्वीकार किये थे, अतः बुलबुले उठने वाला जल किसी काम में नहीं लाया जा सकता है।

विश्वरूप के वध के पश्चात् उसके पिता त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए यज्ञ किया। दुर्भाग्यवश यदि मंत्रों का अनियमित उच्चारण हो तो वे विपरीत फल देते हैं। त्वष्टा के यज्ञ में ऐसा ही हुआ। जब वह इन्द्र के वध के लिए यज्ञ कर रहा था, तो उसने इन्द्र के शत्रुओं की वृद्धि के लिए एक मंत्र पढ़ा, किन्तु मंत्र के सही-सही न पढ़े जाने से इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर नामक असुर उत्पन्न हो गया। उसके भयानक रूप से सारा संसार भयभीत हो उठा। उसके निजी तेज के समक्ष देवताओं की शक्ति भी घट गई। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर सभी देवता यज्ञ-फल के भोक्ता, समग्र ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा में जुट गये। सभी देवता उनकी पूजा इसलिए करने लगे, क्योंकि वे ही भय तथा संकट से जीवों की रक्षा कर सकते हैं। श्रीभगवान् की पूजा को छोड़कर किसी अन्य देवता की शरण ग्रहण करना मानो कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना है। कुत्ता तैर सकता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार किया जा सकता है।

देवताओं से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् ने उन्हें सलाह दी कि वे दधीचि के पास जाकर उनकी अस्थियाँ माँगें। वे देवताओं की प्रार्थना मान लेंगे और उनकी अस्थियों के द्वारा वृत्रासुर मारा जा सकेगा।

**श्रीशुक उवाच**

**तस्यासन्विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत ।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥ १ ॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्य—उसका; आसन्—थे; विश्वरूपस्य—देवताओं के पुरोहित विश्वरूप को; शिरांसि—शिर; त्रीणि—तीन; भारत—हे महाराज परीक्षित; सोम-पीथम्—सोम पान के लिए; सुरा-पीथम्—मदिरा पान के लिए; अन्न-अदम्—खाने के लिए; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—परम्परा प्रणाली से मैंने सुन रखा है।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—देवताओं के पुरोहित विश्वरूप के तीन सिर थे। इनमें से एक से वह सोमपान करता था, तो दूसरे से मदिरा पान और तीसरे से भोजन ग्रहण करता था। हे राजा परीक्षित! ऐसा मैंने विद्वानों से सुना है।**

**तात्पर्य :** कोई मनुष्य स्वर्ग के राज्य, इसके राजा तथा अन्य वासियों को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता है और न उनके अन्य कार्य-कलापों को ही देख सकता है, क्योंकि वह स्वर्गलोक नहीं जा सकता। यद्यपि आधुनिक विज्ञानियों ने अनेक अन्तरिक्षयानों का आविष्कार कर लिया है, किन्तु वे अभी चन्द्रमा तक भी नहीं पहुँच पाये, अन्य लोकों की बात तो कोसों दूर है। कोई मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव से मानव-अनुभूति से अधिक नहीं सीख सकता। उसे विद्वानों से सुनना चाहिए। इसीलिए महात्मा शुकदेव गोस्वामी कहते हैं, ''हे राजन्! मैं तुमको वही सुना रहा हूँ जो कुछ मैंने प्रामाणिक सूत्रों से सुना है।'' यह वैदिक पद्धति है। वैदिक ज्ञान को श्रुति कहा जाता है, क्योंकि यह प्रामाणिक सूत्रों से सुनकर ग्रहण किया जाता है। यह हमारे झूठे प्रयोगात्मक ज्ञान के दायरे से परे है।

**स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः ।
अददद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥ २ ॥**

शब्दार्थ

सः—वह (विश्वरूप); वै—निस्सन्देह; बर्हिषि—यज्ञ की अग्नि में; देवेभ्यः—विशिष्ट देवताओं के लिए; भागम्—उचित हिस्सा; प्रत्यक्षम्—आँखों के सामने; उच्चकैः—मंत्रों के तेज उच्चारण से; अददत्—दिया गया; यस्य—जिसके; पितरः—पितृगण; देवाः—देवता; स-प्रश्रयम्—विनीत स्वर से; नृप—हे राजा परीक्षित।

**हे महाराज परीक्षित! देवतागण विश्वरूप के पितापक्ष से सम्बन्धित थे, अतः विश्वरूप**

सबों के समक्ष अग्नि में घी की आहुति इन मंत्रों का उच्चारण करके दे रहा था—"इन्द्राय इदं स्वाहा" ("यह राजा इन्द्र के लिए है") तथा "इदम् अग्नये" (यह अग्नि देव के लिए है)। वह मंत्र का उच्चारण उच्च स्वर से कर रहा था और प्रत्येक देवता को उसका उचित भाग प्रदान करता जा रहा था।

**स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान्प्रति ।**
**यजमानोऽवहद्भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥ ३ ॥**

### शब्दार्थ

सः—वह (विश्वरूप); एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; ददौ—प्रदान किया; भागम्—हिस्सा; परोक्षम्—देवताओं से छिपाकर; असुरान्—असुरगण; प्रति—को; यजमानः—यज्ञ करते हुए; अवहत्—प्रदान किया; भागम्—हिस्सा; मातृ-स्नेह—अपनी माता के स्नेह वश; वश-अनुगः—बाध्य होकर।

**वह यद्यपि देवताओं के नाम से यज्ञ की अग्नि में घी आहुति डाल रहा था, किन्तु देवताओं के बिना जताये वह असुरों के नाम की भी आहुति डालता जाता था, क्योंकि वे उसकी माता के पक्ष के सम्बंधी थे।**

**तात्पर्य :** विश्वरूप का सम्बन्ध देवताओं तथा असुरों दोनों पक्षों से था, इसलिए वह दोनों वंशों की ओर से परमेश्वर को प्रसन्न कर रहा था। किन्तु जब वह असुरों की ओर से अग्नि में आहुति डालता तो देवताओं को बिना जताये चुपके से ऐसा करता था।

**तद्देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः ।**
**आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुषा ॥ ४॥**

### शब्दार्थ

तत्—वह; देव-हेलनम्—देवताओं के प्रति अपराध; तस्य—उस (विश्वरूप) का; धर्म-अलीकम्—धर्म के नाम पर धोखा; सुर-ईश्वरः—देवताओं का राजा; आलक्ष्य—देखकर; तरसा—शीघ्र; भीतः—डरा हुआ (कि विश्वरूप के आशीर्वाद से असुर शक्ति प्राप्त कर लेंगे); तत्—उसका (विश्वरूप का); शीर्षाणि—सिर; अच्छिनत्—काट दिया; रुषा—क्रोध से।

**किन्तु एक बार स्वर्ग के राजा इन्द्र को पता चल गया कि विश्वरूप देवताओं को धोखा देकर असुरों की आहुतियाँ दे रहा है। अतः वह असुरों द्वारा पराजित किये जाने से अत्यधिक**

भयभीत हो उठा और अतीव क्रोध में उसने विश्वरूप के तीनों सिरों को उसके कंधों से अलग कर दिया।

सोमपीथं तु यत्तस्य शिर आसीत्कपिञ्जलः ।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत्स तित्तिरिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सोम-पीथम्—सोमरस पीने वाले; तु—लेकिन; यत्—जो; तस्य—उस ( विश्वरूप ) का; शिरः—सिर; आसीत्—हो गया; कपिञ्जलः—पपीहा; कलविङ्कः—गौरैया; सुरा-पीथम्—मदिरा पीने वाला; अन्न-अदम्—भोजन करने वाला; यत्—जो; सः—वह; तित्तिरिः—तीतर।

तत्पश्चात् सोमरस पीनेवाला सिर पपीहे में, सुरापान करने वाला सिर गौरैया में और भोजन करने वाला सिर तीतर में बदल गया।

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-हत्याम्—ब्राह्मण को मारने से लगने वाला पाप; अञ्जलिना—हाथ जोड़कर; जग्राह—स्वीकार कर लिया; यत् अपि—यद्यपि; ईश्वरः—अत्यन्त शक्तिमान; संवत्सर-अन्ते—एक वर्ष बाद; तत् अघम्—वह पाप; भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों का; सः—वह; विशुद्धये—शुद्धि के लिए; भूमि—पृथ्वी के लिए; अम्बु—जल; द्रुम—वृक्ष; योषिद्भ्यः—तथा स्त्रियों के लिए; चतुर्धा—चार भागों में; व्यभजत्—बाँट दिया; हरिः—राजा इन्द्र ने।

इन्द्र इतना शक्तिशाली था कि यदि चाहता तो ब्रह्महत्या के पापफल को निरस्त कर सकता था, किन्तु उसने हाथ जोड़ कर पछताते हुए पाप-भार को स्वीकार कर लिया। उसने एक वर्ष तक यातना भोगी और तब अपनी शुद्धि के लिए हत्या के पाप को पृथ्वी, जल, वृक्ष तथा स्त्रियों में बाँट दिया।

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै ।
ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

भूमिः—पृथ्वी; तुरीयम्—चतुर्थांश; जग्राह—स्वीकार कर लिया; खात-पूर—गड्ढों को भरने का; वरेण—आशीर्वाद के कारण; वै—निस्सन्देह; ईरिणम्—मरुस्थल; ब्रह्म-हत्यायाः—ब्राह्मण की हत्या से लगे पाप का; रूपम्—रूप; भूमौ—पृथ्वी पर; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।

**पृथ्वी ने, राजा इन्द्र से बदले में यह वरदान लेकर कि जहाँ कहीं भी गड्ढे होंगे वे समय पर अपने आप भर जायेंगे, ब्रह्महत्या के पापों का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। उन पापों के कारण ही हमें पृथ्वी पर अनेक मरुस्थल दिखाई पड़ते हैं।**

**तात्पर्य :** चूँकि रेगिस्तान पृथ्वी की रूग्ण स्थिति के कारण प्रकट होता है, अतः कोई भी अनुष्ठान रेगिस्तान में नहीं सम्पन्न किया जा सकता। जिनके भाग्य में रेगिस्तान में रहना बदा है, उनके बारे में यह समझना चाहिए कि ब्रह्महत्या के पापफल के कारण वे वहाँ रह रहे हैं।

**तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः ।**
**तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते ॥ ८ ॥**

### शब्दार्थ

तुर्यम्—चतुर्थांश; छेद—काटे जाने पर; विरोहेण—फिर से बढ़ने का; वरेण—आशीर्वाद से; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; द्रुमाः—वृक्षों ने; तेषाम्—उनका; निर्यास-रूपेण—वृक्षों से निकलने वाले द्रव ( गोंद ) से; ब्रह्म-हत्या—ब्राह्मण को मारने का पाप; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।

**वृक्षों ने, इन्द्र से बदले में यह वरदान लिया कि काटे जाने पर भी उनकी शाखाएँ फिर से उग आयेंगी, ब्रह्महत्या के पापफल का चतुर्थांश ले लिया। ये पापफल वृक्षों से निकलने वाले रस के रूप में दिखाई पड़ते हैं ( इसलिए इस रस को पीना वर्जित है )।**

**शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः ।**
**रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते ॥ ९ ॥**

### शब्दार्थ

शश्वत्—निरन्तर; काम—कामेच्छा के; वरेण—वर से; अंहः—ब्रह्महत्या पाप; तुरीयम्—चुतर्थांश; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; स्त्रियः—स्त्रियाँ; रजः-रूपेण—रजोकाल के रूप में; तासु—उनमें; अंहः—पाप बन्धन; मासि मासि—प्रत्येक महीने; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।

**स्त्रियों ने, इन्द्र से बदले में यह वरदान प्राप्त करके कि वे अपनी काम-वासनाओं को, जब तक वे भ्रूण के लिए हानिकर न हों, गर्भकाल में भी निरन्तर पूरी कर सकेंगी, पापफलों**

**का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप स्त्रियों में प्रत्येक मास रजोदर्शन होता है।**

**तात्पर्य :** स्त्रियों की जाति अत्यन्त कामी होती है और निरंतर बनी रहनेवाली उनकी कामवसाना कभी पूरी नहीं होती। जब इन्द्र ने यह वर दिया कि उनकी कामनाओं का कभी अन्त न हो तो स्त्रियों ने ब्रह्महत्या से लगने वाले पापफलों का चतुर्थांश अंगीकार कर लिया।

**द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम् ।**
**तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन् ॥ १० ॥**

### शब्दार्थ

द्रव्य—अन्य वस्तुएँ; भूयः—बढ़ने को; वरेण—वरण से; आपः—जल; तुरीयम्—चतुर्थांश; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; मलम्—पाप; तासु—जल में; बुद्बुद-फेनाभ्याम्—बुलबुलों तथा फेन से; दृष्टम्—दृश्य; तत्—वह; हरति—भरता है; क्षिपन्—फेंककर, हटाकर।

**जल ने इन्द्र से बदले में यह वर प्राप्त करके कि किसी अन्य वस्तु में जल मिलाने से उसका आयतन बढ़ जायेगा, पापफलों का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। इसीलिए जल में बुलबुले तथा फेन उठते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें हटाकर के ही जल भरे।**

**तात्पर्य :** जब दूध, फल के रस या अन्य ऐसे किसी पदार्थ के साथ जल मिलाया जाता है, तो आयतन बढ़ जाता है और लोग यह नहीं समझ पाते कि उनमें से किसकी वृद्धि हुई। इस आशीर्वाद के बदले में जल ने इन्द्र के पापों का चतुर्थांश अंगीकार कर लिया। ये पापकर्म फेन तथा बुलबुलों में दिखाई पड़ते हैं। अत: पीने के लिए जल भरते समय बुलबुले तथा फेन से बचना चाहिए।

**हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे ।**
**इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम् ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

हत-पुत्रः—जिसका पुत्र मर चुका है; ततः—तत्पश्चात्; त्वष्टा—त्वष्टा ने; जुहाव—यज्ञ किया; इन्द्राय—इन्द्र के लिए; शत्रवे—एक शत्रु उत्पन्न करने के लिए; इन्द्र-शत्रो—हे इन्द्र के शत्रु; विवर्धस्व—बढ़ो; मा—मत; चिरम्—दीर्घकाल के बाद; जहि—मारो; विद्विषम्—अपना शत्रु।

**विश्वरूप के वध के पश्चात् उसके पिता त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए अनुष्ठान किये।**

**उसने अग्नि में यह उच्चारण करके आहुति डाली, ''हे इन्द्र के शत्रु! तुम्हारी अभिवृद्धि हो, तुम अविलम्ब अपने शत्रु का वध करो।''**

**तात्पर्य :** त्वष्टा के द्वारा उच्चरित मंत्र में कुछ त्रुटि रह गई थी, क्योंकि उसने ह्रस्व के बजाय दीर्घ स्वर में उच्चारण किया जिससे मंत्र का अर्थ बदल गया था। त्वष्टा *इन्द्र शत्रो* शब्द का उच्चारण करना चाहता था जिसका अर्थ है ''हे इन्द्र के शत्रु।'' इस मंत्र में इन्द्र सम्बन्ध कारक (षष्ठी) में आया है और *इन्द्रशत्रो* में तत्पुरुष समास कहलाता है। दुर्भाग्यवश त्वष्टा ने इस मंत्र का थोड़े समय के बजाय देर तक उच्चारण किया जिससे उसका अर्थ ''इन्द्र के शत्रु'' से बदलकर, ''इन्द्र, जो शत्रु है'' हो गया। फलस्वरूप इन्द्र का शत्रु न प्रकट होकर वृत्रासुर का शरीर प्रकट हुआ, जिसका शत्रु इन्द्र था।

**अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।**
**कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥ १२॥**

### शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; अन्वाहार्य-पचनात्—अन्वाहार्य नामक अग्नि से; उत्थितः—निकला; घोर-दर्शनः—अत्यन्त भयानक लगने वाला; कृतान्तः—साक्षात् प्रलय; इव—सदृश; लोकानाम्—समस्त लोकों का; युग-अन्त—कल्पान्त; समये—समय पर; यथा—जिस प्रकार।

**तत्पश्चात् अन्वाहार्य नामक यज्ञ अग्नि के दक्षिणी कोने से एक भयावना व्यक्ति प्रकट हुआ जो युगान्त में समग्र ब्रह्माण्ड का विनाश करने वाले के समान प्रतीत हो रहा था।**

**विष्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने ।**
**दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम् ॥ १३॥**
**तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥ १४॥**
**देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी ।**
**नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम् ॥ १५॥**
**दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम् ।**
**लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम् ॥ १६॥**

महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः ।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश ॥ १७॥

शब्दार्थ

विष्वक्—चारों ओर; विवर्धमानम्—बढ़ता हुआ; तम्—उसको; इषु-मात्रम्—बाण की उड़ान; दिने दिने—प्रतिदिन; दग्ध—जला हुआ; शैल—पर्वत; प्रतीकाशम्—सदृश; सन्ध्या—शाम को; अभ्र-अनीक—बादलों के समूह की तरह; वर्चसम्—तेजमय; तप्त—पिघला हुआ; ताम्र—ताँबे के समान; शिखा—बाल; श्मश्रुम्—मूछें तथा दाढ़ी; मध्याह्न—दोपहर; अर्क—सूर्य के समान; उग्र-लोचनम्—प्रचण्ड नेत्र वाला; देदीप्यमाने—प्रकाशमान; त्रि-शिखे—तीन नोंक वाले; शूले—अपने भाले में; आरोप्य—रखकर; रोदसी—पृथ्वी तथा स्वर्ग; नृत्यन्तम्—नाचते हुए; उन्नदन्तम्—उच्चस्वर करते हुए; च—तथा; चालयन्तम्—चलते हुए; पदा—अपने पाँव से; महीम्—पृथ्वी को; दरी-गम्भीर—गुफा के समान गहरी; वक्त्रेण—मुख से; पिबता—पीता हुआ; च—भी; नभस्तलम्—आकाश को; लिहता—चाटते हुए; जिह्वया—जीभ से; ऋक्षाणि—तारों को; ग्रसता—निगल कर; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों को; महता—महान्; रौद्र-दंष्ट्रेण—भयानक दाँतों से; जृम्भमाणम्—जम्हाई लेते हुए; मुहुः मुहुः—पुनः पुनः; वित्रस्ताः—भयानक; दुद्रुवुः—दौड़ा; लोकाः—लोग; वीक्ष्य—देखकर; सर्वे—समस्त; दिशः दश—दशों दिशाओं में।

उस असुर का शरीर चारों दिशाओं में छोड़े हुए बाण के समान प्रतिदिन बढ़ने लगा। वह लम्बा और काला था, मानो कोई जला हुआ पर्वत हो। वह संध्याकालीन बादलों के समूह की भाँति दीप्ति से युक्त था। असुर के शरीर के बाल तथा उसकी दाढ़ी-मूछें पिघले ताँबे के रंग की थीं। उसके नेत्र मध्यान्हकालीन सूर्य की भाँति भेदने वाले थे। वह दुर्जय था और ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो अपने प्रज्ज्वलित त्रिशूल पर तीनों लोकों को धारण किये हो। उच्चस्वर करके उसके नाचने और गाने से सारी पृथ्वी हिल उठी मानो भूकम्प आया हो। वह पुनः पुनः जम्हाई ले रहा था, मानो कन्दरा के समान अपने विशाल मुख में वह सारे आकाश को निगल जाना चाहत हो। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वह आकाश के सभी तारों को अपनी जीभ से चाट रहा हो और अपने लम्बे पैने दाँतों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को खाने जा रहा हो। उस विराट असुर को देखकर सभी व्यक्ति डर के मारे इधर-उधर चारों दिशाओं में भागने लगे।

येनावृता इमे लोकास्तपसा त्वाष्ट्रमूर्तिना ।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥ १८॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; आवृताः—प्रच्छन्न; इमे—ये सब; लोकाः—लोक; तपसा—तपस्या से; त्वाष्ट्र-मूर्तिना—त्वष्टा के पुत्र के रूप में; सः—वह; वै—निस्सन्देह; वृत्रः—वृत्र; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहलाया; पापः—साक्षात् पाप; परम-दारुणः—अत्यन्त भयानक।

**उस अत्यन्त भयानक असुर ने, जो वास्तव में त्वष्टा का ही पुत्र था, अपने तप बल से सभी लोकों को आच्छादित कर लिया था। इसलिए वह वृत्र अर्थात् प्रत्येक वस्तु को आच्छादित करने वाला कहलाया।**

**तात्पर्य :** वेदों में कहा गया है—*स इमाँल्लोकान आवृणोत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्*—चूँकि असुर ने समस्त लोकों को आच्छादित कर लिया था इसलिए उसका नाम वृत्रासुर पड़ा।

**तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः ।**
**स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

तम्—उसको; निजघ्नुः—टूट पड़े; अभिद्रुत्य—दौड़कर; स-गणाः—सैनिकों सहित; विबुध-ऋषभाः—सभी बड़े-बड़े देवता; स्वैः स्वैः—अपने-अपने; दिव्य—दिव्य; अस्त्र—धनुष-बाण; शस्त्र-ओघैः—विभिन्न प्रकार के आयुध से युक्त; सः—वह ( वृत्र ); अग्रसत्—निगल गया; तानि—उन ( आयुधों ) को; कृत्स्नशः—एकसाथ।

**इन्द्र इत्यादि सभी देवता अपने सैनिकों सहित उस असुर पर टूट पड़े। वे अपने दिव्य धनुष-बाणों तथा अन्य हथियारों से उसे मारने लगे, किन्तु वृत्रासुर उनके सभी हथियार निगलता गया।**

**ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।**
**प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—वे ( देवता ); विस्मिताः—आश्चर्यचकित; सर्वे—सभी; विषण्णाः—अत्यन्त दुखी; ग्रस्त-तेजसः—अपनी शक्ति खोकर; प्रत्यञ्चम्—परमात्मा को; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष की; उपतस्थुः—प्रार्थना की; समाहिताः—सभी एकत्र होकर।

**उस असुर की शक्ति देखकर सभी देवता अत्यन्त आश्चर्यचकित तथा निराश हो गये और उनकी सारी शक्ति जाती रही। अतः वे सभी परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण की पूजा करके उन्हें प्रसन्न करने के निमित्त एकत्र हुए।**

श्रीदेवा ऊचुः
**वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका**
**ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।**
**हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ**
**बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥ २१ ॥**

## शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; वायु—वायु; अम्बर—आकाश; अग्नि—अग्नि; अप्—जल; क्षितयः—तथा पृथ्वी से निर्मित; त्रि-लोकाः—तीनों लोक; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; ये—जो; वयम्—हम सब; उद्विजन्तः—अत्यन्त उद्विग्न; हराम—प्रदान करते हैं; यस्मै—जिसको; बलिम्—भेंट; अन्तकः—संहर्ता, मृत्यु; असौ—वह; बिभेति—डरता है; यस्मात्—जिससे; अरणम्—शरण; ततः—इसलिए; नः—हमारा।

**देवताओं ने कहा—तीनों लोकों की सृष्टि पंचतत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर—से हुई हैं, जिनको ब्रह्मा आदि विभिन्न देवता अपने वश में रखते हैं। हम काल से अत्यन्त भयभीत है कि वह हमारे अस्तित्त्व का अन्त कर देगा, इसलिए वह जैसा चाहता है हम वैसा कार्य करके उसको अपनी भेंट चढ़ाते हैं। किन्तु काल श्रीभगवान् से स्वयं डरता है। अतः हम उसी एकमात्र परमेश्वर की आराधना करें जो हमारी पूरी तरह से रक्षा कर सकता है।**

**तात्पर्य :** जब किसी को मारे जाने का भय हो तो उसे श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ब्रह्मा से लेकर सभी देवता उनकी आराधना करते हैं, यद्यपि वे इस भौतिक जगत के विभिन्न तत्त्वों के स्वामी हैं। *बिभेति यस्मात्* शब्द बताते हैं कि सभी असुर, चाहे वे कितने महान् तथा शक्तिशाली क्यों न हों, श्रीभगवान् से भयभीत रहते हैं। देवतागण मृत्यु से डरकर भगवान् की शरण में गये और उनसे यह प्रार्थना की यद्यपि काल सबों के लिए भयकारी है, किन्तु काल स्वयं श्रीभगवान् से डरता है, क्योंकि भगवान् को अभय कहते हैं। श्रीभगवान् की शरण में जाने से वास्तविक निर्भीकता आती है, इसलिए सभी देवताओं ने भगवान् की शरण में जाने का निश्चय किया।

**अविस्मितं तं परिपूर्णकामं**
**स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।**
**विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः**
**श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥ २२ ॥**

### शब्दार्थ

अविस्मितम्—जो कभी विस्मित नहीं होता; तम्—उस (ईश्वर) को; परिपूर्ण-कामम्—परम संतुष्ट; स्वेन—अपने आप से; एव—निस्सन्देह; लाभेन—लाभ; समम्—सम-दृष्टि; प्रशान्तम्—अत्यन्त स्थिर; विना—बिना; उपसर्पति—पास जाता है; अपरम्—अन्य; हि—निस्सन्देह; बालिशः—मूढ़; श्व—कुत्ते की; लाङ्गुलेन—पूँछ से; अतितितर्ति—पार करना चाहता है; सिन्धुम्—समुद्र को।

**भगवान् समस्त सांसारिक कल्पना से रहित और सदैव विस्मयविहीन हैं, वे सदैव प्रसन्नचित्त एवं अपनी स्वरूप-सिद्धि से परम संतुष्ट रहने वाले हैं। उनकी कोई सांसारिक उपाधि नहीं होती, अतः वे स्थिर एवं विरक्त रहते हैं। वही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के एकमात्र आश्रय हैं। अतः जो मनुष्य किसी अन्य से अपनी रक्षा की कामना करता है, वह अवश्य ही बड़ा मूर्ख है और कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना चाहता है।**

**तात्पर्य :** कुत्ता पानी में तैरना जानता है, किन्तु यदि कुत्ता समुद्र में गोता लगाता हो और कोई उसकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करना चाहे तो वह निपट मूर्ख है। न तो कुत्ता समुद्र पार कर सकता है और न कोई मनुष्य ही उस कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र पार कर सकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अज्ञान के समुद्र को पार करना चाहता है, उसे न तो किसी देवता की, न किसी अन्य की शरण ग्रहण करनी चाहिए। उसे तो एकमात्र श्रीभगवान् की शरण में जाना चाहिए। अतः *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.५८) का कथन है—

*समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।*
*भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥*

भगवान् के चरणकमल अविनश्वर नाव के तुल्य हैं और यदि कोई इस नाव का सहारा लेता है, तो वह अज्ञान-सागर को सरलता से पार कर लेता है। अतः पद-पद में संकटों से ग्रस्त इस भौतिक जगत में रहकर भक्त के लिए कोई भय नहीं रह जाता। मनुष्य को चाहिए कि अपने

बनावटी विचारों के बजाय परम शक्तिमान की शरण खोजे।

**यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं**
**मनुर्यथाबध्य ततार दुर्गम् ।**
**स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद्दुरन्तात्**
**त्राताश्रितान्वारिचरोऽपि नूनम् ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

यस्य—जिसके; उरु—अत्यधिक बलवान् तथा ऊँचे; शृङ्गे—सींग पर; जगतीम्—संसार के रूप में; स्व-नावम्—अपनी नाव; मनुः—मनु, राजा सत्यव्रत; यथा—जिस प्रकार; आबध्य—बाँधकर; ततार—पार किया; दुर्गम्—दुर्लंघ्य; सः—वह (श्रीभगवान्); एव—निश्चय ही; नः—हमको; त्वाष्ट्र-भयात्—त्वष्टा के पुत्र के भय से; दुरन्तात्—अन्तहीन; त्राता—रक्षक; आश्रितान्—(हम जैसे) आश्रितों को; वारि-चरः अपि—यद्यपि मछली का रूप धारण करके; नूनम्—निस्सन्देह।

**पहले राजा सत्यव्रत नामक मनु ने मत्स्य अवतार के सींग में समग्र ब्रह्माण्ड रूपी छोटी नौका को बाँधकर आत्मरक्षा की थी। उनकी कृपा से मनु ने बाढ़ के महान् संकट से अपने को बचाया था। वे ही मत्स्यावतार त्वष्टा के पुत्र से उत्पन्न इस गम्भीर संकट से हमारी रक्षा करें।**

**पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-**
**स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले ।**
**एकोऽरविन्दात्पतितस्ततार**
**तस्माद्भयाद्येन स नोऽस्तु पारः ॥ २४ ॥**

### शब्दार्थ

पुरा—पहले (सृष्टि के समय); स्वयम्भूः—ब्रह्माजी; अपि—भी; संयम-अम्भसि—बाढ़ के जल में; उदीर्ण—अत्युच्च; वात—वायु के; ऊर्मि—तथा लहरों के; रवैः—शोर से; कराले—अत्यन्त भयावना; एकः—अकेले; अरविन्दात्—कमल आसन से; पतितः—गिरा हुआ; ततार—बच गये; तस्मात्—उस; भयात्—भयानक स्थिति से; येन—जिसके (ईश्वर) द्वारा; सः—वह; नः—हम सबका; अस्तु—हो; पारः—मोक्ष, उद्धार।

**सृष्टि के प्रारम्भ में प्रचण्ड वायु से बाढ़ के जल में भयानक लहरें उठने लगीं। इनसे ऐसा भयावना शोर हुआ कि ब्रह्माजी अपने कमल-आसन से प्रलय जल में प्रायः गिर ही पड़े, किन्तु भगवान् की सहायता से वे बच गये। उसी प्रकार हम भी भगवान् से इस भयावह स्थिति से अपनी रक्षा की आशा करते हैं।**

**य एक ईशो निजमायया नः**
**ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम् ।**
**वयं न यस्यापि पुरः समीहतः**
**पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥ २५ ॥**

### शब्दार्थ

यः—वह जो; एकः—एक; ईशः—नियन्ता; निज-मायया—अपनी दिव्य शक्ति से; नः—हमको; ससर्ज—उत्पन्न किया; येन—जिसके द्वारा ( जिनकी कृपा से ); अनुसृजाम—हम भी सृष्टि करते हैं; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; वयम्—हम; न—नहीं; यस्य—जिसका; अपि—यद्यपि; पुरः—हमारे समक्ष; समीहतः—कार्य करने वाले को; पश्याम—देखते; लिङ्गम्—रूप; पृथक्—भिन्न; ईश—नियन्ता रूप में; मानिनः—अपने बारे में सोचते हुए।

**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जिन्होंने अपनी बहिरंगा शक्ति से हमारी सृष्टि की और जिनकी कृपा से हम इस विश्व की सृष्टि का विस्तार करते हैं, वे निरन्तर हमारे समक्ष परमात्मा रूप में विद्यमान हैं, किन्तु हम उनके रूप को नहीं देख पाते। हम इसीलिए देखने में असमर्थ हैं, क्योंकि हम सभी अपने आपको पृथक् तथा स्वतंत्र ईश्वर के रूप में मानते हैं।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर यह बताया गया है कि बद्धजीव श्रीभगवान् का साक्षात् दर्शन क्यों नहीं कर पाता। यद्यपि भगवान् हमारे समक्ष भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् रामचन्द्र के रूप में प्रकट होते हैं और मानव-समाज में नायक या राजा के रूप में रहते भी हैं, किन्तु बद्धजीव उन्हें नहीं समझ पाता। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—मूढ़ लोग श्रीभगवान् को सामान्य पुरुष मानकर उनका उपहास करते हैं। अत्यन्त तुच्छ होकर भी हम अपने आपको ईश्वर मान बैठते हैं और सोचते हैं कि हम भी विश्व की रचना कर सकते हैं अथवा दूसरा ईश्वर उत्पन्न कर सकते हैं। यही कारण है कि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को न तो देख सकते हैं और न समझ सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है—

*लिङ्गमेव पश्यामःकदाचिदभिमानस्तु देवानामपि सन्निव।*

*प्रायः कालेषु नास्त्येव तारतम्येन सोऽपि तु॥*

हम सभी विभिन्न कोटियों से बद्ध हुए होते हैं, किन्तु हम अपने को ईश्वर समझते हैं।

इसीलिए हम न तो समझ पाते हैं कि ईश्वर कौन है, न ही उनका आमने-सामने दर्शन कर पाते हैं।

योो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्
देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव ।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
कृत्वात्मसात्पाति युगे युगे च ॥ २६ ॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥ २७ ॥

### शब्दार्थ

यः—जो; नः—हमको; सपत्नैः—हमारे शत्रुओं, असुरों से; भृशम्—प्रायः; अर्द्यमानान्—पीड़ित; देव—देवताओं के बीच; ऋषि—साधु पुरुष; तिर्यक्—पशु; नृषु—तथा मनुष्य; नित्यः—सदैव; एव—अवश्य; कृत-अवतारः—अवतार रुप में प्रकट होते हैं; तनुभिः—विभिन्न रुपों में; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; कृत्वा आत्मसात्—अपने को उनका अत्यन्त प्रिय मानकर; पाति—रक्षा करता है; युगे युगे—प्रत्येक कल्प ( युग ) में; च—तथा; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; देवम्—परमेश्वर; वयम्—हम सभी; आत्म-दैवतम्—समस्त जीवात्माओं के स्वामी; परम्—दिव्य; प्रधानम्—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति के मूल कारण; पुरुषम्—परम भोक्ता; विश्वम्—जिसकी शक्ति से यह ब्रह्माण्ड बना; अन्यम्—पृथक् स्थित; व्रजाम—हम चलें; सर्वे—सभी; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण के उपयुक्त; स्वानाम्—अपने भक्तों को; सः—वह; नः—हमको; धास्यति—प्रदान करेगा; शम्—कल्याण; महात्मा—परमात्मा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी अचिन्त्य अन्तरंगा शक्ति से अनेक दिव्य शरीरों में विस्तार करते हैं, यथा देवताओं की शक्ति के अवतार वामनदेव, ऋषियों के अवतार परशुराम, पशुओं के अवतार नरसिंह देव एवं वराह और जलचरों के अवतार मत्स्य तथा कूर्म। वे सभी प्रकार की जीवात्माओं के बीच विभिन्न दिव्य देह धारण करते हैं और मनुष्यों के बीच विशेष रूप से भगवान् कृष्ण तथा राम के रुप में प्रकट होते हैं। अपनी अहैतुकी कृपा से वे असुरों द्वारा सदा सताये गये देवताओं की रक्षा करते हैं। वे समस्त जीवात्माओं के पूज्य श्रीविग्रह हैं। वे परम कारण हैं और स्त्री तथा पुरुष की सृजन शक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि वे इस ब्रह्माण्ड से पृथक् हैं, वे विराट रूप में विद्यमान रहते हैं। अतः अपनीइस भयभीत अवस्था में हमें चाहिए कि उनकी शरण ग्रहण करें क्योंकि हमें विश्वास है कि परमात्मा हमें अपना संरक्षण प्रदान करेंगे।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में श्रीभगवान् विष्णु को सृष्टि का आदि कारण माना गया है। श्रीधर स्वामी ने अपने भाष्य *भावार्थ दीपिका* में इसका उत्तर दिया है कि प्रकृति तथा पुरुष इस दृश्य जगत के कारण हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्*—''वे परम कारण हैं और स्त्री तथा पुरुष की सृजनात्मक शक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड से पृथक् रहकर अपने विराट रूप में विद्यमान हैं।'' यहाँ पर प्रकृति शब्द से परमेश्वर की भौतिक शक्ति तथा पुरुष शब्द से भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति अर्थात् जीव सूचित होती है। जैसा कि *भगवद्गीता* में उल्लेख है (*प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्*) अन्ततः प्रकृति तथा पुरुष परमेश्वर में प्रवेश करते हैं।

यद्यपि ऊपर से प्रकृति तथा पुरुष ही भौतिक जगत के कारण प्रतीत होते हैं, किन्तु ये दोनों परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रकाश पुञ्ज हैं। अतः परमेश्वर इन दोनों के कारण हैं। वे ही आदि कारण (*सर्वकारणकारणम्*) हैं। *नारदीय पुराण* का कथन है—

*अविकारोऽपि परमः प्रकृतिस्तु विकारिणी।*

*अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते॥*

प्रकृति तथा पुरुष दोनों भगवान् से उद्भूत निम्न तथा श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं। जैसा *भगवद्गीता* में कहा गया है (*गाम् आविश्य*) भगवान् प्रकृति में प्रवेश करते हैं तभी प्रकृति विभिन्न जगतों की सृष्टि करती है। प्रकृति स्वतंत्र नहीं है, न ही उनकी शक्तियों के परे। भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव ही सभी वस्तुओं के मूल कारण हैं। इसलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा है—

*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।*

*इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥*

''मैं प्राकृत जगत और वैकुण्ठ, दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न होता है; इस प्रकार बुद्धिमान भक्तजन जो इस तत्त्व को भली भाँति समझते हैं श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से मेरा निरन्तर भजन करते हैं।'' भगवान् ने *श्रीमद्भागवत* (२.९.३३) में भी कहा है—*अहमेवासमेवाग्रे* ''सृष्टि के पूर्व मैं ही उपस्थित था।'' *ब्रह्माण्ड पुराण* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई

है—

*स्मृतिरव्यवधानेन प्रकृतित्वमिति स्थितिः।*

*उभयात्मकसूतित्वाद्वासुदेवः परः पुमान्।*

*प्रकृतिः पुरुषश्चेति शब्दैरेकोऽभिधीयते॥*

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिए भगवान् परोक्ष में पुरुष और प्रत्यक्ष रूप में प्रकृति की भूमिका निभाते हैं। चूँकि दोनों ही शक्तियाँ सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव से ही उद्भूत हैं इसलिए वे प्रकृति तथा पुरुष दोनों कहलाते हैं। यही कारण है कि वासुदेव प्रत्येक वस्तु के कारण हैं (*सर्वकारणकारणम्*)।

**श्रीशुक उवाच**

**इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम् ।**
**प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २८॥**

**शब्दार्थ**

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; तेषाम्—उनका; महाराज—हे राजन्; सुराणाम्—देवताओं का; उपतिष्ठताम्—प्रार्थना करते हुए; प्रतीच्याम्—अन्तःकरण में; दिशि—दिशा में; अभूत्—हो गया; आविः—दृष्टिगोचर; शङ्ख-चक्र-गदा-धरः—दिव्यायुध.

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! जब समस्त देवताओं ने उनकी प्रार्थना की तो श्रीभगवान् हरि शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए पहले उनके अन्तःकरण में और तब उनके सम्मुख प्रकट हुए।**

**आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ ।**
**पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥ २९॥**
**दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः ।**
**दण्डवत्पतिता राजञ्छनैरुत्थाय तुष्टुवुः ॥ ३०॥**

**शब्दार्थ**

आत्म-तुल्यैः—अपने समान; षोडशभिः—सोलहों (पार्षदों) से; विना—रहित; श्रीवत्स-कौस्तुभौ—श्रीवत्स चिह्न तथा कौस्तुभ-मणिः; पर्युपासितम्—सभी दिशाओं से सेवित; उन्निद्र—उनींदा; शरत्—शरद् ऋतु का; अम्बुरुह—कमल के समान; ईक्षणम्—नेत्र युक्त; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उस (परमेश्वर, नारायण) को; अवनौ—भूमि पर; सर्वे—वे सभी;

ईक्षण—देखने से; आह्लाद—प्रसन्नतापूर्वक; विक्लवाः—विकल होकर; दण्ड-वत्—डण्डे के समान; पतिताः—गिर पड़े; राजन्—हे राजा; शनैः—धीरे-धीरे; उत्थाय—उठ कर; तुष्टुवुः—प्रार्थना की।

**श्रीभगवान् को घेरे हुए उनके सोलह पार्षद उनकी सेवा कर रहे थे। वे आभूषणों से अलंकृत थे और भगवान् के ही समान लग रहे थे, किन्तु श्रीवत्स चिन्ह तथा कौस्तुभमणि से रहित थे। हे राजन्! जब देवताओं ने उस मुद्रा में शरत्कालीन कमल की पंखड़ियों के समान नेत्रों वाले स्मित हास से युक्त श्रीभगवान् को देखा तो वे प्रसन्नता से अभिभूत हो गये और उन्होंने तुरन्त पृथ्वी पर गिर कर दण्डवत् प्रणाम किया। फिर वे धीरे-धीरे उठे और अपनी स्तुतियों द्वारा उन्होंने भगवान् को प्रसन्न किया।**

**तात्पर्य :** वैकुण्ठलोक में श्रीभगवान् चार भुजाओं से युक्त तथा वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न एवं कौस्तुभमणि धारण करते हैं। ये पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विशिष्ट चिह्न हैं। वैकुण्ठलोक में उनके पार्षद तथा भक्तों के भी उन्हीं के समान स्वरूप होते हैं। उनके केवल श्रीवत्स तथा कौस्तुभमणि नहीं होते।

श्रीदेवा ऊचुः
**नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः ।**
**नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥ ३१ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नमः—नमस्कार; ते—आपको; यज्ञ-वीर्याय—यज्ञों के फलदाता श्रीभगवान् को; वयसे—काल, जो यज्ञों के फलों का अन्त करने वाला है; उत—यद्यपि; ते—आपको; नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार; ते—आपको; हि—निस्सन्देह; अस्त-चक्राय—जो अपना चक्र चलाता है; नमः—नमस्कार; सुपुरु-हूतये—अनेक प्रकार के दिव्य नामों से युक्त।

**देवताओं ने कहा—हे भगवन्! आप यज्ञ फल को देने में समर्थ हैं। आप ही वह काल हैं, जो इन फलों को कालान्तर में नष्ट कर देता है। आप असुरों को मारने के लिए चक्र को चलाते हैं। हे अनेक नामधारण करनेवाले भगवान्! हम लोग आपको सादर नमस्कार करते हैं।**

**यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् ।**
**नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥ ३२ ॥**

**शब्दार्थ**

यत्—जो; ते—तुम्हारी; गतीनाम् तिसृणाम्—तीन प्रकार के गन्तव्य ( स्वर्ग लोक, मर्त्य लोक तथा नरक ); ईशितुः—नियामक; परमम् पदम्—परम धाम, वैकुण्ठलोक; न—नहीं; अर्वाचीनः—बाद में आने वाला पुरुष; विसर्गस्य—सृष्टि; धातः—हे परम नियामक; वेदितुम्—जानने हेतु; अर्हति—सक्षम है।

**हे परम नियामक! आप तीनों गन्तव्यों [ स्वर्ग लोक में पहुँचना, मनुष्य के रूप में जन्म तथा नरक में यातना ] को वश में रखने वाले हैं, फिर भी आपका परम धाम वैकुण्ठलोक है। चूँकि आपके द्वारा इस दृश्य जगत की उत्पत्ति के बाद हम प्रकट हुए हैं, अतः हम आपके कार्यकलापों को समझने में असमर्थ हैं। अतः हमारे पास आपको अर्पित करने के लिए नमस्कार करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।**

**तात्पर्य :** अनुभवहीन व्यक्ति सामान्यतया यह नहीं जानता कि वह श्रीभगवान् से क्या माँगे। प्रत्येक मनुष्य इस भौतिक सृष्टि के अन्तर्गत है, इसलिए ईश्वर से प्रार्थना करते समय कौन-सा वर माँगा जाये कोई नहीं जानता। बहुत से लोग स्वर्गलोक पहुँचने के लिए प्रार्थना करते हैं क्योंकि वे वैकुण्ठलोक के विषय में कुछ जानते ही नहीं। श्रील मध्वाचार्य ने निम्न श्लोक उद्धृक्त किया है—

*देव लोकात् पितृलोकात् निरयाच्चापि यत्परम्।*
*तिसृभ्यः परमं स्थानं वैष्णवं विदुषां गतिः॥*

कई प्रकार के लोकमण्डल हैं यथा देवलोक, पितृलोक तथा निरय (नरक)। जब मनुष्य विभिन्न लोकों को पार करके वैकुण्ठलोक पहुँचता है, तो उसे वैष्णवों का परम आवास प्राप्त होता है। वैष्णवों को अन्य लोकों से कोई वास्ता नहीं है।

**ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः**

।परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्धाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार; ते—आपको; अस्तु—हो; भगवन्—हे भगवन्; नारायण—समस्त जीवात्माओं के वास, नारायण; वासुदेव—भगवान् वासुदेव, श्रीकृष्ण; आदि-पुरुष—आदि पुरुष; महा-पुरुष—महा पुरुष; महा-अनुभाव—परम ऐश्वर्यवान्; परम-मङ्गल—परम शुभ; परम-कल्याण—परम आशीर्वाद; परम-कारुणिक—परम करुणामय (दयालु); केवल—परिवर्तनरहित; जगत्-आधार—दृश्य जगत के अवलम्बन्; लोक-एक-नाथ—समस्त लोकों के एकमात्र स्वामी; सर्व-ईश्वर—परम नियामक; लक्ष्मी-नाथ—भाग्य की देवी के पति; परमहंस-परिव्राजकैः—समस्त संसार में भ्रमण करने वाले सर्वोच्च संन्यासी के द्वारा; परमेण—अत्यन्त; आत्म-योग-समाधिना—भक्तियोग में मग्न; परिभावित—अत्यन्त शुद्ध; परिस्फुट—तथा पूर्ण प्रकट; पारमहंस्य-धर्मेण—भक्ति की दिव्य विधि को सम्पन्न करके; उद्धाटित—खोला हुआ; तमः—अज्ञान का; कपाट—जिसमें किवाड़; द्वारे—द्वार पर स्थित; चित्ते—मन में; अपावृते—कल्मषहीन; आत्म-लोके—आत्म जगत में; स्वयम्—अपने आप; उपलब्ध—अनुभव करके; निज—स्वयं के, अपने; सुख-अनुभवः—सुख का अनुभव; भवान्—आप।

**हे भगवन्, हे नारायण, हे वासुदेव, हे आदि पुरुष, परम अनुभव, साक्षात् मंगल! हे परम वरदान स्वरूप अत्यन्त कृपालु तथा अपरिवर्तनीय! हे दृश्य जगत के आधार, हे समस्त लोकों तथा प्रत्येक पदार्थ के स्वामी तथा लक्ष्मी देवी के पति! आपका साक्षात्कार श्रेष्ठ संन्यासी ही कर पाते हैं, जो भक्तियोग में पूर्णतया समाधिमग्न होकर सारे विश्व में कृष्णभावनामृत का उपदेश देते हैं। वे अपने ध्यान को आप में ही केन्द्रीभूत रखते हैं, अतः अपने शुद्ध अन्तःकरण में आपके स्वरूप को ग्रहण करते हैं। जब उनके हृदयों का अंधकार पूर्णतया हट जाता है और आपका साक्षात्कार होता है तब उन्हें आपके दिव्य स्वरूप का दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्तियों के सिवाय और कोई आप का अनुभव नहीं कर पाता, अतः हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।**

**तात्पर्य :** विभिन्न कोटि के साक्षात्कार के अनुसार भक्तों तथा दिव्यज्ञानियों ने श्रीभगवान् को अपने-अपने अनेक दिव्य नाम प्रदान किये हैं। जब निराकार रूप में उनका अनुभव किया जाता है, तो वे परब्रह्म कहलाते हैं, जब परमात्मा के रूप में अनुभव किया जाता है, तो *अन्तर्यामी* कहलाते हैं और जब वे भौतिक सृष्टि के लिए विविध रूपों में विस्तार करते हैं, तो क्षीरोदकशायी विष्णु गर्भोदकशायी विष्णु तथा कारणोदकशायी विष्णु कहलाते हैं। जब उन्हें चतुर्व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—के रूप में, जो विष्णु के उक्त तीन रूपों से परे हैं, अनुभव किया

जाता है, तो वे वैकुण्ठ-नारायण कहलाते हैं। नारायण के अनुभव से ऊपर बलदेव का अनुभव है और उसके ऊपर कृष्ण का अनुभव है। ये सभी साक्षात्कार तभी सम्भव हैं जब कोई पूरी तरह से भक्ति में लगा रहे। तभी हृदय के बन्द कपाट खुलते हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विविध रूपों को समझा जा सकता है।

## दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन ।सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि. ॥ ३४॥

### शब्दार्थ

दुरवबोधः—दुर्बोध; इव—अत्यन्त; तव—आपका; अयम्—यह; विहार-योगः—सृष्टि, पालन तथा संहार की लीलाओं में व्यस्तता; यत्—जो; अशरणः—किसी अन्य पर आश्रित न होना; अशरीरः—शरीररहित; इदम्—यह; अनवेक्षित—बिना प्रतीक्षा किये; अस्मत्—हम सबसे; समवायः—सहयोग; आत्मना—आपके द्वारा; एव—निस्सन्देह; अविक्रियमाणेन—बिना परिवर्तित हुए; स-गुणम्—प्रकृति के तीन गुण; अगुणः—ऐसे भौतिक गुणों से दिव्य; सृजसि—आप सृष्टि करते हैं; पासि—पालन करते हैं; हरसि—संहार करते हैं।

**हे भगवन्! आपको किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं है। भौतिक शरीर से रहित होने पर भी आपको हमारे सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। चूँकि आप इस दृश्य जगत के कारण हैं और अपरिवर्तित रूप में ही इसके भौतिक अवयवों की पूर्ति करते हैं, अतः आप स्वतः इसकी सृष्टि, पालन तथा संहार करते हैं। तो भी भौतिक कार्यों में व्यस्त प्रतीत होते हुए भी आप समस्त भौतिक गुणों से परे हैं। अतः आपके दिव्य कार्य कलापों को समझ पाना कठिन है।**

**तात्पर्य :** *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में कहा गया है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—भगवान् श्रीकृष्ण गोलोक वृन्दावन में सदैव निवास करते हैं। यह भी कहा गया है—*वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति*—श्रीकृष्ण वृन्दावन से एक पग भी दूर नहीं जाते। इतने पर भी, यद्यपि श्रीकृष्ण अपने धाम गोलोक वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु साथ ही वे सर्वव्यापी होने से सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। बद्धजीव के लिए यह समझ पाना कठिन है किन्तु भक्त समझ सकते हैं कि श्रीकृष्ण किस प्रकार एकसाथ अपने धाम में रहते हुए सर्वव्यापी हैं। देवता भगवान् के शरीर के

विभिन्न अंगस्वरूप समझे जाते हैं, अत: परमेश्वर के देहरहित होते हुए भी उन्हें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे सर्वत्र व्याप्त रहते हैं ( *मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*)। फिर भी वे अपने आध्यात्मिक रूप में सर्वत्र उपस्थित नहीं रहते। मायावादी दर्शन के अनुसार सर्वव्यापी होने के कारण परमेश्वर को किसी दिव्य रूप की आवश्यकता नहीं पड़ती। मायावादी यह मानते हैं कि ईश्वर का स्वरूप सर्वत्र फैला हुआ है, अत: उनका कोई रूप नहीं होता। यह असत्य है। भगवान् का दिव्य रूप होता है और उसी के साथ वे इस भौतिक सृष्टि के कोने-कोने में फैले हुए हैं।

**अथ तत्र भवान्किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं ।फलमुपाददात्याहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः. ॥ ३५ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—अत:; तत्र—उसमें; भवान्—आप; किम्—क्या; देव-दत्त-वत्—अपने कर्मफल से अधीन सामान्य मनुष्य की भाँति; इह—इस भौतिक जगत में; गुण-विसर्ग-पतितः—भौतिक प्रकृति के गुणों से बाध्य होकर भौतिक शरीर में गिरकर; पारतन्त्र्येण—काल, स्थान, कर्म तथा प्रकृति के आश्रित होने से; स्व-कृत—अपने से किया गया; कुशल—शुभ; अकुशलम्—अशुभ; फलम्—कर्मफल; उपाददाति—स्वीकार करता है; आहोस्वित्—अथवा; आत्मारामः—पूर्णतया आत्म-तृष्ट; उपशम-शीलः—आत्मसंयमी; समञ्जस-दर्शनः—पूर्ण आध्यात्मिक शक्तियों से विहीन न होकर; उदास्ते—साक्षी रूप में उदासीन रहता है; इति—इस प्रकार; ह वाव—निश्चय ही; न विदामः—हम समझ नहीं पाते।.

**ये ही हमारी जिज्ञासाएँ हैं। सामान्य बद्धजीव भौतिक नियमों के अधीन है और उसे अपने कर्मों का फल मिलता है। क्या आप भौतिक गुणों से उत्पन्न शरीर में सामान्य मनुष्यों की भाँति इस संसार में उपस्थित रहते हैं? क्या आप काल, पूर्व कर्म आदि के वशीभूत होकर अच्छे या बुरे कर्मों को भोगते हैं? अथवा, इसके विपरीत क्या आप ऐसे उदासीन साक्षी के रूप में यहाँ उपस्थित हैं, जो आत्मनिर्भर, समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित तथा आध्यात्मिक शक्ति से सदैव परिपूर्ण रहता है? हम निश्चित रूप से आपकी वास्तविक स्थिति को नहीं समझ सकते।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे दो प्रकार के उद्देश्यों के लिए इस संसार में

अवतरित होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का विनाश करने। परम सत्य के लिए ये दोनों कार्य एक-से हैं। जब वे असुरों को दंड देने के लिए आते हैं, तो वे उन पर अनुग्रह करते हैं और इसी प्रकार जब वे अपने भक्तों का उद्धार करते हैं, तो उन पर भी अनुग्रह करते हैं। इस प्रकार वे बद्धजीवों पर समान भाव से अनुग्रह करते हैं। जब बद्धजीव अन्य किसी की रक्षा करता है, तो उसका कार्य पवित्र माना जाता है और जब वह दूसरों को कष्ट देता है, तो उसका कार्य अपवित्र होता है; किन्तु ईश्वर न तो पवित्र हैं और न अपवित्र। वे सदैव अपनी आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण रहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा वे दंडनीय तथा रक्षणीय दोनों पर समान अनुग्रह करते हैं। वे *अपापविद्धम्* हैं। वे कभी भी पापकर्मों के फल से दूषित नहीं होते। जब श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे तो उन्होंने अनेक वैरी अभक्तों का वध किया, किन्तु उन सबों को सारूप्य प्राप्त हुआ अर्थात् वे अपने पूर्व दिव्य शरीर को प्राप्त कर सके। जो भगवान् की स्थिति से परिचित नहीं है, वह कहता है कि भगवान् उस पर अकृपालु हैं, किन्तु दूसरों पर दयालु हैं। वास्तव में भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२९) में कहा है—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—''मैं सबों के लिए समान हूँ। न कोई मेरा शत्रु है, न मित्र।'' किन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं—*ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्*—''यदि कोई मेरा भक्त हो जाता है और पूरी तरह मेरी शरण में आ जाता है, तो मैं उसका विशेष ध्यान रखता हूँ।''

**न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिमितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रय दुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरत ।समस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात्. ॥ ३६ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; विरोधः—विरोध; उभयम्—दोनों; भगवति—भगवान् में; अपरिमित—असीम; गुण-गणे—जिसके दिव्य गुण; ईश्वरे—परम नियन्ता में; अनवगाह्य—से युक्त; माहात्म्ये—अथाह शक्ति तथा महिमा; अर्वाचीन—आधुनिक; विकल्प—विकल्प; वितर्क—विरोधी तर्क; विचार—विचार; प्रमाण-आभास—अपूर्ण प्रमाण; कुतर्क—बेकार के तर्क; शास्त्र—अवैध धर्मग्रंथों के द्वारा; कलिल—विक्षुब्ध; अन्तःकरण—मन; आश्रय—जिसकी शरण; दुरवग्रह—दुराग्रहों से; वादिनाम्—सिद्धान्तवादियों का; विवाद—झगड़ों का; अनवसरे—सीमा से बाहर; उपरत—

हटाकर; समस्त—जिनसे सब; माया-मये—माया; केवले—अकेला, अद्वितीय; एव—निस्सन्देह; आत्म-मायाम्—माया, जो सब कुछ बना-बिगाड़ सकती है; अन्तर्धाय—बीच में रखकर; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; अर्थः—अर्थ; दुर्घटः—असम्भव; इव—मानो; भवति—है; स्व-रूप—प्रकृतियाँ; द्वय—दो के; अभावात्—कमी से।

**हे भगवन्! सभी विरोधों का आप में तिरोधान होता है। हे ईश्वर! चूँकि आप परम पुरुष, अनन्त दिव्य गुणों के आगार, परम नियन्ता हैं, अतः आपकी असीम महिमा बद्धजीवों की कल्पना के परे है। अनेक सिद्धान्तवादी बिना जाने कि वास्तव में सच क्या है, सत्य तथा मिथ्या के विषय में तर्क करते हैं। उनके तर्क झूठे होते हैं और फैसले अनिर्णीत, क्योंकि उनके पास आपको जानने का कोई वैध प्रमाण नहीं है। चूँकि उनके मन धर्म ग्रंथों के झूठे निष्कर्षों से विक्षुब्ध रहते हैं, अतः वे यह नहीं समझ पाते कि सत्य क्या है। यही नहीं, सही-सही निष्कर्ष प्राप्त करते समय उनकी उत्कण्ठा दूषित रहती है, जिससे उनके सिद्धान्त आपका वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि आप उनकी भौतिक बुद्धि से परे हैं। आप अद्वितीय हैं, अतः आप में करणीय तथा अकरणीय, सुख तथा दुख जैसे विरोध नहीं हैं। आपकी उस शक्ति के द्वारा आपके लिए क्या असम्भव है? आपकी स्वाभाविक स्थिति द्वैत से रहित है, अतः आप अपनी शक्ति के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं।**

**तात्पर्य :** आत्मनिर्भर होने के कारण श्रीभगवान् दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत (आत्माराम) हैं। वे दो प्रकार से आनन्द उठाते हैं—जब वे प्रसन्न होते हैं और जब वे दुखी होते हैं। उनमें भेद तथा विरोध कर पाना कठिन है क्योंकि इनका उदय उन्हीं से होता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य तथा प्रभाव के आगार हैं। उनकी शक्तियों का वारपार नहीं है। वे समस्त दिव्य गुणों की खान हैं। इस संसार का कोई भी दुष्कृत्य उनमें रह नहीं सकता। वे दिव्य तथा चिन्मय हैं, अतः उन पर भौतिक सुख तथा दुख की अवधारणाएँ लागू नहीं होतीं।

यदि श्रीभगवान् में विरोधी बातें मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वास्तव में उनमें कोई विरोध नहीं है। उनके सर्वोपरि होने का यही अर्थ है। सर्वशक्तिमान होने के कारण उनका अस्तित्व होने या अस्तित्व न होने के विषय में बद्धजीवों के तर्क लागू नहीं होते। वे अपने भक्तों

की रक्षा के लिए उनके शत्रुओं का प्रसन्नतापूर्वक वध करते हैं। उन्हें संहार तथा पालन दोनों में प्रसन्नता होती है।

ऐसी अद्वैतता न केवल भगवान् पर वरन् उनके भक्तों पर भी लागू होती है। वृन्दावन में व्रजभूमि की बालाएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के साहचर्य का दिव्य आनन्द प्राप्त करती हैं और जब कृष्ण तथा बलराम वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं, तो उनके वियोग में भी वे वैसे ही दिव्य आनन्द का अनुभव करती हैं। भौतिक कष्ट या आनन्द का श्रीभगवान् अथवा उनके शुद्ध भक्तों के लिए कोई प्रश्न ही नहीं उठता, यद्यपि कभी-कभी ऊपर से यह कहा जाता है कि वे कष्ट में हैं या प्रसन्न हैं। जो *आत्माराम* है, वह दोनों स्थितियों में आनन्दमग्न रहता है।

जो अभक्त हैं, वे श्रीभगवान् के अथवा उनके भक्तों के इन विरोधों को नहीं समझ सकते। अत: *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं— *भक्त्या मामभिजानाति*—भक्ति से ही दिव्य लीलाएँ समझी जा सकती हैं; अभक्तों के लिए वे कल्पनीय हैं। *अचिन्त्या: खलु: ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्*—अभक्तों के लिए परमेश्वर तथा उनका रूप, नाम, लीलाएँ तथा साज सामग्री सभी अकल्पनीय हैं। मनुष्य को चाहिए कि तर्क के द्वारा वे ऐसे सत्यों को समझने का प्रयास न ही करें। तर्क से परम सत्य भगवान् के विषय में सही निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा।

**समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्. ॥ ३७॥**

**शब्दार्थ**

**सम**—समान या उचित; **विषम**—तथा असमान या अनुचित; **मतीनाम्**—बुद्धिमानों का; **मतम्**—निष्कर्ष; **अनुसरसि**—पालन करते हो; **यथा**—जिस प्रकार; **रज्जु-खण्डः**—रस्सी का टुकड़ा; **सर्प-आदि**—साँप इत्यादि.; **धियाम्**—देखने वालों का।.

**मोहग्रस्त पुरुष रस्सी को सर्प मान बैठता है, अत: उसे रस्सी भय उत्पन्न करती है, किन्तु समुचित बुद्धि वाले मनुष्य में रस्सी ऐसा नहीं कर पाती क्योंकि वह इसे केवल रस्सी ही जानता है। इसी प्रकार सबों के हृदयों में उनकी बुद्धि के ही अनुसार परमात्मा-स्वरूप आप भय या निर्भीकता का भाव उत्पन्न करने वाले हैं, किन्तु आप स्वयं अद्वैत हैं।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—"जो जिस भाव से मेरी शरण में आता है मैं उसी के अनुसार उसे फल देता हूँ।" श्रीभगवान् समस्त ज्ञान, सत्य तथा समस्त विरोधों के आगार हैं। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त सार्थक है। रस्सी का होना एक सत्य है, किन्तु कुछ लोग भ्रम से इसे सर्प मानते हैं, तो दूसरे लोग इसे रस्सी ही समझते हैं। इसी प्रकार से भक्त जो लोग श्रीभगवान् को जानते हैं उनमें विरोधों को नहीं देखते, किन्तु जो अभक्त हैं, वे उन्हें सर्प की भाँति समस्त प्रकार के भय का स्रोत मानते हैं। उदाहरणार्थ, जब नृसिंहदेव प्रकट हुए तो प्रह्लाद महाराज ने उन्हें परमशान्ति के रूप में देखा जबकि उनके असुर पिता ने अपनी परम मृत्यु के रूप में। जैसा श्रीमद्भागवत (११.२.३) में कहा गया है: भयं द्वितीयामिति वे शतः स्थात् जब मुनष्य में द्वैत भाव रहता है तभी वह भय तथा आनन्द दोनों को जानता है। वही भगवान् भक्तों के लिए आनन्द का स्रोत है और ज्ञानविहीन अभक्तों के लिए भय का। ईश्वर एक है, किन्तु लोग उसे विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं। अज्ञानी उसमें विरोध पाते हैं, किन्तु शान्त भक्तों को कोई विरोध नहीं दिखता।

**स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः**
**सर्व प्रत्यगात्मत्वात्सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः. ॥ ३८ ॥**

**शब्दार्थ**

सः—वे (श्रीभगवान्); एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; पुनः—फिर; सर्व-वस्तुनि—भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी वस्तुओं में; वस्तु-स्वरूपः—वस्तु; सर्व-ईश्वरः—सभी वस्तुओं के नियन्ता; सकल-जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में; कारण—कारणों का; कारण-भूतः—कारण बनकर; सर्व-प्रत्यक्-आत्मत्वात्—प्रत्येक वस्तु का परमात्मा होने अथवा प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि परमाणु में भी उपस्थित होने के कारण; सर्व-गुण—प्रकृति के सभी गुणों के प्रभावों का (यथा बुद्धि तथा इन्द्रियाँ); आभास—प्रकाश से; उपलक्षितः—देखा गया; एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; पर्यवशेषितः—शेष छूटा हुआ।.

**विचार-विमर्श से यह देखा जा सकता है कि परमात्मा यद्यपि विभिन्न प्रकार से प्रकट होते हैं, किन्तु प्रत्येक वस्तु के मूल तत्त्व वे ही हैं। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति इस संसार का कारण है, किन्तु यह शक्ति उन्हीं से उद्भूत है, अतः वे ही समस्त कारणों के कारण हैं और बुद्धि तथा इन्द्रियों के प्रकाशक हैं। वे प्रत्येक वस्तु में परमात्मा रूप में देखे जाते हैं। उनके**

**बिना प्रत्येक वस्तु मृत हो जायेगी। परमात्मा रूप में आप परम नियन्ता ही एकमात्र शेष बचे हैं।**

**तात्पर्य :** *सर्ववस्तूनि वस्तुस्वरूप:* शब्दों से सूचित होता है कि परमेश्वर प्रत्येक वस्तु के मूल सिद्धान्त हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है कि—

*एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं*

*यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्त:।*

*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥*

''मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने अंशों के रूप में ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रवेश करते हैं और समस्त भौतिक सृष्टि में अपनी अनन्त शक्ति को प्रकट करते हैं।'' भगवान् परमात्मा रूप अपने एक ही अंश *अन्तर्यामी* द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डों में व्याप्त हैं। वे *प्रत्यक्* अर्थात् अन्तर्यामी हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में भगवान् कहते हैं—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—''हे भरतवंशी! तुम जानो कि मैं सभी देहों को जानने वाला(क्षेत्रज्ञ) भी हूँ।'' चूँकि भगवान् परमात्मा हैं, अत: वे प्रत्येक जीव के, यहाँ तक कि परमाणु के भी, मूल तत्त्व हैं (*अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्*)। वे ही असली सत्य हैं। बुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं से मनुष्य प्रत्येक वस्तु में परमेश्वर की उपस्थिति को उनकी शक्ति के प्राकट्य से जान पाता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन गुणों से व्याप्त है और मनुष्य अपने भौतिक प्रकृति के गुण के अनुसार ही उनके अस्तित्व को समझ सकता है।

**अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासा: परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूत ।प्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनस: कथमु ह वा एते मधुमथन पुन: स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृद: साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्त:. ॥ ३९ ॥**

## शब्दार्थ

अथ ह—अतः; वाव—निस्सन्देह; तव—तुम्हारी; महिम—महिमा का; अमृत—अमृत का; रस—रस का; समुद्र—समुद्र की; विप्रुषा—एक बूँद से; सकृत्—केवल एक बार; अवलीढया—चखा जाकर; स्व-मनसि—अपने मन में; निष्यन्दमान—प्रवाहित; अनवरत—निरन्तर; सुखेन—दिव्य आनन्द से; विस्मारित—विस्मृत; दृष्ट—भौतिक दृष्टि से; श्रुत—तथा ध्वनि; विषय-सुख—भौतिक सुख का; लेश-आभासाः—झलक मात्र; परम-भागवताः—महान् भक्तगण; एकान्तिनः—एकनिष्ठ श्रद्धा रखने वाले; भगवति—श्रीभगवान् में; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं को; प्रिय—अत्यन्त प्रिय; सुहृदि—मित्र; सर्व-आत्मनि—सबों का परमात्मा; नितराम्—पूर्णतः; निरन्तरम्—सतत; निर्वृत—सुख से; मनसः—जिनके मन; कथम्—किस प्रकार; उ ह—तब; वा—अथवा; एते—ये; मधु-मथन—हे मधु नामक असुर के मारने वाले; पुनः—फिर; स्व-अर्थ-कुशलाः—जो स्वार्थ में कुशल हैं; हि—निस्सन्देह; आत्म-प्रिय-सुहृदः—जिन्होंने आपको परमात्मा, परमप्रिय तथा मित्र रूप में अंगीकार किया है; साधवः—भक्तगण; त्वत्-चरण-अम्बुज-अनुसेवाम्—आपके चरणारविन्द की सेवा; विसृजन्ति—छोड़ सकते हैं; न—नहीं; यत्र—जिसमें; पुनः—फिर; अयम्—यह; संसार-पर्यावर्तः—इस संसार में जन्म-मरण का चक्कर।

**अतः हे मधुसूदन! जिन्होंने आपकी महिमा के समुद्र की एक भी अमृतमयी बूँद को चख लिया है, उनके मन में निरन्तर आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है। ऐसे महात्मा भक्त दृश्य तथा श्रवणेन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले तथाकथित भौतिक सुख की झलक को भूल जाते हैं। ऐसे भक्त समस्त इच्छाओं से मुक्त होकर सभी जीवात्माओं के वास्तविक मित्र होते हैं। वे अपने मन को आप में समर्पित करके दिव्य आनन्द उठाते हुए जीवन के असली उद्देश्य को प्राप्त करने में कुशल होते हैं। हे भगवन्! आप ऐसे भक्तों के, जिन्हें इस भौतिक जगत में कभी वापस नहीं आना पड़ता, प्रिय मित्र एवं आत्मा हैं। भला वे आपकी भक्ति को किस प्रकार त्याग सकते हैं?**

**तात्पर्य :** यद्यपि अभक्त लोग अपने अल्पज्ञान तथा तर्क-वितर्क की आदत के कारण भगवान् की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझ पाते, किन्तु एक भक्त, जिसने भगवान् के चरणारविन्द का अमृत एक बार भी पान किया है, जानता है कि भगवान् की भक्ति में कितना दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। वह जानता है कि भगवान् की सेवा करके वह सबकी सेवा कर लेता है। अतः भक्तगण समस्त जीवात्माओं के असली मित्र हैं। केवल शुद्ध भक्त ही समस्त बद्धजीवों के कल्याण हेतु भगवान् की महिमा का उपदेश दे सकता है।

त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि तेषामुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रित ।जलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन-आत्म-भवन—हे भगवान्, आप लोकों के आश्रय हैं क्योंकि आप तीनों लोकों के परमात्मा हैं; त्रि-विक्रम—हे वामनरूप धारी भगवान्, आपकी शक्ति तथा ऐश्वर्य तीनों लोकों में फैले हैं; त्रि-नयन—तीनों लोकों के पालक तथा दूत; त्रि-लोक-मनोहर-अनुभाव—हे तीन लोकों में परम सुन्दर दिखाई पड़ने वाले; तव—तुम्हारा; एव—निश्चय ही; विभूतयः—शक्ति के अंश; दिति-ज-दनु-ज-आदयः—दिति के असुर पुत्र तथा दानव, जो अन्य प्रकार के असुर हैं; च—तथा; अपि—( मनुष्य ) भी; तेषाम्—उन सबों में से; उपक्रम-समयः—उन्नति का अवसर; अयम्—यह; इति—इस प्रकार; स्व-आत्म-मायया—आपकी स्वयं की शक्ति से; सुर-नर-मृग-मिश्रित-जलचर-आकृतिभिः—विभिन्न रूपों से यथा देवता, मनुष्य, पशु, मिश्रित तथा जलचर ( वामन, भगवान् रामचन्द्र, कृष्ण, वराह, हयग्रीव, नृसिंह, मत्स्य तथा कूर्म अवतार ); यथा-अपराधम्—अपने अपने अपराधों के अनुसार; दण्डम्—दंड, सजा; दण्ड-धर—हे परम दण्डदाता; दधर्थ—आपने फल दिया; एवम्—इस प्रकार; एनम्—यह एक ( वृत्रासुर ); अपि—भी; भगवन्—हे भगवन्; जहि—मार डालिये; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र; उत—निस्सन्देह; यदि मन्यसे—यदि उचित समझते हैं, तो।.

**हे भगवन्, हे साक्षात् त्रिलोकी, तीनों लोकों के जनक! हे वामन अवतार के रूप में तीनों लोकों के पराक्रम! हे नृसिंहदेव के त्रि-नेत्र रूप, हे तीनों लोकों में परम सुन्दर पुरुष! प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक प्राणी जिसमें मनुष्य तथा दैत्य और दानव भी सम्मिलित हैं, आपके ही शक्ति के अंश हैं। हे परम शक्तिमान! जब-जब असुर शक्तिशाली हुए हैं तब-तब आप उन्हें दण्ड देने के लिए विभिन्न अवतारों के रूप में प्रकट हुए हैं। आप भगवान् वामनदेव, राम और कृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं। कभी आप पशु के रूप में प्रकट होते हैं यथा भगवान् वराह, तो कभी मिश्रित अवतार के रूप में यथा भगवान् नृसिंहदेव तथा भगवान् हयग्रीव और कभी जलचर रूप में यथा भगवान् मस्य तथा भगवान् कूर्म। आपने ऐसे अनेक रूप धारण करके सदैव असुरों तथा दानवों को दण्ड दिया है। अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप यदि आवश्यक समझें तो महा असुर वृत्रासुर को मारने के लिए आज किसी अन्य अवतार के रूप में प्रकट हों।**

**तात्पर्य :** भक्त की दो कोटियाँ हैं—*सकाम* तथा *अकाम*। विशुद्ध भक्त अकाम होते हैं, किन्तु स्वर्गलोक के भक्त, यथा देवतागण सकाम कहलाते हैं क्योंकि वे अब भी भौतिक ऐश्वर्य भोगना चाहते हैं। अपने पुण्यकर्मों के कारण सकाम भक्तों को स्वर्ग भेज दिया जाता है, किन्तु तब भी

उनके हृदय में भौतिक स्रोतों पर प्रभुत्व जमाने की कामना बनी रहती है। ये सकाम भक्त कभी-कभी असुरों तथा राक्षसों द्वारा उत्पीड़ित होते हैं, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि विविध अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् के अवतार इतने शक्तिशाली होते हैं कि भगवान् वामनदेव ने तो दो ही पगों में सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया था और तीसरा पग रखने के लिए उन्हें कहीं स्थान हीं नहीं मिला। भगवान् को त्रिविक्रम इसलिए कहा जाता हैं क्योंकि उन्होंने तीन पगों में ही सारे ब्रह्माण्ड को जीत कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था।

सकाम तथा अकाम भक्तों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि सकाम भक्त, यथा देवतागण, संकट में पड़ने पर उद्धार के लिए भगवान् की शरण में पहुँचते हैं, किन्तु अकाम भक्त बड़ी से बड़ी विपदा में पड़ने पर भी स्वार्थ के लिए भगवान् को कभी कष्ट नहीं देते। यदि अकाम भक्त को कष्ट होता है, तो वह समझता है कि ऐसा उसके पूर्व दुष्कृत्यों का फल है, अत: फलों का भोग करता है। वह अपने को भगवान् को कष्ट नहीं देता। सकाम भक्त संकट आने पर तुरन्त भगवान् की प्रार्थना करता है, किन्तु वह पवित्र माना जाता है क्योंकि वह अपने को भगवान् की कृपा पर पूर्णतया निर्भर मानता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो*

*भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।*

*हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते*

*जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥*

कठिनाइयों से ग्रस्त होने पर भी भक्त अधिक उत्साह से प्रार्थना करते हैं और सेवा करते हैं। इस प्रकार वे भक्ति में स्थिर हो जाते हैं और भगवान् के धाम लौटने के पात्र बन जाते हैं। निस्सन्देह सकाम भक्त अपनी प्रार्थनाओं से भगवान् से मनवांछित फल प्राप्त करते हैं, किन्तु वे भगवान् के पास तुरन्त वापस जाने के योग्य नहीं हो पाते। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् विष्णु अपने समस्त अवतारों में सदैव अपने भक्तों के रक्षक रहे हैं। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

*विविधं भावपात्रत्वात् सर्वे विष्णोर्विभूतय:*। श्रीकृष्ण ही आदि भगवान् हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। अन्य सभी भगवान् विष्णु के अवतार हैं।

**अस्माकं तावकानां ततत्त नतानां हरे तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन विगलित ।मधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम्. ॥ ४१ ॥**

### शब्दार्थ

अस्माकम्—हमारा; तावकानाम्—जो आप पर पूर्णतया आश्रित हैं, निज जन; तत-तत—हे पिता के पिता अर्थात् पितामह; नतानाम्—जिन्होंने पूर्णतया आपको आत्मसमर्पण कर दिया है; हरे—हे हरि; तव—तुम्हारे; चरण—पाँवों पर; नलिन-युगल—दो नील कमलों के समान; ध्यान—मनन से; अनुबद्ध—बँधे हुए; हृदय—हृदय में; निगडानाम्—जिसकी जंजीरें (बंधन); स्व-लिङ्ग-विवरणेन—अपना रूप प्रकट करके; आत्मसात्-कृतानाम्—जिन्होंने आपको अपना लिया है; अनुकम्पा—दयाभाव से; अनुरञ्जित—रंजित होकर; विशद—चमकीला; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; शिशिर—शीतल; स्मित—मंद हँसी से युक्त; अवलोकेन—अपनी चितवन से; विगलित—दयाभाव से पिघला हुआ; मधुर-मुख-रस—आपके मुख से अत्यन्त मीठे शब्द; अमृत-कलया—अमृत की बूँदों से; च—तथा; अन्तः—अन्तःकरण में; तापम्—अधिक जलन; अनघ—हे परम पवित्र; अर्हसि—आपको चाहिए; शमयितुम्—शान्त करना।

**हे परम रक्षक, हे पितामह, हे परम पवित्र, हे परमेश्वर! हम सभी आपके चरणकमलों पर समर्पित हैं। दरअसल, हमारे मन ध्यान में प्रेम-पाश द्वारा आपके चरणाविन्द से बँधे हुए हैं। अब आप अपना अवतार-रूप प्रकट कीजिये। हमें आप अपना शाश्वत दास तथा भक्त मानकर हम पर प्रसन्न हों और हमारे ऊपर दया करें। आप अपनी प्रेमपूर्ण चितवन, शीतल तथा दयापूर्ण मनमोहक हँसी तथा सुन्दर मुख से झरने वाले अमृत शब्दों से हम सबों की उस चिन्ता को दूर करें जो वृत्रासुर के कारण उत्पन्न हुई है और सदैव हमारे हृदयों को कष्ट देती है।**

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी को देवताओं का पिता कहा जाता है, किन्तु श्रीकृष्ण अथवा भगवान् विष्णु ब्रह्माजी के पिता हैं क्योंकि उनकी नाभि से निकले कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ।

**अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमायाविनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण**

आकाश ।शरीरस्य साक्षात्परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वार्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद्विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः. ॥ ४२ ॥

## शब्दार्थ

अथ—अतः; भगवन्—हे भगवन्; तव—तुम्हारा; अस्माभिः—हम सबों के द्वारा; अखिल—सम्पूर्ण; जगत्—भौतिक संसार की; उत्पत्ति—उत्पत्ति का; स्थिति—पालन; लय—तथा संहार; निमित्तायमान—कारण होने से; दिव्य-माया—आध्यात्मिक शक्ति से; विनोदस्य—आपका, जो स्वयं ही विनोद करने वाले हैं; सकल—समस्त; जीव-निकायानाम्—जीवात्माओं के समूहों का; अन्तः-हृदयेषु—हृदयों के भीतर; बहिः अपि—बाहर से भी; च—तथा; ब्रह्म—निर्गुण ब्रह्म अथवा परम सत्य; प्रत्यक्-आत्म—परमात्मा का; स्व-रूपेण—अपने रूपों के द्वारा; प्रधान-रूपेण—बाह्य अवयवों के रूप में अपने स्वरूप द्वारा; च—तथा; यथा—के अनुसार; देश-काल-देह-अवस्थान—देश, काल, शरीर तथा अवस्था का; विशेषम्—विशेष; तत्—उन सबका; उपादान—भौतिक कारणों का; उपलम्भकतया—प्रकाशक के रूप में; अनुभवतः—साक्षी बनकर; सर्व-प्रत्यय-साक्षिणः—विभिन्न कार्यों का साक्षी; आकाश-शरीरस्य—समस्त ब्रह्माण्ड का परमात्मा; साक्षात्—प्रकट रूप में; पर-ब्रह्मणः—परब्रह्म, परम सत्य; परमात्मनः—परमात्मा; कियान्—किस हद तक; इह—यहाँ; वा—अथवा; अर्थ-विशेषः—विशेष आवश्यकता; विज्ञापनीयः—सूचित करने योग्य; स्यात्—हो सकता है; विस्फुलिङ्ग-आदिभिः—अग्नि की चिनगारियों के द्वारा; इव—सदृश; हिरण्य-रेतसः—आदि अग्नि को।

**हे भगवान्! जिस प्रकार अग्नि की छोटी-छोटी चिनगारियाँ पूर्ण (आदि) अग्नि का कार्य करने में असमर्थ हैं, वैसे ही आपकी चिनगारी रूप हम सभी अपने जीवन की आवश्यकता बता पाने में अक्षम हैं। आप पूर्ण ब्रह्म हैं, अतः हमें आपको बताने की क्या आवश्यकता? आप सब कुछ जानने वाले हैं क्योंकि आप दृश्य जगत के आदि कारण, इसके पालक तथा सम्पूर्ण सृष्टि के संहर्ता हैं। आप अपनी दिव्य तथा भौतिक शक्तियों से लीलाएँ करते रहते हैं क्योंकि आप ही इन समस्त शक्तियों के नियामक हैं। आप इन विभिन्न शक्तियों के नियामक हैं। आप सभी जीवों के भीतर दृश्य सृष्टि में और उस से परे भी रहते हैं। आप अन्तःकरणों में परब्रह्म के रुप में और बाह्यतः भौतिक सृष्टि के अवयवों के रूप में स्थित हैं। अतः यद्यपि आप विभिन्न अवस्थाओं, विभिन्न कालों तथा स्थानों और विभिन्न देहों में प्रकट होते रहते हैं, तो भी हे भगवन्! आप ही समस्त कारणों के आदि कारण हैं। वास्तव में आप ही मूल तत्त्व हैं। आप समस्त गतिविधियों के साक्षी हैं, किन्तु आकाश के समान महान् होने के कारण किसी के द्वारा स्पृश्य नहीं हैं। आप परब्रह्म तथा परमात्मा के रूप में प्रत्येक वस्तु के साक्षी हैं। हे भगवान्! आपसे कुछ भी छिपा नहीं है।**

**तात्पर्य :** परम सत्य आध्यात्मिक ज्ञान की तीन अवस्थाओं में स्थित हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा

श्रीभगवान् (*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते*)। भगवान् अर्थात्; पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही ब्रह्म तथा परमात्मा का कारण है। ब्रह्म अर्थात् निराकार परम सत्य सर्वव्यापक है और परमात्मा स्थानीय रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है, किन्तु भगवान् जो भक्तों के द्वारा आराध्य है, समस्त कारणों का मूल कारण है। शुद्ध भक्त जानता है कि कुछ भी ऐसा नहीं जो श्रीभगवान् को ज्ञात न हो, अत: भक्त की सुविधाओं-असुविधाओं के लिए उनसे निवेदन करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए जब देवताओं ने परमेश्वर से वृत्रासुर के आक्रमणों से होने वाले कष्टों का निवेदन किया, तो उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए की गई प्रार्थना के लिए क्षमा-याचना की। निस्सन्देह नवदीक्षित भक्त दुख या निर्धनता से छुटकारा पाने अथवा ज्ञान-प्राप्ति के लिए ईश्वर के पास जाता है। *भगवद्गीता* (७.१६) में ऐसे चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन है, जो ईश्वर की भक्ति करना प्रारम्भ करते हैं—आर्त (दुखी), अर्थार्थी(धन चाहने वाला), जिज्ञासु(जिज्ञासा रखने वाला) तथा ज्ञानी (जो परम सत्य की खोज करता है)। किन्तु शुद्ध भक्त जानता है कि ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञाता हैं, अत: किसी व्यक्तिगत लाभ के लिए उनकी पूजा या प्रार्थना करना व्यर्थ है। शुद्ध भक्त किसी आकांक्षा के बिना भगवान् की सेवा करता है। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है और अपने भक्तों की आवश्यकताओं को जानता है फलत: भौतिक लाभों के लिए याचना करके उन्हें कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है।

**अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां**
**विविधवृजिन ।संसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः. ॥ ४३ ॥**

### शब्दार्थ

अत एव—अतः; स्वयम्—अपने आप; तत्—वह; उपकल्पय—कृपया प्रबन्ध करें; अस्माकम्—हमारा; भगवतः—श्रीभगवान् का; परम-गुरोः—सबसे बड़ा गुरु; तव—तुम्हारा; चरण—पाँवों का; शत-पलाशत्—एक सौ पंखड़ियों वाले कमल पुष्प की भाँति; छायाम्—छाया; विविध—अनेक; वृजिन—घातक स्थितियों से; संसार—इस बद्ध जीवन का; परिश्रम—कष्ट; उपशमनीम्—छुटकारा दिला कर; उपसृतानाम्—आपके चरणकमलों में शरण लेने वाले भक्त; वयम्—हम; यत्—जिसके लिए; कामेन—इच्छाओं से; उपसादिताः—(आपके चरणकमलों की शरण में) आने को बाध्य।

**हे भगवान्! आप सर्वज्ञाता हैं, अतः आप अच्छी तरह जानते हैं कि हम आपके**

**चरणकमलों की शरण में क्यों आये हैं, जिनकी छाया समस्त भौतिक अशान्तियों से छुटकारा दिलाने वाली है। चूँकि आप परम गुरु हैं और सब कुछ जानते हैं, अतः हमने आदेश प्राप्त करने के लिए आपके चरणकमलों का आश्रय लिया है। कृपया हमारे वर्तमान दुखों को दूर करके हमें शरण दीजिये। आपके चरणकमल ही पूर्ण समर्पित भक्त के एकमात्र आश्रय हैं और इस भौतिक जगत के संतापों को शमित करने के एकमात्र साधन हैं।**

**तात्पर्य :** मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की छाया का ही आश्रय लेना चाहिए। तभी उसे विचलित करने वाले समस्त भौतिक संताप उसी प्रकार शमित हो सकेंगे जिस प्रकार विशाल वृक्ष की छाया में झुलसाने वाली धूप का ताप बिना माँगे तुरन्त शमित हो जाता है। अत: बद्धजीव का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर के चरणकमलों की प्राप्ति होना चाहिए। ईश्वर के चरणकमलों की शरण पाकर बद्धजीव के समस्त सांसारिक संतापों का शमन हो सकता है।

**अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् ।**
**ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥ ४४॥**

**शब्दार्थ**

अथो—अतः; ईश—हे परम नियन्ता; जहि—मारिये; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र, वृत्रासुर को; ग्रसन्तम्—जो निगले जा रहा है; भुवन-त्रयम्—तीनों लोक; ग्रस्तानि—निगले हुए; येन—जिसके द्वारा; नः—हमारा; कृष्ण—हे भगवान् श्रीकृष्ण; तेजांसि—समस्त शक्ति तथा तेज; अस्त्र—तीर; आयुधानि—तथा अन्य हथियार; च—भी।

**अतः हे परम नियन्ता, हे भगवान् श्रीकृष्ण! त्वष्टा के पुत्र इस घातक असुर वृत्रासुर का संहार कीजिये। जिसने हमारे समस्त शस्त्रास्त्र, युद्ध की सारी सामग्री तथा हमारे बल और तेज को निगल रखा है।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (७.१५-१६) में भगवान् कहते हैं—

*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।*

*माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥*

*चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।*

*आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥*

''माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए, मनुष्यों में अधम और पाप करने वाले मूढ़ मेरी शरण में नहीं आते। हे भारत (अर्जुन)! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा रखने वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।''

ये चार प्रकार के नवदीक्षित भक्त जो भौतिक लाभों की दृष्टि से भगवान् की भक्ति करने के लिए भगवान् की शरण में जाते हैं वह शुद्ध भक्त नहीं हैं, किन्तु ऐसे सांसारिक भक्तों को यह लाभ है कि वे कभी-कभी भौतिक इच्छाओं को त्याग कर शुद्ध भक्त बन जाते हैं। जब देवता अपने को निरुपाय पाते हैं, तो दुख के कारण अश्रुपूर्ण होकर प्रार्थना करते हुए भगवान् के पास जाते हैं और इस प्रकार वे लगभग शुद्ध भक्त बन जाते हैं और भौतिक वासनाओं से मुक्त रहते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि परम ऐश्वर्य के भौतिक अवसरों के कारण ही वे ईश्वर की शुद्ध भक्ति करना भूल गये थे, अतः वे ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देते हैं। फिर ईश्वर चाहे तो उनका पालन करें या संहार करें। ऐसा आत्मसमर्पण आवश्यक है। भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*मारिब राखबि—यो इच्छा तोहारा*—''हे भगवान्! मैं आपके चरणकमलों पर पूर्णतया समर्पित हूँ। अब आपकी जैसी इच्छा—चाहे मुझे बचाएँ या मारें। आपको दोनों का अधिकार है।''

**हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय**
**कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।**
**सत्सङ्ग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-**
**वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥ ४५ ॥**

## शब्दार्थ

**हंसाय**—महान् तथा शुद्ध को (पवित्रं परमम्, परम शुद्ध); **दह्र**—अन्तःस्थल में; **निलयाय**—जिसका धाम; **निरीक्षकाय**—प्रत्येक आत्मा की गतिविधियों का निरीक्षण करने के लिए; **कृष्णाय**—परमात्मा को, जो श्रीकृष्ण के अंश रूप हैं; **मृष्ट-यशसे**—जिनका यश अत्यन्त प्रकाशमान् है; **निरुपक्रमाय**—जिसका आदि नहीं है, अनादि; **सत्-सङ्ग्रहाय**—शुद्ध भक्तों द्वारा ज्ञेय; **भव-पान्थ-निज-आश्रम-आप्तौ**—इस भौतिक जगत में प्राणियों के लिए श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त करके;

अन्ते—अन्त में; परीष्ट-गतये—जीवन की सबसे बड़ी सफलता, उन श्रीभगवान् को जो परम-लक्ष्य हैं; हरये—श्रीभगवान् को; नमः—सादर नमस्कार; ते—तुम्हें ( आपको )।.

**हे भगवान्! हे परम शुद्ध! आप सबों के अन्तःस्थल में रहते हैं और बद्धजीवों की समस्त आकांक्षाओं तथा गतिविधियों का निरीक्षण करते हैं। श्रीकृष्ण के रूप में विख्यात हे भगवान्! आपका यश अत्यन्त प्रकाशमान है। आपका आदि नहीं है क्योंकि आप प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं। शुद्ध भक्त इससे परिचित हैं क्योंकि आप शुद्ध तथा सत्यनिष्ठ के लिए सुगम हैं। जब करोड़ों वर्षों तक भौतिक जगत में भटकने के बाद बद्धात्माएँ आपके चरणकमलों पर मुक्त होकर शरण पाती हैं, तो उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। अतः हे भगवान्! हम आपके चरणारविन्द को सादर नमस्कार करते हैं।**

**तात्पर्य :** देवतागण निश्चय ही भगवान् विष्णु से अपने कष्टों का मोचन चाहते थे, किन्तु अब वे सीधे भगवान् श्रीकृष्ण के ही पास पहुँचे। यद्यपि भगवान् विष्णु तथा भगवान् श्रीकृष्ण में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण अपने वासुदेव रूप में इस लोक में—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—अपने भक्तों को बचाने तथा दुष्टों का वध करने के लिए अवतरित होते हैं। असुर अथवा नास्तिक सदैव देवों या भक्तों को सताते रहते हैं, अतः नास्तिकों तथा असुरों को दंड देने और अपने भक्तों की इच्छा पूर्ति के लिए श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं। श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु का आदि कारण होने के फलस्वरुप विष्णु तथा नारायण से ऊपर परम पुरुष हैं, यद्यपि भगवान् के इन विभिन्न रूपों में कोई अन्तर नहीं हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में कहा गया है—

*दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य*

*दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।*

*यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥*

श्रीकृष्ण विष्णु के रूप में उसी प्रकार विस्तार करते हैं जिस प्रकार एक जलता दीप दूसरे को जलाता है। यद्यपि दोनों दीपकों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं होता तथापि श्रीकृष्ण आदि-दीपक

के समान हैं।

यहाँ *मृष्ट-यशसे* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि श्रीकृष्ण भक्तों को संकट से छुड़ाने के लिए सदैव प्रसिद्ध हैं। जो भक्त श्रीकृष्ण में पूर्णतया समर्पित होता है और जिसका एकमात्र उद्धारक श्रीकृष्ण रहता है, उसे *अकिञ्चन* कहते हैं।

महारानी कुन्ती ने अपनी स्तुति में भगवान् को *अकिञ्चन-वित्त* अर्थात् भक्त का धन कहा है। जो बद्ध जीवन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, वे वैकुण्ठ लोक को जाते हैं जहाँ उन्हें पाँच प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं—*सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।* ये रस श्रीकृष्ण से उद्‌भूत हैं। जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है आदि रस माधुर्य प्रेम है। श्रीकृष्ण शुद्ध और आध्यात्मिक माधुर्य प्रेम के उद्‌गम हैं।

**श्रीशुक उवाच**
**अथैवमीडितो राजन्सादरं त्रिदशैर्हरिः ।**
**स्वमुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥ ४६ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; एवम्—इस प्रकार; ईडितः—पूजा तथा नमस्कार किये जाने पर; राजन्—हे राजन्; स-आदरम्—आदरपूर्वक; त्रि-दशैः—स्वर्ग के समस्त देवताओं के द्वारा; हरिः—श्रीभगवान्; स्वम् उपस्थानम्—अपना यशोगान; आकर्ण्य—सुनकर; प्राह—उत्तर दिया; तान्—उन ( देवताओं ) को; अभिनन्दितः—प्रसन्न होकर।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा परीक्षित! जब देवताओं ने इस प्रकार से भगवान् की सच्ची स्तुति की तो उसे उन्होंने कृपापूर्वक सुना और प्रसन्न होकर देवताओं को उत्तर दिया।**

**श्रीभगवानुवाच**
**प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठा मदुपस्थानविद्यया ।**
**आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥ ४७ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं; वः—तुमसे; सुर-श्रेष्ठाः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; मत्-उपस्थान-विद्यया—महान् ज्ञान तथा स्तुतियों से; आत्म-ऐश्वर्य-स्मृतिः—अपनी परम दिव्य स्थिति की स्मृति; पुंसाम्—मनुष्यों की; भक्तिः—भक्ति; च—तथा; एव—निश्चय ही; यया—जिससे; मयि—मुझको।

**श्रीभगवान् ने कहा—हे प्यारे देवो! तुम लोगों ने अत्यन्त ज्ञानपूर्वक मेरी स्तुति की है, जिससे मैं तुम लोगों से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मनुष्य ऐसे ज्ञान के कारण मुक्त हो जाता है और मेरे उच्च पद को स्मरण करता रहता है, जो भौतिक जीवन की स्थितियों के ऊपर है। ऐसा भक्त पूर्ण ज्ञान में रहकर स्तुति करने पर शुद्ध हो जाता है। मेरी भक्ति करने का यही स्त्रोत है।**

**तात्पर्य :** श्रीभगवान् का अन्य नाम *उत्तमश्लोक* है, जिसका तात्पर्य है कि चुने हुए श्लोकों से उनकी स्तुति की जाती है। भक्ति का अर्थ है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—अर्थात् विष्णु का जप तथा उन्हीं का श्रवण। निर्गुणवादी कभी शुद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि वे श्रीभगवान् की साकार प्रार्थना नहीं करते। यदि कभी प्रार्थना करते भी हैं, तो वह श्रीभगवान् को अर्पित नहीं होती। कभी-कभी वे भगवान् को अनाम कह कर अपने अपूर्ण ज्ञान का परिचय देते हैं। वे अप्रत्यक्ष रूप से यह कह कर सदैव प्रार्थना करते हैं, ''आप यह हैं, आप वह हैं,'' किन्तु वे यह नहीं जानते कि किसकी प्रार्थना कर रहे हैं। किन्तु भक्त सदैव साकार की प्रार्थना करता है। भक्त कहता है—*गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि*—''मैं गोविन्द या श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करता हूँ।'' प्रार्थना करने की यही विधि है। यदि भक्त इस प्रकार साकार की प्रार्थनाएँ करता है, तो वह शुद्ध भक्त बनने तथा वापस भगवान् के धाम जाने का अधिकारी हो जाता है।

**किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः ।**
**मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥ ४८ ॥**

### शब्दार्थ

किम्—क्या; दुरापम्—दुर्लभ; मयि—जब मैं; प्रीते—प्रसन्न; तथापि—फिर भी; विबुध-ऋषभाः—हे बुद्धिमान देवताओं में श्रेष्ठ; मयि—मुझमें; एकान्त—अनन्य; मतिः—जिसका ध्यान; न अन्यत्—और कहीं नहीं; मत्तः—मेरी अपेक्षा; वाञ्छति—चाहता है; तत्त्व-वित्—जो सत्य को जानता है।

**हे बुद्धिमान देवताओं में श्रेष्ठ! यद्यपि यह सत्य है कि मेरे प्रसन्न हो जाने पर किसी के लिए कुछ भी प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है, तो भी शुद्ध भक्त, जिसका मन विशिष्ट भाव से**

**मुझ पर स्थिर है, वह मेरी भक्ति में निरत रहने के अवसर के अतिरिक्त मुझसे और कुछ भी नहीं माँगता।**

**तात्पर्य :** देवतागण स्तुति करने के बाद अपने शत्रु वृत्रासुर के वध किये जाने की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देवतागण शुद्ध भक्त नहीं हैं। यद्यपि भगवान् के प्रसन्न होने पर किसी के लिए कुछ भी प्राप्त कर लेना सहज है, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करके देवता सदैव भौतिक लाभ की आकांक्षा करते हैं। भगवान् चाहते थे कि देवता उनसे अमिश्रित शुद्ध भक्ति के लिए प्रार्थना करते, किन्तु उन्होंने अपने शत्रु के संहार के अवसर मिलने के लिए प्रार्थना की। शुद्ध भक्त तथा भौतिक पद पर आसीन भक्त का यही अन्तर है। अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् दुखी थे कि देवताओं ने शुद्ध भक्ति की याचना क्यों नहीं की।

**न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक् ।**
**तस्य तानिच्छतो यच्छेद्यदि सोऽपि तथाविधः ॥ ४९ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता है; कृपणः—कंजूस जीवात्मा; श्रेयः—परम आवश्यकता, हित; आत्मनः—आत्मा की; गुण-वस्तु-दृक्—जो त्रिगुण की सृष्टि से मोहित है; तस्य—उसका; तान्—माया द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ; इच्छतः—इच्छा करते हुए; यच्छेत्—प्रदान करता; यदि—यदि; सः अपि—वह भी; तथा-विधः—उसी प्रकार का ( मूर्ख कृपण जो अपने असली हित को नहीं पहचानता )।.

**जो लोग भौतिक सम्पत्ति को ही सब कुछ या जीवन का परम ध्येय मानते हैं, वे कृपण कहलाते हैं। वे आत्मा की परम आवश्यकता ( हित ) को नहीं जानते। यही नहीं, यदि कोई ऐसे मूर्खों की इच्छा की पूर्ति करता है, उसे भी मूर्ख समझना चाहिए।**

**तात्पर्य :** मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—कृपण तथा ब्राह्मण। वह ब्राह्मण है, जो ब्रह्म या परम सत्य को जानता है और इस प्रकार अपने असली हित को पहचानता है, किन्तु कृपण वह है, जिसके भौतिक या देहात्मबुद्धि होती है। यह न जानते हुए कि मानव या दैव जीवन को किस प्रकार बिताया जाये, कृपण त्रिगुणजन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है। इस तरह सदा भौतिक लाभों की कामना करने वाले कृपण मूर्ख होते हैं जबकि सदा आध्यात्मिक लाभ की कामना करने

वाले ब्राह्मण बुद्धिमान हैं। यदि कोई कृपण् अपना हित समझे बिना कुछ माँगता है और उसे यदि कोई वह वस्तु देता है, तो वह भी मूर्ख है। किन्तु श्रीकृष्ण मूर्ख नहीं हैं, वे परम बुद्धिमान हैं। जब कोई श्रीकृष्ण से भौतिक लाभ की कामना करता है, तो उसे वे वस्तुएँ न देकर बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह भौतिक कामनाएँ त्याग कर उनके चरणकमलों में आसक्त हो जाये। ऐसी दशा में, यद्यपि कृपण भौतिक वस्तुओं के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है, किन्तु भगवान् उसकी सारी सम्पत्ति लेकर उस कृपण को बदले में भक्त बनने की सद्बुद्धि प्रदान करते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३९) में भगवान् का कथन है—

*आमि—विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब?*

*स्वचरणामृत दिया 'विषय' भुलाइ॥*

''चूँकि मैं अत्यन्त बुद्धिमान हूँ, अत: मैं इस मूर्ख को भौतिक सम्पत्ति क्यों दूँ? इसके बजाय मैं अपने चरणकमल की शरण के अमृत के लिए उसे प्रेरित करूँगा और उसके झूठे भौतिक सुख को भुलवा दूँगा।'' यदि कोई भक्ति के बदले भौतिक सम्पत्ति के लिए सच्चे दिल से प्रार्थना करता है, तो भगवान् जो बुद्धिहीन भक्त की भाँति मूर्ख नहीं हैं उसकी भौतिक सम्पत्ति को लेकर बदले में बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह क्रमश: उनके चरणकमलों की सेवा करके सन्तुष्ट होने लगता है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि यदि मूर्ख बालक अपनी माता से विष माँगे तो बुद्धिमान माता निश्चय ही उसे विष नहीं देगी, भले ही वह कितना ही अनुनय-विनय क्यों न करे। भौतिकवादी व्यक्ति को यह पता नहीं है कि भौतिक सम्पत्ति को स्वीकार करना विष अथवा जन्म-मृत्यु के चक्कर को स्वीकार करने के तुल्य है। बुद्धिमान ब्राह्मण भौतिक बन्धन से अपनी मुक्ति की आकांक्षा करता है। यही मुनष्य का असली कल्याण है।

**स्वयं नि:श्रेयसं विद्वान्न वक्त्यज्ञाय कर्म हि ।**
**न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तम: ॥५०॥**

## शब्दार्थ

स्वयम्—स्वत:; नि:श्रेयसम्—जीवन का परम लक्ष्य अर्थात् भगवान् का आह्लादकारी प्रेम प्राप्त करने के साधन; वित्-वान्—जिसने भक्ति में पूर्णता प्राप्त कर ली है; न—नहीं; वक्ति—शिक्षा देता है; अज्ञाय—मूर्ख को जो जीवन के चरम लक्ष्य से परिचित नहीं है; कर्म—सकाम कर्म; हि—निस्सन्देह; न—नहीं; राति—पिलाता है; रोगिण:—रोगी को; अपथ्यम्—अखाद्य; वाञ्छत:—इच्छुक; अपि—यद्यपि; भिषक्-तम:—अनुभवी वैद्य।

**भक्तियोग में दक्ष शुद्ध भक्त कभी भी मूर्ख पुरुष को भौतिक सुख के लिए सकाम कर्म करने का उपदेश नहीं देगा, ऐसे कार्यों में सहायता करना तो दूर रहा। ऐसा भक्त उस अनुभवी वैद्य के समान है, जो रोगी के चाहने पर भी उसे ऐसा पथ्य ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता जो उसे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो।**

**तात्पर्य :** देवताओं द्वारा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त वरों में यही अन्तर है। देवों के भक्त इन्द्रियतृप्ति के लिए वर माँगते हैं इसलिए *भगवद्गीता* (७.२०) में इन्हें बुद्धि से विहीन कहा गया है—

*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता: ।*

*तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया ॥*

''भौतिक इच्छाओं के द्वारा जिनके ज्ञान को हर लिया गया है, वे ही देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुसार उपासना के विधि-विधानों का पालन करते हैं।''

बद्धजीव प्राय: बुद्धिविहीन होते हैं, क्योंकि उनमें इन्द्रियतृप्ति के लिए तीव्र इच्छा रहती है। वे यह नहीं जानते कि कौन-सा वर माँगा जाये। इसलिए शास्त्रों में उपदेश दिया गया है कि अभक्तजन भौतिक लाभों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करें। उदाहरणार्थ, यदि कोई सुन्दर पत्नी चाहता है, तो उसे उमा या देवी दुर्गा की पूजा करने की सलाह दी जाती है। यदि कोई रोग से मुक्ति चाहता है, तो उसे सूर्यदेव की पूजा करने को कहा जाता है। किन्तु देवताओं से वर प्राप्त करने की समस्त प्रार्थनाएँ भौतिक कामवासना के कारण हैं। ये वर दृश्य जगत के अन्त होते ही वर देने वाले के साथ समाप्त हो जाते हैं। यदि कोई वर माँगने के लिए भगवान् विष्णु के पास जाता है, तो वे उसे ऐसा वर देते हैं जिससे वह भगवान् के धाम वापस जाने में सहायता करेगा। इसकी

पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.१०) में की है—

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।*

*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥*

भगवान् विष्णु या भगवान् श्रीकृष्ण, उस भक्त को जो निरन्तर उनकी सेवा करता है, उपदेश देते हैं कि इस भौतिक देह की समाप्ति पर उन तक किस प्रकार पहुँचा जाये। भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (४.९) में कहते हैं—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।*

*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥*

"हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है; इस प्रकार जो मनुष्य दिव्य तत्त्व को जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।" यह भगवान् विष्णु या कृष्ण का वर है। शरीर त्यागने के बाद भक्त भगवान् के धाम को जाता है।

भक्त मूर्खतावश भौतिक वर माँग सकता है, किन्तु भक्त की प्रार्थनाओं के बावजूद भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा वर देते नहीं। इसलिए जो लोग भौतिक जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, वे सामान्यत: कृष्ण या विष्णु के भक्त नहीं बनते, अपितु वे देवताओं के भक्त बन जाते हैं (*कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*)। किन्तु *भगवद्गीता* में देवताओं द्वारा दिये गये वरों की निन्दा की गई है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—"अल्पज्ञ मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, उनके फल सीमित तथा क्षणिक होते हैं।" अवैष्णव को जो भगवान् की सेवा में नहीं लगता अल्पबुद्धि वाला मूर्ख माना गया है।

**मघवन्यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।**
**विद्याव्रततप:सारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥५१॥**

### शब्दार्थ

मघवन्—हे इन्द्र; यात—जाओ; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम सबों का; दध्यञ्चम्—दध्यञ्च के पास; ऋषि-सत्-तमम्—सर्वश्रेष्ठ साधु पुरुष; विद्या—विद्या का; व्रत—व्रत; तपः—तथा तपस्या; सारम्—निष्कर्ष; गात्रम्—उसका शरीर; याचत—माँगो; मा चिरम्—बिना देरी किये।

**हे मघवा ( इन्द्र )! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हें महान् साधु दध्यञ्च ( दधीचि ) के पास जाने की राय देता हूँ। वे ज्ञान, व्रत तथा तपस्या में अत्यन्त सिद्ध हैं और उनका शरीर अत्यन्त सुदृढ़ है। अब देर न लगाओ। उनके पास जाकर उनका शरीर माँगो।**

**तात्पर्य :** इस भौतिक संसार का प्रत्येक प्राणी, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक अपने शरीर को सुखी रखना चाहता है। भक्त भी सुखपूर्वक रहना चाह सकता है, किन्तु उसे ऐसे वर की तनिक इच्छा नहीं रहती। चूँकि स्वर्ग का राजा इन्द्र भी सुख-सुविधा की कामना कर रहा था इसलिए भगवान् विष्णु ने सलाह दी वह दध्यञ्च मुनि के पास जाकर उनका शरीर माँग ले जो उनके ज्ञान, व्रत तथा तपस्या के कारण अत्यन्त पुष्ट था।

**स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।**
**यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥ ५२ ॥**

### शब्दार्थ

सः—वह; वा—निश्चय ही; अधिगतः—प्राप्त करके; दध्यङ्—दध्यञ्च; अश्विभ्याम्—दोनों अश्विनीकुमारों को; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; निष्कलम्—शुद्ध; यत् वा—जिससे; अश्वशिरः—अश्वशिर; नाम—नामक; तयोः—दोनों का; अमरताम्—जीवन से मुक्ति; व्यधात्—प्रदान किया।

**ऋषि दध्यञ्च ने जो दधीचि के नाम से भी विख्यात हैं ब्रह्मज्ञान को आत्मसात् किया था और फिर उसे अश्विनीकुमारों को दिया। कहा जाता है कि दध्यञ्च ने उनको अश्वमुख ( घोड़े के मुँह ) से मंत्र दिये इसलिए वे मंत्र अश्वशिर कहलाते हैं। ऋषि दधीचि से ये मंत्र प्राप्त कर अश्विनीकुमार जीवनमुक्त हो गये।**

**तात्पर्य :** अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी टीकाओं में निम्नलिखित कथा का वर्णन दिया है—

*निशम्याथर्वणं दक्षं प्रवर्ग्यब्रह्मविद्ययोः दध्यञ्चं समुपागम्य तम् ऊचतुरथाश्विनौ। भगवान् देहि नौ*

*विद्यां इति श्रुत्वा स चाब्रवीत्। कर्मण्यवस्थितोऽध्याहं पश्चाद्वक्ष्यामि गच्छतम्। तयोर्निर्गतयोरेव शक्र आगत्य तं मुनिम्। उवाच भिषजोर्विद्यां मा वादीरश्विनोर्मुने। यदि मद्वाक्यम् उल्लंघ्य ब्रवीषि सहसैव ते। शिरश्छिन्द्यां न सन्देह इत्युक्त्वा स ययौ हरिः। इन्द्रे गते तथाभ्येत्य नासत्यावूचतुर्द्विजम्। तन्मुखाद् इन्द्रगदितं श्रुत्वा तावूचतुः पुनः। आवां तव शिरश्छित्वा पूर्वम् अश्वस्य मस्तकम्। संधास्यावस्ततो ब्रूहि तेन विद्यां च नौ द्विज। तस्मिन्न् इन्द्रेण सञ्छिन्ने पुनः सन्धाय मस्तकम्। निजं ते दक्षिणां दत्त्वा गमिष्यावो यथागतम्। एतच्छत्वा तदोवाच दध्याङ्ङः आथर्वणस्तयोः प्रवर्ग्यं ब्रह्मविद्यां च सत्कृतोऽसत्यशंकितः।*

महामुनि दधीचि को सकाम कर्म करने के पूर्ण ज्ञान के साथ ही उच्च ब्रह्म (आध्यात्मिक) ज्ञान भी था। यह जानकर एक बार अश्विनीकुमार उनके पास गये और उनसे ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के लिए प्रार्थना की। दधीचि मुनि ने उत्तर दिया, ''इस समय मैं सकाम कर्म के लिए यज्ञ की तैयारी में व्यस्त हूँ। फिर कभी आएँ।'' जब अश्विनीकुमार चले गये तो स्वर्ग का राजा इन्द्र उनके पास पहुँचा और कहा, ''हे मुनि! अश्विनीकुमार तो केवल वैद्य हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश न दें। यदि मेरे कहने पर भी आप उन्हें ब्रह्मविद्या देंगे तो मैं आपका सिर काट लूँगा।'' दधीचि को इस प्रकार आगाह करके इन्द्र स्वर्गलोग चला गया। अश्विनीकुमारों ने इन्द्र का मनोभाव ताड़ लिया अतः वे दधीचि के पास लौट आये और ब्रह्मविद्या प्रदान करने की प्रार्थना की। जब मुनि ने इन्द्र की प्रताड़ना के विषय में उन्हें सूचित किया, तो अश्विनीकुमारों ने कहा, ''हम पहले आपके इस सिर को काट कर घोड़े का सिर लगा देते हैं। आप अश्वमुख से ब्रह्मविद्या का उपदेश करें और जब इन्द्र आकर उस सिर को काट लेगा तो हम आपके असली सिर लगा देंगे।'' चूँकि दधीचि ने अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या देने का वचन दे रखा था, अतः उन्होंने उनका प्रस्ताव मान लिया। अश्वमुख से दधीचि द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश दिये जाने से उसे अश्वशिर भी कहते हैं।

**दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् ।**

विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

दध्यङ्—दध्यञ्च; आथर्वणः—अथर्वा का पुत्र; त्वष्ट्रे—त्वष्टा के लिए; वर्म—कवच, नारायण कवच; अभेद्यम्—जो भेदा न जा सके; मत्-आत्मकम्—मुझसे युक्त; विश्वरूपाय—विश्वरूप के लिए; यत्—जो; प्रादात्—प्रदत्त; त्वष्टा—त्वष्टा; यत्—जो; त्वम्—तुम; अधाः—प्राप्त; ततः—उससे।

दध्यञ्च का नारायण-कवच नामक अभेद्य कवच त्वष्टा को मिला जिसने इसे अपने पुत्र विश्वरूप को दिया और जिससे तुमने इसे प्राप्त किया है। इस नारायण-कवच के कारण दधीचि का शरीर अब अत्यन्त पुष्ट है। अतः तुम जाकर उनसे उनका शरीर माँग लो।

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ।
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेजउपबृंहितः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

युष्मभ्यम्—तुम सबों के लिए; याचितः—माँगा जाकर; अश्विभ्याम्—अश्विनीकुमारों द्वारा; धर्म-ज्ञः—धर्म के ज्ञाता, दधीचि; अङ्गानि—अपने अंग; दास्यति—देगा; ततः—तत्पश्चात्; तैः—उन हड्डियों से; आयुध—हथियारों का; श्रेष्ठः—अत्यन्त शक्तिशाली ( वज्र ); विश्वकर्म-विनिर्मितः—विश्वकर्मा द्वारा तैयार किया गया; येन—जिससे; वृत्र-शिरः—वृत्रासुर का सिर; हर्ता—काट लिया जाऐगा; मत्-तेजः—मेरे बल से; उपबृंहितः—बढ़े हुए।

जब तुम्हारी ओर से अश्विनीकुमार दधीचि का शरीर माँगेंगे, तो वे स्नेहवश अवश्य दे देंगे। इसमें सन्देह मत करो, क्योंकि दधीचि धर्म के ज्ञानी हैं। जब दधीचि तुम्हें अपना शरीर दे देंगे तो विश्वकर्मा उनकी हड्डियों ( अस्थियों ) से एक वज्र तैयार कर देगा। यह वज्र मेरी शक्ति से युक्त होने के कारण निश्चित रूप से वृत्रासुर का वध करेगा।

तस्मिन्विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।
भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह ( वृत्रासुर ); विनिहते—मारा जाता है; यूयम्—तुम सभी; तेजः—तेज; अस्त्र—तीर; आयुध—अन्य हथियार; सम्पदः—तथा ऐश्वर्य; भूयः—फिर; प्राप्स्यथ—प्राप्त करोगे; भद्रम्—समस्त कल्याण; वः—तुमको; न—नहीं; हिंसन्ति—पीड़ा पहुँचाएँगे; च—तथा; मत्-परान्—मेरे भक्त।

जब वृत्रासुर मेरे आत्मबल ( ब्रह्मतेज ) से मर जायेगा, तो तुम्हें पुनः अपना तेज आयुध तथा सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार तुम सबका कल्याण होगा। यद्यपि वृत्रासुर तीनों

**लोकों को विनष्ट कर सकता हैं, किन्तु तुम मत डरो कि वह तुम्हें हानि पहुँचायेगा। वह भी भक्त है और तुमसे कभी भी विद्वेष नहीं करेगा।**

**तात्पर्य :** भगवान् का भक्त किसी से द्वेष नहीं रखता, अन्य भक्तों की तो दूसरी ही बात है। जैसाकि बाद में पता चला, वृत्रासुर भी भक्त था। अत: उससे यह आशा नहीं की जाती थी कि वह देवताओं से द्वेष रखेगा। उल्टे, वह स्वत: देवताओं का हित करना चाहेगा। भक्त सत्कार्य के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। चाणक्य पंडित ने कहा है—*सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति*। अन्तत: मनुष्य की सारी सम्पत्ति, यहाँ तक कि शरीर भी नष्ट हो जायेगा। अत: यदि किसी सत्कार्य में इनका प्रयोग हो तो भक्त अपना शरीर भी देने से नहीं कतराता। चूँकि भगवान् विष्णु देवताओं की रक्षा करना चाहते थे, अत: वृत्रासुर, जो तीनों लोकों को निगल सकता था, देवताओं द्वारा मारे जाने के लिए उद्यत हो जायेगा। भक्त के लिए जीने तथा मरने में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि जीने पर वह भगवान् की भक्ति करता है और देह त्यागने के बाद वैकुण्ठ में भी वही सेवा करता है। उसकी भक्ति निर्बाध चलती जाती है।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत ''राक्षस वृत्रासुर का आविर्भाव'' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter दस

# देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध

इस अध्याय में बताया है कि इन्द्र द्वारा दधीचि का शरीर प्राप्त करने के पश्चात् दधीचि की अस्थियों से वज्र बनवाया गया और फिर देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध छिड़ गया।

भगवान् की आज्ञानुसार देवतागण दधीचि मुनि के पास गये और उनसे उनका शरीर माँगा। दधीचि मुनि देवताओं के मुख से धर्म के विषय में सुनना चाहते थे, अत: उन्होंने हँसी में अपना शरीर त्यागने से इनकार कर दिया। किन्तु बाद में सत्कार्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने शरीर-

त्याग करना स्वीकार कर लिया, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् इस शरीर को प्राय: कुत्ते तथा गीदड़ जैसे नीच पशु खा जाते हैं। दधीचि ने पंचतत्त्व निर्मित अपने स्थूल देह को पहले मूल पंचतत्त्वों में समाहित किया और अपनी आत्मा को श्रीभगवान् के चरणकमलों में स्थिर कर दिया। इस प्रकार उन्होंने स्थूल शरीर त्याग दिया। तब विश्वकर्मा की सहायता से देवताओं ने दधीचि की अस्थियों से वज्र तैयार करवाया। इस वज्र से सज्जित, वे हाथियों की पीठ पर सवार होकर लड़ने के लिए तैयार हो गये।

सत्ययुग के अन्त तथा त्रेतायुग के प्रारम्भ में देवों तथा असुरों में भीषण युद्ध हुआ। देवों का तेज न सह सकने के कारण असुर युद्ध भूमि से भाग गये, किन्तु उनका नायक वृत्रासुर अकेला रह गया। उसने असुरों को भागते देखकर युद्धभूमि में लड़ने और मरने की महत्ता पर उपदेश दिया। जो युद्ध में जीतता है उसे भौतिक सम्पत्ति प्राप्त होती है, किन्तु युद्धभूमि में प्राण गँवाने पर उसे स्वर्गीय लोकों में वास मिलता है। दोनों ही प्रकार से योद्धा लाभ में रहता है।

श्रीबादरायणिरुवाच

**इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान्विश्वभावनः ।**
**पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रम्—इन्द्र को; एवम्—इस प्रकार; समादिश्य—उपदेश देकर; भगवान्—श्रीभगवान्; विश्व-भावनः—समस्त विश्व का आदि कारण; पश्यताम् अनिमेषाणाम्—देवताओं द्वारा टकटकी लगाकर देखे जाने पर; तत्र—वहीं पर; एव—निस्सन्देह; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; हरिः—भगवान्।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार इन्द्र को आदेश देकर भगवान् हरि, जो दृश्य जगत के कारणस्वरूप हैं, देवताओं के देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।**

**तथाभियाचितो देवैरृषिराथर्वणो महान् ।**
**मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥**

### शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; अभियाचितः—माँगे जाने पर; देवैः—देवताओं के द्वारा; ऋषिः—परम साधु पुरुष; आथर्वणः—अथर्वा के पुत्र, दधीचि ने; महान्—महापुरुष; मोदमानः—प्रसन्न होकर; उवाच—कहा; इदम्—यह; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—कुछ-कुछ; भारत—हे महाराज परीक्षित!.

**हे राजा परीक्षित! भगवान् की आज्ञानुसार देवतागण अथर्वा के पुत्र दधीचि के पास पहुँचे। वे अत्यन्त उदार थे और जब देवताओं ने उनसे शरीर देने के लिए प्रार्थना की तो वे तुरन्त तैयार से हो गये। किन्तु उनसे धार्मिक उपदेश सुनने के उद्देश्य से वे हँसे और विनोद में इस प्रकार बोले।**

**अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम् ।**
**संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दु:सहश्चेतनापहः ॥ ३ ॥**

### शब्दार्थ

अपि—यद्यपि; वृन्दारकाः—देवताओ; यूयम्—तुम सब; न जानीथ—नहीं जानते; शरीरिणाम्—शरीरधारियों की; संस्थायाम्—मृत्यु के समय या शरीर त्यागते समय; यः—जो; तु—तब; अभिद्रोहः—तीक्ष्ण वेदना; दु:सहः—असह्य; चेतन—चेतना; अपहः—चली जाती है।.

**हे देवताओ! मृत्यु के समय तीक्ष्ण असह्य वेदना के कारण समस्त देहधारी जीवात्माओं की चेतना जाती रहती है। क्या तुम्हें इस वेदना का पता नहीं है?**

**जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः ।**
**क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥ ४ ॥**

### शब्दार्थ

जिजीविषूणाम्—जीवित रहने के इच्छुक; जीवानाम्—समस्त जीवात्माओं का; आत्मा—शरीर; प्रेष्ठः—अत्यन्त प्रिय; इह—यहाँ; ईप्सितः—इच्छित; कः—कौन; उत्सहेत—सह सकता है; तम्—उस शरीर को; दातुम्—देने के लिए; भिक्षमाणाय—माँगने के लिए; विष्णवे—भगवान् विष्णु को भी।.

**इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है। अपने शरीर को अक्षुण्ण बनाये रखने के संघर्ष में वह सभी प्रकार से, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व न्यौछावर करके, बचाये रखने का प्रयत्न करता है। अत: ऐसा कौन है, जो अपना शरीर किसी अन्य को दान देना चाहेगा, भले ही भगवान् विष्णु क्यों न माँगें?**

**तात्पर्य :** कहा गया है—*आत्मानं सर्वतो रक्षेत् ततो धर्मं ततो धनम्*—मनुष्य को सब प्रकार से

अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए, तब वह धर्म और उनके बाद अपने धन की रक्षा करे। यही समस्त जीवात्माओं की कामना होती है। कोई भी अपना शरीर तब तक त्यागना नहीं चाहता जब तक कोई बलपूर्वक छीन न ले। यद्यपि देवताओं ने कहा कि वे भगवान् विष्णु के आदेशानुसार अपने लाभ के लिए दधीचि का शरीर माँग रहे हैं, किन्तु दधीचि ने अपना शरीर देने से ऊपरी मन से इनकार कर दिया।

श्रीदेवा ऊचु:

**किं नु तद्दुस्त्यजं ब्रह्मन्पुंसां भूतानुकम्पिनाम् ।**
**भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥ ५ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-देवा: ऊचु:—देवताओं ने कहा; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; तत्—वह; दुस्त्यजम्—छोड़ना कठिन; ब्रह्मन्—हे पूज्य ब्राह्मण; पुंसाम्—मनुष्यों का; भूत-अनुकम्पिनाम्—जीवात्माओं के दुखों के प्रति अत्यन्त सहानुभूत लोग; भवत्-विधानाम्—आप जैसे; महताम्—महान्; पुण्य-श्लोक-ईड्य-कर्मणाम्—जिनके पुण्यकार्यों की सभी विद्वान प्रशंसा करते हैं।

**देवताओं ने उत्तर दिया—हे ब्रह्मन्! आप जैसे पवित्र तथा प्रशंसनीय कार्यों वाले पुरुष सभी व्यक्तियों पर परम दयालु एवं वत्सल होते हैं। ऐसी पवित्र आत्माएँ परोपकार के लिए क्या नहीं दे सकतीं? वे सब कुछ, यहाँ तक कि अपना शरीर भी, दे सकती हैं।**

**नूनं स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम् ।**
**यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वर: ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; स्व-अर्थ-पर:—इस अथवा अगले जीवन में मात्र इन्द्रिय तृप्ति में रुचि रखने वाला; लोक:—सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति; न—नहीं; वेद—जानते हैं; पर-सङ्कटम्—अन्यों का कष्ट; यदि—यदि; वेद—जानते हैं; न—नहीं; याचेत—माँगें; न—नहीं; इति—इस प्रकार; न आह—कहता नहीं; यत्—चूँकि; ईश्वर:—दान देने में समर्थ।

**जो नितान्त स्वार्थी होते हैं, वे अन्यों की पीड़ा को सोचे बिना उनसे कुछ याचना करते हैं। किन्तु यदि याचक दाता की कठिनाई को जान ले तो वह कोई वस्तु न माँगे। इसी प्रकार जो दान दे सकता हैं वह याचक ( भिखारी ) की कठिनाई नहीं समझता अन्यथा जो कुछ भी वह माँगे वह उसे देने से इनकार नहीं करेगा।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में दो प्रकार के लोगों का वर्णन है—एक वे जो दान देते हैं और दूसरे वे जो माँगते हैं। भिक्षुक को चाहिए कि वह संकटग्रस्त मनुष्य से दान न माँगे। इसी प्रकार जो दान दे सकता है उसे चाहिए कि वह भिक्षुक को इनकार न करे। शास्त्र के यही नैतिक उपदेश हैं। चाणक्य पंडित का कहना है—*सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति*—इस संसार की प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जायेगी, अत: प्रत्येक वस्तु का उपयोग सत्कार्य के लिए कर लेना चाहिए। यदि कोई ज्ञान में उन्नत है, तो उसे सत्कार्य के लिए कुछ भी न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। इस समय सम्पूर्ण विश्व ईश्वरविहीन सभ्यता के दौर में रहने से भयानक परिस्थिति में है। कृष्णभावना-आन्दोलन को ऐसे अनेक विद्वान पुरुषों की आवश्यकता है, जो ईश्वर की चेतना (भक्ति) को सम्पूर्ण जगत में पुनरुज्जीवित करने के लिए आत्म-बलिदान कर सकें। अत: हम समस्त विद्वान पुरुषों तथा स्त्रियों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होने एवं मानव-समाज में भगवद्भावना को पुनरुज्जीवित करने हेतु आत्मबलिदान करने के लिए आह्वान करते हैं।

**श्रीऋषिरुवाच**

**धर्मं व: श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृता: ।**
**एष व: प्रियमात्मानं त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम् ॥ ७॥**

**शब्दार्थ**

श्री-ऋषि: उवाच—महर्षि दधीचि ने कहा; धर्मम्—धर्म की बातें; व:—तुमसे; श्रोतु-कामेन—सुनने की इच्छा से; यूयम्—तुम; मे—मुझसे; प्रत्युदाहृता:—विपरीत उत्तर पाकर; एष:—यह; व:—तुम्हारे लिए; प्रियम्—प्रिय; आत्मानम्—शरीर; त्यजन्तम्—आज या कल मुझे छोड़ कर; सन्त्यजामि—छोड़ता हूँ; अहम्—मैं।

**परमसाधु दधीचि ने कहा—मैने तुम लोगों से धर्म की बातें सुनने के लिए ही तुम्हारे मांगने पर अपना शरीर देने से इनकार कर दिया है। अब, यद्यपि मुझे अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, तो भी तुम लोगों के कल्याण के लिए मैं इसको छोड़ दूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह आज नहीं तो कल अवश्य मुझे छोड़ देगा।**

**योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यश: पुमान् ।**

**ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८॥**

### शब्दार्थ

यः—जो कोई; अध्रुवेण—अस्थायी; आत्मना—शरीर से; नाथाः—हे देवो; न—नहीं; धर्मम्—धार्मिक नियम; न—नहीं; यशः—कीर्ति; पुमान्—मनुष्य; ईहेत—के लिए प्रयत्न करता है; भूत-दयया—जीवों के लिए दया से; सः—वह मनुष्य; शोच्यः—शोचनीय; स्थावरैः—जड़ जीवों के द्वारा; अपि—भी।

**हे देवो! जो न तो दुखी प्राणियों पर दया दिखाता है और न धार्मिक नियमों या अक्षुण्ण कीर्ति के महान् कार्यों के लिए अपने नश्वर शरीर की बलि कर सकता है, वह निश्चय ही जड़ प्राणियों तक के द्वारा धिक्कारा जाता है।**

**तात्पर्य :** इस प्रसंग में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वृन्दावन के छः गोस्वामियों ने एक आदर्श स्थापित किया है। जहाँ तक श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध है *श्रीमद्भागवत* (११.५.३४) में कहा गया है कि—

*त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं*

*धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।*

*मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्*

*वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥*

"हम भगवान् के उन चरणकमलों को नमस्कार करते हैं जिनका मनुष्य को सदैव स्मरण करना चाहिए। उन्होंने अपना गृहस्थ जीवन, यहाँ तक कि अपनी नित्य संगिनी को भी त्याग दिया जिनकी पूजा स्वर्ग के वासी तक करते हैं। वे भौतिक माया के द्वारा मोहग्रस्त पतित आत्माओं के उद्धार के लिए वन में चले गये।" संन्यास ग्रहण करने का अभिप्राय है नागरिक रूप से आत्महत्या, किन्तु संन्यास प्रत्येक ब्राह्मण अर्थात् प्रत्येक प्रथम कोटि के मनुष्य के लिए तो अनिवार्य है। श्री चैतन्य महाप्रभु की पत्नी अत्यन्त तरुणी एवं सुन्दरी थीं और उनकी माता अत्यन्त स्नेहमयी थीं। उनके परिवार के सदस्यों का व्यवहार इतना मधुर था कि देवता भी ऐसे घरेलू सुख की कल्पना नहीं कर सकते थे। फिर भी संसार की सभी पतित आत्माओं के उद्धार के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने चौबीस वर्ष की आयु में गृह त्याग कर संन्यास धारण कर लिया। उन्होंने कठोर

संन्यासी का जीवन बिताया और सभी शारीरिक सुखों का त्याग किया। इसी प्रकार उनके छः गोस्वामी समाज में अच्छे पदों पर मंत्री थे, किन्तु वे सब कुछ त्याग कर श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। श्रीनिवास आचार्य कहते हैं—

*त्यक्त्वा तूर्णमशेषमण्डलपतिश्रेणीं सदा तुच्छवत्।*

*भूत्वा दीनगणेशकौ करुणया कौपीन कन्थाश्रितौ।*

ये गोस्वामी अपने-अपने मंत्री, जमींदार तथा विद्वान पदों को त्याग कर श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में संसार की पतित-आत्माओं पर अनुग्रह करने के लिए सम्मिलित हो गये (*दीन-गणेशकौ करुणया*)। उन्होंने भिक्षुकों का जीवन स्वीकार किया, वे केवल लँगोटी तथा फटी गुदड़ी (कंथा) धारण करते हुए वृन्दावन में रहने लगे और श्री चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा का पालन करते थे जिससे वृन्दावन की विगत कीर्ति पुनः खोद सकें।

इसी प्रकार जिन लोगों को सुख-सुविधा प्राप्त है, उन्हें चाहिए कि वे पतित आत्माओं के उद्धार हेतु कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हों। *भूतदयया, माया मृगं दयितयेप्सितम्* तथा *दीन गणेशकौ करुणया* इन सभी शब्दों से यही अर्थ निकलता है। ये शब्द उन लोगों के लिए, जो मानव समाज को उचित ज्ञान तक उठाना चाहते हैं, अत्यन्त सार्थक हैं। मनुष्यों को चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु, छः गोस्वामी तथा उनसे भी पूर्व महर्षि दधीचि के आदेशों का अनुकरण करते हुए कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित हों। क्षणिक शारीरिक सुखों के लिए अपने जीवन को व्यर्थ न जाने देकर मनुष्यों को चाहिए कि उसे अच्छे कार्यों में लगाएँ। अन्ततः इस शरीर को नष्ट होना है, अतः मनुष्यों को चाहिए कि इसका उत्सर्ग सारे संसार में धर्म फैलाने के शुभ कार्य में करें।

**एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः ।**
**यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥ ९ ॥**

### शब्दार्थ

एतावान्—इतने; अव्ययः—अविनाशी; धर्मः—धार्मिक नियम; पुण्य-श्लोकैः—अत्यन्त पवित्र कहे जाने वाले प्रसिद्ध पुरुषों द्वारा; उपासितः—मान्य; यः—जो; भूत—जीवों का; शोक—दुख से; हर्षाभ्याम्—तथा सुखसे; आत्मा—मन; शोचति—पश्चात्ताप करता है; हृष्यति—प्रसन्न होता है।.

**यदि कोई मनुष्य दूसरे जीवों के दुख से दुखी होता है और उनके सुख को देखकर प्रसन्न होता है, तो पवित्र तथा परोपकारी महापुरुषों द्वारा ऐसे पुरुष के धर्म को अविनाशी माना गया है।**

**तात्पर्य :** प्राकृत गुणों से प्राप्त शरीर के अनुसार मनुष्य तरह-तरह के धर्मों का या व्यवसायों का पालन करता है। किन्तु इस श्लोक में असली धर्म की व्याख्या दी गई है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि दूसरे के दुख से दुखी और दूसरे के सुख से सुखी हो। *आत्मवत् सर्वभूतेषु*—दूसरों के सुख तथा दुख को अपना ही मानना चाहिए। इसी आधार पर बौद्धों का अहिंसा का धार्मिक सिद्धान्त स्थापित है—*अहिंसा परमधर्मः*। जब कोई हमें सताता है, तो हमें पीड़ा पहुँचती है, अतः हमें अन्य प्राणियों को नहीं सताना चाहिए। भगवान् बुद्ध का ध्येय वृथा पशु-हत्या को बन्द कराना था, इसलिए उन्होंने उपदेश दिया कि अहिंसा ही परम धर्म है।

एक ओर कोई पशुओं का वध करता रहे और दूसरी ओर धार्मिक कहलाए, ऐसा सम्भव नहीं। यह सबसे बड़ी धूर्तता है। जीजस क्राइस्ट ने कहा—"हिंसा मत करो," किन्तु धूर्त लोग अपने को ईसाई बताकर हजारों कसाईघर चला रहे हैं। इस श्लोक में ऐसी धूर्तता की निन्दा की गई है। मनुष्य को दूसरों को प्रसन्न देखकर प्रसन्न होना और उन्हें दुखी देखकर दुखी होना चाहिए। इसी नियम का पालन होना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस समय तथाकथित परोपकारी तथा मानववादी लोग बेचारे पशुओं के प्राण लेकर सम्पूर्ण मानवता के सुख का समर्थन कर रहे हैं। इस श्लोक में इसकी संस्तुति नहीं की गई है। इस श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है, कि मनुष्य को सभी जीवों के प्रति दयालु होना चाहिए। चाहे मनुष्य हो, पशु या वृक्ष—ये सभी जीवात्माएँ श्रीभगवान् की सन्तानें हैं। *भगवद्गीता* (१४.४) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

*सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।*

*तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता॥*

''हे कुन्तीपुत्र! यह समझ लेना चाहिए कि सभी प्रकार की योनियाँ इस भौतिक प्रकृति में जन्म लेने के कारण ही सम्भव हैं और मैं बीज-प्रदाता पिता हूँ।'' इन जीवात्माओं के विभिन्न रूप उनके बाह्य वेश-भूषाएँ हैं। प्रत्येक जीव वास्तव में आत्मा है, जो ईश्वर का अंश है। इसलिए किसी एक प्रकार के जीव का पक्ष नहीं लेना चाहिए। वैष्णव समस्त जीवों को ईश्वर का अंश मानता है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (५.१८ तथा १८.५४) में कहते हैं—

*विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।*

*शुनि चैव श्वपाके च पंडिता: समदर्शिन:॥*

''यथार्थ ज्ञानी पुरूष विनम्र विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान दृष्टि से देखता है।''

*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।*

*सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥*

''दिव्यत्व-प्राप्त पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो शोक करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मुझमें शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।'' अत: वैष्णव सचमुच पूर्ण मानव है, क्योंकि वह दूसरे को दुखी देखकर शोक करता है और अन्यों को प्रसन्न देखकर स्वयं प्रसन्न होता है। वैष्णव *'परदु:खदु:खी'* होता है, वह बद्धजीवों को भौतिकता से दुखी देखकर सदैव दुखी होता है। इसलिए वैष्णव सारे संसार में कृष्णभावनामृत का उपदेश देने में सदैव व्यस्त रहता है।

**अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यै: क्षणभङ्गुरै: ।**<br>**यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्य: स्वज्ञातिविग्रहै: ॥ १०॥**

## शब्दार्थ

अहो—ओह; दैन्यम्—दीन स्थिति; अहो—ओह; कष्टम्—कोरे कष्ट; पारक्यैः—जो मृत्यु के बाद कुत्ते तथा गीदड़ों के द्वारा भक्ष्य हैं; क्षण-भङ्गुरैः—किसी भी क्षण नष्ट होने वाला; यत्—क्योंकि; न—नहीं; उपकुर्यात्—काम आएगा; अ-स्व-अर्थैः—अपने हित के लिए नहीं; मर्त्यः—जीवात्मा जिसकी मृत्यु ध्रुव है; स्व—अपनी सम्पत्ति; ज्ञाति—परिजनों तथा मित्रों; विग्रहैः—तथा अपने शरीर से।

**यह शरीर, जिसे मृत्यु के पश्चात् कुत्ते तथा गीदड़ खा जायेंगे, मेरे अपने किसी काम का नहीं है। यह कुछ काल तक ही काम आने वाला है और किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। यह शरीर तथा इसके सभी कुटुम्बी तथा सम्पत्ति परोपकार में लगने चाहिए, अन्यथा वे सब दुख एवं विपत्ति के कारण बनेंगे।**

**तात्पर्य :** *श्रीमद्भागवत* (१०.२२.३५) में अन्यत्र ऐसा ही उपदेश दिया गया है—

*एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।*

*प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥*

''यह प्रत्येक जीव का धर्म है कि अपने जीवन, धन, बुद्धि तथा वाणी से अन्यों के हित के लिए शुभ कार्य करे।'' यही जीवन का ध्येय है। अपना शरीर तथा अपने मित्रों एवं परिजनों के शरीर तथा अपनी सम्पत्ति एवं जो कुछ भी हो, वह सारा परोपकार में लगा देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु का यही सन्देश है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ९.४१) में कहा गया है—

*भारतभूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।*

*जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥*

''जिसने इस भारत भूमि में मनुष्य के रूप में जन्म लिया है, उसे चाहिए कि वह अपने जीवन को सफल बनाए और दूसरों के हित के लिए कार्य करे।''

*उपकुर्यात्* शब्द का अर्थ है पर-उपकार अर्थात् दूसरों की सहायता करना। निस्सन्देह, मानव समाज में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जो दूसरों की सहायता करती हैं, किन्तु परोपकारी समाजसेवी यह नहीं जानते कि अन्यों की सहायता किस प्रकार की जाये, अतः उनकी समाजसेवा की लालसा प्रभावशाली नहीं होती। वे जीवन के चरम उद्देश्य (*श्रेय आचरणम्*) को नहीं जानते, जो परमेश्वर

को प्रसन्न करना है। यदि समग्र समाजसेवी तथा मानवतावादी गतिविधियाँ जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने—श्रीभगवान् को प्रसन्न करने—की ओर निर्देशित हों तब वे पूर्ण होंगी। श्रीकृष्ण के बिना कोई भी मानवतावादी कार्य व्यर्थ है। श्रीकृष्ण को प्रत्येक गतिविधि का केन्द्र बनाना होगा, अन्यथा किसी भी गतिविधि का कोई मूल्य नहीं है।

**श्रीबादरायणिरुवाच**
**एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम् ।**
**परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ ॥ ११ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृत-व्यवसितः—निश्चय करके कि क्या करना है ( देवों को शरीर देना है ); दध्यङ्—दधीचि मुनि; आथर्वणः—अथर्वा का पुत्र; तनुम्—शरीर को; परे—परम; भगवति—भगवान् को; ब्रह्मणि—परब्रह्म को; आत्मानम्—स्वतः, आत्मा; सन्नयन्—भेंट करके; जहौ—त्याग दिया।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार अर्थवा के पुत्र दधीचि मुनि ने देवताओं की सेवा के लिए अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया। उन्होंने अपने आप ( आत्मा ) को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणारविन्द में रख कर पंचभूत से निर्मित अपने स्थूल शरीर को त्याग दिया।**

**तात्पर्य :** जैसाकि *परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयन्* शब्दों से प्रकट है दधीचि ने अपने आत्मा को स्वयं श्रीभगवान् के चरणों पर चढ़ा दिया। इस प्रसंग में धृतराष्ट्र द्वारा अपना शरीर छोड़े जाने की घटना का उल्लेख किया जा सकता है, जिसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.१३.५५) में हुआ है। धृतराष्ट्र ने उन पंच तत्त्वों को जिससे उनका शरीर बना था, पृथक् करके उन्हें तत् तत् आगारों में बाँट दिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने उन पाँच तत्त्वों को आदि *महत् तत्त्व* में मिला दिया। अपनी भौतिक बुद्धि के द्वारा उन्होंने भौतिक सम्बन्धों से आत्मा को पृथक् कर लिया और अपने आप को श्रीभगवान् के चरणारविन्द में अर्पित कर दिया। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जाता है—जब कोई मिट्टी का पात्र टूटता है, तो पात्र के भीतर का सूक्ष्म आकाश बाह्य बृहत् आकाश में मिल जाता है। मायावादी दार्शनिक *श्रीमद्भागवत* के इस विवरण को ठीक से नहीं

समझ पाते। इसलिए रामानुज स्वामी ने अपने ग्रन्थ *वेदान्त तत्त्व सार* में वर्णन किया है कि आत्मा के मिलन का अर्थ है कि आठ तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, अहंकार, मन तथा बुद्धि—से निर्मित शरीर से अपने को पृथक् करके आत्मा अपने आपको सनातन रूप में श्रीभगवान् की सेवा में लगा लेता है (*ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:। अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्*)। भौतिक तत्त्वों का भौतिक कारण भौतिक शरीर को सोख लेता है और आत्मा अपने आदिस्वरूप को ग्रहण कर लेता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति श्रीकृष्ण के शाश्वत दास की है। जब मनुष्य आत्मज्ञान के अनुशीलन से तथा भक्ति से इस भौतिक शरीर पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो वह अपनी स्थिति को पुन: प्राप्त करके भगवान् की भक्ति में लग सकता है।

**यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग्ध्वस्तबन्धन: ।**
**आस्थित: परमं योगं न देहं बुबुधे गतम् ॥ १२॥**

**शब्दार्थ**

यत—वश में; अक्ष—इन्द्रियाँ; असु—प्राणवायु; मन:—मन; बुद्धि:—बुद्धि; तत्त्व-दृक्—तत्त्वों एवं भौतिक तथा आत्मशक्तियों का ज्ञाता; ध्वस्त-बन्धन:—बन्धन से मुक्त; आस्थित:—स्थित होकर; परमम्—परम; योगम्—ध्यान, समाधि को; न—नहीं; देहम्—भौतिक शरीर को; बुबुधे—देखा; गतम्—निकला हुआ।

**दधीचि मुनि ने अपनी इन्द्रियों, प्राण, मन तथा बुद्धि को संयमित किया और समाधि में लीन हो गये। इस प्रकार उनके समस्त भव-बन्धन छिन्न हो गये। वे यह नहीं देख सकते थे कि उनका भौतिक शरीर किस प्रकार आत्मा से पृथक् हो गया।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (८.५) में श्रीकृष्ण का कथन हैं—

*अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।*

*य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ॥*

''जो कोई अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह तत्काल मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है'' वस्तुत: मृत्यु के पूर्व ही इसका अभ्यास करना

चाहिए, किन्तु पूर्ण योगी अर्थात् भक्त श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए समाधि में मरता है। उसे यह पता नहीं चल पाता कि उसका शरीर आत्मा से पृथक् हो रहा है। आत्मा तुरन्त वैकुण्ठलोक को चला जाता है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—आत्मा पुन: संसारी माता के गर्भ में प्रवेश नहीं करता वरन् वह भगवान् के धाम चला जाता है। यह भक्तियोग ही सर्वोच्च योग विधि है, जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (६.४७) में कहा है—

*योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।*

*श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:॥*

"समस्त योगियों में से जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरंग रूप में जुड़ा हुआ है और परम श्रेष्ठ है।" भक्तियोगी सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, अत: मृत्यु के समय वह अपने आपको, मृत्यु की वेदना सहे बिना, *कृष्णलोक* में स्थानान्तरित कर सकता है।

**अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।**
**मुने: शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वित: ॥ १३॥**
**वृतो देवगणै: सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।**
**स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥ १४॥**

### शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; इन्द्र:—स्वर्ग का राजा; वज्रम्—वज्र को; उद्यम्य—दृढ़तापूर्वक लेकर; निर्मितम्—बनाया हुआ; विश्वकर्मणा—विश्वकर्मा द्वारा; मुने:—दधीचि मुनि की; शक्तिभि:—शक्ति से; उत्सिक्त:—सिक्त होकर; भगवत्—श्रीभगवान् की; तेजसा—आध्यात्मिक शक्ति से; अन्वित:—प्रदत्त; वृत:—घिरे हुए; देव-गणै:—अन्य देवताओं से; सर्वै:—समस्त; गजेन्द्र—अपने हाथी के; उपरि—पीठ पर; अशोभत—चमकने लगा; स्तूयमान:—स्तुति किया जाकर; मुनि-गणै:—मुनियों के द्वारा; त्रै-लोक्यम्—तीनों लोकों को; हर्षयन्—प्रसन्न करते हुए; इव—मानो।

**तत्पश्चात् राजा इन्द्र ने विश्वकर्मा द्वारा दधीचि की अस्थियों से निर्मित वज्र को दृढ़तापूर्वक धारण किया। दधीचि मुनि की परम शक्ति से आविष्ट एवं श्रीभगवान् के तेज से प्रकाशित होकर इन्द्र अपने वाहन ऐरावत की पीठ पर सवार हुआ। उसे समस्त देवता घेरे हुए थे और सभी मुनिगण उसकी प्रशंसा कर रहे थे। इस तरह जब वह वृत्रासुर का वध करने के**

**लिए सवार होकर चला तो वह अत्यन्त सुशोभित हो रहा था और तीनों लोकों को भा रहा था।**

**वृत्रमभ्यद्रवच्छत्रुमसुरानीकयूथपैः ।**
**पर्यस्तमोजसा राजन्क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम् ॥ १५॥**

शब्दार्थ

वृत्रम्—वृत्रासुर पर; अभ्यद्रवत्—आक्रमण किया; शत्रुम्—शत्रु; असुर-अनीक-यूथपैः—असुरों के सैनिकों के सेनापतियों द्वारा; पर्यस्तम्—घिरा हुआ; ओजसा—अत्यन्त वेग से; राजन्—हे राजन्; क्रुद्धः—क्रोधित होकर; रुद्रः—भगवान् शिव का अवतार; इव—सदृश; अन्तकम्—अन्तक अथवा यमराज।

**हे राजा परीक्षित! जिस प्रकार रूद्र अत्यन्त क्रुद्ध होकर पहले समय में अन्तक (यमराज) को मारने के लिए उसकी ओर दौड़े थे, उसी प्रकार इन्द्र ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर बड़े ही वेग से आसुरी सेना के नायकों से घिरे वृत्रासुर पर धावा बोल दिया।**

**ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः ।**
**त्रेतामुखे नर्मदायामभवत्प्रथमे युगे ॥ १६॥**

शब्दार्थ

ततः—तदनन्तर; सुराणाम्—देवताओं का; असुरैः—असुरों के साथ; रणः—महान् युद्ध; परम-दारुणः—अत्यन्त भयानक; त्रेता-मुखे—त्रेतायुग के प्रारम्भ में; नर्मदायाम्—नर्मदा नदी के तट पर; अभवत्—हुआ; प्रथमे—प्रथम; युगे—कल्प में।

**तत्पश्चात् सत्ययुग के अन्त तथा त्रेतायुग के प्रारम्भ में नर्मदा नदी के तट पर देवों तथा असुरों के मध्य घमासान युद्ध हुआ।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर नर्मदा का अभिप्राय भारत की नर्मदा से नहीं है। भारत में पाँच पवित्र नदियाँ हैं—गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी तथा कृष्णा—ये सभी स्वर्गिक हैं, गंगा नदी की भाँति नर्मदा भी स्वर्ग में बहती है। असुरों तथा देवों का संग्राम स्वर्गलोक में ही हुआ।

*प्रथमे युगे* का अर्थ है, प्रथम कल्प (युग) के प्रारम्भ में, अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में। ब्रह्मा के एक-एक दिन में चौदह मनु होते हैं जिनमें से प्रत्येक इकहत्तर कल्प तक जीवित रहता है। चारों युग—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—मिलकर एक कल्प बनाते हैं। आजकल हम

वैवस्वत मनु के मन्वन्तर में रह रहे हैं, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है ( *इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह*)। इस समय हम वैवस्वत मनु के अट्ठाइसवें कल्प में हैं, किन्तु यह युद्ध वैवस्वत मनु के प्रथम मन्वन्तर में हुआ। अत: ऐतिहासिक दृष्टि से गणना की जा सकती है कि युद्ध कब हुआ। चूँकि प्रत्येक कल्प तैंतालीस लाख वर्ष का होता हैं और अब हम अट्ठाईसवें कल्प में है, अत: लगभग १२ करोड़ ४ लाख वर्ष बीत चुके हैं, जब नर्मदा के तट पर यह युद्ध हुआ था।

**रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः ।**
**मरुद्भिरृभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम् ॥ १७॥**
**दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया ।**
**नामृष्यन्नसुरा राजन्मृधे वृत्रपुरःसराः ॥ १८॥**

### शब्दार्थ

रुद्रैः—रुद्रों के द्वारा; वसुभिः—वसुओं के द्वारा; आदित्यैः—आदित्यों के द्वारा; अश्विभ्याम्—अश्विनी कुमारों के द्वारा; पितृ—पितरों से; वह्निभिः—वह्नियों के द्वारा; मरुद्भिः—मरुतों के द्वारा; ऋभुभिः—ऋभुओं के द्वारा; साध्यैः—साध्यों के द्वारा; विश्वे-देवैः—विश्वदेवों के द्वारा; मरुत्-पतिम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र को; दृष्ट्वा—देखकर; वज्र-धरम्—वज्र धारण किये; शक्रम्—इन्द्र का अन्य नाम; रोचमानम्—चमकते हुए; स्वया—अपने आप से; श्रिया—ऐश्वर्य; न—नहीं; अमृष्यन्—सह्य, सहनीय; असुराः—सभी असुर; राजन्—हे राजा; मृधे—युद्ध में; वृत्र-पुरःसराः—वृत्रासुर के नेतृत्व में।

**हे राजन्! जब वृत्रासुर को आगे करके सभी असुर युद्धभूमि में आये तो उन्होंने देखा कि राजा इन्द्र वज्र धारण किये हुए है और रूद्रों, वसुओं, आदित्यों, अश्वनी-कुमारों, पितरों, वह्नियों, मरुतों, ऋभुओं, साध्यों तथा विश्वदेवों से घिरा हुआ है और इस प्रकार से देदीप्यमान है कि उसका तेज असुरों के लिए असह्य था।**

**नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्धा ऋषभोऽसुरः ।**
**हयग्रीवः शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुखः ॥ १९॥**
**पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कलः ।**
**दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः ॥ २०॥**
**सुमालिमालिप्रमुखाः कार्तस्वरपरिच्छदाः ।**
**प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम् ॥ २१॥**

अभ्यर्दयन्नसम्भ्रान्ता: सिंहनादेन दुर्मदा: ।
गदाभि: परिघैर्बाणै: प्रासमुद्गरतोमरै: ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमुचि:—नमुचि; शम्बर:—शम्बर; अनर्वा—अनर्वा; द्विमूर्धा—द्विमूर्धा; ऋषभ:—ऋषभ; असुर:—असुर; हयग्रीव:—हयग्रीव; शङ्कु शिरा:—शंकुशिरा; विप्रचित्ति:—विप्रचित्ति; अयोमुख:—अयोमुख; पुलोमा—पुलोमा; वृषपर्वा—वृषपर्वा; च—भी; प्रहेति:—प्रहेति; हेति:—हेति; उत्कल:—उत्कल; दैतेया:—दैत्यगण; दानवा:—दानवगण; यक्षा:—यक्षगण; रक्षांसि—राक्षस; च—तथा; सहस्रश:—हजारों में; सुमालि-मालि-प्रमुखा:—सुमालि तथा मालि आदि अन्य; कार्तस्वर—सोने के; परिच्छदा:—आभूषणों से युक्त; प्रतिषिध्य—पीछे रहकर; इन्द्र-सेना-अग्रम्—इन्द्र की सेना के आगे; मृत्यो:—मृत्यु के लिए; अपि—भी; दुरासदम्—पहुँचना कठिन; अभ्यर्दयन्—सताये हुए; असम्भ्रान्ता:—डर रहित; सिंह-नादेन—सिंह की सी गर्जना से; दुर्मदा:—भयानक; गदाभि:—गदा से; परिघै:—लौहगदा से; बाणै:—बाणों से; प्रास-मुद्गर-तोमरै:—कँटीले प्रक्षेपास्त्रों, मुगदर तथा भालों से।

सैकड़ों हजारों असुरों, यक्षों, राक्षसों (मनुष्य-भक्षकों) तथा सुमालि, मालि आदि अन्यों ने राजा इन्द्र की सेनाओं को रोका जिन्हें साक्षात् काल भी नहीं जीत सकता था। असुरों में नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, असुर, हयग्रीव, शंकु-शिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति तथा उत्कल सम्मिलित थे। ये अजेय असुर स्वर्णाभूषणों से भूषित होकर सिंह के समान निर्भीक होकर घोर नाद कर रहे थे और गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर तथा तोमर जैसे हथियारों से देवताओं को पीड़ा पहुँचा रहे थे।

शूलै: परश्वधै: खड्गै: शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभि: ।
सर्वतोऽवाकिरन्शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शूलै:—बर्छों से; परश्वधै:—फरसों से; खड्गै:—तलवारों से; शतघ्नीभि:—शतघ्नियों से; भुशुण्डिभि:—भुशुण्डियों से; सर्वत:—चारों ओर; अवाकिरन्—तितर-बितर करके; शस्त्रै:—शस्त्रों से; अस्त्रै:—बाणों से; च—तथा; विबुध-ऋषभान्—देवताओं के प्रमुख।

बर्छों, त्रिशूलों, फरसों, तलवारों तथा शतघ्नी एवं भुशुण्डी जैसे अन्य हथियारों से सुसज्जित होकर असुरों ने विभिन्न दिशाओं से आक्रमण कर दिया और देवताओं की सेना के समस्त नायकों को तितर-बितर कर दिया।

न तेऽदृश्यन्त सञ्छन्ना: शरजालै: समन्तत: ।
पुङ्खानुपुङ्खपतितैर्ज्योतींषीव नभोघनै: ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे ( देवता ); अदृश्यन्त—देखे गये; सञ्छन्नाः—पूर्णतया आच्छादित; शर-जालैः—बाणों के जाल से; समन्ततः—चारों ओर; पुङ्ख-अनुपुङ्ख—एक के बाद एक तीर; पतितैः—गिरने से; ज्योतींषि इव—आकाश में तारों के समान; नभः-घनैः—घने बादलों के द्वारा।

जिस प्रकार घने बादलों के आकाश में छा जाने के बाद तारे नहीं दिखाई पड़ते उसी प्रकार एक के बाद एक गिरने वाले बाणों के जाल से पूर्णतया आच्छादित हो जाने से देवतागण दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यासेदुः सुरसैनिकान् ।
छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; शस्त्र-अस्त्र-वर्ष-ओघाः—बाणों तथा अन्य हथियारों की वर्षा; हि—निस्सन्देह; आसेदुः—पहुँची; सुर-सैनिकान्—देवताओं की सेना; छिन्नाः—कटी हुई; सिद्ध-पथे—आकाश में; देवैः—देवताओं के द्वारा; लघु-हस्तैः—तेजी से चलते हाथों द्वारा, लाघव से; सहस्रधा—हजारों खण्डों में।

देवताओं की सेना को मारने के लिए हथियारों तथा बाणों के द्वारा की गई वर्षा उन तक नहीं पहुँच पाई, क्योंकि उन्होंने अपने हस्तलाघव से आकाश में इन हथियारों को काटकर खण्ड-खण्ड कर दिया।

अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः ।
अभ्यवर्षन्सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; क्षीण—अत्यन्त दुर्बल; अस्त्र—मंत्र द्वारा छोड़े गये बाणों का; शस्त्र—तथा हथियार; ओघाः—समूह; गिरि—पर्वत की; शृङ्ग—चोटी से; द्रुम—वृक्षों से; उपलैः—तथा पत्थरों से; अभ्यवर्षन्—वर्षा करते हुए; सुर-बलम्—देवताओं के सैनिक; चिच्छिदुः—खण्ड खण्ड कर दिया; तान्—उनको; च—तथा; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

जब असुरों के हथियार तथा मंत्र चुक गये, तो उन्होंने देवताओं पर पर्वतों के शिखर, वृक्ष तथा पत्थर बरसाना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु देवता इतने प्रभावशाली तथा दक्ष थे कि उन्होंने पूर्ववत् इन सभी हथियारों को आकाश में खण्ड-खण्ड कर दिया।

तानक्षतान्स्वस्तिमतो निशाम्य

शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः ।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गै
रविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तान्—उनको ( देवों के सैनिकों को ); अक्षतान्—बिना चोट के; स्वस्ति-मतः—अत्यन्त स्वस्थ; निशाम्य—देखकर; शस्त्र-अस्त्र-पूगैः—हथियारों तथा मंत्रों के समूहों द्वारा; अथ—तत्पश्चात्; वृत्र-नाथाः—वृत्रासुर के अधीन सैनिक; द्रुमैः—वृक्षों से; दृषद्भिः—पत्थरों से; विविध—अनेक; अद्रि—पर्वतों के; शृङ्गैः—शिखरों द्वारा; अविक्षतान्—बिना घायल; तत्रसुः—भयभीत हो गये; इन्द्र-सैनिकान्—राजा इन्द्र के सैनिक।

**जब वृत्रासुर द्वारा आदेशित असुर सैनिकों ने देखा कि इन्द्र के सैनिक अनेक शस्त्रास्त्रों के समूह से, यहाँ तक कि वृक्षों, पत्थरों तथा पर्वत-शृगों के द्वारा भी घायल नहीं हो सके हैं और अक्षत बने हुए हैं, तो असुरगण अत्यन्त भयभीत हुए।**

सर्वे प्रयासा अभवन्विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः ।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता ऊषती रूक्षवाचः ॥ २८॥

शब्दार्थ

सर्वे—समस्त; प्रयासाः—प्रयत्न; अभवन्—हो गये; विमोघाः—निष्फल; कृताः—किया हुआ; कृताः—पुनः किया गया; देव-गणेषु—देवताओं में; दैत्यैः—असुरों द्वारा; कृष्ण-अनुकूलेषु—जो श्रीकृष्ण द्वारा सदैव रक्षित हैं; यथा—जिस प्रकार; महत्सु—वैष्णवों को; क्षुद्रैः—तुच्छ मनुष्यों द्वारा; प्रयुक्ताः—प्रयुक्त; ऊषतीः—प्रतिकूल; रूक्ष—कठोर; वाचः—शब्द।

**जब तुच्छ लोग सन्त पुरुषों पर झूठे, क्रुद्ध आरोप लगाने के लिए दुर्वचनों का व्यवहार करते हैं, तो निरर्थक वचनों से महापुरुष विचलित नहीं होते। इसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित देवताओं के विरुद्ध किये जाने वाले असुरों के सभी प्रयास निष्फल हो रहे थे।**

**तात्पर्य :** बाँग्ला में कहावत है, कि गीध के शाप से गाय नहीं मरती। इसी प्रकार कृष्ण के भक्तों पर आसुरी व्यक्तियों द्वारा लगाये जाने वाले आरोपों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। देवता श्रीकृष्ण के भक्त थे, अतः असुरों के शाप निष्फल रहे।

ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः ।

पलायनायाजिमुखे विसृज्य
पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे ( असुर ); स्व-प्रयासम्—अपने प्रयत्नों से; वितथम्—निष्फल; निरीक्ष्य—देखकर; हरौ अभक्ताः—जो श्रीभगवान् के भक्त नहीं हैं, असुर; हत—पराजित; युद्ध-दर्पाः—लड़ने में उनका घमंड; पलायनाय—युद्धभूमि से भगने के लिए; आजि-मुखे—युद्ध के प्रारम्भ में; विसृज्य—एक ओर छोड़कर; पतिम्—अपने सेनानायक, वृत्रासुर को; मनः—उनके मन; ते—वे सब; दधुः—दिया; आत्त-साराः—शौर्य-विहीन।

जब श्रीभगवान् कृष्ण के अभक्त असुरों ने देखा कि उनके सारे प्रयास निष्फल हो गये हैं, तो युद्ध करने का उनका सारा घमंड जाता रहा। उन्होंने अपने नायक को युद्ध शुरू होने के समय ही छोड़कर वहाँ से भागने का निश्चय कर लिया, क्योंकि उनके शत्रुओं ने उनका सारा शौर्य छीन लिया था।

वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान्मनस्वी
प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत् ।
पलायितं प्रेक्ष्य बलं च भग्नं
भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्रः—वृत्रासुर, असुरों का सेनानायक; असुरान्—सभी असुरों को; तान्—उन; अनुगान्—उसके अनुयायियों को; मनस्वी—विशाल हृदय वाला; प्रधावतः—भागते हुए; प्रेक्ष्य—देखकर; बभाष—बोला; एतत्—यह; पलायितम्—भागते हुए; प्रेक्ष्य—देखकर; बलम्—सेना को; च—तथा; भग्नम्—टूटा हुआ; भयेन—भय से; तीव्रेण—तीव्र; विहस्य—हँसकर; वीरः—बहादुर।

अपनी सेना को क्षत-विक्षत तथा समस्त असुरों को, यहाँ तक कि जो परमवीर कहलाते थे, अत्यन्त भय के कारण युद्धभूमि से भागते देखकर सचमुच विशाल हृदय वाला बहादुर वृत्रासुर हँसा और इन शब्दों में बोला।

कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विनां
जगाद वाचं पुरुषप्रवीरः ।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्
मयानर्वञ्छम्बर मे शृणुध्वम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

काल-उपपन्नाम्—काल तथा परिस्थिति के अनुकूल; रुचिराम्—अत्यन्त सुन्दर; मनस्विनाम्—महान्, विशाल हृदय वाले पुरुषों के; जगाद—बोला; वाचम्—शब्द; पुरुष-प्रवीरः—वीरों का वीर, वृत्रासुर; हे—अरे; विप्रचित्ते—विप्रचित्ति; नमुचे—हे नमुचि; पुलोमन्—हे पुलोमा; मय—हे मय; अनर्वन्—हे अनर्वा; शम्बर—हे शम्बर; मे—मुझसे; शृणुध्वम्—कृपया सुनो।

**अपनी स्थिति तथा काल और परिस्थितियों के अनुसार वीरशिरोमणि वृत्रासुर ने ऐसे वचन कहे जो विचारवान् पुरुषों द्वारा प्रशंसा के योग्य थे। उसने असुर-वीरों को बुलाया, "हे विप्रचित्ति, हे नमुचि, हे पुलोमा, हे मय, हे अनर्वा तथा शम्बर! भागो नहीं, मेरी बात तो सुन लो।"**

**जातस्य मृत्युर्ध्रुव एव सर्वतः**
**प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता ।**
**लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं**
**को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥ ३२ ॥**

### शब्दार्थ

जातस्य—जिसने जन्म लिया है ( समस्त जीव ) उनकी; मृत्युः—मृत्युः; ध्रुवः—अनिवार्य; एव—निस्सन्देह; सर्वतः—संसार में सर्वत्र; प्रतिक्रिया—बचने का उपाय, काट; यस्य—जिसका; न—नहीं; च—भी; इह—इस संसार में; क्लृप्ता—बनाया गया; लोकः—स्वर्गलोक; यशः—कीर्ति; च—तथा; अथ—तब; ततः—उससे; यदि—यदि; हि—निस्सन्देह; अमुम्—वह; कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; मृत्युम्—मृत्यु; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करेगा; युक्तम्—अनुकूल।

**वृत्रासुर ने कहा—इस संसार में जन्मे सभी जीवों को मरना है। निश्चित ही, इस संसार में कोई भी मृत्यु से बचने के किसी उपाय को नहीं ढूँढ सका है। विधाता तक ने इससे बचने का कोई उपाय नहीं बताया। ऐसी परिस्थितियों में जब कि मृत्यु अपरिहार्य है और यदि स्वर्गलोक की प्राप्ति हो रही हो और उपयुक्त मृत्यु के कारण सदैव यश तथा कीर्ति बनी रहे तो भला कौन पुरुष होगा जो ऐसी यशस्वी मृत्यु को स्वीकार नहीं करेगा?**

**तात्पर्य :** यदि मरने से स्वर्गलोक की प्राप्ति हो रही हो और मृत्यु के बाद चिर यश बना रहे तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो ऐसी यशस्वी मृत्यु को ठुकरा देगा? ऐसा ही उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था—"हे अर्जुन! लड़ने से विमुख मत हो। यदि तुम विजयी हुए तो राज्य भोग करोगे और यदि मरते हो तो स्वर्गलोक को जाओगे।" प्रत्येक मनुष्य को यशस्वी कार्य करते हुए मरने के

लिए उद्यत रहना चाहिए। यशस्वी पुरुष कुत्तों की मौत मरने के लिए नहीं होते।

**द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापौ**
**यद्ब्रह्मसन्धारणया जितासुः ।**
**कलेवरं योगरतो विजह्याद्**
**यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥ ३३॥**

शब्दार्थ

द्वौ—दो; सम्मतौ—(शास्त्रों तथा महापुरुषों द्वारा) सम्मत; इह—इस संसार में; मृत्यू—मृत्युएँ; दुरापौ—अत्यन्त दुर्लभ; यत्—जो; ब्रह्म-सन्धारणया—ब्रह्म, परमात्मा या परब्रह्म कृष्ण में ध्यानमग्न होकर; जित-असुः—मन तथा इन्द्रियों को वश में करके; कलेवरम्—शरीर को; योग-रतः—योग-साधना में लीन; विजह्यात्—त्याग सकता है; यत्—जो; अग्रणीः—आगे चलकर, पथ-पदर्शक बनकर; वीर-शये—युद्धभूमि में; अनिवृत्तः—पीठ न दिखाकर।

**यशस्वी मृत्यु को वरण करने के दो उपाय हैं और वे दोनों अत्यन्त दुर्लभ हैं। पहला है, योग-साधना, विशेष रूप से भक्तियोग के द्वारा मरना जिसमें मनुष्य मन तथा प्राण को वश में करके पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चिन्तन में लीन होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। दूसरा है युद्धभूमि में सेना का नेतृत्व करते हुए तथा कभी पीठ न दिखाते हुए मर जाना। शास्त्र में इन दो प्रकार की मृत्युओं को यशस्वी कहा गया है।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत "देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध" नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter ग्यारह

# वृत्रासुर के दिव्य गुण

इस अध्याय में वृत्रासुर के सद्गुणों का वर्णन हुआ है। जब वृत्रासुर की सेना के प्रमुख सेनानायक वृत्रासुर के उपदेश को न सुनकर भाग गये तो उसने उन्हें कायर कह कर खूब धिक्कारा। वीरतापूर्वक बोलते हुए वह देवताओं का सामना करने के लिए अकेला अड़ा रहा। जब देवताओं ने वृत्रासुर के रुख को देखा तो वे इतने भयभीत हुए कि मूर्च्छित-से होने लगे और वृत्रासुर उन्हें रौंदने लगा। इन्द्र इसे सहन न कर सका, अतः उसने अपनी गदा वृत्रासुर पर चलाई लेकिन वृत्रासुर

इतना वीर था कि उसने अपने बाएँ हाथ से गदा पकड़ ली और उससे इन्द्र के हाथी को मारने लगा। वृत्रासुर के प्रहार से वह हाथी चौदह गज पीछे हट गया और पीठ पर बैठे इन्द्र समेत भूमि पर गिर पड़ा।

राजा इन्द्र ने पहले विश्वरूप को पुरोहित बनाया और बाद में उसका वध कर दिया था। वृत्रासुर ने इन्द्र को इस जघन्य कार्य की याद दिलाते हुए कहा, ''यदि कोई श्रीभगवान् विष्णु का भक्त होता है और हर प्रकार से भगवान् विष्णु पर निर्भर रहता है, तो उसे विजय, ऐश्वर्य तथा मानसिक शान्ति—ये अनिवार्य रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसे मुनष्य को तीनों लोकों में किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। परमेश्वर इतने दयालु हैं कि वे जानबूझ कर ऐसे भक्त को ऐश्वर्य नहीं देते जिससे उसकी भक्ति में व्यवधान पड़े। अत: मैं भगवान् की सेवा करने के लिए सब कुछ त्याग देना चाहता हूँ। मैं सदा भगवान् का गुणगान करना चाहता हूं और उनकी सेवा में लगा रहना चाहता हूँ। मैं अपने सांसारिक परिवार से विरक्त होकर भगवान् के भक्तों की संगति करूँगा। मैं किसी उच्च लोक, यहाँ तक कि ध्रुवलोक या ब्रह्मलोक में भेजे जाने की कामना भी नहीं करता, न ही मैं इस जगत में अविजित स्थिति का भूखा हूँ। मुझे ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है।''

**श्रीशुक उवाच**
**त एवं शंसतो धर्मं वच: पत्युरचेतस: ।**
**नैवागृह्णन्त सम्भ्रान्ता: पलायनपरा नृप ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—वे; एवम्—इस प्रकार; शंसत:—प्रशंसा करते; धर्मम्—धर्म के नियम को; वच:—शब्द; पत्यु:—अपने स्वामी के; अचेतस:—अत्यन्त विचलित मन से; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अगृह्णन्त—स्वीकार किया; सम्भ्रान्ता:—भयभीत; पलायन-परा:—भागने को उद्यत; नृप—हे राजन्!.

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! असुरों के प्रधान सेनानायक वृत्रासुर ने अपने सेनानायकों को धर्म के नियमों का उपदेश दिया, किन्तु वे कायर तथा भगोड़े सेनानायक भय से इतने विचलित हो चुके थे कि उन्होंने उसके वचनों को नहीं माना।**

विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः ।
कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत् ॥ २ ॥
दृष्ट्वातप्यत सङ्क्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः ।
तान्निवार्यौजसा राजन्निर्भर्त्स्येदमुवाच ह ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विशीर्यमाणाम्—छिन्न-भिन्न; पृतनाम्—सेना को; आसुरीम्—असुरों की; असुर-ऋषभः—असुरों में श्रेष्ठ, वृत्रासुर; काल-अनुकूलैः—समय के अनुसार परिस्थितियों का पालन करते हुए; त्रिदशैः—देवताओं के द्वारा; काल्यमानाम्—पीछा किये गये; अनाथ-वत्—असुरक्षित की तरह; दृष्ट्वा—देखकर; अतप्यत—दुखी हुआ; सङ्क्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; इन्द्र-शत्रुः—इन्द्र का वैरी, वृत्रासुर; अमर्षितः—न सह सकने से; तान्—उन ( देवताओं ) को; निवार्य—रोक कर; ओजसा—अत्यन्त बलपूर्वक से; राजन्—हे राजा परीक्षित; निर्भर्त्स्य—डाँटकर; इदम्—यह; उवाच—कहा; ह—निस्सन्देह।

हे राजा परीक्षित! समय द्वारा प्रदत्त अनुकूल अवसर का लाभ उठाकर देवताओं ने असुरों की सेना पर पीछे से आक्रमण कर दिया और असुर सैनिकों को खदेड़कर इधर-उधर बिखेर दिया, मानो उनकी सेना में कोई नायक ही न हो। अपने सैनिकों की दयनीय दशा को देखकर असुरश्रेष्ठ वृत्रासुर जिसे इन्द्रशत्रु कहा जाता था, अत्यन्त दुखी हुआ। ऐसी पराजय न सह सकने के कारण उसने देवताओं को रोका और बलपूर्वक डाँटते हुए क्रुद्धभाव से इस प्रकार कहा।

किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः ।
न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; वः—तुम्हारे लिए; उच्चरितैः—मल-मूत्र के समान; मातुः—माता का; धावद्भिः—भागते हुए; पृष्ठतः—पीछे से; हतैः—मारा; न—नहीं; हि—निश्चय ही; भीत-वधः—भयभीत पुरुष का वध; श्लाघ्यः—प्रशंसनीय; न—न तो; स्वर्ग्यः—स्वर्गलोक की प्राप्ति; शूर-मानिनाम्—शूर वीरों का।

हे देवताओ! इन असुर सौनिकों का जन्म वृथा ही हुआ। निस्सन्देह, ये अपनी माताओं के शरीर से मलमूत्र के समान आये हैं। ऐसे शत्रुओं को, जो डर के मारे भाग रहे हैं, पीछे से मारने में क्या लाभ होगा? अपने को वीर कहलाने वाले को चाहिए कि वह अपनी मृत्यु से भयभीत शत्रु का वध न करे। ऐसा वध न तो प्रशंसनीय है, न ही इससे किसी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

**तात्पर्य :** वृत्रासुर ने देवों तथा असुरों दोनों को फटकारा, क्योंकि असुर अपने प्राणों के भय से भागे जा रहे थे और देवता उन्हें पीछे से मार रहे थे। इन दोनों के कार्य निन्दनीय थे। जब युद्ध होता है, तो विरोधी पक्ष को वीरों की तरह लड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए। वीर कभी युद्धभूमि से भागता नहीं। वह विजय प्राप्ति के लिए अथवा युद्धभूमि में ही अपने प्राण गँवा देने के लिए सम्मुख होकर लड़ता है। यही वीरता है। पीछे से शत्रु का वध करना भी निन्दनीय है। जब शत्रु पीठ दिखाकर प्राणों के भय से भाग रहा हो तो उसे नहीं मारा जाना चाहिए। यह सैन्य विज्ञान की आचारसंहिता है।

वृत्रासुर ने असुर-सैनिकों की तुलना माताओं के मलमूत्र से करके उनका अपमान किया। माँ के उदर से कायर पुत्र तथा मलमूत्र दोनों ही निकलते हैं। वृत्रासुर ने कहा कि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी ही उपमा तुलसीदास ने दी है, जिसमें पुत्र तथा मूत्र को एक ही मार्ग से निर्गत बताया गया है। दूसरे शब्दों में, वीर्य तथा मूत्र दोनों ही जननेन्द्रियों से निकलते हैं, किन्तु वीर्य से पुत्र उत्पन्न होता है और मूत्र से कुछ नहीं बनता। अतः यदि पुत्र न तो वीर है और न भक्त तो ऐसा पुत्र पुत्र नहीं मूत्र ही है। इसी प्रकार चाणक्य पंडित का कथन है—

*कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः।*

*काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम्॥*

"ऐसे पुत्र से क्या लाभ, जो न तो विद्वान है और न भगवान् का भक्त? ऐसा पुत्र उस कानी आँख के समान है, जो केवल पीड़ा तो पहुँचाती है किन्तु देखने में सहायता नहीं कर सकती।"

**यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि ।**
**अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद्ग्राम्यसुखे स्पृहा ॥५॥**

### शब्दार्थ

**यदि—यदि; वः—तुम सबका; प्रधने—युद्ध में; श्रद्धा—विश्वास; सारम्—धैर्य; वा—अथवा; क्षुल्लकाः—हे नीचो; हृदि—हृदय में; अग्रे—सामने; तिष्ठत—जरा ठहरो; मात्रम्—एक क्षण के लिए; मे—मेरे; न—नहीं; चेत्—यदि; ग्राम्य-सुखे—इन्द्रियतृप्ति में; स्पृहा—आकांक्षा।**

**हे तुच्छ देवो! यदि तुम्हें अपनी वीरता में सचमुच विश्वास है, यदि तुम्हारे अन्तस्थल में धैर्य है और यदि तुम इन्द्रियतृप्ति के कामी नहीं हो, तो क्षण भर मेरे समक्ष ठहरो।**

**तात्पर्य :** देवताओं को डाँटते हुए वृत्रासुर ने ललकारा, ''अरे देवो! यदि तुम सचमुच वीर हो तो अब मेरे सामने ठहरो और अपना शौर्य दिखाओ। यदि तुम लड़ना नहीं चाहते, यदि तुम अपने प्राणों से भयभीत हो तो मैं तुम्हें मारूँगा नहीं, क्योंकि मैं तुम्हारी तरह दुष्ट प्रकृति का नहीं हूँ कि ऐसे पुरुषों का वध करूँ जो न तो वीर हैं और न लड़ना चाहते हैं। यदि तुम्हें अपनी शूरता में विश्वास है, तो मेरे समक्ष ठहरो।''

**एवं सुरगणान्क्रुद्धो भीषयन्वपुषा रिपून् ।**
**व्यनदत्सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुर-गणान्—देवतागण को; क्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; भीषयन्—डरावने; वपुषा—अपने शरीर से; रिपून्—अपने शत्रुओं को; व्यनदत्—गरजा; सु-महा-प्राणः—परम बलवान् वृत्रासुर; येन—जिससे; लोकाः—सभी लोग; विचेतसः—अचेत, बेहोश।

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा—अति क्रुद्ध एवं अत्यन्त शक्तिशाली वीर वृत्रासुर देवताओं को अपने बलिष्ठ एवं गठित शरीर से भयभीत करने लगा। जब उसने जोर से गर्जना की तो लगभग सारे जीव अचेत हो गये।**

**तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै ।**
**निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः ॥ ७ ॥**

### शब्दार्थ

तेन—उससे; देव-गणाः—देवता; सर्वे—समस्त; वृत्र-विस्फोटनेन—वृत्रासुर की भयानक गर्जना से; वै—निस्सन्देह; निपेतुः—गिर पड़े; मूर्च्छिताः—मूर्च्छित होकर; भूमौ—पृथ्वी पर; यथा—जिस प्रकार; एव—निस्सन्देह; अशनिना—वज्र से; हताः—मारे गये।

**जब समस्त देवताओं ने वृत्रासुर की सिंह जैसी भयानक गर्जना सुनी तो वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े, मानो उन पर वज्रपात हुआ हो।**

ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं
निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः ।
गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा
नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ममर्द—कुचल दिया; पद्भ्याम्—अपने पैरों से; सुर-सैन्यम्—देवताओं की सेना को; आतुरम्—अत्यन्त भयभीत; निमीलित-अक्षम्—बन्द नेत्रों वाले; रण-रङ्ग-दुर्मदः—युद्धभूमि में अजेय; गाम्—पृथ्वी मंडल को; कम्पयन्—हिलाते हुए; उद्यत-शूलः—अपना त्रिशूल लेकर; ओजसा—अपने बल से; नालम्—नरकट के; वनम्—जंगल; यूथ-पतिः—हाथी; यथा—जिस प्रकार; उन्मदः—पगलाया।

ज्योंही देवताओं ने डर के मारे अपनी आँखें बन्द कर लीं, वृत्रासुर ने अपना त्रिशूल उठा करके और अपने बल से पृथ्वी को दहलाते हुए युद्धभूमि में देवताओं को अपने पैरों के तले उसी प्रकार रौंद डाला जिस प्रकार पागल हाथी नरकट के वन को रौंद डालता है।

विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः
स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम् ।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां
जग्राह वामेन करेण लीलया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; तम्—उस ( वृत्रासुर ) को; वज्र-धरः—वज्र धारण किये हुए ( राजा इन्द्र ) ने; अति—अत्यधिक; अमर्षितः—क्रुद्ध; स्व—अपने; शत्रवे—शत्रु के प्रति; अभिद्रवते—दौड़ते हुए; महा-गदाम्—अत्यन्त शक्तिशाली गदा; चिक्षेप—फेंका; ताम्—उस ( गदा ) को; आपततीम्—अपनी ओर आती; सु-दुःसहाम्—सामना करना कठिन; जग्राह—पकड़ लिया; वामेन—अपने बाएँ; करेण—हाथ से; लीलया—आसानी से।

वृत्रासुर की करतूत देखकर स्वर्ग का राजा इन्द्र अधीर हो उठा और उस पर अपनी एक गदा फेंकी, जिसको रोकपाना अत्यन्त दुष्कर था। फिर भी ज्योंही वह गदा उसकी ओर पहुँची, वृत्रासुर ने उसे अपने बाएँ हाथ से सरलतापूर्वक पकड़ लिया।

स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया
महेन्द्रवाहं गदयोरुविक्रमः ।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन्मृधे
तत्कर्म सर्वे समपूजयन्नृप ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; इन्द्र-शत्रुः—वृत्रासुर; कुपितः—क्रुद्ध; भृशम्—अत्यधिक; तया—उससे; महेन्द्र-वाहम्—इन्द्र का वाहन जो हाथी है; गदया—गदा से; उरु-विक्रमः—अपने बल के लिए विख्यात; जघान—मारा; कुम्भ-स्थले—सिर पर; उन्नदन्—चिग्घाड़ करता हुआ; मृधे—युद्ध में; तत् कर्म—वह कार्य ( इन्द्र के हाथी के सिर पर वार ); सर्वे—सभी सैनिक ( दोनों पक्षों के ); समपूजयन्—प्रशंसा की; नृप—हे राजा परीक्षित!.

**हे राजा परीक्षित! इन्द्र के शत्रु, पराक्रमी वृत्रासुर ने उस गदा से क्रोधपूर्वक इन्द्र के हाथी के सिर पर जोर से प्रहार किया जिससे वह युद्धभूमि में चिग्घाड़ने लगा। इस वीरता पूर्ण कार्य के लिए दोनों पक्षों के सैनिकों ने उसकी प्रशंसा की।**

**ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो**
**विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा ।**
**अपासरद्भिन्नमुखः सहेन्द्रो**
**मुञ्चन्नसृक्सप्तधनुर्भृशार्तः ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

ऐरावतः—राजा इन्द्र का हाथी, ऐरावत; वृत्र-गदा-अभिमृष्टः—वृत्रासुर की गदा के आघात से; विघूर्णितः—चकराकर; अद्रिः—पर्वत; कुलिश—वज्र से; आहतः—प्रताड़ित; यथा—जिस प्रकार; अपासरत्—पीछे हट गया; भिन्न-मुखः—मुँह टूट जाने से; सह-इन्द्रः—इन्द्र सहित; मुञ्चन्—उगलते हुए; असृक्—रक्त; सप्त-धनुः—सात बाणों के तुल्य दूरी ( लगभग चौदह गज ); भृश—अत्यधिक; आर्तः—व्याकुल।

**वृत्रासुर की गदा के आघात से ऐरावत हाथी वज्र के द्वारा ताड़ित पर्वत के समान, तीव्र वेदना का अनुभव करता हुआ तथा अपने टूटे मुँह से रक्त उगलता हुआ चौदह गज पीछे छिटक गया। भारी वेदना के कारण वह पीठ पर बैठे इन्द्र के समेत भूमि पर गिर पड़ा।**

**न सन्नवाहाय विषण्णचेतसे**
**प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा ।**
**इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्श**
**वीतव्यथक्षतवाहोऽवतस्थे ॥ १२ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; सन्न—थकित; वाहाय—अपने वाहन के हेतु; विषण्ण-चेतसे—अपने चित्त में अत्यन्त खिन्न; प्रायुङ्क्त—चलाया; भूयः—पुनः; सः—उस ( वृत्रासुर ) ने; गदाम्—गदा; महा-आत्मा—वह महापुरुष ( इन्द्र को खिन्न देखकर उस पर गदा न चलाने वाला ); इन्द्रः—इन्द्र; अमृत-स्यन्दि-कर—अमृत उत्पन्न करने वाले अपने हाथ के; अभिमर्श—स्पर्श से; वीत—मुक्त; व्यथ—पीड़ा से; क्षत—तथा घाव; वाहः—जिसका वाहन हाथी; अवतस्थे—वहाँ आ खड़ा हुआ।

**जब उसने देखा कि इन्द्र-वाहन हाथी थका हुआ एवं घायल है और उसे इस तरह आहत**

हुआ देखकर इन्द्र स्वयं खिन्न है, तो वह महापुरुष वृत्रासुर धर्म के नियमों का पालन करते हुए इन्द्र पर अपनी गदा से पुनः प्रहार करने से हिचका। इस अवसर का लाभ उठाकर इन्द्र ने अपने अमृतवर्षी हाथ से हाथी को छू दिया जिससे उस पशु की पीड़ा जाती रही और उसके घाव ठीक हो गये। तब हाथी तथा इन्द्र दोनों चुपचाप खड़े हो गए।

स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं
वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य ।
स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः
शोकेन मोहेन हसञ्जगाद ॥ १३॥

### शब्दार्थ

सः—वह ( वृत्रासुर ); तम्—उस ( इन्द्र ) को; नृप-इन्द्र—हे राजा परीक्षित; आहव-काम्यया—युद्ध की इच्छा से; रिपुम्—शत्रु को; वज्र-आयुधम्—जिसका हथियार वज्र ( दधीचि की अस्थियों से निर्मित ) था; भ्रातृ-हणम्—अपने भाई का वध करने वाले; विलोक्य—देखकर; स्मरन्—स्मरण करके; च—तथा; तत्-कर्म—उसके कार्य; नृ-शंसम्—क्रूर; अंहः—बड़ा पाप; शोकेन—शोक से; मोहेन—मोहवश; हसन्—हँसता हुआ; जगाद—कहने लगा।

हे राजन्! जब महा भट्ट वृत्रासुर ने अपने शत्रु तथा अपने भाई के हत्यारे इन्द्र को अपने समक्ष लड़ने के लिए हाथ में वज्र लिए हुए देखा तो उसे स्मरण हो आया कि इन्द्र ने किस क्रूरता के साथ उसके भाई का वध किया था। इन्द्र के पापकर्मों को सोचते हुए वह शोक तथा विस्मृति से पागल हो उठा। व्यंग्य से हँसते हुए उसने इस प्रकार कहा।

श्रीवृत्र उवाच
दिष्ट्या भवान्मे समवस्थितो रिपु-
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च ।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृषद्धृदाचिरात् ॥ १४॥

### शब्दार्थ

श्री-वृत्रः उवाच—महान् वीर वृत्रासुर ने कहा; दिष्ट्या—सौभाग्य से; भवान्—आप; मे—मेरे; समवस्थितः—( समक्ष ) स्थित; रिपुः—मेरा शत्रु; यः—जो; ब्रह्म-हा—ब्राह्मण का वध करने वाला; गुरु-हा—अपने गुरु का वध करने वाला; भ्रातृ-हा—मेरे भाई का वध करने वाला; च—भी; दिष्ट्या—सौभाग्य से; अनृणः—उऋण ( भाई के ); अद्य—आज; अहम्—मैं; असत्-तम—हे परम घृणित; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मत्-शूल—मेरे त्रिशूल से; निर्भिन्न—भेदे जाकर; दृषत्—पत्थर की तरह; हृदा—जिसका हृदय; अचिरात्—तुरन्त।

श्रीवृत्रासुर ने कहा : वह जिसने ब्राह्मण की हत्या की है, वह जिसने अपने गुरु का वध किया है, वह जिसने मेरे भाई की हत्या की है, इस समय सौभाग्यवश मेरे शत्रु के रूप में मेरे सामने खड़ा हुआ है। अरे नीच! जब मैं तुम्हारे पत्थर-सदृश हृदय को अपने त्रिशूल से भेद डालूँगा तब मैं अपने भाई के ऋण से उऋण हो सकूँगा।

यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजाते-
गुरोरपापस्य च दीक्षितस्य ।
विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत्
पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः ॥ १५ ॥

### शब्दार्थ

यः—जो; नः—हमारे; अग्र-जस्य—बड़े भाई का; आत्म-विदः—जिसे आत्म-साक्षात्कार हो चुका है, स्वरूपसिद्ध; द्वि-जातेः—सुपात्र ब्राह्मण; गुरोः—तुम्हारा गुरु; अपापस्य—समस्त पापकर्मों से मुक्त; च—भी; दीक्षितस्य—यज्ञ की दीक्षा देने वाले के रूप में नियुक्त; विश्रभ्य—विश्वासपूर्वक; खड्गेन—अपनी तलवार से; शिरांसि—सिर; अवृश्चत्—काट लिया; पशोः—पशु का; इव—सदृश; अकरुणः—निर्दय; स्वर्ग-कामः—स्वर्ग लोक की इच्छा करने वाले।

तुमने स्वर्ग में निवास करते रहने के उद्देश्य से मेरे बड़े भाई का, जो स्वरूपसिद्ध ( आत्मवेत्ता ), निष्पाप एवं सुपात्र ब्राह्मण था, जिसे तुमने अपना मुख्य पुरोहित नियुक्त किया था, वध कर दिया है। वह तुम्हारा गुरु था और यद्यपि तुमने अपना यज्ञ कराने का सारा भार उस पर छोड़ रखा था, किन्तु बाद में अत्यन्त क्रूरता के साथ उसके सिर को शरीर से उसी प्रकार छिन्न कर दिया जिस प्रकार कोई पशु की हत्या कर दे।

श्रीह्रीदयाकीर्तिभिरुज्झितं त्वां
स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम् ।
कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेह-
मस्पृष्टवह्निं समदन्ति गृध्राः ॥ १६ ॥

### शब्दार्थ

श्री—ऐश्वर्य या सौन्दर्य; ह्री—लज्जा; दया—दया; कीर्तिभिः—तथा कीर्ति से; उज्झितम्—विहीन होकर; त्वाम्—तुम; स्व-कर्मणा—अपने कर्मों से; पुरुष-अदैः—राक्षसों ( मनुष्य भक्षी ) के द्वारा; च—तथा; गर्ह्यम्—निन्दनीय; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; मत्-शूल—मेरे त्रिशूल से; विभिन्न—बिंध कर; देहम्—तुम्हारा शरीर; अस्पृष्ट-वह्निम्—अग्नि द्वारा न छुआ जाकर; समदन्ति—खा जायेंगे; गृध्राः—गीध।

अरे इन्द्र! तुम सभी प्रकार की लज्जा, दया, कीर्ति तथा ऐश्वर्य से विहीन हो। अपने सकाम कर्मों के फल से इन सद्गुणों से रहित होकर तुम राक्षसों के द्वारा भी निन्दनीय हो। अब मैं तुम्हारे शरीर को अपने त्रिशूल से बेध डालूँगा और जब तुम घोर कष्ट से मरोगे तो अग्नि भी तुम्हारा स्पर्श नहीं करेगी, केवल गीध तुम्हारे शरीर को खायेंगे।

अन्येऽनु ये त्वेह नृशंसमज्ञा
यदुद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम् ।
तैर्भूतनाथान्सगणान्निशात
त्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥ १७॥

### शब्दार्थ

अन्ये—अन्य लोग; अनु—अनुमान करते हैं; ये—जो; त्वा—तुम; इह—इस सम्बध में; नृ-शंसम्—अत्यन्त क्रूर; अज्ञाः—जो मेरे शौर्य से परिचित नहीं हैं; यत्—यदि; उद्यत-अस्त्राः—अपनी तलावारें उठाये हुए; प्रहरन्ति—आक्रमण करते हैं; मह्यम्—मुझको; तैः—उनसे; भूत-नाथान्—भूतों के स्वामियों को, यथा भैरव; स-गणान्—अपने गणों सहित; निशात—तेज किया हुआ; त्रि-शूल—त्रिशूल से; निर्भिन्न—बेधा हुआ या भिन्न किया हुआ; गलैः—गर्दनों वाले; यजामि—बलि दूँगा।

तुम स्वभाव से क्रूर हो। यदि अन्य देवता मेरे शौर्य से अपरिचित रह कर तुम्हारे अनुयायी बनकर अपने उठे हुए हथियारों से मुझ पर आक्रमण करते हैं, तो मैं अपने इस तीक्ष्ण त्रिशूल से उनके सिर काट लूँगा और उन सिरों को भैरव तथा उनके गणों सहित अन्य भूतों के नायकों को बलि चढ़ाऊँगा।

अथो हरे मे कुलिशेन वीर
हर्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह ।
तत्रानृणो भूतबलिं विधाय
मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये ॥ १८॥

### शब्दार्थ

अथो—अन्यथा; हरे—हे इन्द्र; मे—मेरे; कुलिशेन—अपने वज्र से; वीर—हे वीर; हर्ता—काट लो; प्रमथ्य—मेरी सेना को नष्ट करके; एव—निश्चय ही; शिरः—सिर; यदि—यदि; इह—इस युद्ध में; तत्र—उस दशा में; अनृणः—उऋण; भूत-बलिम्—समस्त जीवात्माओं के लिए भेंट; विधाय—व्यवस्था करके; मनस्विनाम्—नारद मुनि जैसे परम साधुओं की; पाद-रजः—चरणकमलों की धूलि; प्रपत्स्ये—प्राप्त करूँगा।

किन्तु यदि तुम इस युद्ध में अपने वज्र से मेरा सर काट लेते हो और मेरे सैनिकों को मार

**डालते हो तो हे इन्द्र, हे महान् वीर! मैं अपने शरीर को अन्य जीवात्माओं ( यथा सियारों तथा गीधों ) को भेंट करने में अति प्रसन्न हूँगा। इस कारण मैं अपने कर्मबन्धन के फलों से छूट जाऊँगा और यह मेरा अहोभाग्य होगा कि मैं नारद मुनि जैसे परम भक्तों के चरणकमलों की धूलि प्राप्त करूँगा।**

**तात्पर्य :** श्रीनरोत्तम दास ठाकुर गाते हैं—

*एइ छय गोसाँइ यार, मुइ तार दास।*

*ताङ्' सबार पदरेणु मोर पञ्च-ग्रास॥*

''मैं छह गोस्वामियों का दास हूँ और उनके चरणकमलों की धूलि मुझे पाँच प्रकार के भोजन देती है।'' वैष्णव सदैव पूर्व आचार्यों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि की कामना करता है। वृत्रासुर को विश्वास था कि वह इन्द्र के साथ युद्ध करते हुए मारा जायेगा, क्योंकि यही भगवान् विष्णु की इच्छा थी। वह मृत्यु के लिए सन्नद्ध था, क्योंकि वह जानता था कि मृत्यु के बाद उसे भगवान् का धाम प्राप्त होगा। वही परम गन्तव्य है और वह वैष्णव के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। *छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—बिना वैष्णव की कृपा के कोई कभी भगवान् के धाम नहीं गया। अत: इस श्लोक में *मनस्विनां पाद-रज:प्रपत्स्ये*—''मुझे परम भक्तों के चरणकमलों की धूलि प्राप्त होगी,'' ये शब्द आये हैं। *मनस्विनाम्* शब्द का अर्थ है, महान् भक्त जो सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। वे सदैव शान्त रह कर कृष्ण का चिन्तन करते हैं, अत: वे धीर कहलाते हैं। ऐसे भक्तों के सबसे अच्छे उदाहरण नारद मुनि हैं। यदि किसी को मनस्वी के चरणकमल की धूलि प्राप्त हो जाये तो वह निश्चित रूप से भगवान् के धाम को जाता है।

**सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं**
**पुर: स्थिते वैरिणि मय्यमोघम् ।**
**मा संशयिष्ठा न गदेव वज्र:**
**स्यान्निष्फल: कृपणार्थेव याच्ञा ॥ १९ ॥**

## शब्दार्थ

सुर-ईश—हे देवों के राजा; कस्मात्—क्यों; न—नहीं; हिनोषि—छोड़ते; वज्रम्—वज्र; पुरः स्थिते—तुम्हारे समक्ष खड़ा हुआ; वैरिणि—तुम्हारा शत्रु; मयि—मुझ पर; अमोघम्—न चूकने वाला ( वज्र ); मा—मत; संशयिष्ठाः—सन्देह करो; न—नहीं; गदा इव—गदा के समान; वज्रः—वज्र; स्यात्—हो सकता है; निष्फलः—बेकार; कृपण—कंजूस व्यक्ति से; अर्था—धन के लिए; इव—सदृश; याच्ञा—याचना।

**हे स्वर्ग के राजा इन्द्र! तुम अपने समक्ष खड़े अपने शत्रु मुझ पर अपना वज्र क्यों नहीं छोड़ते? यद्यपि गदा द्वारा मुझ पर किया गया तुम्हारा प्रहार निश्चय ही उसी प्रकार निष्फल हो गया था, जिस प्रकार कंजूस से धन की याचना निष्फल होती है, किन्तु तुम्हारे द्वारा धारण किया गया यह वज्र निष्फल नहीं होगा। तुम्हें इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए।**

**तात्पर्य :** जब इन्द्र ने अपनी गदा वृत्रासुर पर चलाई थी तो उसने अपने बाएँ हाथ से पकड़ कर उससे इन्द्र के हाथी के सिर पर दे मारा था। इस प्रकार इन्द्र का वह आक्रमण बुरी तरह निष्फल हो गया था। उससे इन्द्र का हाथी घायल हो गया था और चौदह गज पीछे धकेल दिया गया था। अतः इस बार यद्यपि इन्द्र वृत्रासुर पर वज्र छोड़ने जा रहा था, किन्तु उसे सन्देह था कि कहीं गदा के समान यह वज्र भी बेकार न जाये। किन्तु वृत्रासुर ने वैष्णव होने के नाते इन्द्र को यह विश्वास दिलाया कि यह वज्र निष्फल नहीं होगा, क्योंकि वृत्रासुर को ज्ञात था कि भगवान् विष्णु के आदेश से इसे निर्मित किया गया है। यद्यपि इन्द्र को सन्देह था, क्योंकि वह समझ न सका कि विष्णु की आज्ञा वृथा नहीं जाती, किन्तु वृत्रासुर भगवान् विष्णु के उद्देश्य से परिचित था। वृत्रासुर भगवान् विष्णु के आदेशानुसार निर्मित इस वज्र द्वारा मारे जाने के लिए उत्सुक था, क्योंकि उसे विश्वास था कि इस प्रकार वह भगवान् के धाम वापस जा सकेगा। वह तो केवल अवसर की प्रतीक्षा में था कि कब वज्र छूटे। परिणाम स्वरूप वृत्रासुर ने इन्द्र से कहा, "यदि तुम मुझे अपना शत्रु समझ कर मारना चाहते हो तो इस अवसर का सदुपयोग करो और मुझे मार डालो। तुम्हें विजय मिलेगी और मैं भगवान् के धाम चला जाऊँगा। तुम्हारा कार्य हम दोनों के लिए लाभकर होगा, अतः इसे तुरन्त पूरा करो।"

**नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा**
**हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः ।**
**तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो**
**यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः ॥ २० ॥**

### शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; एषः—यह; वज्रः—वज्र; तव—तुम्हारा; शक्र—हे इन्द्र; तेजसा—तेज से; हरेः—भगवान् विष्णु के; दधीचेः—दधीचि की; तपसा—तपस्या से; च—तथा; तेजितः—शक्तिसम्पन्न; तेन—उससे; एव—निश्चय ही; शत्रुम्—अपने शत्रु को; जहि—मारो; विष्णु-यन्त्रितः—भगवान् विष्णु द्वारा आदेशित; यतः—जहाँ कहीं भी; हरिः—भगवान् विष्णु; विजयः—विजय; श्रीः—ऐश्वर्य; गुणाः—अन्य सद्गुण; ततः—वहाँ।

**हे स्वर्ग के राजा इन्द्र! तुमने जिस वज्र को मुझे मारने के लिए धारण किया है, वह भगवान् विष्णु के तेज तथा दधीचि की तपस्या-शक्ति से समन्वित है। चूँकि तुम यहाँ भगवान् विष्णु की आज्ञा से मुझे मारने आये हो अतः इसमें अब कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारे वज्र के छूटने से मैं मारा जाऊँगा। भगवान् विष्णु तुम्हारा साथ दे रहे हैं, अतः विजय, ऐश्वर्य तथा समस्त सद्गुण निश्चय ही तुम्हारे साथ हैं।**

**तात्पर्य :** वृत्रासुर ने इन्द्र को न केवल विश्वास दिलाया कि वज्र अजेय है, वरन् अपने प्रति जल्दी से जल्दी प्रयोग किये जाने के लिए भी प्रोत्साहित किया। वृत्रासुर उत्सुक था कि भगवान् विष्णु द्वारा प्रेषित वज्र के प्रहार से उसका वध हो जिससे वह भगवान् के धाम शीघ्र जा पहुँचे। इन्द्र को इस वज्र के चलाने से विजय मिलेगी और स्वर्गलोकों का भोग प्राप्त होगा, किन्तु वह जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहेगा। इन्द्र वृत्रासुर पर विजय प्राप्त करके सुख भोगना चाहता था, किन्तु वह वास्तविक सुख नहीं होगा। स्वर्गलोक ब्रह्मलोक के ठीक नीचे स्थित है किन्तु जैसाकि श्रीकृष्ण ने कहा है, *आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*। भले ही मनुष्य ब्रह्मलोक को पा ले, किन्तु वह पुनः पुनः निम्न लोकों में गिरता रहता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के पास चला जाता है, तो वह इस संसार में कभी नहीं लौटता। वृत्रासुर को मारने से इन्द्र को वास्तव में कोई लाभ नहीं होगा, वह इसी संसार में बना रहेगा, किन्तु वृत्रासुर वैकुण्ठ लोक को चला जायेगा। अतः

विजय तो वृत्रासुर की होनी थी, इन्द्र की नहीं।

**अहं समाधाय मनो यथाह नः**
**सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।**
**त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो**
**गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः ॥ २१ ॥**

### शब्दार्थ

अहम्—मैंने; समाधाय—स्थिर करके; मनः—मन; यथा—जिस प्रकार; आह—कहा; नः—हमारा; सङ्कर्षणः—भगवान् संकर्षण; तत्-चरण-अरविन्दे—उनके चरण कमलों पर; त्वत्-वज्र—तुम्हारे वज्र को; रंहः—वेग से; लुलित—विच्छेदित; ग्राम्य—भौतिक आसक्ति; पाशः—फन्दा; गतिम्—गन्तव्य; मुनेः—नारद मुनि तथा अन्य भक्तों का; यामि—प्राप्त करूँगा; अपविद्ध—त्याग कर; लोकः—यह संसार जहाँ सभी प्रकार की नश्वर वस्तुओं की कामना की जाती है।

**तुम्हारे वज्र के वेग से मैं भौतिक बन्धन से मुक्त हो जाऊँगा और यह शरीर तथा भौतिक कामनाओं वाला यह संसार त्याग दूँगा। मैं भगवान् संकर्षण के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करके नारद मुनि जैसे महामुनियों के गन्तव्य को प्राप्त कर सकूँगा जैसा कि भगवान् संकर्षण ने कहा है।**

**तात्पर्य :** *अहं समाधाय मनः* शब्दों से सूचित होता है कि मृत्यु के समय सबसे आवश्यक कर्तव्य है मन को केन्द्रित करना। यदि मनुष्य श्रीकृष्ण, विष्णु, संकर्षण या किसी विष्णु मूर्ति के चरणकमलों में अपना मन स्थिर (केन्द्रित) कर सकता है, तो उसका जीवन सफल हो जाएगा। वृत्रासुर ने इन्द्र से कहा कि जब वह अपने मन को संकर्षण के चरणारविन्द में स्थिर किये हो तो वह अपना वज्र छोड़े। भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त वज्र से उसकी मृत्यु निश्चित थी। इसके निष्फल होने का कोई प्रश्न नहीं था। अतः वृत्रासुर ने इन्द्र से प्रार्थना कि की वह तुरन्त अपना वज्र छोड़े। वह अपने मन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में स्थिर करके तैयार हो गया। भक्त अपने इस भौतिक शरीर को त्यागने के लिए सदैव तैयार रहता है, जिसे यहाँ पर *ग्राम्य-पाश* अर्थात् भौतिक आसक्ति का फंदा कहा गया है। यह शरीर तनिक भी अच्छा नहीं, यह तो मात्र सांसारिक बन्धन का कारण है। दुर्भाग्यवश शरीर के नाशवान् होने पर भी मूर्ख तथा धूर्त पुरुष शरीर पर पूर्ण आस्था

रखते हैं और कभी भी भगवान् के धाम लौट जाने के इच्छुक नहीं रहते।

**पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां**
**याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम् ।**
**न राति यद्द्वेष उद्वेग आधि-**
**र्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः ॥ २२ ॥**

### शब्दार्थ

पुंसाम्—मनुष्यों को; किल—निश्चय ही; एकान्त-धियाम्—आध्यात्मिक चेतना में उन्नत; स्वकानाम्—श्रीभगवान् के अपने; याः—जो; सम्पदः—ऐश्वर्य; दिवि—स्वर्गलोक में; भूमौ—मध्यलोक में; रसायाम्—तथा अधः लोकों में; न—नहीं; राति—प्रदान करता है; यत्—जिससे; द्वेषः—द्वेष, ईर्ष्या; उद्वेगः—चिन्ता; आधिः—मानसिक क्षोभ; मदः—घमंड; कलिः—कलह; व्यसनम्—हानि के कारण उत्पन्न दुख; सम्प्रयासः—महान् प्रयत्न।

**श्रीभगवान् के चरणारविन्द में जो व्यक्ति पूर्णतया समर्पित होते हैं और निरन्तर उनके चरणारविन्द का चिन्तन करते हैं, उन्हें भगवान् अपने पार्षदों या सेवकों के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। भगवान् ऐसे सेवकों को उच्च, मध्य तथा निम्न लोकों का आकर्षक ऐश्वर्य प्रदान नहीं करते, क्योंकि जब उन्हें इन लोकों में से किसी एक की भी प्राप्ति हो जाती है, तो उससे शत्रुता, चिन्ता, मानसिक क्षोभ, अभिमान तथा कलह की वृद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य को अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने और उसको बनाये रखने में काफी प्रयास करना पड़ता है और जब सम्पत्ति की क्षति हो जाती है, तो उसे भारी दुख होता है।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् का कथन है—

*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।*
*मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥*

"जो जिस भाव से मेरी शरण लेते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! प्रत्येक मनुष्य सब प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।" इन्द्र तथा वृत्रासुर दोनों निश्चय ही भगवान् के भक्त थे, यद्यपि इन्द्र ने वृत्रासुर को मारने के लिए भगवान् विष्णु का आदेश ले रखा था। वास्तव में वृत्रासुर के प्रति भगवान् अत्यन्त कृपालु थे, क्योंकि इन्द्र के वज्र से वृत्रासुर के मारे जाने

पर वह भगवान् के धाम पहुँचेगा जबकि विजयी इन्द्र को इसी संसार में सड़ना पड़ेगा। चूँकि दोनों भक्त थे, अत: भगवान् ने उनकी इच्छानुसार उन्हें वरदान दिए। वृत्रासुर ने कभी भौतिक सम्पत्ति की कामना नहीं की, क्योंकि उसे इसकी नियति का पता था। सम्पत्ति एकत्र करने के लिए मनुष्य को काफी श्रम करना पड़ता है और उसके प्राप्त होने पर अनेक शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि यह संसार प्रतिद्वंद्विता से ओतप्रोत है। यदि कोई धनी हो जाता है, तो उसके मित्र तथा परिजन उससे ईर्ष्या करने लगते हैं। अत: *एकान्त भक्तों* को श्रीकृष्ण भौतिक सम्पत्ति प्रदान नहीं करते। कभी-कभी भक्त को उपदेश कार्य के लिए कुछ धन की आवश्यकता होती है, किन्तु प्रचारक की सम्पत्ति कर्मी के समान नहीं होती। कर्मी का धन कर्म के फलस्वरूप प्राप्त किया जाता है, किन्तु भक्तों के धन की श्रीभगवान् द्वारा व्यवस्था की जाती है, जिससे वे भक्ति के लिए कार्य कर सकें। चूँकि भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए भौतिक धन का प्रयोग नहीं करता, अत: भक्त के धन की तुलना कर्मी के धन से नहीं की जानी चाहिए।

**त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्-**
**पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।**
**ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो**
**यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

त्रै-वर्गिक—तीन उद्देश्यों के लिए जो धर्म, अर्थ तथा काम हैं; आयास—प्रयत्न; विघातम्—विनाश; अस्मत्—हमारा; पतिः—भगवान्; विधत्ते—करता है; पुरुषस्य—भक्त का; शक्र—हे इन्द्र; ततः—जिससे; अनुमेयः—यह अनुभव लगाया जाता है; भगवत्-प्रसादः—श्रीभगवान् की विशेष कृपा; यः—जो; दुर्लभः—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन; अकिञ्चन-गोचरः—शुद्ध भक्तों की पहुँच में; अन्यैः—दूसरों के द्वारा, जो भौतिक सुख चाहते हैं।

**हमारे भगवान् अपने भक्तों को धर्म, अर्थ तथा काम (इन्द्रिय-तृप्ति) के लिए वृथा प्रयास करने के प्रति वर्जित करते हैं। हे इन्द्र! इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भगवान् कितने दयालु हैं। ऐसी कृपा केवल शुद्ध भक्तों को प्राप्य है, भौतिक लाभ चाहने वाले व्यक्तियों को नहीं।**

**तात्पर्य :** मानव जीवन के चार उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। सभी मनुष्य सामान्यत: प्रथम तीन की कामना करते हैं, किन्तु भक्त को इस जीवन तथा अगले जीवन में श्रीभगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई भी इच्छा नहीं रहती। शुद्ध भक्तों पर भगवान् की विशिष्ट कृपा यही होती है कि वे उसे धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले वृथा श्रम से बचा लेते हैं। किन्तु यदि कोई इन लाभों को चाहता है, तो भगवान् उसे अवश्य प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र भक्त होकर भी भौतिक बन्धन से उद्धार पाने का इच्छुक नहीं था, उल्टे वह इन्द्रिय-तृप्ति तथा स्वर्गलोक में उच्चस्तरीय भौतिक सुख चाहता था। किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण वृत्रासुर ने केवल भगवान् की सेवा करने की इच्छा की। अत: भगवान् ने इन्द्र द्वारा उसके शारीरिक बन्धन को विनष्ट करा कर अपने धाम पहुँचने की व्यवस्था कर दी। वृत्रासुर ने इन्द्र से प्रार्थना की कि जितनी जल्दी हो सके वह अपना वज्र चलाए जिससे इन्द्र तथा वह दोनों ही भक्ति की दिशा में अपनी अपनी प्रगति के अनुसार लाभ उठा सकें।

**अहं हरे तव पादैकमूल-**
**दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।**
**मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते**
**गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

अहम्—मैं; हरे—हे भगवन्; तव—तुम्हारे ( आपके ); पाद-एक-मूल—जिसकी एकमात्र शरण भगवत-चरणकमल है; दास-अनुदासः—आपके दास का भी दास; भवितास्मि—होऊँगा; भूयः—पुनः; मनः—मेरा मन; स्मरेत—स्मरण करे; असु-पतेः—मेरे जीवन के स्वामी का; गुणान्—गुण समूह; ते—आपका; गृणीत—जप करें; वाक्—मेरे शब्द; कर्म—आपकी सेवा के लिए कार्य; करोतु—करे; कायः—मेरा शरीर।

**हे भगवन्! क्या मैं पुन: आपका दासानुदास बन सकूँगा जो आपके ही चरमकमल की शरण लेते हैं? हे मेरे जीवनाधार! क्या मैं आपके दासों का दास बन सकूँगा जिससे मेरा मन सदैव आपके दिव्य गुणों को स्मरण करता रहे, मेरी वाणी नित्य आपके गुणों का गान करती रहे और मेरा शरीर आपकी प्रेम-भक्ति में निरन्तर लगा रहे?**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में भक्तिमय जीवन का सार दिया गया है। पहले मनुष्य को भगवान् के दास का भी दास (दासानुदास) बनना पड़ता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने यही उपदेश दिया और अपना उदाहरण प्रस्तुत करके दिखाया कि जीवात्मा को सदैव गोपियों के पालक श्रीकृष्ण के दास के दास बनने की आकांक्षा करनी चाहिए (*गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*)। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को चाहिए कि ऐसा गुरु स्वीकार करे जो गुरु-परम्परा से सम्बद्ध हो और भगवान् के दास का भी दास हो। उसी के निर्देश में वह अपनी तीनों सम्पत्तियां अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर को लगाए। गुरु के आदेशानुसार शरीर को शारीरिक कार्यों में लगाए, मन कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचे और अपनी वाणी को भगवान् के यश के प्रचार में लगाए। यदि मनुष्य इस प्रकार से भगवान् की प्रेमाभक्ति करता है, तो उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

**न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं**
**न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।**
**न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा**
**समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥ २५ ॥**

**शब्दार्थ**

न—नहीं; नाक-पृष्ठम्—स्वर्गलोक या ध्रुवलोक; न—न तो; च—भी; पारमेष्ठ्यम्—जिस लोक में ब्रह्मा रहते हैं; न—न तो; सार्व-भौमम्—समस्त पृथ्वी लोकों पर एकाधिपत्य; न—नहीं; रसा-आधिपत्यम्—अधोलोकों का स्वामित्व; न—नहीं; योग-सिद्धीः—आठ प्रकार की यौगिक शक्तियाँ ( अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि ) ; अपुनः-भवम्—पुनर्जन्म से छुटकारा; वा—अथवा; समञ्जस—हे समस्त अवसरों के स्त्रोत; त्वा—तुम से; विरहय्य—से पृथक् किया हुआ; काङ्क्षे—कामना करता हूँ।.

**हे समस्त सौभाग्य के स्त्रोत भगवान्! मुझे न तो ध्रुवलोक में, न स्वर्ग में अथवा ब्रह्मलोक में सुख भोगने की इच्छा है और न ही मैं समस्त भू-लोकों अथवा अध:लोकों का सर्वोच्च अधिपति बनना चाहता हूँ। मैं योग शक्तियों का स्वामी भी नहीं बनना चाहता, न ही आपके चरणकमलों को त्याग कर मोक्ष की कामना करता हूँ।**

**तात्पर्य :** शुद्ध भक्त कभी-भी भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा करके भौतिक सौभाग्य की इच्छा नहीं करता। वह तो भगवान् तथा उनके पार्षदों की निरन्तर संगति में रह कर भगवान् की

प्रेममयी सेवा में लगा रहना चाहता है, जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन हुआ है (*दासानुदासो भवितास्मि*)। इसकी पुष्टि नरोत्तमदास ठाकुर ने की है—

*तांदेर चरण सेवि भक्तसने वास।*

*जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष॥*

शुद्ध भक्त की यही अभिलाषा रहती है कि वह भक्तों की संगति में रहकर भगवान् तथा उनके दासानुदासों की सेवा करता रहे।

**अजातपक्षा इव मातरं खगाः**
**स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।**
**प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा**
**मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

अजात-पक्षाः—जिनके अभी तक पंख नहीं उगे; इव—सदृश; मातरम्—माता; खगाः—छोटे पक्षी; स्तन्यम्—स्तन का दूध; यथा—जिस प्रकार; वत्सतराः—बछड़े; क्षुध्-आर्ताः—भूख से पीड़ित; प्रियम्—प्रिय या पति; प्रिया—पत्नी या प्रेमिका; इव—सदृश; व्युषितम्—प्रवासी, घर से दूर; विषण्णा—दुखी; मनः—मेरा मन; अरविन्द-अक्ष—हे कमल नेत्र वाले; दिदृक्षते—देखना चाहता है; त्वाम्—तुमको।

**हे कमलनयन भगवान्! जैसे पक्षियों के पंखविहीन बच्चे अपनी माँ के लौटने तथा खिलाये जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जैसे रस्सियों से बँधे छोटे-छोटे बछड़े गाय दुहे जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं जिससे उन्हें अपनी माताओं का दूध पीने को मिले या जैसे वियोगिनी पत्नी घर से दूर वसे अपने प्रवासी पति के लौटने तथा सभी प्रकार से तुष्ट किये जाने के लिए लालायित रहती है, उसी प्रकार मैं आपकी प्रत्यक्ष सेवा करने के अवसर पाने के लिए सदैव उत्कण्ठित रहता हूँ।**

**तात्पर्य :** शुद्ध भक्त की अभिलाषा रहती है कि वह स्वयं भगवान् के निकट पहुँचकर उनकी सेवा करे। यहाँ पर जो उदाहरण दिये गये हैं, वे सर्वथा उपयुक्त हैं। पक्षी के छोटे-छोटे बच्चे तब तक संतुष्ट नहीं होते जब तक उनकी माँ स्वयं आकर उन्हें दाना नहीं खिलाती, एक बछड़ा तब

तक प्रसन्न नहीं होता जब तक उसे अपनी माँ के थन का दूध पीने नहीं दिया जाता तथा पतिव्रता पत्नी, जिसका पति विदेश गया होता है, तब तक प्रसन्न नहीं होती जब तक अपने प्रिय पति से उसका मिलन नहीं हो जाता।

**ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं**
**संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।**
**त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्व्**
**आसक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ २७॥**

### शब्दार्थ

मम—मेरा; उत्तम-श्लोक-जनेषु—भक्तों में से, जो श्रीभगवान् के प्रति आसक्त हैं; सख्यम्—मित्रता; संसार-चक्रे—जन्म-मरण के चक्कर में; भ्रमतः—घूमता हुआ; स्व-कर्मभिः—अपने ही कर्मों के फल से; त्वत्-मायया—आपकी माया से; आत्म—शरीर; आत्म-ज—सन्तान; दार—पत्नी; गेहेषु—तथा घर में; आसक्त—लिप्त; चित्तस्य—जिसका मन; न—नहीं; नाथ—हे भगवान्; भूयात्—हो।.

**हे भगवान्, हे स्वामी! मैं अपने सकाम कर्मों के फलस्वरूप इस पूरे भौतिक जगत में घूम रहा हूँ और मैं आपके पवित्र तथा प्रबुद्ध भक्तों की संगति की ही खोज कर रहा हूँ। आपकी बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया के प्रभाव से अपने शरीर, पत्नी, सन्तान तथा घर के प्रति मेरी आसक्ति बनी हुई है, किन्तु मैं अब और अधिक आसक्त नहीं बने रहना चाहता। मेरा मन, मेरी चेतना तथा मेरा सर्वस्व आपके ही प्रति आसक्त रहे।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''वृत्रासुर के दिव्य गुण'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter बारह

# वृत्रासुर की यशस्वी मृत्यु

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार स्वर्ग के राजा इन्द्र ने बहुत अनिच्छापूर्वक वृत्रासुर का वध किया।

बातें कर चुकने के बाद वृत्रासुर ने अत्यन्त क्रोध के साथ इन्द्र पर अपना त्रिशूल चलाया,

किन्तु इन्द्र ने उसके त्रिशूल से कई गुना अपना शक्तिशाली वज्र चलाकर त्रिशूल को खण्ड-खण्ड कर दिया और वृत्रासुर की एक भुजा काट ली। फिर भी वृत्रासुर ने एक ही भुजा से इन्द्र पर अपने लोहे के परिघ से प्रहार किया जिससे इन्द्र के हाथ से वज्र छूट गया। इस पर इन्द्र अत्यधिक लज्जित हुआ और उसने भूमि से अपना वज्र नहीं उठाया, किन्तु वृत्रासुर ने इन्द्र को प्रोत्साहित किया कि वह वज्र उठाकर पुनः युद्ध करे। तब वृत्रासुर ने इन्द्र को उपदेश देते हुए इस प्रकार कहा—

''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही विजय तथा पराजय के कारण हैं। मूर्ख तथा धूर्त यह नहीं जानते कि परमेश्वर ही समस्त कारणों के कारण हैं और इस प्रकार विजय या पराजय का श्रेय स्वंय लेना चाहते हैं, किन्तु वास्तव में प्रत्येक वस्तु परमेश्वर के ही अधीन है। उनके अतिरिक्त अन्य कोई स्वतंत्र नहीं है। पुरुष तथा प्रकृति भगवान् के ही अधीन हैं, क्योंकि उन्हीं के निरीक्षण में सुचारु रूप से सब कुछ घटित होता है। प्रत्येक कार्य में परमेश्वर का हाथ न दिखने से मूर्ख अपने को ही प्रत्येक वस्तु का शासक तथा नियामक मान बैठता है। किन्तु जब उसे ज्ञान होता है कि असली नियामक श्रीभगवान् हैं, तो वह समस्त दुख, सुख, भय तथा अपवित्रता की प्रासंगिकताओं से मुक्त हो जाता है।'' इस प्रकार इन्द्र तथा वृत्रासुर में लड़ाई ही नहीं हुई वरन् दार्शनिक वार्ताएँ भी हुईं। इसके बाद वे फिर से लड़ने लगे।

इस बार इन्द्र अधिक शक्तिशाली था और उसने वृत्रासुर की दूसरी भुजा भी काट दी। तब वृत्रासुर ने भीमकाय रूप धारण कर लिया और इन्द्र को निगल लिया, किन्तु वृत्रासुर के पेट में भी इन्द्र अपने आपको नारायण कवच नामक जन्तर से सुरक्षित रख सका। इस प्रकार वह वृत्रासुर के पेट से बाहर आया और अपने शक्तिशाली वज्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। उसे असुर का सिर काटने में पूरा एक वर्ष लग गया।

**श्रीऋषिरुवाच**

**एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ**
**मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः ।**
**शूलं प्रगृह्याभ्यपतत्सुरेन्द्रं**
**यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; जिहासुः—त्यागने के लिए उत्सुक; नृप—हे राजा परीक्षित; देहम्—शरीर; आजौ—युद्ध में; मृत्युम्—मृत्यु; वरम्—श्रेष्ठ; विजयात्—विजय से; मन्यमानः—सोचते हुए; शूलम्—त्रिशूल; प्रगृह्य—लेकर; अभ्यपतत्—आक्रमण कर दिया; सुर-इन्द्रम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र पर; यथा—जिस प्रकार; महा-पुरुषम्—श्रीभगवान् पर; कैटभः—कैटभ नामक असुर ने; अप्सु—जब सारा ब्रह्माण्ड जलमग्न था।

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा—अपना शरीर छोड़ने की इच्छा से वृत्रासुर ने विजय की अपेक्षा युद्ध में अपनी मृत्यु को श्रेयस्कर समझा। हे राजा परीक्षित! उसने अत्यन्त बलपूर्वक अपना त्रिशूल उठाया और बड़े वेग से स्वर्ग के राजा पर उसी प्रकार से आक्रमण किया जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के जलमग्न होने पर कैटभ ने श्रीभगवान् पर बड़े ही बल से आक्रमण किया था।**

**तात्पर्य :** यद्यपि वृत्रासुर ने इन्द्र को बारम्बार प्रेरित किया कि वह उसे अपने वज्र से मार डाले, किन्तु इन्द्र इतने बड़े भक्त को मारना नहीं चाहता था। इसलिए वज्र नहीं चला रहा था। अत: जब वृत्रासुर निराश हो गया कि उसके प्रेरित करने पर भी वह आनाकानी कर रहा है, तो उसने बड़े वेग से इन्द्र पर अपना त्रिशूल चलाया। वृत्रासुर को विजय में कोई रुचि नहीं थी; वह तो चाहता था कि वह मारा जाये जिससे तुरन्त भगवान् के धाम जा सके। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.९) में पुष्टि की गई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—इस शरीर को त्यागने के बाद भक्त तुरन्त भगवान् कृष्ण के धाम चला जाता है और दूसरा शरीर धारण करने के लिए कभीं नहीं लौटता। यही वृत्रासुर का अभिप्राय था।

**ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-**
**माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः ।**
**क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो**
**हतोऽसि पापेति रुषा जगाद ॥ २ ॥**

### शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युग-अन्त-अग्नि—प्रत्येक कल्पान्त की अग्नि के समान; कठोर—तीखी; जिह्वम्—नोकों वाली; आविध्य—घुमाकर; शूलम्—त्रिशूल को; तरसा—वेग से; असुर-इन्द्रः—असुरों में परम वीर, वृत्रासुर; क्षिप्त्वा—फेंककर; महा-इन्द्राय—राजा इन्द्र पर; विनद्य—गरजकर; वीरः—महान् वीर ( वृत्रासुर ); हतः—मरा हुआ; असि—तुम हो; पाप—हे पापी; इति—इस प्रकार; रुषा—अत्यन्त क्रोध से; जगाद—चिल्लाया।

**तब असुरों में महान् वीर वृत्रासुर ने कल्पान्त ( प्रलय ) की धधकती अग्नि की लपटों के समान तीखी नोकों वाले त्रिशूल को अत्यन्त क्रोध एवं वेग से इन्द्र पर चला दिया। उसने गरजकर कहा, ''अरे पापी, मैं तेरा वध किये देता हूँ।''**

ख आपतत्तद्विचलद्ग्रहोल्कव-
न्निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः ।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद्
भुजं च तस्योरगराजभोगम् ॥ ३॥

### शब्दार्थ

खे—आकाश में; आपतत्—उसकी ओर उड़ कर; तत्—वह त्रिशूल; विचलत्—चक्कर लगाता हुआ; ग्रह-उल्क-वत्—गिरते तारे के समान; निरीक्ष्य—देखकर; दुष्प्रेक्ष्यम्—न देखा जा सकने वाला; अजात-विक्लवः—भयभीत न होकर; वज्रेण—वज्र से; वज्री—वज्र को धारण करने वाला इन्द्र; शत-पर्वणा—एक सौ गाँठों ( जोड़ों ) वाला; आच्छिनत्—काट लिया; भुजम्—बाँह; च—तथा; तस्य—उस ( वृत्रासुर ) का; उरग-राज—महान् सर्प वासुकि का; भोगम्—शरीर की तरह।

**आकाश में उड़ता हुआ वृत्रासुर का त्रिशूल प्रकाशमान उल्का के समान था। यद्यपि इस प्रज्वलित आयुध की ओर देख पाना कठिन था, किन्तु राजा इन्द्र ने निर्भीक होकर अपने वज्र से उसके खण्ड-खण्ड कर दिये। उसी समय उसने वृत्रासुर की एक भुजा काट ली, जो सर्पों के राजा वासुकि के शरीर के समान मोटी थी।**

छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम् ।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं
वज्रं च हस्तान्न्यपतन्मघोनः ॥ ४॥

### शब्दार्थ

छिन्न—कटा हुआ; एक—एक; बाहुः—जिसकी भुजा; परिघेण—लौह के बने बल्लम ( परिघ ) से; वृत्रः—वृत्रासुर; संरब्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; आसाद्य—पहुँचकर; गृहीत—पकड़ते हुए; वज्रम्—वज्र को; हनौ—ठोड़ी पर; तताड—

प्रहार किया; इन्द्रम्—इन्द्रदेव पर; अथ—भी; अमर-इभम्—उसका हाथी; वज्रम्—वज्र; च—तथा; हस्तात्—हाथ से; न्यपतत्—गिर पड़ा; मघोनः—राजा इन्द्र के।

**शरीर से एक भुजा के कट जाने पर भी वृत्रासुर क्रोधपूर्वक राजा इन्द्र के निकट पहुँचा और लोहे के बल्लम ( परिघ ) से उसकी ठोड़ी पर प्रहार किया। उसने इन्द्र के हाथी पर भी प्रहार किया। इससे इन्द्र के हाथ से उसका वज्र गिर गया।**

वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत्पुरुहूतसङ्कटं
निरीक्ष्य हा हेति विचुक्रुशुर्भृशम् ॥ ५ ॥

### शब्दार्थ

वृत्रस्य—वृत्रासुर का; कर्म—कार्य; अति—अत्यन्त; महा—महान्; अद्भुतम्—अद्भुत, विस्मयजनक; तत्—वह; सुर—देवता; असुराः—तथा सारे असुर; चारण—चारण; सिद्ध-सङ्घाः—तथा सिद्धों का समाज; अपूजयन्—प्रशंसा किया गया; तत्—वह; पुरुहूत-सङ्कटम्—इन्द्र की संकट-पूर्ण दशा; निरीक्ष्य—देखकर; हा हा—हाय हाय; इति—इस प्रकार; विचुक्रुशुः—विलाप करने लगे; भृशम्—अत्यधिक।

**विभिन्न लोकों के वासी, यथा देवता, असुर, चारण तथा सिद्ध, वृत्रासुर के कार्य की प्रशंसा करने लगे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि इन्द्र महान् संकट में है, तो वे 'हाय हाय' करके विलाप करने लगे।**

इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः ।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः ॥ ६ ॥

### शब्दार्थ

इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; न—नहीं; वज्रम्—वज्र; जगृहे—धारण किया; विलज्जितः—लज्जित होकर; च्युतम्—गिरा हुआ; स्व-हस्तात्—अपने हाथ से; अरि-सन्निधौ—अपने शत्रु के समक्ष; पुनः—फिर; तम्—उससे; आह—कहा; वृत्रः—वृत्रासुर ने; हरे—हे इन्द्र; आत्त-वज्रः—अपना वज्र उठाकर; जहि—मारो; स्व-शत्रुम्—अपने शत्रु को; न—नहीं; विषाद-कालः—विलाप करने का समय।

**शत्रु की उपस्थिति में अपने हाथ से वज्र गिर जाने पर इन्द्र एक प्रकार से पराजित हो गया था और अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने पुनः अपना आयुध उठाने का दुस्साहस नहीं**

**किया। किन्तु वृत्रासुर ने उसे यह कहते हुए प्रोत्साहित किया, ''अपना वज्र उठा लो और अपने शत्रु को मार दो। यह भाग्य को कोसने का अवसर नहीं है।''**

**युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां**
**जय: सदैकत्र न वै परात्मनाम् ।**
**विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं**
**सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥ ७॥**

**शब्दार्थ**

युयुत्सताम्—जो युद्ध के लिए उत्सुक हैं; कुत्रचित्—कभी-कभी; आततायिनाम्—आयुधों से लैस; जय:—विजय; सदा—सदैव; एकत्र—एक स्थान में; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; पर-आत्मनाम्—अधीन जीवात्माओं का, जो परमात्मा के निर्देश में कार्य करती हैं; विना—के अतिरिक्त; एकम्—एक; उत्पत्ति—सृष्टि; लय—संहार; स्थिति—तथा पालन का; ईश्वरम्—नियन्ता; सर्व-ज्ञम्—जो सब कुछ ( भूत, वर्तमान, भविष्य ) जानता है; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—भोक्ता; सनातनम्—नित्य।

**वृत्रासुर ने आगे कहा—हे इन्द्र! आदि भोक्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अतिरिक्त किसी की सदैव विजय होना निश्चित नहीं है। वे ही उत्पत्ति, पालन और प्रलय के कारण हैं और सब कुछ जानने वाले हैं। अधीन होने तथा भौतिक देहों को धारण करने के लिए बाध्य होने के कारण युद्धप्रिय अधीनस्थ कभी विजयी होते हैं, तो कभी पराजित होते हैं।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* ( १५.१५ ) में भगवान् कहते हैं—

*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।*

''मैं सबों के हृदयों में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।'' जब दो पक्ष लड़ते हैं, तो लड़ाई वास्तव में परमात्मास्वरूप श्रीभगवान् के निर्देशन में होती है। भगवान् ने *गीता* ( ३.२७ ) में अन्यत्र कहा है—

*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।*

*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥*

''सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं, किन्तु भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न अहंकार से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।'' जीवात्माएँ परमेश्वर के

निर्देशानुसार ही कार्य करती हैं। भगवान् भौतिक प्रकृति को आदेश देते हैं और वह जीवात्माओं के लिए सुविधाओं की व्यवस्था करती है। जीवात्माएँ स्वतंत्र नहीं होतीं, यद्यपि मूर्खतावश वे अपने को ही कर्ता समझ बैठती हैं।

विजय तो सदैव श्रीभगवान् के पक्ष की होती है। अधीनस्थ जीवात्माएँ तो श्रीभगवान् की व्यवस्था के अन्तर्गत लड़ती हैं। विजय या पराजय वस्तुत: उनकी नहीं होती, यह तो भौतिक प्रकृति के माध्यम से भगवान् की व्यवस्था के द्वारा होती है। विजय पर गर्व या हार पर शोक करना व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् पर पूरी तरह से आश्रित रहे जो समस्त जीवात्माओं की विजय तथा पराजय के लिए उत्तरदायी हैं। भगवान् का उपदेश है—*नित्यं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:*—''तुम अपना नित्य कर्म करो, क्योंकि निष्कर्म से कर्म श्रेष्ठ है।'' जीवात्मा को अपनी स्थिति के अनुसार कर्म करने का आदेश मिलता है। जय या पराजय तो परमेश्वर पर निर्भर है। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्*—''तुम्हें निर्दिष्ट कर्म करने का अधिकार है, किन्तु तुम कर्मों के फल के अधिकारी नहीं हो।'' मनुष्य को चाहिए कि अपनी स्थिति के अनुसार निष्ठापूर्वक कर्म करे। विजय या पराजय तो भगवान् के हाथ में है।

वृत्रासुर ने इन्द्र को यह कह कर प्रोत्साहित किया, ''मेरी विजय से तुम दुखी मत हो। युद्ध बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। इस के बजाय तुम अपना कर्तव्य करो। जब श्रीकृष्ण चाहेंगे तो तुम्हारी विजय अवश्य होगी।'' कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के लिए यह श्लोक अत्यन्त शिक्षाप्रद है। न तो विजय पर हमें प्रसन्न होना चाहिए, न हार पर दुखी। हमें श्रीकृष्ण या श्री चैतन्य महाप्रभु की इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए, हमें जीत अथवा हार की परवाह नहीं करनी चाहिए। हमारा एकमात्र कर्तव्य है निष्ठापूर्वक कर्म करना जिससे श्रीकृष्ण हमारे कार्यों को मान्यता दें।

**लोका: सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।**

**द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥ ८॥**

### शब्दार्थ

लोकाः—विभिन्न लोक; स-पालाः—अपने प्रमुख लोकपाल या अधिपतियों सहित; यस्य—जिसका; इमे—ये सब; श्वसन्ति—जीते हैं; विवशाः—नितान्त आश्रित; वशे—वश में; द्विजाः—पक्षी; इव—सदृश; शिचा—जाल के द्वारा; बद्धाः—बँधे हुए; सः—वह; कालः—काल, समय; इह—इसमें; कारणम्—कारण।

**समस्त लोकों के प्रमुख लोकपालों सहित, इस ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों के समस्त जीव, पूर्णतः भगवान् के वश में हैं। वे जाल में पकड़े गये उन पक्षियों के समान कार्य करते हैं, जो स्वतंत्रतापूर्वक विचरण नहीं कर सकते।**

**तात्पर्य :** सुरों तथा असुरों में यह अन्तर है कि सुर जानते हैं कि श्रीभगवान् की इच्छा के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता, जबकि असुर भगवान् की परम इच्छा को नहीं समझ सकते हैं। इस युद्ध में वृत्रासुर वास्तव में सुर है और इद्र असुर। कोई भी स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता; प्रत्येक प्राणी श्रीभगवान् के निर्देशानुसार कार्य करता है। अत: विजय तथा पराजय मनुष्य के कर्मफलों के अनुसार ही आती है। इसका निर्णय करने वाले परमेश्वर हैं ( *कर्मणा दैवनेत्रेण*)। चूँकि हम अपने कर्मों के अनुसार भगवान् के निर्देशन के अन्तर्गत कार्य करते हैं अत: ब्रह्मा से लेकर एक तुच्छ चींटी तक कोई भी स्वतंत्र नहीं है। हम जीतें या हारें, किन्तु परमेश्वर तो सदैव विजयी रहता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य उनके निर्देशन में कार्य करता हैं।

**ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च ।**
**तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥ ९॥**

### शब्दार्थ

ओजः—इन्द्रियों का बल; सहः—मनोबल; बलम्—शरीर का बल; प्राणम्—जीवित अवस्था; अमृतम्—अमरत्व; मृत्युम्—मृत्यु; एव—निस्सन्देह; च—भी; तम्—उस ( परमेश्वर ) को; अज्ञाय—बिना जाने; जनः—मूर्ख पुरुष; हेतुम्—कारण; आत्मानम्—शरीर; मन्यते—मानता है; जडम्—यद्यपि पत्थर की तरह।

**हमारी इन्द्रियों का शौर्य, मानसिक शक्ति, दैहिक बल, जीवन शक्ति, अमरत्व एवं मृत्यु सभी कुछ परम भगवान् की देखरेख के अधीन हैं। इससे अनवगत मूर्ख लोग अपने जड़ शरीर को ही अपने कार्यकलापों का कारण मानते हैं।**

**यथा दारुमयी नारी यथा पत्रमयो मृगः ।**
**एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥ १० ॥**

### शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; दारु-मयी—लकड़ी की बनी; नारी—स्त्री; यथा—जिस प्रकार; पत्र-मयः—पत्तियों से बना; मृगः—पशु; एवम्—इस प्रकार; भूतानि—सभी वस्तुएँ; मघवन्—हे राजा इन्द्र; ईश—श्रीभगवान्; तन्त्राणि—आश्रित रह कर; विद्धि—कृपया जानें; भोः—हे महाशय।

**हे देवराज इन्द्र! जिस प्रकार काठ की पुतली जो स्त्री के समान प्रतीत होती है अथवा घास-फूस का बना हुआ पशु न तो हिल-डुल सकता है और न अपने आप नाच सकता है, वरन् उसे हाथ से चलाने वाले व्यक्ति पर पूरी तरह निर्भर रहता है, उसी प्रकार हम सभी परम नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इच्छानुसार नाचते हैं। कोई भी स्वतंत्र नहीं है।**

**तात्पर्य :** इसकी पुष्टि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४२) में की गई है—

*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।*

*यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥*

"केवल भगवान् श्रीकृष्म परम नियन्ता हैं और अन्य सभी उनके दास हैं। वे जिस प्रकार नचाते हैं सभी वैसा ही नाचते हैं।" हम सभी श्रीकृष्ण के दास हैं, हमारी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। हम सब श्रीभगवान् की इच्छानुसार नाच रहे हैं, किन्तु अज्ञान तथा मोह के कारण हम अपने को परम इच्छा से स्वतंत्र मानते हैं। इसलिए *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में कहा गया है—

*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।*

*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥*

"श्रीकृष्ण, जिन्हें गोविन्द कहा जाता है, परम नियन्ता हैं। उनका शरीर सनातन, आनन्दमय तथा चिन्मय है। वे सबके उद्गम हैं। वे अनादि हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं।"

**पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः ।**
**शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात् ॥ ११ ॥**

## शब्दार्थ

पुरुषः—समस्त भौतिक शक्ति का जनक; प्रकृतिः—भौतिक शक्ति या भौतिक प्रकृति; व्यक्तम्—अभिव्यक्ति के सिद्धान्त ( महत् तत्त्व ); आत्मा—मिथ्या अहंकार; भूत—पाँच भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—दस इन्द्रियाँ; आशयाः—मन, बुद्धि तथा चेतना; शक्नुवन्ति—समर्थ हैं; अस्य—इस ब्रह्माण्ड के; सर्ग-आदौ—सृष्टि इत्यादि में.; न—नहीं; विना—रहित; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से।.

**तीनों पुरुष—कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—भौतिक प्रकृति, समग्र भौतिक शक्ति ( महत् तत्त्व ), मिथ्या अहंकार, पाँचों भौतिक तत्त्व, भौतिक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा चेतना, ये सब भगवान् के आदेश के बिना भौतिक जगत की सृष्टि नहीं कर सकते।**

**तात्पर्य :** जैसाकि विष्णु पुराण में पुष्टि की गई है—*परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदम् अखिलं जगत्*—हम जितनी भी अभिव्यक्तियों का अनुभव करते हैं, वे भगवान् की शक्तियाँ के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ये शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इसकी पुष्टि भी स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.१०) में इस प्रकार की है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—''हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देश से कार्यशील है और समस्त जड़-चेतन प्राणियों को उत्पन्न कर रही है।'' केवल श्रीभगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति, जो चौबीस तत्त्वों के रूप में प्रकट होती है, जीवात्मा के लिए विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। वेदों में भगवान् का कथन है—

*मदीयं महिमानं च परब्रह्मेति शब्दितम्।*
*वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि॥*

''चूँकि प्रत्येक वस्तु मेरी शक्ति का प्राकट्य है, इसलिए मुझे परब्रह्म के रूप में जाना जाता है। इसलिए प्रत्येक प्राणी को मुझसे मेरे अपने महिमामय कार्यों के बारे में सुनना चाहिए।'' *भगवद्गीता* (१०.२) में भी भगवान् ने कहा है—*अहं आदिर्हि देवानाम्*—''मैं समस्त देवताओं का मूल हूँ।'' अतः श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु के मूल (आदि) हैं और कोई भी उनसे स्वतंत्र नहीं है। श्रील मध्वाचार्य भी कहते हैं—*अनीशजीव रूपेण*—जीवात्मा अनीश होता है, वह नियामक कभी नहीं होता, वह सदैव अधीनस्थ रहता है। अतः जब कोई जीवात्मा स्वतंत्र ईश्वर या भगवान्

होने का अभिमान दिखाता है, तो इसे उसकी मूर्खता समझनी चाहिए। ऐसी मूर्खता का वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

**अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम् ।**
**भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम् ॥ १२॥**

शब्दार्थ

अविद्वान्—ज्ञानरहित, मूर्ख; एवम्—इस प्रकार; आत्मानम्—स्वयं; मन्यते—मानता है; अनीशम्—यद्यपि अन्यों पर पूर्णतः आश्रित; ईश्वरम्—परम नियन्ता के रूप में, स्वतंत्र; भूतैः—जीवात्माओं के द्वारा; सृजति—वह ( भगवान् ) उत्पन्न करता है; भूतानि—अन्य जीवों को; ग्रसते—लील लेता है; तानि—उनको; तैः—अन्य जीवों के द्वारा; स्वयम्—स्वयं।

**ज्ञानरहित मूर्ख व्यक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ सकता। वह शाश्वत अधीन रहकर भी अपने आपको झूठे ही सर्वोच्च मानता है। यदि कोई यह सोचे कि अपने पूर्व सकाम कर्मों के अनुसार उसका भौतिक शरीर उसके माता-पिता द्वारा उत्पन्न किया गया है और उसी शरीर को दूसरा कोई विनष्ट कर देता है जैसे कि बाघ दूसरे पशु को निगल जाता है, तो यह सही ज्ञान नहीं है। श्रीभगवान् स्वयं सृष्टि करते हैं और अन्य जीवों के द्वारा जीवों को निगलते रहते हैं।**

**तात्पर्य :** *कर्ममीमांसा* दर्शन के अनुसार, मनुष्य का कर्म या पूर्व सकाम कर्म ही प्रत्येक वस्तु का कारण है, अतः कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। जो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वे मूर्ख हैं। जब पिता बच्चे की सृष्टि करता है, तो वह स्वतंत्र रूप से ऐसा नहीं करता; वह ऐसा करने के लिए परमेश्वर द्वारा प्रेरित किया जाता है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मैं सबों के हृदयों में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।" जब तक प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् का आदेश प्राप्त नहीं होता, मनुष्य कोई भी वस्तु उत्पन्न करने के लिए प्रेरित नहीं होता। अतः माता-पिता जीवात्मा के सृष्टिकर्ता नहीं हैं। जीवात्मा के कर्मों अर्थात् सकाम कर्मों के अनुसार वह पिता के वीर्य में स्थित होकर माता के गर्भ में पहुँचाया जाता है। तब माता तथा पिता के शरीर

के अनुसार (*यथायोनि यथाबीजम्*) जीव शरीर ग्रहण करता है और सुख या दुख भोगने के लिए जन्मता है। अत: मनुष्य के जन्म का आदि कारण परमेश्वर है। इसी प्रकार से मनुष्य की मृत्यु का कारण भी वही है। कोई भी स्वतंत्र नहीं है; सभी परतंत्र हैं, आश्रित हैं। इसका सही निष्कर्ष यह निकला कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही एकमात्र स्वतंत्र पुरुष हैं।

**आयु: श्री: कीर्तिरैश्वर्यमाशिष: पुरुषस्य या: ।**
**भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्यया: ॥ १३ ॥**

### शब्दार्थ

**आयु:—दीर्घजीविता; श्री:—ऐश्वर्य; कीर्ति:—यश; ऐश्वर्यम्—शक्ति; आशिष:—आशीर्वाद, वर; पुरुषस्य—जीवात्मा का; या:—जो; भवन्ति—होते हैं; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; तत्-काले—ठीक समय पर; यथा—जिस प्रकार; अनिच्छो:—न चाहने वाले का; विपर्यया:—विपरीत परिस्थितियाँ।**

**जिस प्रकार मरने की इच्छा न रखने पर भी मनुष्य को मृत्यु के समय अपनी आयु, ऐश्वर्य, यश तथा अन्य सब कुछ त्याग देना पड़ता है उसी प्रकार जब ईश्वर की कृपा होती है, तो विजय के नियत समय के अनुकूल होने पर ये सारी वस्तुएँ उसे मिल जाती हैं।**

**तात्पर्य :** झूठे में फूले न समाना उचित नहीं, यदि कोई यह कहे कि वह अपने प्रयास से ऐश्वर्यवान, विद्वान, रूपवान् आदि बन सका है। ऐसा सौभाग्य ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार, न तो कोई मरना चाहता है, न कोई निर्धन या कुरूप होना चाहता है। तो फिर जीव को अपनी मर्जी के विरूद्ध ऐसे अनिच्छित कष्ट क्यों मिलते हैं? यह परमेश्वर की कृपा या ताड़ना का ही फल है कि मनुष्य को भौतिक लाभ या हानि होती है। कोई स्वतंत्र नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की कृपा या ताड़ना के अधीन है। बँगला में एक सामान्य कहावत है कि भगवान् के दस हाथ होते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनका सर्वत्र नियंत्रण है—आठों दिशाओं में तथा ऊपर और नीचे। यदि वे अपने दस हाथों से हमसे सब कुछ छीन लेना चाहते हैं, तो हम अपने दो हाथों से कुछ भी नहीं बचा सकते। इसी प्रकार यदि वे अपने दसों हाथों से हमें आशीष देना चाहें तो हम अपने दो हाथों से यह सब कुछ कैसे प्राप्त कर सकेंगे? दूसरें शब्दों में आशीष-

समूह हमारी इच्छाओं से बढ़कर है। यद्यपि हम अपनी सम्पत्ति से विलग नहीं होना चाहते, निष्कर्ष यह है कि कभी-कभी भगवान् उसे बलपूर्वक हमसे छीन लेते हैं और कभी वे हमको इतने वर देते है कि हम उन सबको ग्रहण नहीं कर सकते। अत: चाहे सुख हो या दुख, हम स्वतंत्र नहीं हैं; सब कुछ श्रीभगवान् की परम इच्छा पर निर्भर करता है।

**तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि ।**
**समः स्यात्सुखदु:खाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा ॥ १४॥**

### शब्दार्थ

तस्मात्—अत: ( श्रीभगवान् की इच्छा पर पूर्णतया निर्भर होने के कारण ); अकीर्ति—अपयश का; यशसो:—तथा यश; जय—विजय का; अपजययो:—तथा पराजय; अपि—भी; सम:—समान; स्यात्—हो; सुख-दु:खाभ्याम्—सुख तथा दुख से; मृत्यु—मृत्यु; जीवितयो:—अथवा जीवित का; तथा—और।

**चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर है, अत: मनुष्य को यश-अपयश, हार-जीत तथा जीवन-मृत्यु में निश्चिन्त रह कर समभाव बनाये रखना चाहिए।**

**सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणा: ।**
**तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद स न बध्यते ॥ १५॥**

### शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रज:—रजोगुण; तम:—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृते:—भौतिक प्रकृति के; न—नहीं; आत्मन:—आत्मा के; गुणा:—गुण; तत्र—ऐसी स्थिति में; साक्षिणम्—गवाह, साक्षी; आत्मानम्—आत्मा; य:—जो कोई; वेद—जानता है; स:—वह; न—नहीं; बध्यते—बँधता है।

**जो पुरुष यह जानता है कि सतो, रजो तथा तमो गुण—ये तीनों आत्मा के नहीं, वरन् भौतिक प्रकृति के गुण हैं और जो यह जानता है कि शुद्ध आत्मा इन गुणों के कर्मों तथा फलों का साक्षी मात्र है, उसे मुक्त पुरुष मानना चाहिए। वह इन गुणों से नहीं बंधता।**

**तात्पर्य :** भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.५४) में व्याख्या की है—

*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।*

*सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥*

''इन्द्रियातीत मनुष्य को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूर्णरूपेण प्रसन्न हो

जाता है। वह न शोक करता है और न कोई इच्छा ही करता है, वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। उस अवस्था में उसे मेरे शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।" आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर अर्थात् *ब्रह्मभूत* अवस्था में मनुष्य जानता है कि जीवन-काल में जो भी घटित होता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के दूषण (कल्मष) से ही होता है। जीवात्मा, जो शुद्ध आत्मा है उसे इन गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं। भौतिक जगत के झंझावात में सब कुछ तेजी से बदल जाता है, किन्तु यदि कोई मौन रहकर झंझावात के कर्मों तथा फलों का निरीक्षण करता है, तो उसे मुक्त हुआ समझिये। मुक्त आत्मा का असली गुण यह है कि वह माया के कर्म तथा फल से अविचलित रहकर कृष्णभक्त बना रहता है। ऐसा मुक्त पुरुष सदैव प्रसन्न रहता है। उसे न तो शोक होता है, न किसी वस्तु की इच्छा होती है। चूँकि परमेश्वर प्रत्येक वस्तु को देने वाला है, अत: जीवात्मा को जो उन्हीं पर आश्रित है, अपनी इन्द्रियतृप्ति हेतु न तो विरोध करना चाहिए, न ही कोई वस्तु स्वीकार करनी चाहिए, अपितु प्रत्येक वस्तु को ईश्वर का अनुग्रह मानते हुए प्राप्त करना चाहिए और समस्त परिस्थितियों में स्थिर-चित्त बने रहना चाहिए।

**पश्य मां निर्जितं शत्रु वृक्णायुधभुजं मृधे ।**
**घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

पश्य—देखो; माम्—मुझको; निर्जितम्—पहले से पराजित; शत्रु—हे शत्रु; वृक्ण—काट डालो; आयुध—मेरा हथियार; भुजम्—तथा मेरी भुजा; मृधे—इस युद्ध में; घटमानम्—अब भी प्रयत्नशील; यथा-शक्ति—अपनी शक्ति के अनुसार; तव—तुम्हारा; प्राण—जीवन; जिहीर्षया—ले लेने की इच्छा से।.

**अरे मेरे शत्रु! जरा मेरी ओर देख। मैं पहले ही पराजित हो चुका हूँ, क्योंकि मेरा हथियार तथा मेरी भुजा पहले ही खंड-खंड हो चुके हैं। तुमने मुझे पहले ही परास्त कर दिया है, तो भी मैं तुम्हें मारने की प्रबल इच्छा के कारण तुमसे लड़ने का भरसक प्रयत्न कर रहा हूँ। ऐसी विषम परिस्थिति में भी मैं तनिक भी दुखी नहीं हूँ। अत: तुम उदासीनता त्याग करके युद्ध जारी रखो।**

**तात्पर्य :** वृत्रासुर इतना महान् एवं बलशाली था कि वस्तुत: वह इन्द्र के गुरु की भूमिका निभा रहा था। वह यद्यपि हारने ही वाला था, किन्तु उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह जानता था कि वह इन्द्र से हराया जाने वाला है और उसने स्वेच्छा से इसे स्वीकार किया था, किन्तु इन्द्र का शत्रु होने के नाते उसने इन्द्र को मारने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रकार उसने अपना कर्तव्य निभाया। मनुष्य को चाहिए कि यह जानते हुए भी कि क्या परिणाम होगा, सभी परिस्थितियों में अपना कर्तव्य निभाए।

**प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासन: ।**
**अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजय: ॥ १७॥**

शब्दार्थ

प्राण-ग्लह:—प्राणों की बाजी; अयम्—यह; समर:—युद्ध; इषु-अक्ष:—तीर रूपी पाँसे; वाहन-आसन:—हाथी तथा घोड़े जैसे वाहन चौसर हैं; अत्र—यहाँ ( इस जुएँ के खेल में ); न—नहीं; ज्ञायते—ज्ञात है; अमुष्य—उस एक की; जय:—विजय; अमुष्य—अमुक की; पराजय:—हार।

**अरे मेरे शत्रु! इस युद्ध को द्यूतक्रीड़ा का खेल मानो जिसमें हमारे प्राणों की बाजी लगी है, बाण पासे हैं और वाहक पशु चौसर हैं। कोई नहीं जानता कि कौन हारेगा और कौन जीतेगा। यह सब विधाता पर निर्भर है।**

श्रीशुक उवाच
**इन्द्रो वृत्रवच: श्रुत्वा गतालीकमपूजयत् ।**
**गृहीतवज्र: प्रहसंस्तमाह गतविस्मय: ॥ १८॥**

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्र:—राजा इन्द्र ने; वृत्र-वच:—वृत्रासुर के वचन; श्रुत्वा—सुनकर; गत-अलीकम्—द्वैतभाव से रहित; अपूजयत्—पूजा की; गृहीत-वज्र:—वज्र धारण किये हुए; प्रहसन्—हँसते हुए; तम्—वृत्रासुर से; आह—कहा; गत-विस्मय:—आश्चर्यरहित होकर।

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा—वृत्रासुर के निष्कपट तथा निर्देशात्मक**

**वचन सुनकर राजा इन्द्र ने उसकी प्रशंसा की और अपने वज्र को पुन: हाथ में धारण कर लिया। इसके बाद बिना मोह या द्वैत-भाव से वह हँसा और वृत्रासुर से इस प्रकार**

**बोला।**

**तात्पर्य :** देवताओं में श्रेष्ठ राजा इन्द्र को अपने शत्रु वृत्रासुर का जो असुर माना जाता था उपदेश सुनकर आश्चर्य हुआ। वह चकित था कि असुर होकर भी कितने ज्ञान की बातें कर रहा है। तब उसे प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज जैसे परम भक्तों की याद हो आई जो असुरों के ही कुल में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार उसकी आँखें खुल गईं। कभी-कभी तथाकथित असुरों में श्रीभगवान् के प्रति अतीव भक्तिभाव रहता है। इसलिए इन्द्र विश्वासपूर्वक वृत्रासुर की बातों पर हँसा।

इन्द्र उवाच
**अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी ।**
**भक्तः सर्वात्मनात्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥ १९ ॥**

**शब्दार्थ**

इन्द्रः उवाच—इन्द्र ने कहा; अहो—ओह; दानव—हे असुर; सिद्धः असि—तुम अब सिद्ध हो चुके हो; यस्य—जिसका; ते—तुम्हारी; मतिः—चेतना; ईदृशी—इस प्रकार की; भक्तः—परम भक्त; सर्व-आत्मना—विचलित हुए बिना; आत्मानम्—परमात्मा को; सुहृदम्—परम मित्र; जगत्-ईश्वरम्—श्रीभगवान् को।

**इन्द्र ने कहा, हे असुरश्रेष्ठ! मैं देखता हूँ कि संकटमय स्थिति में होते हुए भी अपने विवेक तथा भक्तियोग में निष्ठा के कारण तुम श्रीभगवान् के पूर्ण भक्त तथा जन-जन के मित्र हो।**

**तात्पर्य :** जैसा कि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—

*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।*

*यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥*

''कृष्णभावनामृत में इस प्रकार निष्ठ व्यक्ति सत्य से कभी विमुथ नहीं होता और इस की प्राप्ति होने पर वह समझता है कि इससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं है। ऐसी स्थिति को प्राप्त पुरुष बड़े से बड़े दुख के बीच में भी विचलित नहीं होता।'' शुद्ध भक्त किसी भी चुनौतीपूर्ण परिस्थिति में विचलित नहीं होता। इन्द्र को आश्चर्य हुआ कि वृत्रासुर अविचलित भाव से भगवान् के

भक्तियोग में स्थिर हो चुका है, क्योंकि ऐसी मानसिकता किसी असुर के लिए असम्भव है। किन्तु, भगवान् की कृपा से कोई भी महान् भक्त बन सकता है (*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्*)। शुद्ध भक्त निश्चित रूप से भगवान् के धाम को लौट जाता है।

**भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम् ।**
**यद्विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥ २० ॥**

**शब्दार्थ**

**भवान्**—आप; **अतार्षीत्**—पार कर चुके हो; **मायाम्**—माया को; **वै**—निस्सन्देह; **वैष्णवीम्**—भगवान् विष्णु की; **जन-मोहिनीम्**—जनसमूह को मोहने वाली; **यत्**—क्योंकि; **विहाय**—त्याग कर; **आसुरम्**—असुरों का; **भावम्**—मानसिकता, भाव; **महा-पुरुषताम्**—महान् भक्त का पद; **गतः**—प्राप्त कर चुके हो।

**तुमने भगवान् विष्णु की माया को पार कर लिया है और इस मुक्ति के कारण तुमने आसुरी भाव का परित्याग करके महान् भक्त का पद प्राप्त कर लिया है।**

**तात्पर्य :** भगवान् विष्णु *महापुरुष* हैं, अतः जो कोई वैष्णव बन जाता है, वह *महा-पौरुष्य* का पद प्राप्त कर लेता है। महाराज परीक्षित ने यह पद प्राप्त किया था। *पद्मपुराण* में देवता तथा असुर का अन्तर बतलाते हुए कहा गया है कि देवता भगवान् विष्णु का भक्त होता है, किन्तु असुर उसका उल्टा होता है—*विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः*। वृत्रासुर को असुर माना गया है, किन्तु, वास्तव में वह भक्त अर्थात् *महापौरुष्य* से कहीं अधिक योग्य था। यदि कोई किसी प्रकार से भगवान् का भक्त हो जाता है, तो उसका पद कैसा भी हो वह सिद्ध पुरुष के पद पर लाया जा सकता है। यदि कोई अनन्य भक्त इस प्रकार से भगवान् की सेवा करने का प्रयास करे तो यह सम्भव है। अतः शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* (२.४.१८) में कहा है—

*किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा*
*आभीरशुम्भा यवनाः खसादयः ।*
*येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः*
*शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥*

“किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द पुल्कश, आभीर, शुम्भ, यवन तथा खस आदि जातियाँ तथा दूसरे पापी लोग भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाते हैं क्योंकि वे परम् शक्ति हैं। उन सर्वशक्तिमान भगवान् को मेरा सादर नमस्कार है।” चाहे जो कोई भी हो, यदि वह शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करता है और उसके निर्देशानुसार अपने आचरण को ढालता है, तो वह पवित्र हो सकता है। तभी, चाहे वह किरात हो, आन्ध्र, हो या पुलिन्द हो वह पवित्र होकर *महापौरुष्य* के पद तक उठ सकता है।

**खल्विदं महदाश्चर्यं यद्रजःप्रकृतेस्तव ।**
**वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

खलु—निस्सन्देह; इदम्—यह; महत् आश्चर्यम्—महान् आश्चर्य; यत्—जो; रजः—रजोगुण से प्रभावित; प्रकृतेः—जिसका स्वभाव; तव—तुम्हारा; वासुदेवे—भगवान् श्रीकृष्ण में; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; सत्त्व-आत्मनि—शुद्ध सतोगुण में स्थित; दृढा—दृढ़; मतिः—चेतना।

**हे वृत्रासुर! असुर सामान्यतः रजोगुणी होते हैं, अतः यह कितना महान् आश्चर्य है। कहा जायेगा कि असुर होकर भी तुमने भक्त-भाव ग्रहण करके अपने मन को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव में स्थिर कर दिया है, जो सदैव शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते हैं।**

**तात्पर्य :** राजा इन्द्र को विस्मय हो रहा था कि वृत्रासुर किस तरह महान् भक्त के पद तक उठ सका। जहाँ तक प्रह्लाद महाराज की बात है, वे नारद मुनि द्वारा दीक्षित थे, अत: वे असुर वंश में जन्म लेकर भी परम भक्त हो सकते थे। किन्तु वृत्रासुर के विषय में इन्द्र को कोई ऐसा कारण दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिए उसे आश्चर्य हुआ कि वृत्रासुर ऐसा उच्च भक्त था कि वह भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव के चरणकमलों में अपने मन को अविचलित भाव से स्थिर कर सका।

**यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।**
**विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; भक्तिः—भक्ति; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; हरौ—भगवान् हरि में; निःश्रेयस-ईश्वरे—परममुक्ति के नियामक; विक्रीडतः—तैरते या खेलते हुए; अमृत-अम्भोधौ—अमृत के समुद्र में; किम्—क्या लाभ है; क्षुद्रैः—छोटे; खातक-उदकैः—गड्ढों के जल से।

**जो मनुष्य परम कल्याणकारी परमेश्वर हरि की भक्ति में स्थिर है, वह अमृत के समुद्र में तैरता है। उसके लिए छोटे-छोटे गड्ढों के जल से क्या प्रयोजन?**

**तात्पर्य :** वृत्रासुर ने पहले ( *भागवत* ६.११.२५) प्रार्थना की थी—*न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्* "मैं ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक यहाँ तक कि ध्रुवलोक के भी सुख की सुविधाओं की कामना नहीं करता, इस पृथ्वी या अधःलोकों की तो बात ही नहीं। मैं तो भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता हूँ।" यही शुद्ध भक्त का संकल्प है। शुद्ध भक्त इस भौतिक संसार के किसी उच्च पद के प्रति कभी आकृष्ट नहीं होता। वह तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की संगति में उसी प्रकार रहना चाहता है, जिस प्रकार वृन्दावन के वासी–श्रीमती राधारानी, गोपियाँ, कृष्ण के पिता तथा माता (नन्द महाराज तथा यशोदा), कृष्ण के सखा तथा उनके दास रहते थे। वह वृन्दावन की सुन्दरता के कृष्णमय वातावरण के साथ अपना सान्निध्य चाहता है। श्रीकृष्ण के भक्त की यही परम इच्छाएँ हैं। भगवान् विष्णु के भक्त भले ही अपने लिए वैकुण्ठलोक में किसी पद की कामना करते हों, किन्तु श्रीकृष्ण के भक्त कभी वैकुण्ठ लोकों की सुविधाओं तक की इच्छा नहीं रखते। वे तो गोलोक वृन्दावन वापस जाना चाहते हैं और श्रीकृष्ण की नित्य लीलाओं में संगति चाहते हैं। कोई भी सांसारिक सुख गड्ढे में भरे हुए जल के समान है, किन्तु वैकुण्ठलोक में जो आध्मात्मिक सुख नित्य प्राप्त होता है, वह अमृत के समुद्र के समान है, जिसमें भक्त तैरना चाहता है।

**श्रीशुक उवाच**

**इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप ।**
**युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधाम्पती ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणौ—बोलते हुए; अन्योन्यम्—परस्पर; धर्म-जिज्ञासया—परम धार्मिक नियम ( भक्तियोग ) जानने की इच्छा से; नृप—हे राजन्; युयुधाते—युद्ध किया; महा-वीर्यौ—दोनों वीर; इन्द्र—राजा इन्द्र; वृत्रौ—तथा वृत्रासुर ने; युधाम् पती—दोनों महान् सेनानायक।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—वृत्रासुर तथा राजा इन्द्र ने युद्धभूमि में भी भक्तियोग के सम्बन्ध में बातें कीं और अपना कर्तव्य समझकर दोनों पुनः युद्ध में भिड़ गये। हे राजन्! दोनों ही बड़े योद्धा और समान रूप से शक्तिशाली थे।**

आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः ।
इन्द्राय प्राहिणोद्घोरं वामहस्तेन मारिष ॥ २४॥

शब्दार्थ

आविध्य—घुमाकर; परिघम्—परिघ को; वृत्रः—वृत्रासुर ने; कार्ष्ण-अयसम्—लोहे का बना; अरिम्-दमः—अपने शत्रु को जीतने में सक्षम, शत्रुसदन; इन्द्राय—इन्द्र पर; प्राहिणोत्—फेंका; घोरम्—अत्यन्त भयानक; वाम-हस्तेन—अपने बाएँ हाथ से; मारिष—हे राजाओं में श्रेष्ठ, महाराज परीक्षित।

**हे महाराज परीक्षित! अपने शत्रु को वश में करने में पूर्ण सक्षम वृत्रासुर ने अपना लोहे का परिघ उठाकर चारों ओर घुमाया और इन्द्र को लक्ष्य बनाकर अपने बाएँ हाथ से उस पर फेंका।**

स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम् ।
चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—उस ( राजा इन्द्र ) ने; तु—फिर भी; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; परिघम्—लोहे का परिघ; करम्—उसका हाथ; च—तथा; करभ-उपमम्—हाथी के सूँड़ के समान बली; चिच्छेद—खण्ड खण्ड कर दिया; युगपत्—एकसाथ; देवः—श्रीइन्द्र; वज्रेण—वज्र से; शत-पर्वणा—एक सौ जोड़ों वाले।

**इन्द्र ने अपने शतपर्वन नामक वज्र से वृत्रासुर के परिघ तथा उसके बचे हुए हाथ को एक साथ खण्ड-खण्ड कर डाला।**

दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः ।
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः ॥ २६॥

शब्दार्थ

दोर्भ्याम्—दोनों भुजाओं से; उत्कृत्त-मूलाभ्याम्—जड़ से कटी हुई; बभौ—था; रक्त-स्त्रवः—तेजी से रक्त की धार बहने; असुरः—वृत्रासुर; छिन्न-पक्षः—कटे पंखों वाला; यथा—जिस प्रकार; गोत्रः—पर्वत; खात्—आकाश से; भ्रष्टः—गिरकर; वज्रिणा—वज्रधारी इन्द्र के द्वारा; हतः—मारा हुआ।

**जड़ से दोनों भुजाएँ कट जाने से तेजी से रक्त बहने के कारण वृत्रासुर उड़ते हुए पर्वत के समान सुन्दर लग रहा था जिसके पंखों को इन्द्र ने खण्ड-खण्ड कर दिया हो।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि किसी समय उड़ने वाले पर्वत हुआ करते थे और उनके पंख इन्द्र के वज्र द्वारा काट दिये गये। वृत्रासुर का विशाल शरीर एक पर्वत के समान था।

**महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम्**
**कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् ।**
**नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया ॥ २७ ॥**
**दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम् ।**
**अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन् ॥ २८ ॥**
**गिरिराट्पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन्महीम् ।**
**जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम् ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

महा-प्राणः—महान् शारीरिक शक्ति वाला; महा-वीर्यः—असामान्य शौर्य से सम्पन्न; महा-सर्पः—सबसे बड़ा साँप; इव—समान; द्विपम्—हाथी; कृत्वा—रखकर; अधराम्—निचले; हनुम्—जबड़ा; भूमौ—भूमि पर; दैत्यः—असुर; दिवि—आकाश में; उत्तराम् हनुम्—ऊपरी जबड़ा; नभः—आकाश के समान; गम्भीर—गहरा; वक्त्रेण—अपने मुख से; लेलिह—साँप की तरह; उल्बण—भयानक; जिह्वया—जीभ से; दंष्ट्राभिः—दाँतों से; काल-कल्पाभिः—काल अर्थात् मृत्यु के ही समान; ग्रसन्—लीलते हुए; इव—मानो; जगत्-त्रयम्—तीनों लोकों को; अति-मात्र—अत्युच्च; महा-कायः—जिसका विशाल शरीर; आक्षिपन्—हिलाते हुए; तरसा—वेग से; गिरीन्—पर्वतों को; गिरि-राट्—हिमालय पर्वत; पाद-चारी—पाँवों से चलते हुए; इव—मानो; पद्भ्याम्—अपने पाँवों से; निर्जरयन्—कुचलते हुए; महीम्—भूपृष्ठ को; जग्रास—निगल गया; सः—वह; समासाद्य—पहुँच कर; वज्रिणम्—वज्रधारी इन्द्र को; सह-वाहनम्—उसके वाहन हाथी समेत।

**वृत्रासुर अत्यन्त शक्तिशाली तथा वीर्यवान् था। उसने अपने निचले जबड़े को भूमि पर और ऊपरी जबड़े को आकाश में गड़ा दिया। उसका मुख इतना गहरा हो गया मानो आकाश हो और उसकी जीभ बहुत बड़े सर्प के सदृश लग रही थी। अपने काल के समान कराल दाँतों से वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को निगलने का प्रयास करता प्रतीत हुआ। इस प्रकार विराट**

शरीर धारण करके उस महान् असुर वृत्रासुर ने पर्वतों तक को हिला दिया और अपने पाँवों से पृथ्वी की सतह को इस प्रकार मर्दित करने लगा मानो वह चलता हुआ साक्षात् हिमालय पर्वत हो। वह इन्द्र के सामने आया और उसके वाहन ऐरावत समेत उसे इस प्रकार निगल गया मानो एक बड़े अजगर ने हाथी निगल लिया हो।

वृत्रग्रस्तं तमालोक्य सप्रजापतयः सुराः ।
हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुक्रुशुः समहर्षयः ॥ ३० ॥

### शब्दार्थ

वृत्र-ग्रस्तम्—वृत्रासुर द्वारा निगला जाकर; तम्—उसको ( इन्द्र को ); आलोक्य—देखकर; स-प्रजापतयः—ब्रह्माजी समेत अन्य प्रजापतियों के साथ; सुराः—सभी देवता; हा—हाय; कष्टम्—कितना कष्ट है; इति—इस प्रकार; निर्विण्णाः—अत्यन्त दुखी होकर; चुक्रुशुः—विलाप करने लगे; स-महा-ऋषयः—महान् ऋषियों समेत।

जब देवताओं, ब्रह्मा समेत अन्य प्रजापतियों तथा अन्य बड़े-बड़े साधु पुरुषों ने देखा कि असुर ने इन्द्र को निगल लिया है, तो वे अत्यन्त दुखी हुए और 'हाय हाय' 'कितनी बड़ी विपत्ति'! कह करके विलाप करने लगे।

निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः ।
महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च ॥ ३१ ॥

### शब्दार्थ

निगीर्णः—निगला जाकर; अपि—यद्यपि; असुर-इन्द्रेण—असुरों में श्रेष्ठ, वृत्रासुर द्वारा; न—नहीं; ममार—मरा; उदरम्—उदर में; गतः—जाकर; महा-पुरुष—परमेश्वर नारायण के कवच से; सन्नद्धः—सुरक्षित रहकर; योग-माया-बलेन—इन्द्र की अपनी योगशक्ति से; च—भी।

इन्द्र के पास नारायण का जो सुरक्षा कवच था, वह स्वयं भगवान् नारायण से अभिन्न था। उस कवच के द्वारा तथा अपनी योगशक्ति से सुरक्षित होने पर राजा इन्द्र वृत्रासुर द्वारा निगले जाने पर भी उस असुर के उदर में मरा नहीं।

भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद्विभुः ।
उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥ ३२ ॥

### शब्दार्थ

भित्त्वा—बेध कर; वज्रेण—वज्र से; तत्-कुक्षिम्—वृत्रासुर के उदर को; निष्क्रम्य—बाहर आकर; बल-भित्—बल असुर को मारने वाला; विभुः—शक्तिशाली इन्द्र ने; उच्चकर्त—काट लिया; शिरः—सिरः; शत्रोः—शत्रु का; गिरि-शृङ्गम्—पर्वत की चोटी; इव—सदृश; ओजसा—अत्यन्त वेग से।

अत्यन्त शक्तिशाली राजा इन्द्र ने अपने वज्र के द्वारा वृत्रासुर का पेट फाड़ डाला और बाहर निकल आया। बल असुर के मारने वाले इन्द्र ने उसके तुरन्त बाद वृत्रासुर के पर्वत-शृंग जैसे ऊँचे सिर को काट लिया।

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः
कृन्तन्समन्तात्परिवर्तमानः ।
न्यपातयत्तावदहर्गणेन
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

वज्रः—वज्र; तु—लेकिन; तत्-कन्धरम्—उसकी गर्दन को; आशु-वेगः—यद्यपि अत्यन्त तेज; कृन्तन्—काटते हुए; समन्तात्—चारों ओर; परिवर्तमानः—घूमते हुए; न्यपातयत्—गिरा दिया; तावत्—बहुत से; अहः-गणेन—दिनों से; यः—जो; ज्योतिषाम्—सूर्य, चन्द्र जैसे नक्षत्रों का; अयने—विषुवत् रेखा के दोनों ओर जाने में; वार्त्र-हत्ये—वृत्रासुर के वध के लिए उपयुक्त समय पर।

यद्यपि वज्र वृत्रासुर की गर्दन के चारों ओर अत्यन्त वेग से घूम रहा था, किन्तु उसके शरीर से सिर को विलग करने में पूरा एक वर्ष—३६० दिन—लग गया, जो सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों के उत्तरी तथा दक्षिणी यात्रा पूर्ण करने में लगने वाले समय के तुल्य है। तब वृत्रासुर के वध का उपयुक्त समय ( योग ) उपस्थित होने पर उसका सिर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-
र्गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः ।
वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना
मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन् ॥ ३४॥

### शब्दार्थ

तदा—उस समय; च—भी; खे—आकाश के स्वर्गिक लोकों में; दुन्दुभयः—दुन्दुभी ( नगाड़े ); विनेदुः—बज उठे; गन्धर्व—गन्धर्व; सिद्धाः—तथा सिद्धगण; स-महर्षि-सङ्घाः—महर्षियों की सभा समेत; वार्त्र-घ्न-लिङ्गैः—वृत्रासुर का वध करने वाले के शौर्य का उत्सव मनाते हुए; तम्—उसको ( इन्द्र को ); अभिष्टुवानाः—अभिनन्दन करते हुए; मन्त्रैः—विविध मंत्रों से; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; कुसुमैः—फूलों से; अभ्यवर्षन्—वर्षा की।

**वृत्रासुर के मारे जाने पर, गन्धर्वों तथा सिद्धों ने हर्षित होकर स्वर्गलोक में दुन्दुभियाँ बजाईं। उन्होंने वृत्रासुर के संहर्ता इन्द्र के शौर्य का वेद-स्त्रोत्रों से अभिनन्दन किया और अत्यन्त प्रसन्न होकर उस पर फूलों की वर्षा की।**

**वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम ।**
**पश्यतां सर्वदेवानामलोकं समपद्यत ॥ ३५ ॥**

### शब्दार्थ

वृत्रस्य—वृत्रासुर के; देहात्—शरीर से; निष्क्रान्तम्—निकली हुई; आत्म-ज्योतिः—आत्मा, जो ब्रह्म तेज के समान प्रकाशमान था; अरिम्-दम—शत्रुओं का दमन करने वाले हे राजा परीक्षित; पश्यताम्—देख रहे थे; सर्व-देवानाम्—जब सभी देवता; अलोकम्—ब्रह्मतेज से पूरित, परम धाम; समपद्यत—प्राप्त किया।

**हे शत्रुओं का दमन करने वाले राजा परीक्षित! तब वृत्रासुर के शरीर से सजीव ज्योति निकल कर बाहर आई और भगवान् के परम धाम को लौट गई। सभी देवताओं के देखते-देखते वह भगवान् संकर्षण का संगी बनने के लिए दिव्य लोक में प्रविष्ट हुआ।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने व्याख्या की है कि वास्तव में वृत्रासुर नहीं, अपितु इन्द्र मारा गया था। वे लिखते हैं कि जब वृत्रासुर ने हाथी समेत इन्द्र को निगल लिया तो उसने सोचा कि मैंने तो इन्द्र को मार डाला, अतः अब लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, अब मुझे भगवान् के परम धाम जाना है। इस प्रकार सोचते हुए उसने सारे शरीरिक कार्य-कलाप बन्द कर दिये और समाधि धारण कर ली। वृत्रासुर के शरीर की मौनावस्था का लाभ उठाकर इन्द्र ने असुर का पेट फाड़ डाला और वृत्रासुर की समाधि के कारण बाहर निकल आया। चूँकि वृत्रासुर योग-समाधि में लीन था, अतः यद्यपि इन्द्र उसकी गर्दन काट लेना चाहता था, किन्तु वह इतनी कठोर हो चुकी थी कि उसे खण्ड-खण्ड करने में इन्द्र को पूरे ३६० दिन लग गये। वास्तव में इन्द्र ने वृत्रासुर के उस शरीर के खण्ड-खण्ड किये जिसको उसने स्वयं त्याग दिया था; स्वयं वृत्रासुर नहीं मारा गया। वृत्रासुर अपनी आदि (मूल) चेतना में ही भगवान् संकर्षण का संगी बनने के लिए भगवान् के परम धाम चला गया। यहाँ पर *अलोकम्* शब्द दिव्यलोक, वैकुण्ठलोक को बताता है,

जहाँ संकर्षण नित्य निवास करते हैं।

*इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''वृत्रासुर की यशस्वी मृत्यु'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter तेरह

# ब्रह्महत्या से पीड़ित राजा इन्द्र

इस अध्याय में एक ब्राह्मण (वृत्रासुर) के वध से उत्पन्न इन्द्र का भय, उसका भागना तथा भगवान् विष्णु की कृपा द्वारा उसकी रक्षा का वर्णन किया गया है।

जब सब देवताओं ने मिलकर इन्द्र से वृत्रासुर का वध करने के लिए प्रार्थना की थी तो उसने इनकार कर दिया था, क्योंकि वृत्रासुर ब्राह्मण था। किन्तु देवताओं ने इन्द्र को यह कह कर प्रोत्साहित किया था कि वह उसे मारने से न डरें, क्योंकि उसकी रक्षा नारायण-कवच अथवा स्वयं भगवान् द्वारा हुई है। मनुष्य नारायण का नाम लेने मात्र से स्त्री, गाय या ब्राह्मण के वध से लगने वाले पाप-फल से मुक्त हो जाता है। देवताओं ने इन्द्र से अश्वमेघ यज्ञ करने के लिए कहा जिससे नारायण प्रसन्न हो सकें क्योंकि इस यज्ञ के करने से यदि कोई समूचे ब्रह्माण्ड का भी वध कर दे तो भी उसको हत्या के पाप का फल नहीं भोगना पड़ता।

देवताओं के इस उपदेश को सुनकर इन्द्र ने वृत्रासुर से युद्ध किया, किन्तु जब वृत्रासुर मारा गया तो इन्द्र को छोड़ कर सभी लोग संतुष्ट हुए क्योंकि इन्द्र वृत्रासुर की स्थिति से परिचित था। महान् पुरुष का स्वभाव ऐसा ही होता है। यदि कोई महान् पुरुष अवैध रीति से धन प्राप्त करता भी है, तो वह सदा लज्जित होता है तथा उसे पश्चाताप होता है। इन्द्र को यह निश्चय हो गया कि वह ब्राह्मण-हत्या जैसे पाप में फँस गया है। यही नहीं, यह ब्रह्महत्या प्रत्यक्ष रूप में उसका पीछा करने लगा, जिससे डर कर वह इधर-उधर भागता रहा और सोचता रहा कि इस पाप से किस तरह मुक्त हुआ जाये। वह मानस-सरोवर में गया और वहाँ पर धन की देवी (लक्ष्मी जी) के संरक्षण में

एक हजार वर्षों तक ध्यान करता रहा। इस अवधि में इन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में नहुष स्वर्गलोक पर शासन करता रहा। दुर्भाग्यवश वह इन्द्र की पत्नी शची देवी के सौन्दर्य से आकृष्ट हो उठा और उसे अपने इस पाप-विचार के कारण अगले जीवन में सर्प का शरीर धारण करना पड़ा। तत्पश्चात् इन्द्र ने उच्च ब्राह्मणों एवं मुनियों की सहायता से एक महान् यज्ञ किया। तब जाकर वह ब्रह्महत्या के पाप के फल से मुक्त हो सका।

श्रीशुक उवाच
**वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद ।**
**सपाला ह्यभवन्सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृत्रे हते—वृत्रासुर के मारे जाने पर; त्रयः लोकाः—तीनों लोक ( उच्च, मध्य तथा अधःलोक ); विना—के सिवा; शक्रेण—इन्द्र, जिसे शक्र भी कहते हैं; भूरि-द—हे अत्यन्त दानी महाराज परीक्षित; स-पालाः—विभिन्न लोकों के अधिपतियों सहित; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हुआ; सद्यः—तुरन्त; विज्वराः—मृत्यु के भय से रहित; निर्वृत—अत्यधिक प्रसन्न; इन्द्रियाः—जिसकी इन्द्रियाँ।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे महादानी राजा परीक्षित! वृत्रासुर के वध से इन्द्र के अतिरिक्त तीनों लोकों के लोकपाल एवं समस्त निवासी तुरन्त ही प्रसन्न हुए और उनकी सब चिन्ताएँ जाती रहीं।**

**देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः स्वयम् ।**
**प्रतिजग्मुः स्वधिष्ण्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः ॥ २ ॥**

### शब्दार्थ

देव—देवता; ऋषि—परम साधु पुरुष; पितृ—पितृलोक के वासी; भूतानि—तथा अन्य जीवात्माएँ; दैत्याः—असुर; देव-अनुगाः—देवताओं के नियमों का पालन करने वाले अन्य लोकों के वासी; स्वयम्—स्वतंत्र रूप से ( इन्द्र की अनुमति मांगने के बिना ); प्रतिजग्मुः—वापस चले गये; स्व-धिष्ण्यानि—अपने-अपने लोकों तथा आवासों को; ब्रह्म—श्रीब्रह्मा; ईश—श्रीशिव; इन्द्र-आदयः—तथा इन्द्र आदि देवता; ततः—तत्पश्चात्।

**तत्पश्चात् सभी देवता, महान् साधु पुरुष, पितृलोक तथा भतूलोक के सभी वासी, असुर, देवताओं के अनुचर तथा ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र के अधीन देवगण अपने-अपने धामों को लौट गये। किन्तु विदा लेते समय वे इन्द्र से कुछ बोले नहीं।**

**तात्पर्य :** इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है—

*ब्रह्मेशेन्द्रादय इति। इन्द्रस्य स्व-धिष्ण्यगमनं नोपपद्यते वृत्रवधक्षण एव ब्रह्महत्योपद्रव-प्राप्तेः। तस्मात् तत इत्यनेन मानससरोवरादागत्य प्रवर्तितादश्वमेधात् परत इति व्याख्येम्।*

ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवगण अपने-अपने धामों को चले गये, किन्तु इन्द्र नहीं गया, क्योंकि वृत्रासुर का वध करने के कारण वह विचलित था। वृत्रासुर वास्तव में ब्राह्मण था। वृत्रासुर के वध के बाद इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप-फल से मुक्त होने के लिए मानस-सरोवर गया। वहाँ से लौटने के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया और तब वह अपने लोक गया।

**श्रीराजोवाच**
**इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने ।**
**येनासन्सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत् ॥ ३ ॥**

**शब्दार्थ**

**श्री-राजा उवाच**—राजा परीक्षित ने पूछा; **इन्द्रस्य**—इन्द्र का; **अनिर्वृतेः**—दुख का; **हेतुम्**—कारण; **श्रोतुम्**—सुनना; **इच्छामि**—चाहता हूँ; **भोः**—हे भगवान्; **मुने**—हे मुनि शुकदेव गोस्वामी; **येन**—जिससे; **आसन्**—थे; **सुखिनः**—अत्यन्त प्रसन्न; **देवाः**—समस्त देवता; **हरेः**—इन्द्र का; **दुःखम्**—दुख, अप्रसन्नता; **कुतः**—कहाँ से; **अभवत्**—था।

**महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे मुनि! इन्द्र की अप्रसन्नता का कारण क्या था? मैं इसके विषय में सुनना चाहता हूँ। जब उसने वृत्रासुर का वध कर दिया तो सभी देवता प्रसन्न हुए, तो फिर इन्द्र स्वयं क्यों अप्रसन्न था?**

**तात्पर्य :** वास्तव में यह अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न है। जब कोई असुर मारा जाता है, तो निश्चित रूप से सभी देवता प्रसन्न होते हैं। यहाँ पर, वृत्रासुर के मारे जाने पर सभी देवता प्रसन्न थे, परन्तु इन्द्र अप्रसन्न था, क्योंकि उसे पता था कि उसने एक परम भक्त तथा ब्राह्मण का वध किया है। वृत्रासुर बाहर से असुर प्रतीत होता था, किन्तु भीतर से वह परम भक्त होने के कारण एक महान् ब्राह्मण था।

यहाँ पर यह स्पष्ट सूचित किया गया है कि जो व्यक्ति तनिक भी आसुरी वृत्ति का नहीं होता, जैसे प्रह्लाद महाराज या बलि महाराज, वह बाह्यतः असुर हो सकता है या असुरों के वंश में जन्मा

हो सकता है। अत: वास्तविक संस्कार कहता है कि मात्र जन्म के अनुसार किसी को असुर या देवता नहीं माना जाना चाहिए। इन्द्र से युद्ध करते समय वृत्रासुर ने अपने को भगवान् का परम भक्त सिद्ध कर दिया था। यही नहीं, इन्द्र से युद्ध बन्द करने के तुरन्त बाद वृत्रासुर वैकुण्ठवासी हो गया और संकर्षण का संगी बन गया। इन्द्र को यह ज्ञात था, अत: ऐसे असुर को, जो वास्तव में एक वैष्णव या ब्राह्मण था, मारने से वह अत्यन्त दुखी था।

वैष्णव पहले से ब्राह्मण होता है, ब्राह्मण भले ही वैष्णव न होता हो। *पद्मपुराण* का कथन है—

*षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारद: ।*

*अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णव: श्वपचो गुरु: ॥*

भले ही कोई अपने संस्कार तथा परिवार से ब्राह्मण हो और वैदिक ज्ञान (*मन्त्र-तन्त्र विशारद*) में दक्ष हो, किन्तु यदि वह वैष्णव नहीं है, तो गुरु नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय यह है कि दक्ष ब्राह्मण वैष्णव नहीं भी हो सकता है, किन्तु एक वैष्णव पहले से ब्राह्मण होता है। एक लखपती के पास सैकड़ों-हजारों रुपये हैं किन्तु जिसके पास सैकड़ों-हजारों रुपए हों तो यह आवश्यक नहीं कि वह लखपती हो। वृत्रासुर परम वैष्णव था, अत: वह ब्राह्मण भी था।

**श्रीशुक उवाच**

**वृत्रविक्रमसंविग्ना: सर्वे देवा: सहर्षिभि: ।**
**तद्वधायार्थयन्निन्द्रं नैच्छद्भीतो बृहद्वधात् ॥ ४॥**

## शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; वृत्र—वृत्रासुर के; विक्रम—शौर्य से; संविग्ना:—चिन्तायुक्त होकर; सर्वे—सभी; देवा:—देवतागण; सह ऋषिभि:—महान् साधुओं समेत; तत्-वधाय—उसके वध के लिए; आर्थयन्—प्रार्थना की; इन्द्रम्—इन्द्र से; न ऐच्छत्—इनकार कर दिया; भीत:—डरकर; बृहत्-वधात्—ब्राह्मण वध के कारण।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—जब समस्त ऋषि तथा देवता वृत्रासुर की असाधारण शक्ति से विचलित हो रहे थे तो उन्होंने एकत्र होकर इन्द्र से उसका वध करने के लिए याचना की थी। किन्तु इन्द्र ने ब्राह्मण-हत्या के भय से उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी**

थी।

इन्द्र उवाच
स्त्रीभूद्रुमजलैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम् ।
विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्व मार्ज्म्यहम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—राजा इन्द्र ने उत्तर दिया; स्त्री—स्त्री; भू—पृथ्वी; द्रुम—वृक्ष; जलैः—तथा जल के द्वारा; एनः—यह ( पाप ); विश्वरूप—विश्वरूप के; वध—वध से; उद्भवम्—उत्पन्न; विभक्तम्—बाँट लिया; अनुगृह्णद्भिः—अपने अपने अनुग्रह से; वृत्र-हत्याम्—वृत्र की हत्या से; क्व—कैसे; मार्ज्मि—मुक्त हो सकूँगा; अहम्—मैं।

राजा इन्द्र ने उत्तर दिया—जब मैंने विश्वरूप का वध किया, तो मुझे अत्यधिक पाप-बन्धन मिला था, किन्तु स्त्रियों, धरती, वृक्षों तथा जल ने मेरे ऊपर अनुग्रह किया था, जिससे मैं अपने पाप को उन सबों में बाँट सका। किन्तु यदि मैं अब एक अन्य ब्राह्मण, वृत्रासुर, का वध करूँ तो भला पाप-बन्धनों से मैं अपने को किस प्रकार मुक्त कर सकूँगा?

श्रीशुक उवाच
ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन् ।
याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मा स्म भैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ऋषयः—परम साधुगण; तत्—वह; उपाकर्ण्य—सुनकर; महा-इन्द्रम्—राजा इन्द्र से; इदम्—यह; अब्रुवन्—कहा; याजयिष्यामः—हम महान् यज्ञ करेंगे; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; हयमेधेन—अश्वमेध यज्ञ से; मा स्म भैः—मत भयभीत हो।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—यह सुनकर ऋषियों ने इन्द्र को उत्तर दिया, ''हे स्वर्ग के राजा! तुम्हारा कल्याण हो। तुम डरो नहीं। हम तुम्हें ब्राह्मण-हत्या से लगने वाले किसी भी पाप से मुक्ति के लिए एक अश्वमेघ यज्ञ करेंगे।''

हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम् ।
इष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

हयमेधेन—अश्वमेध यज्ञ से; पुरुषम्—परम पुरुष; परमात्मानम्—परमात्मा को; ईश्वरम्—परम नियन्ता; इष्ट्वा—पूजा करके; नारायणम्—भगवान् नारायण को; देवम्—परमेश्वर; मोक्ष्यसे—तुम मुक्त हो जाओगे; अपि—भी; जगत्-वधात्—सारे संसार का वध करने के पाप से।

ऋषियों ने आगे कहा—हे राजा इन्द्र! अश्वमेध यज्ञ करके उसके द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को, जो परमात्मा, भगवान्, नारायण और परम नियन्ता हैं, प्रसन्न करके मनुष्य सारे संसार के वध के पाप-फलों से भी मुक्त हो सकता है, वृत्रासुर जैसे एक असुर के वध की तो बात ही क्या है?

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान् ।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन्यस्य कीर्तनात् ॥ ८ ॥

तमश्वमेधेन महामखेन
श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन ।
हत्वापि सब्रह्मचराचरं त्वं
न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-हा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला; पितृ-हा—पिता की हत्या करने वाला; गो-घ्नः—गोहत्या करने वाला; मातृ-हा—माता का वध करने वाला; आचार्य-हा—अपने गुरु की हत्या करने वाला; अघ-वान्—ऐसा पापी पुरुष; श्व-अदः—कुत्ता खाने वाला; पुल्कसकः—चाण्डाल, जो शूद्र से भी नीच होता है; वा—अथवा; अपि—भी; शुद्ध्येरन्—शुद्ध किया जा सकता है; यस्य—जिस (भगवान् नारायण) के; कीर्तनात्—नाम जप से; तम्—उसको; अश्वमेधेन—अश्वमेधयज्ञ के द्वारा; महा-मखेन—समस्त यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ; श्रद्धा-अन्वितः—श्रद्धा युक्त; अस्माभिः—हमारे द्वारा; अनुष्ठितेन—किया गया; हत्वा—मार कर; अपि—भी; स-ब्रह्म-चर-अचरम्—ब्राह्मणों समेत सभी जीवात्माएँ; त्वम्—तुम; न—नहीं; लिप्यसे—कल्मषग्रस्त होते हो; किम्—तो फिर क्या; खल-निग्रहेण—एक दुष्ट असुर को मारने से।

भगवान् नारायण के पवित्र नाम के जप-मात्र से ब्राह्मण, गाय, पिता, माता, गुरू की हत्या करने वाला मनुष्य समस्त पाप-फलों से तुरन्त मुक्त किया जा सकता है। अन्य पापी मनुष्य भी, यथा कुत्ते को खाने वाले तथा चांडाल, जो शूद्रों से भी निम्न हैं, इसी प्रकार से मुक्त हो जाते हैं। फिर आप तो भक्त हैं और हम सभी महान् अश्वमेध यज्ञ करके आपकी सहायता करेंगे। यदि आप भी इस प्रकार भगवान् नारायण को प्रसन्न करें तो फिर आपको डर कैसा? तब आप मुक्त हो जायेंगे, भले ही आप ब्राह्मणों सहित सारे ब्रह्माण्ड की हत्या क्यों न कर दें। भला वृत्रासुर जैसे विघ्नकारी एक असुर की हत्या की क्या बात है?

**तात्पर्य :** *बृहद् विष्णु पुराण* में कहा गया है—

*नाम्नो हि यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।*

*तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः॥*

यही नहीं, जगदानन्द पंडित कृत *प्रेमविवर्त* में कहा गया है—

*एक 'कृष्ण नामे' पापीर यत पाप-क्षय।*

*बहु जन्मे सेइ पापी करिते नारय॥*

इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के पवित्र नाम का एक बार जप करने से मनुष्य जितने पाप करने के बारे में सोच सकता है उनसे भी अधिक पापों के फलों से वह मुक्त हो सकता है। पवित्र नाम में इतनी आध्यात्मिक शक्ति होती है, कि केवल नाम-जप से समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हुआ जा सकता है। तब उनके सम्बन्ध में क्या कहा जाये जो नियमपूर्वक पवित्र नाम का जप करते हैं, या श्रीविग्रह की पूजा करते हैं? ऐसे शुद्ध भक्तों के लिए पाप-फलों से मोक्ष निश्चित है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि जानबूझकर पाप-कर्म करके पवित्र नाम का जप करने के कारण अपने को उसके फल से मुक्त समझ लिया जाये। ऐसी मानसिकता भगवान् के चरणकमलों पर घोर अपराध है। *नाम्नो बलात् यस्य हि पापबुद्धिः*—निस्सन्देह भगवान् के पवित्र नाम में समस्त पाप-कर्मों को निष्प्रभावित करने की शक्ति है, किन्तु यदि कोई नाम जप करते हुए जानबूझकर बारम्बार पाप करता है, तो वह निन्दनीय है।

इन श्लोकों में अनेक प्रकार के पापकर्म करने वालों के नाम गिनाये गये हैं। *मनु-संहिता* में निम्नलिखित नाम दिये गये हैं। ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता के गर्भ से उत्पन्न पुत्र *पारशव* या *निषाद* कहलाता है अर्थात् वह शिकारी जो चोरी करता है। शूद्र स्त्री के गर्भ से निषाद द्वारा उत्पन्न बालक *पुक्कस* कहलाता है। शूद्र की कन्या से क्षत्रिय द्वारा जन्म दिया गया पुत्र *उग्र* कहलाता है। शूद्र द्वारा क्षत्रिय की कन्या से उत्पन्न किया गया पुत्र *क्षत्ता* कहलाता है। निम्न वर्ण की स्त्री के गर्भ से क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न किया गया पुत्र *श्वाद* अथवा कुत्ता खाने वाला कहलाता है। ऐसी सन्ततियाँ अत्यन्त पापी

मानी जाती हैं, किन्तु भगवान् का पवित्र नाम इतना प्रबल है कि केवल हरे कृष्ण मंत्र के जप से ये सभी पवित्र किए जा सकते हैं।

हरे कृष्ण-आन्दोलन जन्म या कुल का विचार किये बिना प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र बनने का सुअवसर प्रदान करता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.४.१८) में पुष्टि की गई है—

*किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा*

*आभीर शुम्भा यवना: खसादय: ।*

*येऽन्येच पापा यदपाश्रयाश्रया:*

*शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम: ॥*

"किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, शुम्भ, यवन तथा खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे पापी भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाते हैं क्योंकि वे परम शक्ति हैं। उन सर्वशक्तिमान भगवान् को सादर नमस्कार है।" ऐसे पापी व्यक्ति भी निश्चित रूप से शुद्ध हो सकते हैं, यदि शुद्ध भक्त के निर्देशन में वे भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हैं।

यहाँ पर ऋषिगण राजा इन्द्र को वृत्रासुर के वध के लिए प्रोत्साहित करते हैं, भले ही उसे ब्रह्म-हत्या क्यों न लगे और वे उसे अश्वमेध यज्ञ करके पाप से छुड़ाने का आश्वासन देते हैं। किन्तु इस प्रकार जानबूझ के किए पश्चाताप के फलों से पाप-कर्म करने वाले को छुटकारा नहीं मिल सकता। इसे अगले श्लोक में देखा जाएगा।

**श्रीशुक उवाच**

**एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम् ।**

**ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम् ॥ १० ॥**

## शब्दार्थ

**श्री-शुकः उवाच**—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **सञ्चोदितः**—प्रोत्साहित होकर; **विप्रैः**—ब्राह्मणों के द्वारा; **मरुत्वान्**—इन्द्र ने; **अहनत्**—वध कर दिया; **रिपुम्**—अपने शत्रु, वृत्रासुर को; **ब्रह्म-हत्या**—एक ब्राह्मण की हत्या का पाप; **हते**—मारे जाने पर; **तस्मिन्**—जब वह (वृत्रासुर); **आससाद**—पास गया; **वृषाकपिम्**—इन्द्र जिसको वृषाकपि भी कहते हैं।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—ऋषियों के वचनों से प्रोत्साहित होकर इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया और जब वह मारा गया तो ब्रह्महत्या का पाप फल इन्द्र के पास पहुँचा।**

**तात्पर्य :** वृत्रासुर को मारने के बाद इन्द्र ब्रह्महत्या से नहीं बच सका। पहले उसने परिस्थितिवश क्रोध में आकर विश्वरूप नामक एक ब्राह्मण की हत्या कर दी थी, किन्तु इस बार ऋषियों के उपदेश के अनुसार उसने जानबूझकर एक दूसरे ब्राह्मण का बध किया था। अत: पाप फल पहले से भी अधिक बड़ा था। इन्द्र को प्रायश्चित्त हेतु मात्र यज्ञ करके इस पाप से मुक्त नहीं किया जा सकता था। उसे अपने पापों के घोर फल भोगने पड़े और जब वह उनसे मुक्त हुआ तभी ब्राह्मणों ने उसे अश्वमेध करने दिया। भगवान् के नाम जप के बल पर जानबूझकर पापकर्म करने या फिर प्रायश्चित्त कर लेने से किसी को, यहाँ तक कि इन्द्र या नहुष को भी, छुटकारा नहीं मिल सकता। स्वर्ग में इन्द्र की अनुपस्थिति में नहुष स्थानापन्न था और इन्द्र अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए इधर-उधर दौड़ रहा था।

**तयेन्द्रः स्मासहत्तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत् ।**
**ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

तया—उस कार्य से; इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; स्म—निस्सन्देह; असहत्—सहन किया; तापम्—क्लेश या दुख; निर्वृतिः—प्रसन्नता; न—नहीं; अमुम्—उसको; आविशत्—प्रवेश किया; ह्रीमन्तम्—लज्जाशील; वाच्यताम्—अपयश; प्राप्तम्—प्राप्त करके; सुखयन्ति—प्रसन्नता प्रदान करते हैं; अपि—यद्यपि; नो—नहीं; गुणाः—उत्तम गुण यथा ऐश्वर्य आदि।

**देवताओं की सलाह से इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया और इस पापपूर्ण हत्या के कारण उसे कष्ट उठाना पड़ा। यद्यपि अन्य देवतागण प्रसन्न थे, किन्तु वृत्रासुर की हत्या से उसे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। इन्द्र के इस क्लेश में अन्य उत्तम गुण, यथा धैर्य तथा ऐश्वर्य, उसके सहायक नहीं बन सके।**

**तात्पर्य :** मनुष्य के पास कितना ही भौतिक ऐश्वर्य क्यों न रहे, पापकर्म करके वह कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। इन्द्र ने उसे सत्य पाया। लोग उसकी यह कहकर निन्दा करने लगे, ''इस व्यक्ति

ने स्वर्ग का भौतिक सुख भोगने के लिए ब्राह्मण की हत्या कर दी।'' यद्यपि इन्द्र स्वर्ग का राजा था और भौतिक ऐश्वर्य भोग रहा था, किन्तु जनता के दोषारोपणों के कारण वह निरन्तर दुखी था।

**तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् ।**
**जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥ १२ ॥**
**विकीर्य पलितान्केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम् ।**
**मीनगन्ध्यसुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम् ॥ १३ ॥**

### शब्दार्थ

ताम्—ब्रह्महत्या को; ददर्श—देखा; अनुधावन्तीम्—पीछा करते हुए; चाण्डालीम्—निम्न श्रेणी की स्त्री; इव—सदृश; रूपिणीम्—रूप धारण करके; जरया—बुढ़ापे के कारण; वेपमान-अङ्गीम्—काँपते हुए अंगों वाली; यक्ष्म-ग्रस्ताम्—यक्ष्मा रोग से ग्रस्त; असृक्-पटाम्—रक्त से सने वस्त्रों वाली; विकीर्य—बिखेरे हुए; पलितान्—श्वेत; केशान्—बाल; तिष्ठ तिष्ठ—ठहरो ठहरो; इति—इस प्रकार; भाषिणीम्—कहते हुए; मीन-गन्धि—मछली की गन्ध; असु—जिसकी श्वास; गन्धेन—गन्ध से; कुर्वतीम्—करती हुई; मार्ग-दूषणम्—सारे रास्ते का प्रदूषण।

**इन्द्र ने साक्षात् ब्रह्महत्या के फल को एक चाण्डाल स्त्री के समान प्रकट होकर अपना पीछा करते देखा। वह अत्यन्त वृद्धा प्रतीत होती थी और उसके शरीर के सभी अंग काँप रहे थे। यक्ष्मा रोग से पीड़ित होने के कारण उसका सारा शरीर तथा वस्त्र रक्त से सने थे। उसकी श्वास से मछली की-सी असह्य दुगन्ध निकल रही थी जिससे सारा रास्ता दूषित हो रहा था। उसने इन्द्र को पुकारा, ''ठहरो! ठहरो!''**

**तात्पर्य :** जब मनुष्य को यक्ष्मा रोग हो जाता है, तो प्राय: रक्त-वमन होता है, जिससे कपड़े रक्त से सन जाते हैं।

**नभो गतो दिश: सर्वा: सहस्राक्षो विशाम्पते ।**
**प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम् ॥ १४ ॥**

### शब्दार्थ

नभ:—आकाश को; गत:—जाकर; दिश:—दिशाओं को; सर्वा:—समस्त; सहस्र-अक्ष:—इन्द्र, जिसके एक हजार आँखें हैं; विशाम्पते—हे राजा; प्राक्-उदीचीम्—उत्तरपूर्व; दिशम्—दिशा में; तूर्णम्—अत्यन्त वेग से; प्रविष्ट:—प्रवेश किया; नृप—हे राजा; मानसम्—मानस-सरोवर नामक झील में।

**हे राजन्! इन्द्र पहले आकाश की ओर भागा, किन्तु उसने वहाँ भी उस ब्रह्महत्या रूपिणी**

स्त्री को अपना पीछा करते देखा। जहाँ कहीं भी वह गया, यह डायन उसका पीछा करती रही। अन्त में वह तेजी से उत्तरपूर्व की ओर गया और मानस सरोवर में घुस गया।

स आवसत्पुष्करनालतन्तू-
नलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः ।
वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः
सञ्चिन्तयन्ब्रह्मवधाद्विमोक्षम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह ( इन्द्र ); आवसत्—रहता रहा; पुष्कर-नाल-तन्तून्—कमल नाल के तन्तुजाल में; अलब्ध-भोगः—किसी प्रकार की भौतिक सुविधा न पाते हुए; यत्—जो; इह—यहाँ; अग्नि-दूतः—अग्निदेव नामक दूत; वर्षाणि—स्वर्गीय वर्षों तक; साहस्रम्—एक हजार; अलक्षितः—अदृश्य; अन्तः—अपने हृदय में; सञ्चिन्तयन्—सदैव सोचते हुए; ब्रह्म-वधात्—ब्रह्म हत्या से; विमोक्षम्—मुक्ति।

सदैव यह सोचते हुए कि ब्रह्महत्या से किस प्रकार छुटकारा प्राप्त हो, राजा इन्द्र, सबों से अदृश्य रहकर सरोवर में कमलनाल के सूक्ष्म तन्तुओं के भीतर एक हजार वर्ष तक रहा। अग्निदेव उसे समस्त यज्ञों का उसका भाग लाकर देते, क्योंकि अग्निदेव जल में प्रवेश करने से भयभीत थे, अतः इन्द्र एक तरह से भूखों मर रहा था।

तावत्त्रिणाकं नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
र्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; त्रिणाकम्—स्वर्गलोक; नहुषः—नहुष; शशास—शासन करता रहा; विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; योग—योग; बल—तथा शक्ति से; अनुभावः—से युक्त; सः—वह ( नहुष ); सम्पत्—प्रभूत सम्पत्ति का; ऐश्वर्य—तथा ऐश्वर्य; मद—घमंड से; अन्ध—अन्धा; बुद्धिः—उसकी बुद्धि; नीतः—ले जाया गया; तिरश्चाम्—सर्पों की; गतिम्—गन्तव्य को; इन्द्र-पत्न्या—इन्द्र की पत्नी शची देवी द्वारा।

जब तक राजा इन्द्र कमलनाल के भीतर जल में रहा, नहुष अपने ज्ञान, तप तथा योग के कारण स्वर्गलोक का शासन चलाने के लिए सक्षम बना दिया गया। किन्तु शक्ति तथा ऐश्वर्य के मद से अंधा होकर उसने इन्द्र की पत्नी के साथ रमण करने का अवांछित प्रस्ताव रखा।

इस प्रकार वह एक ब्राह्मण द्वारा शापित हुआ और बाद में सर्प बन गया।

ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत
ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजा-
स्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या ॥ १७॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गतः—चले गये; ब्रह्म—ब्राह्मणों के; गिरा—शब्दों से; उपहूतः—आमंत्रित होकर; ऋतम्भर—सत्य का पोषण करने वाले परमेश्वर में; ध्यान—ध्यान द्वारा; निवारित—रोका जाकर; अघः—जिसका पाप; पापः—पाप-पूर्ण कर्म; तु—तब; दिक्-देवतया—रुद्रदेव द्वारा; हत-ओजाः—समस्त शौर्य के क्षीण होने पर; तम्—उस ( इन्द्र ) को; न अभ्यभूत्—परास्त नहीं कर सका; अवितम्—सुरक्षित होने से; विष्णु-पत्न्या—धन की देवी, भगवान् विष्णु की पत्नी द्वारा।.

समस्त दिशाओं के देवता रुद्र के प्रताप से इन्द्र के पाप कम हो गये। चूँकि इन्द्र की रक्षा मानस-सरोवर के कमल कुंजों में निवास करने वाली धन की देवी भगवान् विष्णु की पत्नी द्वारा की जा रही थी, अतः इन्द्र के पापों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में भगवान् विष्णु की निष्ठा-पूर्वक पूजा करने से इन्द्र के सारे पाप छूट गये। तब ब्राह्मणों ने उसे पुनः स्वर्गलोक में बुलाकर उसके पूर्व पद पर स्थापित कर दिया।

तं च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत ।
यथावद्दीक्षयां चक्रुः पुरुषाराधनेन ह ॥ १८॥

शब्दार्थ

तम्—उसको ( इन्द्र को ); च—तथा; ब्रह्म-ऋषयः—सभी ऋषि तथा ब्राह्मण; अभ्येत्य—के पास जाकर; हयमेधेन—अश्वमेध यज्ञ के द्वारा; भारत—हे राजा परीक्षित; यथावत्—विधिपूर्वक; दीक्षयाम् चक्रुः—दीक्षा दी; पुरुष-आराधनेन—परम पुरुष हरि की आराधना द्वारा; ह—निस्सन्देह।.

हे राजन्! जब इन्द्र स्वर्गलोक में पहुँच गया तो साधुवत् ब्राह्मण उसके पास गये और परमेश्वर को प्रसन्न करने के निमित्तअश्वमेध यज्ञ के लिए उसे समुचित रूप से दीक्षित किया।

अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि ।
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥ १९॥

स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप ।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना ॥ २० ॥

### शब्दार्थ

अथ—अत:; इज्यमाने—पूजित होकर; पुरुषे—श्रीभगवान्; सर्व—समस्त; देव-मय-आत्मनि—परमात्मा तथा देवताओं के पालक; अश्वमेधे—अश्वमेध यज्ञ के माध्यम से; महा-इन्द्रेण—राजा इन्द्र द्वारा; वितते—सम्पन्न कराया गया; ब्रह्म-वादिभि:—वैदिक ज्ञान में दक्ष ऋषियों तथा ब्राह्मणों द्वारा; स:—वह; वै—निस्सन्देह; त्वाष्ट्र-वध:—त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर का वध; भूयात्—हो; अपि—यद्यपि; पापचय:—पाप समूह; नृप—हे राजा; नीत:—लाया गया; तेन—उस ( अश्वयज्ञ ) के द्वारा; एव—निश्चय ही; शून्याय—शून्य, कुछ नहीं; नीहार:—कोहरा; इव—सदृश; भानुना—तेजमय सूर्य के द्वारा।

**ऋषितुल्य ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न किये गये अश्वमेध यज्ञ ने इन्द्र को समस्त पाप-बन्धनों से मुक्त कर दिया, क्योंकि उस यज्ञ में उसने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा की थी। हे राजन्! यद्यपि उसने गम्भीर पापकृत्य किया था, किन्तु उस यज्ञ से वह पाप कृत्य तुरन्त उसी प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार सूर्य के तेज प्रकाश से कोहरा छँट जाता है।**

स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रै: ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपाप: ॥ २१ ॥

### शब्दार्थ

स:—वह ( इन्द्र ); वाजिमेधेन—अश्वमेध यज्ञ से; यथा—जिस प्रकार; उदितेन—वर्णित; वितायमानेन—सम्पन्न होकर; मरीचि-मिश्रै:—मरीचि आदि पुरोहितों द्वारा; इष्ट्वा—पूजा करके; अधियज्ञम्—परम परमात्मा को; पुरुषम् पुराणम्—आदि भगवान्; इन्द्र:—राजा इन्द्र; महान्—पूज्य; आस—हो गया; विधूत-पाप:—समस्त पापों के धुल जाने से।

**मरिचि तथा अन्य महर्षियों ने राजा इन्द्र पर कृपा की और विधिपूर्वक आदि पुरुष, परमात्मा, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा कर के यज्ञ सम्पन्न किया। इस प्रकार इन्द्र ने अपनी उन्नत स्थिति पुन: प्राप्त कर ली तथा वह प्रत्येक के द्वारा फिर से सम्मानित हुआ।**

इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां
प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्तनम् ।
भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं
महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वत: ॥ २२ ॥
पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधा:

शृण्वन्त्यथो पर्वणि पर्वणीन्द्रियम् ।
धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं
रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथायुषम् ॥ २३॥

### शब्दार्थ

इदम्—यह; महा-आख्यानम्—महान् ऐतिहासिक घटना; अशेष-पाप्मनाम्—अनन्त पापों की; प्रक्षालनम्—स्वच्छ करने के लिए; तीर्थपद-अनुकीर्तनम्—तीर्थपद कहे जाने वाले श्रीभगवान् का यशोगान करते हुए; भक्ति—भक्तियोग का; उच्छ्रयम्—बढ़ते हुए; भक्त-जन—भक्तगण; अनुवर्णनम्—वर्णन करते हुए; महा-इन्द्र-मोक्षम्—स्वर्ग के राजा की मुक्ति; विजयम्—विजय; मरुत्वतः—राजा इन्द्र की; पठेयुः—पढ़ना चाहिए; आख्यानम्—कथा; इदम्—यह; सदा—सदैव; बुधाः—विद्वान पुरुष; शृण्वन्ति—सुनते रहते हैं; अथो—भी; पर्वणि पर्वणि—बड़े उत्सवों के अवसर पर; इन्द्रियम्—इन्द्रियों को तीक्ष्ण करने वाला; धन्यम्—धन लाता है; यशस्यम्—यश लाता है; निखिल—सभी; अघ-मोचनम्—पापों से मुक्त करते हुए; रिपुम्-जयम्—शत्रुओं के ऊपर विजयी बनाता है; स्वस्ति-अयनम्—सबों के लिए कल्याणकारी है; तथा—उसी प्रकार; आयुषम्—आयु।

इस महान् आख्यान में भगवान् नारायण की महिमा का वर्णन हुआ है, भक्तियोग की महानता के सम्बन्ध में कथन दिए गए हैं, इन्द्र तथा वृत्रासुर जैसे भक्तों के वर्णन आए हैं तथा पापी जीवन से इन्द्र के मोक्ष एवं असुरों के साथ लड़े गये युद्धों में उसकी विजय के सम्बन्ध में विवरण दिए गये हैं। इस आख्यान को समझ लेने पर सभी पाप-फलों से छुटकारा मिल जाता है। अतः विद्वानों को सदा सलाह दी जाती है कि इस आख्यान को पढ़ें। जो ऐसा करेगा उसकी इन्द्रियाँ अपने कार्य में निपुण होंगी, उसका ऐश्वर्य बढ़ेगा और यश चारों ओर फैलेगा। उसके समस्त पाप-फल मिट जायेंगे, उसे अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त होगी और उसकी आयु बढ़ेगी। चूँकि यह आख्यान सभी तरह से कल्याणकारी है, अतः विद्वान व्यक्ति इसको प्रत्येक शुभ उत्सव के अवसर पर नियमित रूप से सुनते और दोहराते हैं।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत "ब्रह्महत्या के पापफल से पीड़ित राजा इन्द्र" नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter चौदह

# राजा चित्रकेतु का शोक

इस चौदहवें अध्याय में परीक्षित महाराज अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से पूछते हैं कि वृत्रासुर जैसा असुर परम भक्त कैसे बना। इस प्रसंग में वृत्रासुर के पूर्वजन्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें चित्रकेतु की कथा एवं उसके पुत्र की मृत्यु से उत्पन्न शोक का विवरण है।

लाखों जीवात्माओं में मनुष्यों की संख्या अत्यल्प है और इन मनुष्यों में से जो वास्तव में धर्मात्मा हैं कुछ ही भव-बंधन से मुक्त होने के लिए उत्सुक रहते हैं। छुटकारा चाहने वाले हजारों व्यक्तियों में से केवल एक को अवांछित व्यक्तियों की संगति अथवा भौतिक कल्मष से मुक्ति मिल पाती है। ऐसे लाखों मुक्त मनुष्यों में से कोई विरला ही भगवान् नारायण का भक्त बन पाता है। अत: ऐसे भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं। चूँकि भक्ति सामान्य नहीं होती, अत: परीक्षित महाराज आश्चर्यचकित थे कि एक असुर को क्योंकर भक्त का इतना उच्च पद प्राप्त हो सका? सन्देह होने के कारण उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से पूछा, जिन्होंने शूरसेन के राजा चित्रकेतु के रूप में वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृतान्त कह सुनाया।

चित्रकेतु नि:सन्तान था। सौभाग्य से उसकी भेंट महर्षि अंगिरा से हो गई। जब अंगिरा ने राजा से कुशल-क्षेम पूछा तो उसने अपनी चिन्ता अभिव्यक्त की, अत: उन महर्षि के अनुग्रह से राजा की प्रथम पत्नी कृतद्युति के गर्भ के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो प्रसन्नता तथा शोक दोनों का कारण बना। इस पुत्र के जन्म से राजा तथा राजमहल के सभी निवासी अत्यन्त प्रसन्न थे, किन्तु कृतद्युति की सौतें ईर्ष्यालु थीं और बाद में उन्होंने उसे विष खिला दिया। अपने पुत्र की मृत्यु के शोक से चित्रकेतु अत्यधिक विचलित हो गया। तब नारद मुनि तथा अंगिरा उसे देखने गए।

**श्रीपरीक्षिदुवाच**

**रजस्तम:स्वभावस्य ब्रह्मन्वृत्रस्य पाप्मन: ।**
**नारायणे भगवति कथमासीद्दृढा मति: ॥ १ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-परीक्षित् उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; स्व-भावस्य—स्वभाव वाला; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; पाप्मनः—जो पापी था; नारायणे—भगवान् नारायण में; भगवति—श्री भगवान्; कथम्—किस प्रकार; आसीत्—थी; दृढा—अत्यन्त दृढ़; मतिः—चेतना, भक्ति।

**राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे विद्वान ब्राह्मण! रजो तथा तमो गुणों से आविष्ट होने के कारण असुर सामान्यतः पापी होते हैं। तो फिर वृत्रासुर भगवान् नारायण के प्रति इतना परम प्रेम किस प्रकार प्राप्त कर सका?**

**तात्पर्य :** इस भौतिक जगत में प्रत्येक प्राणी रजो तथा तमो गुणों से ग्रस्त रहता है। किन्तु जब तक कोई इन गुणों पर विजय प्राप्त करके सात्विकता के स्तर पर नहीं पहुँच जाता तब तक उसके शुद्ध भक्त बनने की संभावना नहीं है। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.२८) में की है—

*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।*
*ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता:॥*

''जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्म में पुण्यकर्म किये हैं तथा इस जन्म में जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं तथा जो मोह के द्वन्द्व से मुक्त हो चुके हैं, वे निष्ठापूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।'' चूँकि वृत्रासुर असुर था, अतः महाराज परीक्षित को आश्चर्य हुआ कि वह परम भक्त का पद क्योंकर प्राप्त कर सका?

**देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम् ।**
**भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥ २॥**

### शब्दार्थ

देवानाम्—देवताओं का; शुद्ध-सत्त्वानाम्—जिनके मन विमल हैं; ऋषीणाम्—महान् साधु पुरुषों के; च—तथा; अमल-आत्मनाम्—जिन्होंने अपने जन्म को पवित्र कर लिया है; भक्तिः—भक्ति; मुकुन्द-चरणे—मुक्तिदायक भगवान् मुकुन्द के चरण कमलों में; न—नहीं; प्रायेण—प्रायः; उपजायते—उपजती है, बढ़ती है।

**प्रायः सत्त्वमय देवता तथा भौतिक सुख-रूपी रज से निष्कलंक ऋषि अत्यन्त कठिनाई से मुकुन्द के चरण-कमलों की शुद्ध भक्ति कर पाते हैं। [तो फिर वृत्रासुर इतना बड़ा भक्त किस प्रकार बन सका?]**

**रजोभिः समसङ्ख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः ।**
**तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥ ३ ॥**

### शब्दार्थ

रजोभिः—कणों से; सम-सङ्ख्याताः—समान संख्या में; पार्थिवैः—पृथ्वी के; इह—इस संसार में; जन्तवः—जीवात्माएँ; तेषाम्—उनकी; ये—जो; केचन—कुछ; ईहन्ते—कार्य करते हैं; श्रेयः—धार्मिक सिद्धान्तों के लिए; वै—निस्सन्देह; मनुज-आदयः—मनुष्य इत्यादि।

**इस भौतिक जगत में जीवात्माओं की संख्या उतनी ही है जितने कि धूल कण। इन जीवात्माओं में से कुछ ही मनुष्य होते हैं और उनमें से कुछ ही धार्मिक नियमों के पालन में रुचि दिखलाते हैं।**

**प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।**
**मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥ ४ ॥**

### शब्दार्थ

प्रायः—प्रायः, लगभग सदा; मुमुक्षवः—मुक्ति के इच्छुक लोग; तेषाम्—उनका; केचन—कुछ; एव—निस्सन्देह; द्विज-उत्तम—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; मुमुक्षूणाम्—मुक्ति पाने के इच्छुक लोगों का; सहस्रेषु—हजारों में से; कश्चित्—कोई एक; मुच्येत—वास्तव में मुक्ति लाभ करता है; सिध्यति—सिद्ध ( पूर्ण ) होता है।

**ब्राह्मण-श्रेष्ठ हे शुकदेव गोस्वामी! धार्मिक नियमों का पालन करने वाले अनेक मनुष्यों में से कुछ ही भौतिक जगत से मुक्ति पाने के इच्छुक रहते हैं। मुक्ति चाहने वाले हजारों में से किसी एक को वास्तव में मुक्ति-लाभ होता है और वह समाज, मित्रता, प्यार, देश, घर, स्त्री तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर पाता है। ऐसे हजारों मुक्त पुरुषों में से मुक्ति का वास्तविक अर्थ जानने वाला कोई विरला ही होता है।**

**तात्पर्य :** मनुष्यों की चार श्रेणियाँ हैं—*कर्मी, ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त*। इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है, वह विशेष रूप से कर्मियों तथा ज्ञानियों के लिए है। इस भौतिक संसार में कर्मी एक शरीर बदल कर दूसरे में प्रसन्न रहना चाहता है। उसका उद्देश्य, चाहे यह लोक हो या परलोक, शारीरिक सुख रहता है। किन्तु जब वही व्यक्ति ज्ञानी हो जाता है, तो वह भौतिक बन्धन से छूटना चाहता है। मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले ऐसे अनेक व्यक्तियों में से वास्तव में एक ही इस जीवन

में मुक्ति पा सकता है। ऐसा व्यक्ति समाज, मित्रता, प्यार, देश, परिवार, पत्नी तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर देता हैं। ऐसे अनेक व्यक्तियों में जो वानप्रस्थ आश्रम के स्तर पर होते हैं, विरला कोई संन्यासी बनने के महत्त्व को समझ पाता है।

**मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।**
**सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥ ५॥**

शब्दार्थ

मुक्तानाम्—मुक्त पुरुषों में से; अपि—भी; सिद्धानाम्—सिद्ध पुरुषों में से; नारायण-परायणः—ऐसा मनुष्य जिसने यह निष्कर्ष निकाला है कि नारायण हैं; सु-दुर्लभः—अत्यन्त दुर्लभ है, कठिनाई से प्राप्त होता है; प्रशान्त—परम शान्त; आत्मा—जिसका मन; कोटिषु—करोड़ों में से; अपि—भी; महा-मुने—हे परम साधु!.

**हे परम साधु! लाखों मुक्त तथा मुक्ति के ज्ञान में पूर्ण पुरुषों में से कोई एक भगवान् नारायण अथवा कृष्ण का भक्त हो सकता है। ऐसे भक्त, जो परम शान्त हों, अत्यन्त दुर्लभ हैं।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार से दिया है। केवल मुक्ति की इच्छा अपर्याप्त है, मनुष्य को यथार्थ में मुक्त होना चाहिए। जब मनुष्य जीवन की भौतिकता की निरर्थकता को समझ लेता है, तो उसे उच्च ज्ञान होता है और परिवार, स्त्री तथा सन्तान से विरक्त होकर वानप्रस्थ आश्रम में स्थित हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अग्रसर होता हुआ संन्यास-पद को प्राप्त करे, जिससे भौतिक जीवन में फिर से गिर कर कष्ट न उठाना पड़े। यद्यपि मनुष्य मुक्त होने की आकांक्षा करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मुक्त हो गया। कोई विरला ही मुक्त हो पाता है। निस्सन्देह अनेक लोग मुक्त होने के उद्देश्य से संन्यास ग्रहण करते हैं, किन्तु अपूर्ण होने के कारण वे पुनः स्त्री, भौतिक कार्यकलापों, सामाजिक कार्य आदि के प्रति आसक्त हो जाते हैं।

भक्ति से रहित ज्ञानी, योगी तथा कर्मी अपराधी कहलाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु का कथन है—*मायावादी कृष्णे अपराधी*—जो यह सोचने के स्थान पर कि प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण है, यह

सोचता है कि माया ही सब कुछ है, वह अपराधी कहलाता है। यद्यपि मायावादी कृष्ण के चरणारविन्द के प्रति अपराधी हैं, किन्तु तो भी उनकी गणना सिद्धों में की जा सकती है, अर्थात् जिन्होंने आत्मा का अनुभव किया है। उन्हें आत्म-सिद्धि के निकटतर माना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने कम से कम आत्मजीवन का साक्षात्कार किया है। यदि ऐसा व्यक्ति *नारायण-परायण* हो जाता है, तो वह *जीवन्मुक्त* मनुष्य से श्रेष्ठ है। इसके लिए उच्चतर बुद्धि की आवश्यकता होती है।

ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो भक्ति की ओर उन्मुख होते हैं और दूसरे निर्गुण अनुभूति की ओर। मायावादी सामान्यत: वृथा ही अथक प्रयास करते हैं, अत: यह कहा जाता है वे कि बिना दानों के धान को कूटने वाले हैं (*स्थूल-तुषावघातिन:*)। ज्ञानियों की दूसरी कोटि में भी, जिनमें ज्ञान तथा भक्ति का मिश्रण होता है, दो प्रकार हैं—वे जो श्रीभगवान् के तथाकथित मिथ्या रूप की सेवा करते हैं और वे जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को असली आध्यात्मिक सच्चिदानन्द विग्रह के रूप में जानते हैं। मायावादी भक्त नारायण या विष्णु की अर्चना इस भाव से करते हैं कि विष्णु ने मायारूप अंगीकार किया है और परम सत्य वस्तुत: निर्गुण है। किन्तु शुद्ध भक्त यह कभी भी नहीं सोचता कि विष्णु ने माया का शरीर स्वीकार किया है, वरन् उसे यह पता रहता है कि आदि परम सत्य ही परम पुरुष है। ऐसा भक्त वास्तव में ज्ञानी है। वह कभी भी ब्रह्म-तेज में तदाकार नहीं होता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है—

*येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय: ।*

*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय: ॥*

"हे ईश्वर! जो अपने आपको मुक्त समझते हैं, किन्तु भक्ति से रहित हैं, उनकी बुद्धि विमल नहीं है। भले ही वे तपस्या के द्वारा मुक्ति के परम स्तर को प्राप्त कर लें, किन्तु वे इस संसार में दुबारा अवश्य गिरेंगे क्योंकि वे आपके चरणकमलों की शरण में नहीं आते।" इसका प्रमाण *भगवद्गीता* में भी (९.११)दिया गया है, जहाँ भगवान् कहते हैं—

*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।*

*परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥*

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतार लेता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मेरी दिव्य प्रकृति तथा सर्वत्र मेरे परम साम्राज्य को नहीं जानते।'' जब मूढ़ यह देखते हैं कि कृष्ण मनुष्य की ही तरह आचरण करते हैं, तो वे भगवान् के दिव्य रूप का उपहास करते हैं, क्योंकि वे *परम भावम्* अर्थात् उनके दिव्य रूप तथा कार्यों से परिचित नहीं होते। *भगवद्गीता* (९.१२) में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

*मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचतेस: ।*

*राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता: ॥*

''जो इस प्रकार सम्मोहित हैं, वे आसुरी तथा अनीश्वरवादी विचारों से आकर्षित होते हैं। उस मोहमयी अवस्था में उनकी मुक्ति की आशा, उनके सकाम कर्म तथा उनके ज्ञान का अनुशीलन—ये सभी निष्फल हो जाते हैं।'' ऐसे मनुष्य यह नहीं जान पाते कि कृष्ण का शरीर भौतिक नहीं है। कृष्ण के शरीर और उनके आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु अल्पज्ञ कृष्ण को मनुष्य मानकर उनका उपहास करते हैं। वे यह सोच नहीं पाते कि कृष्ण जैसा व्यक्ति समस्त वस्तुओं का उद्‌गम कैसे हो सकता है ( *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि*)। ऐसे व्यक्तियों को *मोघाशा:* अर्थात् निष्फल मनोरथ वाले कहा जाता है। वे भविष्य में जो भी चाहते हैं, वह निष्फल हो जाता है। यहाँ तक कि यदि वे ऊपर-ऊपर भक्ति में प्रवृत्त होते हैं, तो भी उन्हें *मोघाशा:* कहा जाता है क्योंकि वे अन्ततोगावा ब्रह्म-तेज में मिल जाना चाहते हैं।

जो लोग अपनी भक्ति से स्वर्गलोक पहुँचना चाहते हैं वे भी निराश हो जाएंगे क्योंकि यह भक्ति का परिणाम नहीं हैं। फिर भी उन्हेंभक्ति में प्रवृत्त होकर शुद्ध बनने का अवसर दिया जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में कहा गया है—

*शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।*

*हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥*

"भगवान् श्रीकृष्ण, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में परम आत्मा हैं और सच्चे भक्तों के कल्याणकर्ता हैं, उस भक्त के हृदय को भौतिक सुख की कामना से रहित कर देते हैं, जो उनके संदेशों का रसास्वाद करता है, जो ठीक से सुने तथा जपे जाने पर स्वयं में सद्‌गुणयुक्त हैं।"

जब तक हृदय के भीतरी छोर से मल नहीं निकल जाता, मनुष्य शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। इसलिए इस श्लोक में *सुदुर्लभ* शब्द का प्रयोग किया गया है। सैकड़ों तथा हजारों नहीं बल्कि लाखों पूर्णतया मुक्त आत्माओं में से विरला कोई शुद्ध भक्त होता है। इसलिए यहाँ पर *कोटिष्व अपि* शब्द व्यवहृत हुए हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *तंत्र भागवत* से निम्नलिखित उद्धरण दिए हैं—

*नव कोट्यस्तु देवानामृषय: सप्तकोटय:।*

*नारायणायना: सर्वे ये केचित् तत्परायणा:॥*

"नौ करोड़ देवता तथा सात करोड़ ऋषि भगवान् नारायण के *भक्तनारायणायन* कहलाते हैं। इनमें से कुछ ही *'नारायण-परायण'* कहलाते हैं।"

*नारायणायना देवा ऋष्याद्यास्तत्परायणा:।*

*ब्रह्माद्या: केचनैव स्यु: सिद्धो योग्यसुखं लभन्॥*

सिद्धों तथा नारायण-परायणों में यही अन्तर है कि प्रत्यक्ष भक्त तो *नारायण-परायण* हैं, किन्तु जो विभिन्न प्रकार का योग साधते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

**वृत्रस्तु स कथं पाप: सर्वलोकोपतापन: ।**
**इत्थं दृढमति: कृष्ण आसीत्सङ्ग्राम उल्बणे ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

वृत्र:—वृत्रासुर; तु—लेकिन; स:—वह; कथम्—किस प्रकार; पाप:—( आसुरी शरीर प्राप्त करने में ) यद्यपि पापी; सर्व-लोक—तीनों लोकों का; उपतापन:—कष्ट का कारण; इत्थम्—ऐसा; दृढ-मति:—दृढ़ बुद्धि; कृष्णे—कृष्ण में; आसीत्—था; सङ्ग्रामे उल्बणे—युद्ध की ज्वाला में।

**वृत्रासुर युद्ध की धधकती ज्वाला में स्थित था और पापी असुर अन्यों को सदैव कष्ट तथा चिन्ता पहुँचाने के लिए कुख्यात था। ऐसा असुर किस प्रकार इतना बड़ा कृष्ण भक्त हो**

सका?

**तात्पर्य :** यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार लाखों तथा करोड़ों व्यक्तियों में से कोई एक विरला ही शुद्ध भक्त अर्थात् *नारायण-परायण* होता है। अत: परीक्षित महाराज को आश्चर्य हो रहा था कि वह वृत्रासुर, जिसका ध्येय अन्यों को कष्ट तथा चिंता पहुँचाना था, युद्धभूमि में भी ऐसे भक्तों में से एक था। वृत्रासुर की उन्नति का क्या कारण था?

**अत्र न: संशयो भूयाञ्छ्रोतुं कौतूहलं प्रभो ।**
**य: पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत् ॥ ७॥**

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; नः—हमारा; संशयः—सन्देह; भूयान्—अत्यधिक; श्रोतुम्—सुनने के लिए; कौतूहलम्—उत्कंठा, कुतूहल; प्रभो—हे प्रभो; यः—जो; पौरुषेण—पराक्रम से; समरे—युद्ध में; सहस्र-अक्षम्—जिनके एक हजार नेत्र हैं, भगवान् इन्द्र को; अतोषयत्—सन्तुष्ट किया, प्रसन्न कर लिया।

**हे प्रभो, शुकदेव गोस्वामी! यद्यपि वृत्रासुर पापी असुर था, किन्तु उसने सर्वाधिक उन्नत क्षत्रिय का पराक्रम दिखाकर युद्ध में इन्द्र को प्रसन्न कर लिया। ऐसा असुर भगवान् कृष्ण का महान् भक्त क्योंकर हो सका? इन विरोधी बातों से मेरे मन में अत्यधिक सन्देह उत्पन्न हो गया है, अत: मैं इस सम्बन्ध में आपसे सुनने के लिए अत्यधिक उत्सुक हूँ।**

श्रीसूत उवाच
**परीक्षितोऽथ सम्प्रश्नं भगवान्बादरायणि: ।**
**निशम्य श्रद्दधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत् ॥ ८॥**

शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; परीक्षितः—महाराज परीक्षित का; अथ—इस प्रकार; सम्प्रश्नम्—श्रेष्ठ प्रश्न; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी; निशम्य—सुनकर; श्रद्दधानस्य—अपने श्रद्धालु शिष्य का; प्रतिनन्द्य—अभिनन्दन करते हुए; वचः—शब्द; अब्रवीत्—बोले।

**श्री सूत गोस्वामी ने कहा—महाराज परीक्षित के इस उत्तम प्रश्न को सुनकर परम शक्तिमान ऋषि शुकदेव गोस्वामी अपने शिष्य को अत्यन्त प्रेमपूर्वक उत्तर देने लगे।**

श्रीशुक उवाच
श्रृणुष्वावहितो राजन्नितिहासमिमं यथा ।
श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद्देवलादपि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; शृणुष्व—सुनो; अवहित:—अत्यन्त ध्यान से; राजन्—हे राजा; इतिहासम्—इतिहास को; इमम्—इस; यथा—जिस प्रकार; श्रुतम्—सुना हुआ; द्वैपायन—व्यासदेव के; मुखात्—मुँह से; नारदात्—नारद से; देवलात्—देवल ऋषि से; अपि—भी।

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! मैं उस इतिहास को तुमसे कहूँगा जिसे मैंने व्यासदेव, नारद तथा देवल के मुखों से सुना है। इसे ध्यानपूर्वक सुनो।**

आसीद्राजा सार्वभौम: शूरसेनेषु वै नृप ।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत्कामधुङ्मही ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; राजा—एक राजा; सार्व-भौम:—चक्रवर्ती राजा; शूरसेनेषु—शूरसेन नामक देश में; वै—निस्सन्देह; नृप—हे राजन्; चित्रकेतु:—चित्रकेतु; इति—इस प्रकार; ख्यात:—विख्यात; यस्य—जिसकी; आसीत्—थी; काम-धुक्—समस्त आवश्यकताओं को प्रदान करने वाली; मही—पृथ्वी।

**हे राजा परीक्षित! शूरसेन प्रदेश में चित्रकेतु नाम का एक चक्रवर्ती राजा था। उसके राज्य में पृथ्वी से जीवन की समस्त आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न होती थीं।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि राजा चित्रकेतु के राज्यकाल में पृथ्वी समस्त आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करती थी। जैसाकि *ईशोपनिषद्* (मंत्र १) में कहा गया है—

*ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।*

*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्य स्विद् धनम्॥*

"इस ब्रह्माण्ड में स्थावर-जंगम जो कुछ भी है, वह भगवान् द्वारा नियंत्रित है और उन्हीं की सम्पत्ति है। अतएव अपने लिए उन्हीं आवश्यक वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए जो उसके हिस्से के रुप में अलग रखी गई हैं और ऐसा जानकर दूसरे की वस्तुओं को स्वीकार नहीं करना चाहिए।" परम नियन्ता कृष्ण ने इस भौतिक जगत की सृष्टि की, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है और जो हर प्रकार से पूर्ण है। भगवान् समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताओं को पूरा

करते हैं। ये आवश्यकताएँ पृथ्वी से उत्पन्न होती हैं, अत: पृथ्वी ही पूर्ति का स्रोत हैं। जब शासक उत्तम होता है, तो इस स्रोत से जीवन की आवश्यकताएँ प्रचुरता से उत्पन्न होती हैं। किन्तु जब शासक योग्य नहीं रहता तो इनका अभाव रहता है। *कामधुक्* शब्द का यही महत्त्व है। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (१.१०.४) भी कहा गया है—*कामं ववर्ष पर्जन्य: सर्वकामदुघा मही*—"महाराज युधिष्ठिर के राज्य में बादल मनुष्य की आवश्यकतानुसार वर्षा करते थे और पृथ्वी मनुष्यों की आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करती थी।" हमें अनुभव है कि कुछ ऋतुओं में वर्षा प्रचुर उत्पादन करती है, तो कुछ में अभाव रहता है। पृथ्वी की उर्वरता पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है, क्योंकि उस पर श्रीभगवान् का पूर्ण नियंत्रण है। अपनी आज्ञा से ईश्वर पृथ्वी से कम या अधिक उत्पन्न करवा सकता है। यदि कोई पवित्र राजा शास्त्रों के आदेशों के अनुसार पृथ्वी पर शासन करता है, तो नियमित वर्षा होती रहती है, जिससे सभी मनुष्यों के लिए प्रचुर उत्पादन होगा। तब किसी प्रकार के शोषण का प्रश्न ही नहीं उठेगा, क्योंकि सबों के पास प्रचुर अन्न होगा। तब काला-बाजारी तथा अन्य अपराध स्वयमेव बन्द हो जाएँगे। जब तक शासक में आध्यात्मिक योग्यताएं नहीं होती, मात्र पृथ्वी पर शासन करने से मनुष्यों की समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं। उसे महाराज युधिष्ठिर, परीक्षित महाराज या श्री रामचन्द्र के समान होना चाहिए। तभी देश के समस्त निवासी नितान्त सुखी होंगे।

**तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन् ।**
**सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

तस्य—उसकी (चित्रकेतु की); भार्या—पत्नियों के; सहस्राणाम्—हजारों; सहस्राणि—हजार; दश—दस; अभवन्—थीं; सान्तानिक:—सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ; च—तथा; अपि—यद्यपि; नृप:—राजा; न—नहीं; लेभे—प्राप्त किया; तासु—उनसे; सन्ततिम्—पुत्र।

**राजा चित्रकेतु के एक करोड़ पत्नियाँ थीं और यद्यपि वह सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ था, किन्तु उनसे उसे कोई सन्तान प्राप्त नहीं हुई। संयोगवश सभी पत्नियां बाँझ थीं।**

**रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः ।**
**सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता बन्ध्यापतेरभूत् ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

रूप—सुन्दरता; औदार्य—उदारता; वयः—युवावस्था; जन्म—उच्चकुल में जन्म; विद्या—विद्या; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; श्रिय-आदिभिः—सम्पत्ति आदि से; सम्पन्नस्य—युक्त; गुणैः—गुणों से; सर्वैः—समस्त; चिन्ता—चिन्ता; बन्ध्या-पतेः—अनेक बाँझ पत्नियों के पति चित्रकेतु की; अभूत्—थी।

**इन करोड़ पत्नियों का पति चित्रकेतु अत्यन्त रूपवान उदार तथा तरुण था। वह उच्च कुल में उत्पन्न हुआ था, उसे पूर्ण शिक्षा प्राप्त हुई थी और वह सम्पत्तिवान् एवं ऐश्वर्यवान् था। फिर भी इन समस्त गुणों के होते हुए किन्तु कोई पुत्र न होने से वह अत्यन्त चिन्तायुक्त रहता था।**

**तात्पर्य :** ऐसा प्रतीत होता है कि राजा ने पहले एक विवाह किया। किन्तु उस से कोई सन्तान न हुई तब उसने दूसरा और फिर तीसरा, चौथा आदि कई विवाह किये, किन्तु किसी भी पत्नी से कोई पुत्र न हुआ। उच्चकुल में जन्म लेने एवं ऐश्वर्य, शिक्षा तथा रूप से सम्पन्न होते हुए भी वह अत्यन्त दुखी था क्योंकि इतनी सारी पत्नियां होने पर भी इसके कोई पुत्र नहीं थे। निश्चय ही उसका विषाद स्वाभाविक था। गृहस्थ जीवन का अभिप्राय यह नहीं है कि पत्नी तो हो किन्तु सन्तान न हो। चाणक्य पंडित का कथन है—*पुत्रहीनं गृहं शून्यम्*—यदि गृहस्थ पुरुष के पुत्र न हो तो घर मरुस्थल के समान होता है। राजा निश्चित रूप से अत्यन्त दुखी था, क्योंकि उसे कोई पुत्र नहीं हुआ और इसलिए उसने अनेक बार विवाह किये। क्षत्रियों को एक से अधिक पत्नी से विवाह करने की विशेष अनुमति है, इसलिए इस राजा ने ऐसा किया। इतने पर भी उसे कोई सन्तान न हुई।

**न तस्य सम्पदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः ।**
**सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन्प्रीतिहेतवः ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उसकी ( चित्रकेतु की ); सम्पदः—अपार ऐश्वर्य; सर्वाः—सभी; महिष्यः—रानियाँ; वाम-लोचनाः—अत्यन्त आकर्षक नेत्रों वाली; सार्व-भौमस्य—महाराज की; भूः—पृथ्वी; च—भी; इयम्—यह; अभवन्—थे; प्रीति-हेतवः—प्रसन्नता के कारण।

उनकी सभी रानियाँ सुमुखी एवं आकर्षक नेत्रों वाली थीं, फिर भी न तो उसका ऐश्वर्य तथा सैकड़ों-हजारों रानियाँ, न वे प्रदेश, जिनका वह सर्वोच्च स्वामी था, उसे प्रसन्न कर सकते थे।

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः ।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; एकदा—एक बार; तु—लेकिन; भवनम्—महल में; अङ्गिराः—अंगिरा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऋषिः—साधु; लोकान्—लोकों में; अनुचरन्—चारों ओर घूमते हुए; एतान्—इन; उपागच्छत्—आये; यदृच्छया—अचानक।

एक बार समस्त ब्रह्माण्ड में विचरण करते हुए अंगिरा नामक शक्तिशाली ऋषि अकस्मात् अपनी शुभेच्छा से राजा चित्रकेतु के महल में पधारे।

तं पूजयित्वा विधिवत्प्रत्युत्थानार्हणादिभिः ।
कृतातिथ्यमुपासीदत्सुखासीनं समाहितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; पूजयित्वा—पूजा करके; विधि-वत्—उच्च अतिथियों के सत्कार के नियमों के अनुसार विधिपूर्वक; प्रत्युत्थान—सिंहासन से उठकर; अर्हण-आदिभिः—पूजा आदि के द्वारा; कृत-अतिथ्यम्—सत्कार किया जाकर; उपासीदत्—निकट आकर बैठ गया; सुख-आसीनम्—सुखपूर्वक विराजमान; समाहितः—मन तथा इन्द्रियों को वश में करते हुए।

चित्रकेतु तुरन्त ही अपने सिंहासन से उठकर खड़ा हो गया और उनकी अर्चना की। उसने जल तथा खाद्य सामग्री भेंट की और इस प्रकार अपने परम अतिथि के प्रति मेजवान का अपना कर्तव्य पूरा किया। जब अंगिरा ऋषि सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर चुके तो राजा अपने मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके ऋषि के चरणों के निकट भूमि पर बैठ गया।

महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ ।

**प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत् ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

महा-ऋषिः—परम साधु; तम्—उस ( राजा ) के; उपासीनम्—निकट बैठकर; प्रश्रय-अवनतम्—विनयवश सिर झुकाकर; क्षितौ—पृथ्वी पर; प्रतिपूज्य—साधुवाद देते हुए; महाराज—हे राजा परीक्षित; समाभाष्य—सम्बोधित करके; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

**हे राजा परीक्षित! जब चित्रकेतु विनीत भाव से नत होकर ऋषि के चरण-कमलों के निकट बैठ गया तो ऋषि ने उसकी विनयशीलता तथा उनके आतिथ्य के लिए साधुवाद दिया और उसे निम्नलिखित शब्दों से सम्बोधित किया।**

अङ्गिरा उवाच

**अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथात्मनः ।**
**यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान्राजा च सप्तभिः ॥ १७ ॥**

### शब्दार्थ

अङ्गिराः उवाच—ऋषि अंगिरा ने कहा; अपि—क्या; ते—तुमको; अनामयम्—स्वास्थ्य; स्वस्ति—कुशलता; प्रकृतीनाम्—अपनी राज्य-सामग्री का ( पार्षद तथा सामग्री ); तथा—और; आत्मनः—अपने शरीर, मन तथा आत्मा का; यथा—सदृश; प्रकृतिभिः—प्रकृति के तत्त्वों से; गुप्तः—आरक्षित; पुमान्—जीवित प्राणी; राजा—राजा; च—भी; सप्तभिः—सातसे।

**ऋषि अंगिरा ने कहा—हे राजन्! आशा है कि तुम अपने शरीर तथा मन और अपने राज्य-पार्षदों तथा सामग्री सहित कुशल से हो। जब प्रकृति के सातों गुण [सम्पूर्ण भौतिक शक्ति ( माया ), अहंकार तथा इन्द्रियतृप्ति के पाँचों पदार्थ] अपने-अपने क्रम में ठीक रहते हैं, तो भौतिक तत्त्वों के भीतर जीवात्मा सुखी रहता है। इन सात तत्त्वों के बिना कोई रह नहीं सकता। इसी प्रकार राजा सात तत्त्वों द्वारा सदा आरक्षित रहता है। ये तत्त्व हैं—उसका उपदेशक ( स्वामी या गुरु ), उसके मंत्री, उसका राज्य, उसका दुर्ग, उसका कोष, उसके राज्याधिकार तथा उसके मित्र।**

**तात्पर्य :** श्रीधर स्वामी ने *भागवत* की अपनी टीका में यह श्लोक उद्धृत किया है—

*स्वाम्यमात्यौ जनपदा दुर्गद्रविणसंचयाः ।*

*दंडो मित्रं च तस्यैताः सप्त-प्रकृतयो मताः ॥*

राजा अकेला नहीं होता। उसका गुरु या परम निर्देशक सर्वोपरि है। फिर उसके मंत्री, राज्य, दुर्ग, कोष, शान्ति की व्यवस्था और मित्र अथवा सहयोगी होते हैं। यदि इन सातों को सही ढंग से रखा जाये तो राजा सुखी रहता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* में बताया गया है कि जीवात्मा या आत्मा महत् तत्त्व अहंकार तथा पंच-तन्मात्रा अर्थात् इन्द्रियतृप्ति के पाँच पदार्थों के भौतिक आवरण के भीतर रहता है। जब ये सातों ढंग से रहते हैं, तो जीवात्मा सुखी रहता है। सामान्यतः जब राजा के पार्षद शान्त एवं आज्ञाकारी होते हैं, तो राजा सुखी रहता है। अतः अंगिरा ऋषि ने राजा के निजी स्वास्थ्य तथा उसके सात पार्षदों की कुशलता के सम्बन्ध में पूछा। जब हम अपने मित्र से यह पूछते हैं कि कुशल तो है, तो हम केवल उसी के बारे में अर्थात् व्यक्तिगत स्वयं नहीं जानना चाहते हैं, वरन् उसके परिवार, आय के साधन, उसके सहायकों अथवा सेवकों आदि के विषय में भी जानना चाहते हैं। जब ये सब कुशल से रहते हैं, तभी मनुष्य सुखी हो सकता है।

**आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात् ।**
**राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः ॥ १८ ॥**

### शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; प्रकृतिषु—इन सात राजसी तत्त्वों के अन्तर्गत; अद्धा—प्रत्यक्षतः; निधाय—रखकर; श्रेयः—परम सुख; आप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है; राज्ञा—राजा के द्वारा; तथा—उसी प्रकार, वैसे ही; प्रकृतयः—प्रकृतियाँ; नर-देव—हे राजन्; आहित-अधयः—सम्पत्ति तथा अन्य वस्तुएँ भेंट करके।

**हे राजन्, हे मानवता के ईश! जब राजा अपने पार्षदों पर प्रत्यक्षतः आश्रित रहता है और उनके आदेशों का पालन करता है, तो वह सुखी रहता है। इसी प्रकार जब पार्षद राजा को भेंटें प्रदान करते हैं और उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, तो वे भी सुखी रहते हैं।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में राजा तथा उसके आश्रितों के वास्तविक सुख का उल्लेख हुआ है। सर्वोपरि होने के कारण राजा को अपने आश्रितों को न केवल आज्ञाएँ देनी चाहिए, अपितु कभी-कभी उनके निर्देशों को भी मानना चाहिए। इसी प्रकार आश्रितों को चाहिए कि वे भी राजा पर निर्भर रहें। इस अन्योन्याश्रिता से प्रत्येक व्यक्ति सुखी होगा।

**अपि दाराः प्रजामात्या भृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः ।**
**पौरा जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्तिनः ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

अपि—क्या; दाराः—पत्नियाँ; प्रजा—नागरिक जन; अमात्याः—( तथा ) सचिवगण; भृत्याः—सेवक; श्रेण्यः—व्यापारीजन; अथ—तथा; मन्त्रिणः—मन्त्री ( सलाहकार ); पौराः—महल के वासी; जानपदाः—राज्यपाल; भूपाः—भूमिधर; आत्म-जाः—पुत्र; वश-वर्तिनः—पूरी तरह तुम्हारे वश में।.

**हे राजन्! तुम्हारी पत्नियाँ, नागरिक, सचिव तथा सेवक एवं मसाले तथा तेल के विक्रेता व्यापारी तुम्हारे वश में तो हैं? तुमने अपने मंत्रियों, महल के निवासियों ( पुरवासियों ), अपने राज्यपालों, अपने पुत्रों तथा अन्य आश्रितों को अपने नियंत्रण में तो कर रखा है?**

**तात्पर्य :** स्वामी अथवा राजा एवं उसके आश्रितों को परस्पर निर्भर होना चाहिए। सहयोग से वे दोनों सुखी रह सकते हैं।

**यस्यात्मानुवशश्चेत्स्यात्सर्वे तद्वशगा इमे ।**
**लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; आत्मा—मन; अनुवशः—वश में; चेत्—यदि; स्यात्—हो; सर्वे—समस्त; तत्-वश-गाः—उसके अधीन; इमे—ये; लोकाः—विभिन्न लोक; स-पालाः—पालकों या राज्यपालों सहित; यच्छन्ति—अर्पण करते हैं; सर्वे—समस्त; बलिम्—भेंट; अतन्द्रिताः—आलस्य से मुक्त।

**यदि राजा का मन अपने वश में रहता है, तो उसके समस्त पारिवारिक प्राणी एवं राज-अधिकारी उसके अधीन रहते हैं। उसके प्रान्तपालक ( राज्यपाल ) समय पर अवरोध-रहित कर प्रस्तुत करते हैं, छोटे-छोटे सेवकों की तो कोई बात ही नहीं है।**

**तात्पर्य :** अंगिरा ऋषि ने राजा से पूछा कि उसका मन तो उसके वश में है? सुखी रहने के लिए यह नितान्त अनिवार्य है।

**आत्मनः प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा ।**

लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—तुम स्वयं; प्रीयते—सन्तुष्ट हो; न—नहीं; आत्मा—मन; परतः—अन्य कारणों से; स्वतः—अपने कारण; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; लक्षये—मैं देख सकता हूँ; अलब्ध-कामम्—अपेक्षित लक्ष्य को न प्राप्त करके; त्वाम्—तुमको; चिन्तया—चिन्ता के कारण; शबलम्—पीला; मुखम्—मुख, चेहरा।

**हे राजा चित्रकेतु! मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारा मन सन्तुष्ट नहीं है। ऐसा लगता है तुम्हें वांच्छित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाया है। यह स्वतः तुम्हारे अपने कारण अथवा अन्य किसी कारण से ऐसा हुआ है? तुम्हारे पीले मुख से तुम्हारी गहरी चिन्ता झलकती है।**

एवं विकल्पितो राजन्विदुषा मुनिनापि सः ।
प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विकल्पितः—पूछे जाने पर; राजन्—हे राजा परीक्षित; विदुषा—परम विद्वान; मुनिना—मुनि (दार्शनिक) के द्वारा; अपि—यद्यपि; सः—उस (राजा चित्रकेतु) ने; प्रश्रय-अवनतः—विनयवश झुककर; अभ्याह—उत्तर दिया; प्रजा-कामः—पुत्र की इच्छा से; ततः—तत्पश्चात्; मुनिम्—मुनि को।

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजा परीक्षित! यद्यपि महर्षि अंगिरा को सब कुछ ज्ञात था फिर भी उन्होंने राजा से इस प्रकार पूछा। अतः पुत्र के इच्छुक राजा चित्रकेतु अत्यन्त विनीत भाव से नीचे झुक गये और महर्षि से इस प्रकार बोले।**

**तात्पर्य :** चूँकि मुख मन का दर्पण है, अतः साधु पुरुष किसी भी व्यक्ति के मुख को देखकर ही मन की दशा जान लेते हैं। जब महर्षि अंगिरा ने राजा के पीले मुखमण्डल के सम्बन्ध में संकेत किया, तो राजा चित्रकेतु ने अपनी चिन्ता का कारण इस प्रकार कह सुनाया।

चित्रकेतुरुवाच
भगवन्किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः ।
योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तः शरीरिषु ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—राजा चित्रकेतु ने उत्तर दिया; भगवन्—हे परम शक्तिशाली साधु; किम्—क्या; न—नहीं; विदितम्—ज्ञात है; तपः—तपस्या; ज्ञान—ज्ञान; समाधिभिः—तथा समाधि से; योगिनाम्—महान् योगियों या भक्तों द्वारा; ध्वस्त-पापानाम्—समस्त पापकर्मों से पूर्णतया विमुक्त; बहिः—बाहर से; अन्तः—भीतर से; शरीरिषु—बद्धजीवों में, जिनके भौतिक देह हैं।

**राजा चित्रकेतु ने कहा—हे महाप्रभु अंगिरा! तपस्या, ज्ञान तथा दिव्य समाधि से आप पापमय जीवन के समस्त बन्धनों से मुक्त हैं; अत: आप सिद्ध योगी के रूप में हम जैसे बद्धजीवों के अन्दर और बाहर की प्रत्येक बात को जान सकते हैं।**

**तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मन्नात्मनि चिन्तितम् ।**
**भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

तथापि—तो भी; पृच्छत:—पूछने पर; ब्रूयाम्—बोलने की आज्ञा दें; ब्रह्मन्—हे परम ब्राह्मण; आत्मनि—मन में; चिन्तितम्—चिन्ता; भवत:—आपको; विदुष:—सब कुछ जानने वाले, सर्वज्ञ; च—तथा; अपि—यद्यपि; चोदित:—प्रेरित होकर; त्वत्—आपकी; अनुज्ञया—आज्ञा से।

**हे परम आत्मन्! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी आप मुझसे पूछ रहे हैं कि मैं चिन्ता से पूर्ण क्यों हूँ। अत: मैं आपकी आज्ञा के प्रत्युत्तर में कारण को प्रकट कर रहा हूँ।**

**लोकपालैरपि प्रार्थ्या: साम्राज्यैश्वर्यसम्पद: ।**
**न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे ॥ २५॥**

### शब्दार्थ

लोक-पालै:—बड़े-बड़े देवताओं द्वारा; अपि—भी; प्रार्थ्या:—लालायित; साम्राज्य—बृहद् राज्य; ऐश्वर्य—सांसारिक सम्पत्ति; सम्पद:—धन; न नन्दयन्ति—आनन्द नहीं प्रदान करते; अप्रजम्—पुत्र न होने से; माम्—मुझको; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; कामम्—विषय; इव—सदृश; अपरे—अन्य भोग्य वस्तुएँ।

**जिस प्रकार भूखा तथा प्यासा व्यक्ति फूल की मालाओं या चंदन-लेप जैसी बाह्य तृप्ति से संतुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार पुत्र न होने से मैं अपने साम्राज्य, ऐश्वर्य या सम्पदा से, जिनके लिए बड़े-बड़े देवता भी लालायित रहते हैं, सन्तुष्ट नहीं हूँ।**

**तत: पाहि महाभाग पूर्वै: सह गतं तम: ।**
**यथा तरेम दुष्पारं प्रजया तद्विधेहि न: ॥ २६॥**

### शब्दार्थ

तत:—अत:, इस कारण से; पाहि—मेरी रक्षा कीजिये; महा-भाग—हे परम साधु; पूर्वै: सह—अपने पितरों समेत; गतम्—गया हुआ; तम:—अंधकार में; यथा—जिससे; तरेम—पार कर सकें; दुष्पारम्—पार करना अत्यन्त कठिन; प्रजया—पुत्र प्राप्ति करके; तत्—वह; विधेहि—कृपया करें; न:—हम सबों के लिए।

**अतः हे परम साधु! मेरी तथा मेरे पितरों की रक्षा कीजिये (उबारिये), क्योंकि मेरे संतान न होने से वे नरक के अंधकार में धँसते जा रहे हैं। कृपया कुछ ऐसा करें जिससे मुझे पुत्र प्राप्त हो, जो हम सबों को नारकीय दशाओं से उबार सके।**

**तात्पर्य :** वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य मात्र पुत्र-प्राप्ति के लिए ही विवाह करता है, जिससे वह अपने पितरों को पिंडदान कर सके। राजा चित्रकेतु के लिए पुत्र-प्राप्ति इसलिए आवश्यक थी जिससे वह स्वयं तथा उसके पितृगण नरक से उबर सकें। उसे एकमात्र इसी की चिन्ता थी कि वह स्वयं तथा उसके पूर्वज अगले जन्मों में किस प्रकार पिंड प्राप्त कर सकें। इसलिए उसने अंगिरा ऋषि से प्रार्थना की कि वे कुछ ऐसा करने की कृपा करें जिससे उसे पुत्र-प्राप्ति हो सके।

श्रीशुक उवाच
**इत्यर्थितः स भगवान्कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः ।**
**श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः ॥ २७॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर; सः—उस (अंगिरा) ने; भगवान्—परम शक्तिमान; कृपालुः—अत्यन्त दयालु; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा का; सुतः—पुत्र (भगवान् ब्रह्मा के मन से उत्पन्न); श्रपयित्वा—पका कर; चरुम्—खीर का विशिष्ट पिण्ड, चरु; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा नामक देवता के लिए; त्वष्टारम्—त्वष्टा की; अयजत्—अर्चना की; विभुः—परम साधु।

**महाराज चित्रकेतु द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान् ब्रह्मा के मन से उत्पन्न (मानसपुत्र) अंगिरा ऋषि राजा के प्रति अत्यन्त दयार्द्र हो उठे। अपने अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्तित्व के कारण ऋषि ने त्वष्टा नामक देवता को खीर का पिण्डदान करके यज्ञ सम्पन्न किया।**

**ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणां च भारत ।**
**नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद्द्विजः ॥ २८॥**

शब्दार्थ

ज्येष्ठा—ज्येष्ठ, सबसे बड़ी; श्रेष्ठा—परम गुणवती; च—तथा; या—जो; राज्ञः—राजा की; महिषीणाम्—समस्त रानियों में; च—भी; भारत—हे महाराज परीक्षित; नाम्ना—नामक; कृतद्युतिः—कृतद्युति; तस्यै—उसको; यज्ञ—यज्ञ का; उच्छिष्टम्—अवशेष प्रसाद; अदात्—प्रदान किया; द्विजः—महान् ऋषि ( अंगिरा ) ने।

**हे महाराज परीक्षित! अंगिरा ऋषि ने यज्ञ के अवशेष प्रसाद को चित्रकेतु की लाखों रानियों में सबसे बड़ी तथा परम गुणवती रानी को प्रदान किया, जिसका नाम कृतद्युति था।**

**अथाह नृपतिं राजन्भवितैकस्तवात्मजः ।**
**हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आह—कहा; नृपतिम्—राजा को; राजन्—हे राजा चित्रकेतु; भविता—होगा; एकः—एक; तव—तुम्हारे; आत्मजः—पुत्र; हर्ष-शोक—प्रसन्नता तथा दुख; प्रदः—प्रदान करने वाला; तुभ्यम्—तुमको; इति—इस प्रकार; ब्रह्म-सुतः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र, अंगिरा ऋषि; ययौ—चले गये।

**तत्पश्चात् ऋषि ने राजा से कहा—"हे राजन्! अब तुम्हारे एक पुत्र होगा जो हर्ष तथा शोक दोनों का कारण बनेगा।" ऐसा कहकर चित्रकेतु के उत्तर की प्रतीक्षा न करके ऋषि चले गये।**

**तात्पर्य :** 'हर्ष' शब्द का अर्थ है प्रसन्नता और 'शोक' का अर्थ है दुख। जब राजा को ज्ञात हुआ कि उसके पुत्र उत्पन्न होगा तो वह अत्यधिक प्रसन्न हो गया। अत्यधिक प्रसन्नता के मारे वह अंगिरा ऋषि के कथन का वास्तविक अर्थ नहीं समझ पाया। उसने यह समझा कि भावी पुत्र के जन्म से निश्चय ही हर्ष होगा, किन्तु उसका एकमात्र पुत्र होने से सम्पत्ति और साम्राज्य के गर्व से फूल कर सम्भव है कि वह पिता का आज्ञाकारी न बने; इस तरह राजा यह सोच कर संतुष्ट हुआ कि पहले पुत्र तो उत्पन्न हो। इससे क्या अंतर पड़ता है यदि वह आज्ञाकारी नहीं होता है। बंगाल में कहावत है कि मामा न होने की अपेक्षा अंधा मामा ही भला है। राजा को यह तर्क भा गया कि पुत्र न होने की अपेक्षा अवज्ञाकारी पुत्र होना अच्छा है। परम साधु चाणक्य पंडित का कथन है—

*कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।*

*काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥*

"ऐसे पुत्र से क्या लाभ, जो न तो विद्वान है न भक्त? ऐसा पुत्र उस अंधी रोगग्रस्त आँख के

समान है, जो हमेशा दुख देती रहती है।'' इतने पर भी भौतिक जगत कितना कलुषित हो चुका कि मनुष्य पुत्र की कामना करता है, भले ही वह बेकार क्यों न हो। राजा चित्रकेतु की कथा इसी विचार-धारा का प्रतीक थी।

**सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत् ।**
**गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम् ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

सा—वह ( रानी ); अपि—भी; तत्-प्राशनात्—यज्ञ के अवशेष प्रसाद को खाने से; एव—निस्सन्देह; चित्रकेतोः—चित्रकेतु से; अधारयत्—धारण किया; गर्भम्—गर्भ; कृतद्युतिः—रानी कृतद्युति ने; देवी—देवी; कृत्तिका—कृत्तिका; अग्नेः—अग्नि से; इव—के समान; आत्म-जम्—पुत्र।

**अंगिरा द्वारा सम्पन्न यज्ञ के अवशेष को खाकर कृतद्युति ने चित्रकेतु के वीर्य से उस प्रकार गर्भ धारण किया जिस प्रकार कृत्तिकादेवी ने अग्नि से भगवान् शिव का वीर्य प्राप्त करके स्कन्द ( कार्तिकेय ) नामक पुत्र को गर्भ में धारण किया था।**

**तस्या अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोडुपः ।**
**ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप ॥ ३१ ॥**

### शब्दार्थ

तस्याः—उसका; अनुदिनम्—दिनोंदिन; गर्भः—गर्भ; शुक्ल-पक्षे—शुक्लपक्ष में ( चन्द्रमा बढ़ता जाता है ); इव—सदृश; उडुपः—चन्द्रमा; ववृधे—क्रमशः बढ़ने लगा; शूरसेन-ईश—शूरसेन के राजा; तेजसा—वीर्य से; शनकैः—थोड़ा-थोड़ा करके, क्रमशः; नृप—हे राजा परीक्षित!.

**हे राजा परीक्षित! शूरसेन के राजा महाराज चित्रकेतु के वीर्य से कृतद्युति का गर्भ उसी प्रकार क्रमशः बढ़ने लगा, जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता जाता है।**

**अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायत ।**
**जनयन्शूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम् ॥ ३२ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; काले उपावृत्ते—कालक्रम से, समय आने पर; कुमारः—पुत्र ने; समजायत—जन्म लिया; जनयन्—जन्म होने का; शूरसेनानाम्—शूरसेन देश के निवासियों का; शृण्वताम्—सुनकर; परमाम्—अत्यधिक; मुदम्—हर्ष आनन्द।

**तदनन्तर समय आने पर राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ। इस समाचार को सुनकर शूरसेन देश**

के समस्त वासी अत्यधिक प्रसन्न हुए।

हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलङ्कृतः ।
वाचयित्वाशिषो विप्रैः कारयामास जातकम् ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

हृष्टः—अत्यधिक प्रसन्न; राजा—राजा चित्रकेतु; कुमारस्य—नवजात पुत्र का; स्नातः—नहाकर; शुचिः—पवित्र होकर; अलङ्कृतः—आभूषणों से सुसज्जित होकर; वाचयित्वा—स्वस्तिवाचन कराकर; आशिषः—आशीर्वाद के शब्द; विप्रैः—विद्वान ब्राह्मणों से; कारयाम् आस—सम्पन्न कराया; जातकम्—जातकर्म संस्कार.

राजा चित्रकेतु विशेष रूप से प्रसन्न थे। स्नान करके, पवित्र होकर तथा आभूषणों से सज्जित होकर उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन और आशीर्वाद लेकर पुत्र का जातकर्म-संस्कार करवाया।

तेभ्यो हिरण्यं रजतं वासांस्याभरणानि च ।
ग्रामान्हयान्गजान्प्रादाद्धेनूनामर्बुदानि षट् ॥ ३४॥

### शब्दार्थ

तेभ्यः—उन ( ब्राह्मणों ) को; हिरण्यम्—सोना; रजतम्—चाँदी; वासांसि—वस्त्र; आभरणानि—गहने, आभूषण; च—तथा; ग्रामान्—अनेक गाँव; हयान्—घोड़े; गजान्—हाथी; प्रादात्—दान में दिया; धेनूनाम्—गायों का; अर्बुदानि—दस करोड़; षट्—छह।

राजा ने इस अनुष्ठान में भाग लेने वाले समस्त ब्राह्मणों को दान में सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, गाँव, घोड़े, हाथी और साठ करोड़ गौएँ दीं।

ववर्ष कामानन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः ॥ ३५ ॥

### शब्दार्थ

ववर्ष—वर्षा की, दान में दिया; कामान्—मुँहमाँगी वस्तुएँ; अन्येषाम्—अन्यों की; पर्जन्यः—बादल; इव—सदृश; देहिनाम्—समस्त जीवात्माओं का; धन्यम्—ऐश्वर्य वृद्धि की आकांक्षा सहित; यशस्यम्—यश में वृद्धि; आयुष्यम्—तथा आयुवृद्धि; कुमारस्य—नवजात शिशु की; महा-मनाः—उदारचेता राजा चित्रकेतु ने।

जिस प्रकार बादल बिना पक्षपात के पृथ्वी पर वर्षा करता है, उसी तरह उदारचेता राजा चित्रकेतु ने अपने पुत्र के यश, ऐश्वर्य तथा आयु की वृद्धि के लिए सबों को मुँहमाँगी वस्तुएँ

दीं।

कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः ।
यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहोऽन्ववर्धत ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्र—कठिनाई से; लब्धे—प्राप्त; अथ—तदनन्तर; राज-ऋषेः—पवित्र राजा चित्रकेतु का; तनये—पुत्र के लिए; अनुदिनम्—प्रतिदिन; पितुः—पिता का; यथा—जिस प्रकार; निःस्वस्य—निर्धन पुरुष का; कृच्छ्र-आप्ते—अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त; धने—धन के लिए; स्नेहः—स्नेह, प्यार; अन्ववर्धत—बढ़ता गया।

जिस प्रकार किसी निर्धन व्यक्ति को बड़ी कठिनाई से कुछ धन मिलता है, तो उसमें प्रतिदिन उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है, इसी प्रकार जब राजा चित्रकेतु को अत्यन्त कठिनाई से पुत्र की प्राप्ति हुई तो दिन प्रति दिन पुत्र के प्रति उसका स्नेह बढ़ता गया।

मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः ।
कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मातुः—माता का; तु—भी; अतितराम्—अत्यधिक; पुत्रे—पुत्र के लिए; स्नेहः—वत्सलता; मोह—अविद्यावश; समुद्भवः—उत्पन्न; कृतद्युतेः—कृतद्युति की; सपत्नीनाम्—सौतों का; प्रजा-काम—पुत्रेच्छा का; ज्वरः—ताप, ज्वर; अभवत्—था।

पिता की ही भाँति माँ का भी आकर्षण एवं स्नेह पुत्र के प्रति बढ़ता गया। कृतद्युति के पुत्र को देख देख कर राजा की अन्य पत्नियाँ पुत्र की कामना से अत्यधिक क्षुब्ध रहने लगीं, मानो उन्हें उच्च ज्वर हो।

चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति ।
न तथान्येषु सञ्जज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

चित्रकेतोः—राजा चित्रकेतु का; अतिप्रीतिः—अत्यधिक आकर्षण; यथा—जिस प्रकार; दारे—अपनी पत्नी में; प्रजा-वति—जिसने पुत्र को जन्म दिया हो, पुत्रवती; न—नहीं; तथा—उसी प्रकार; अन्येषु—अन्यों का; सञ्जज्ञे—उठा, उत्पन्न हुआ; बालम्—पुत्र को; लालयतः—लाड़-प्यार करते हुए; अन्वहम्—लगातार।

ज्यों-ज्यों राजा चित्रेकेतु अपने पुत्र का बड़ी सावधानी से लाड़-प्यार करने लगे त्यों-त्यों

**रानी कृतद्युति के प्रति भी उनका प्रेम प्रगाढ़ होता गया और पुत्रहीन अन्य रानियों के प्रति उनका प्रेम क्रमशः घटने लगा।**

**ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया ।**
**आनपत्येन दुःखेन राज्ञश्चानादरेण च ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

ताः—वे ( पुत्रहीन रानियाँ ); पर्यतप्यन्—पश्चात्ताप करने लगीं; आत्मानम्—अपने आपको; गर्हयन्त्यः—धिक्कारती हुई; अभ्यसूयया—डाह से; आनपत्येन—पुत्रहीन होने के कारण; दुःखेन—दुख से; राज्ञः—राजा की; च—भी; अनादरेण—उपेक्षा के कारण; च—भी।

**अन्य रानियाँ निपूती होने के कारण अत्यन्त अप्रसन्न थीं। अपने प्रति राजा की उपेक्षा से वे डाहवश अपने आपको धिक्कारने और पश्चात्ताप करने लगीं।**

**धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसम्मताम् ।**
**सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम् ॥ ४० ॥**

### शब्दार्थ

धिक्—धिक्कार है; अप्रजाम्—पुत्रहीना; स्त्रियम्—स्त्री को; पापाम्—पाप कर्मों से पूर्ण; पत्युः—पति के द्वारा; च—भी; अ-गृह-सम्मताम्—जिसका घर में अनादर हो, अनादृत; सु-प्रजाभिः—पुत्रवती; सपत्नीभिः—सौतों के द्वारा; दासीम्—दासी, नौकरानी; इव—के समान; तिरस्कृताम्—तिरस्कृत, अनादृत।

**जिस पत्नी के पुत्र नहीं होते वह घर में अपने पति द्वारा उपेक्षित रहती है और सौतों द्वारा दासी के समान अनादृत होती है। निश्चय ही ऐसी स्त्री अपने पापी जीवन के कारण सब तरह से धिक्कारी जाती है।**

**तात्पर्य :** जैसाकि चाणक्य पंडित ने कहा है—

*माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।*

*अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥*

"जिस मनुष्य के घर में माता न हो, जिसकी पत्नी मृदुभाषी न हो उसे चाहिए कि वह जंगल में चला जाये। ऐसे मनुष्य के लिए घर में रहना तथा जंगल में रहना एकसमान है।" इसी प्रकार जिस स्त्री को पुत्र न हो और जिसका पति द्वार ध्यान न दिया जाता हो तथा जिसकी सौतें उसके

साथ नौकरानी जैसा बर्ताव करके उसकी उपेक्षा करती हों, उसके लिए घर में रहने की अपेक्षा जंगल में जाकर रहना श्रेयस्कर है।

**दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया ।**
**अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः ॥ ४१ ॥**

### शब्दार्थ

दासीनाम्—दासियों का; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; सन्तापः—पश्चाताप, शोक; स्वामिनः—स्वामी की; परिचर्यया—सेवा करके; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; लब्ध-मानानाम्—सम्मानित; दास्याः—दासी का; दासी इव—दासी के समान; दुर्भगाः—अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण, हतभाग्या।.

**यहाँ तक कि जो दासियाँ अपने पति की निरन्तर सेवा करती हैं, वे भी अपने पति का सम्मान पाती रहती हैं, अतः उनको किसी बात के लिए पश्चाताप नहीं करना पड़ता। किन्तु हमारी स्थिति तो दासी की दासियों के समान है, अतः हम सर्वाधिक हतभाग्या हैं।**

**एवं सन्दह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा ।**
**राज्ञोऽसम्मतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥ ४२ ॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सन्दह्यमानानाम्—शोक से निरन्तर जलती रहने वाली रानियों का; सपत्न्याः—कृतद्युति की सौतों का; पुत्र-सम्पदा—पुत्र रूपी सम्पत्ति के कारण; राज्ञः—राजा के द्वारा; असम्मत-वृत्तीनाम्—अधिक पक्षपात न किये जाने से; विद्वेषः—ईर्ष्या; बलवान्—प्रबल शक्तिशाली; अभूत्—हो गया।.

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—अपने पति द्वारा उपेक्षित होने तथा कृतद्युति की गोद भरी हुई देखकर, सभी सौतें द्वेष से अधिकाधिक जलने लगीं।**

**विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः ।**
**गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥ ४३ ॥**

### शब्दार्थ

विद्वेष-नष्ट-मतयः—द्वेष के कारण बुद्धि नष्ट हो जाने से; स्त्रियः—स्त्रियाँ; दारुण-चेतसः—कठोर हृदय वाली; गरम्—विष; ददुः—पिला दिया; कुमाराय—बालक को; दुर्मर्षाः—चिढ़कर; नृपतिम्—राजा के; प्रति—प्रति।.

**द्वेष बढ़ जाने से रानियों की मति मारी गई। अत्यधिक कठोर हृदय होने तथा राजा की उपेक्षा को न सह सकने के कारण उन्होंने अन्त में बालक को विष खिला दिया।**

कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत् ।
सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद्गृहे ॥ ४४॥

### शब्दार्थ

कृतद्युतिः—रानी कृतद्युति; अजानन्ती—न जानती हुई; सपत्नीनाम्—अपनी सौतों के; अघम्—पाप-कृत्य; महत्—महान्, घोर; सुप्तः—सोया हुआ; एव—निस्सन्देह; इति—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—सोचकर; निरीक्ष्य—देखकर; व्यचरत्—घूमती रही; गृहे—घर में।

अपनी सौतों द्वारा विष दिये जाने की घटना को न जानती हुई रानी कृतद्युति यह सोचकर कि उसका पुत्र गहरी निद्रा में सो रहा है घर में इधर-उधर विचरती रही। उसे पता न चल पाया कि वह मर चुका है।

शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी ।
पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत् ॥ ४५॥

### शब्दार्थ

शयानम्—सोता हुआ; सु-चिरम्—दीर्घकाल से; बालम्—पुत्र को; उपधार्य—सोचकर; मनीषिणी—अत्यन्त बुद्धिमान, बुद्धिमती; पुत्रम्—पुत्र; आनय—ले आओ; मे—मेरे पास; भद्रे—हे सखी या कल्याणी; इति—इस प्रकार; धात्रीम्—धाय को; अचोदयत्—आज्ञा दी।

यह सोचकर कि उसका पुत्र बड़ी देर से सो रहा है—उस अत्यन्त बुद्धिमान रानी कृतद्युति ने धाय को आज्ञा दी, "हे सखी! मेरे पुत्र को यहाँ ले आओ।"

सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम् ।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद्भुवि ॥ ४६॥

### शब्दार्थ

सा—वह (दासी); शयानम्—सोते हुए; उपव्रज्य—के पास जाकर; दृष्ट्वा—देखकर; च—भी; उत्तार-लोचनम्—ऊपर उलटी हुई आँखें (जैसे मृत शरीर की होती हैं); प्राण-इन्द्रिय-आत्मभिः—प्राण, इन्द्रियों तथा मन से; त्यक्तम्—छोड़ा हुआ; हता अस्मि—मैं मरी, मैं मारी गई; इति—इस प्रकार; अपतत्—गिर पड़ी; भुवि—पृथ्वी पर।

जब धाय उस सोते हुए बच्चे के पास पहुँची तो उसने देखा कि उसकी आँखें ऊपर की ओर उलट गई हैं, उसके शरीर में प्राण का कोई संचार नहीं है और उसकी समस्त इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गई हैं। अतः वह समझ गई कि बालक मर चुका है। यह देखकर वह तुरन्त

चिल्ला उठी, 'हाय मैं मारी गई' और पृथ्वी पर गिर पड़ी।

तस्यास्तदाकर्ण्य भृशातुरं स्वरं
घ्नन्त्याः कराभ्यामुर उच्चकैरपि ।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयात्मजान्तिकं
ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तस्याः—उस ( दासी ) का; तदा—उस समय; आकर्ण्य—सुनकर; भृश-आतुरम्—अत्यन्त कातर एवं क्षुब्ध; स्वरम्—स्वर, आवाज; घ्नन्त्याः—पीट पीटकर; कराभ्याम्—दोनों हाथों से; उरः—छाती; उच्चकैः—तेजी से, जोर जोर से; अपि—भी; प्रविश्य—घुस कर; राज्ञी—रानी; त्वरया—जल्दी जल्दी; आत्मज-अन्तिकम्—अपने पुत्र के निकट; ददर्श—देखा; बालम्—पुत्र को; सहसा—अकस्मात्; मृतम्—मृत, मरा हुआ; सुतम्—पुत्र को।

अत्यन्त विक्षुब्ध होकर वह धाय अपने दोनों हाथों से अपनी छाती पीटने लगी और आर्तस्वर में जोर-जोर से चिल्लाने लगी। उसकी तेज आवाज सुनकर रानी तुरन्त आ गई और जब वह अपने पुत्र के पास पहुँची, तो देखा कि वह सहसा ही मर चुका है।

पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा ।
मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा ॥ ४८॥

शब्दार्थ

पपात—गिर पड़ी; भूमौ—पृथ्वी पर; परिवृद्धया—अत्यधिक; शुचा—शोक के कारण; मुमोह—मूर्च्छित हो गई; विभ्रष्ट—बिखरे हुए; शिरोरुह—बाल, केश; अम्बरा—तथा वस्त्र।

अगाध शोक के कारण रानी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर ऐसे गिर पड़ी कि उस के बाल तथा वस्त्र बिखर गये ।

ततो नृपान्तःपुरवर्तिनो जना
नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम् ।
आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखितास्
ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः ॥ ४९॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; नृप—हे राजा; अन्तःपुर-वर्तिनः—रनिवास के सभी वासी; जनाः—सभी व्यक्ति; नराः—पुरुष; च—तथा; नार्यः—स्त्रियाँ; च—भी; निशम्य—सुनकर; रोदनम्—रोना; आगत्य—आकर; तुल्य-व्यसनाः—समान रूप से

संतप्त होकर; सु-दुःखिताः—अत्यधिक विलखती हुई; ताः—वे; च—तथा; व्यलीकम्—झूठमूठ, ढोंग करके; रुरुदुः—रोने लगीं; कृत-आगसः—अपराध करने ( विष देने ) वाली।

हे राजा परीक्षित! रानी का जोर-जोर से विलखना सुनकर, रनिवास के सभी स्त्री-पुरुष आ पहुँचे। समान रूप से संतप्त होने के कारण रोने लगे। जिन रानियों ने विष दिया था, अपने अपराध को भलीभाँति जानती हुई, वे भी झूठमूठ रोने का ढोंग करने लगीं।

श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं
विनष्टदृष्टिः प्रपतन्स्खलन्पथि ।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं
विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥ ५० ॥
पपात बालस्य स पादमूले
मृतस्य विस्रस्तशिरोरुहाम्बरः ।
दीर्घं श्वसन्बाष्पकलोपरोधतो
निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम् ॥ ५१ ॥

### शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; मृतम्—मरा हुआ; पुत्रम्—पुत्र को; अलक्षित-अन्तकम्—मृत्यु का कारण न ज्ञात होने से; विनष्ट-दृष्टिः—ठीक से देख न सकने से; प्रपतन्—लगातार गिरते पड़ते; स्खलन्—लुढ़कते हुए; पथि—मार्ग पर; स्नेह-अनुबन्ध—स्नेह के कारण; एधितया—अत्यधिक बढ़े हुए; शुचा—शोक से; भृशम्—अत्यधिक; विमूर्च्छितः—मूर्च्छित होकर; अनुप्रकृतिः—अपने मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों के साथ; द्विजैः—विद्वान ब्राह्मणों से; वृतः—घिरे हुए; पपात—गिर पड़ा; बालस्य—लड़के के; सः—वह ( राजा ); पाद-मूले—पाँवों पर; मृतस्य—मृत शरीर के; विस्रस्त—बिखरे हुए; शिरोरुह—बाल; अम्बरः—( तथा ) वस्त्र; दीर्घम्—लम्बी; श्वसन्—श्वास; बाष्प-कला-उपरोधतः—अश्रुपूरित होकर चिल्लाने से; निरुद्ध-कण्ठः—रुँधी हुई वाणी से; न—नहीं; शशाक—समर्थ था; भाषितुम्—बोलने में।

जब राजा चित्रकेतु ने सुना कि न जाने कैसे उसका पुत्र मर गया है, तो वह प्रायः अन्धासा हो गया। पुत्र के प्रति अगाध स्नेह के कारण उसका विलाप जलती हुई अग्नि के समान बढ़ता गया और रास्ते भर वह भूमि पर लगातार गिरता-पड़ता तथा लुढ़कता हुआ उस मृत बालक को देखने गया। अपने मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों एवं विद्वान ब्राह्मणों से घिरा हुआ वह राजा वहाँ पहुँचा और उस बालक के चरणों पर अचेत होकर गिर पड़ा। उसके बाल तथा वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये। जब दीर्घ श्वास लेते हुए राजा को होश आया तो उसके नेत्र आसुओं से भरे हुए थे और वह बोल नहीं पा रहा था।

पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥ ५२ ॥

### शब्दार्थ

पतिम्—पति को; निरीक्ष्य—देखकर; उरु—अत्यधिक; शुच—शोक से; अर्पितम्—पीड़ित; तदा—उस समय; मृतम्—मृत; च—तथा; बालम्—बालक को; सुतम्—पुत्र; एक-सन्ततिम्—परिवार के एकलौते पुत्र को; जनस्य—वहाँ पर एकत्रित समस्त पुरुषों का; राज्ञी—रानी; प्रकृतेः च—तथा अधिकारियों और मंत्रियों का; हृत्-रुजम्—हृदय की पीड़ा; सती दधाना—बढ़ती हुई; विललाप—विलाप करने लगी; चित्रधा—अनेक प्रकार से।.

**जब रानी ने अपने पति राजा चित्रकेतु को अत्यधिक शोकाकुल और अपने एकलौते पुत्र को मरा हुआ देखा तो वह अनेत प्रकार से शोक प्रकट करने लगी। इससे रनिवास के समस्त वासियों, मंत्रियों तथा समस्त ब्राह्मणों के हृदय की व्यथा बढ़ गई।**

स्तनद्वयं कुङ्कुमपङ्कमण्डितं
निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः ।
विकीर्य केशान्विगलत्स्रजः सुतं
शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम् ॥ ५३ ॥

### शब्दार्थ

स्तन-द्वयम्—दोनों स्तन; कुङ्कुम—कुंकुम चूर्ण से ( जिसे स्त्रियाँ अपने स्तनों पर मलती हैं ); पङ्क—अंजन; मण्डितम्—सुशोभित; निषिञ्चती—भिगोती हुई; स-अञ्जन—आँख के काजल से मिलकर; बाष्प—आँसुओं के; बिन्दुभिः—बूँदों से; विकीर्य—बिखर कर; केशान्—बाल; विगलत्—गिर रहा था; स्रजः—जिस पर पुष्प हार; सुतम्—अपने पुत्र के लिए; शुशोच—विलाप करने लगी; चित्रम्—भाँति-भाँति से; कुररी इव—कुररी पक्षी की तरह; सु-स्वरम्—अत्यन्त मधुर स्वर में।.

**रानी के सिर को सुशोभित करने वाली फूलों की माला गिर पड़ी और उसके बाल बिखर गये। उसके आँसुओं से नेत्रों में लगा अंजन धुल गया और कुंकुम चूर्ण से लेपित उसके स्तन भीग गये। पुत्र की मृत्यु पर शोक करती हुई उस रानी का दारुण विलाप कुररी पक्षी के आर्त स्वर की तरह लग रहा था।**

अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो

यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परे नु जीवत्यपरस्य या मृति-
र्विपर्ययश्चेत्त्वमसि ध्रुवः परः ॥ ५४॥

शब्दार्थ

अहो—ओह ( शोक में ); विधातः—हे विधाता, ईश्वर; त्वम्—तुम ( तू ); अतीव—अत्यन्त; बालिशः—मूर्ख; यः—जो; तु—निस्सन्देह; आत्म-सृष्टि—अपनी स्वयं बनाई हुई सृष्टि के; अप्रतिरूपम्—प्रतिकूल; ईहसे—कार्य करते तथा इच्छा करते हैं; परे—पिता या अन्य बड़ा; नु—निस्सन्देह; जीवति—जीवित रहता है; अपरस्य—बाद में जन्म लेने वाले का; या—जो; मृतिः—मृत्यु; विपर्ययः—विपरीत; चेत्—यदि; त्वम्—तुम; असि—हो; ध्रुवः—निस्सन्देह; परः—वैरी, शत्रु।

**हे विधाता, हे सृष्टिकर्ता! तू निश्चय ही अपने सृष्टि-कार्य में अनुभव-हीन है क्योंकि पिता के रहते हुए तूने उसके पुत्र की मृत्यु होने दी और इस तरह से अपनी ही सृष्टि के नियमों के विपरीत कार्य किया है। यदि तू नियमभंग करने पर ही तुला है, तो तू निश्चय ही समस्त जीवात्माओं का शत्रु है और निर्दयी है।**

**तात्पर्य :** जब बद्धजीव की पराजय होती है, तो वह इसी प्रकार से विधाता को धिक्कारता है। कभी वह श्रीभगवान् पर कुटिल होने का दोषारोपण करता है क्योंकि कुछ व्यक्ति सुखी हैं और कुछ नहीं। यहाँ पर रानी परमेश्वर को अपने पुत्र की मृत्यु के लिए दोष देती है। सृष्टि के नियमानुसार पिता को पहले मरना चाहिए, तब पुत्र को। यदि परमेश्वर अपनी सनक से इन नियमों को बदल देता है, तो उसे दयालु नहीं माना जा सकता, वरन् उसे मनुष्यों का शत्रु मानना चाहिये। वास्तव में विधाता नहीं, वरन् बद्धजीव ही अनुभवहीन (मूर्ख) है। उसे इसका ज्ञान नहीं है कि सकाम कर्म के सूक्ष्म नियम किस प्रकार कार्य करते हैं। वह इनको जाने बिना अज्ञानतावश पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आलोचना करता है।

न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः
शरीरिणामस्तु तदात्मकर्मभिः ।
यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये
स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि ॥ ५५॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; क्रमः—तिथिक्रम; चेत्—यदि; इह—इस भौतिक जगत में; मृत्यु—मृत्यु; जन्मनोः—तथा जन्म का; शरीरिणाम्—बद्धजावों का जिन्होंने देह धारण करना स्वीकार किया है; अस्तु—हो; तत्—वह; आत्म-कर्मभिः—

अपने अपने कर्मों के फलों के द्वारा; यः—जो; स्नेह-पाशः—स्नेह बन्धन; निज-सर्ग—अपनी सृष्टि; वृद्धये—बढ़ाने के लिए; स्वयम्—अपने आप; कृतः—बनाई हुई; ते—तुम्हारे द्वारा; तम्—उसे; इमम्—यह; विवृश्चसि—तुम काट रहे हो।.

**हे ईश्वर! आप यह कह सकते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि पुत्र के जीवनकाल में ही पिता की मृत्यु हो और पिता के जीवन काल में ही पुत्र उत्पन्न हो, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार जीता और मरता है। फिर भी, यदि कर्म इतना प्रबल है कि जन्म तथा मृत्यु उसी पर निर्भर करते हों तो फिर नियन्ता या ईश्वर की आवश्यकता नहीं है? पुनः यदि तू कहे कि नियन्ता की आवश्यकता इसलिए है, क्योंकि माया में कार्य करने की शक्ति नहीं होती, तो कोई यह भी तो कह सकता है कि यदि कर्म के द्वारा तेरे बनाये हुए स्नेह-बंधन टूटते हैं, तो कोई भी संतान को स्नेहपूर्वक नहीं पालेगा वरन् सभी लोग अपनी संतानों की निर्दयता से उपेक्षा करने लगेंगे। चूँकि तूने स्नेह के उन बंधनों को काटा है, जिसके वशीभूत होकर माता-पिता अपनी सन्तान का पालन-पोषण करने के लिए विवश हो जाते हैं, इसलिए तू अनुभवहीन एवं बुद्धिहीन प्रतीत होता है।**

**तात्पर्य :** जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्*—"जिसने कृष्ण-भक्ति ग्रहण कर रखी है, उसे कर्म फल प्रभावित नहीं कर पाते।" इस श्लोक में 'कर्म' पर अत्यधिक बल दिया गया है, जो कर्म-मीमांसा-दर्शन पर आधारित है। इस दर्शन के अनुसार मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार कार्य करना चाहिए और परम नियंता कर्म का फल अवश्य देगा। परमेश्वर द्वारा नियंत्रित होने वाले कर्म के सूक्ष्म नियमों को सामान्य बद्धजीव नहीं समझ सकता। इसलिए कृष्ण का कथन है कि जो यह समझ सकता है कि वे किस प्रकार कार्य करते हैं और इन सूक्ष्म नियमों से प्रत्येक वस्तु पर नियंत्रण रखते हैं वह उनके अनुग्रह से तुरन्त मुक्त हो जाता है। यही *ब्रह्म-संहिता* का कथन है (*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्*)। मनुष्य को चाहिए कि बिना किसी हिचक के भक्ति करे और ईश्वर की परम इच्छा पर हर काम छोड़ दे। इससे वह इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुखी रह सकेगा।

त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां
त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम् ।
अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं यद्
ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम् ॥ ५६ ॥

### शब्दार्थ

त्वम्—तुम्हें; तात—हे पुत्र; न—नहीं; अर्हसि—चाहिए; च—तथा; माम्—मुझ; कृपणाम्—अत्यन्त दीन को; अनाथाम्—रक्षकविहीन, अनाथ को; त्यक्तुम्—छोड़ना; विचक्ष्व—देखो; पितरम्—पिता को; तव—तुम्हारे; शोक-तप्तम्—शोक संतप्त; अञ्जः—सरलतापूर्वक; तरेम—हम पार कर सकते हैं; भवता—तुम्हारे द्वारा; अप्रज-दुस्तरम्—बिना पुत्र के पार करना दुष्कर; यत्—जो; ध्वान्तम्—अंधकार का राज्य; न याहि—दूर मत जाओ; अकरुणेन—निर्दय, क्रूर; यमेन—यमराज के साथ; दूरम्—दूर।

**प्यारे बेटे! मैं असहाय एवं अत्यधिक शोकाकुल हूँ? तुम्हें मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहिए। तुम अपने शोकाकुल पिता की ओर तो देखो। हम ( दोनों ) असहाय हैं क्योंकि पुत्र के बिना हमें घोर नरक में यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। तुम्हीं एकमात्र सहारा हो जिसके बल पर हम इस अंधकारमय प्रदेश से उबर सकते हैं; अतः मेरी प्रार्थना है कि तुम निर्दयी यमराज के साथ और आगे न जाओ।**

**तात्पर्य :** वैदिक आदेशानुसार मनुष्य को पत्नी स्वीकार करनी चाहिये जिससे वह पुत्र उत्पन्न करके अपने को यमराज के चंगुल से छुड़ा सके। जब तक पितरों को पिंडदान करने के लिए पुत्र नहीं होता, तब तक यमराज के लोक में यातना सहनी पड़ती है। राजा चित्रकेतु यह सोचकर अत्यन्त शोकाकुल था कि उनका पुत्र यमराज के साथ चला जा रहा है, अत: उन्हें पुनः यातना सहनी होगी। ये सूक्ष्म नियम कर्मियों पर लागू होते हैं। यदि मनुष्य भक्त बन जाता है, तो कर्म के नियम उस पर लागू नहीं होते।

उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्या-
स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम् ।
सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान्परीतो
भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानाम् ॥ ५७॥

### शब्दार्थ

उत्तिष्ठ—उठो; तात—मेरे प्यारे बेटे; ते—वे; इमे—ये सब; शिशवः—बालक; वयस्याः—साथी, संगी; त्वाम्—तुमको; आह्वयन्ति—बुला रहे हैं; नृप-नन्दन—हे राजपुत्र; संविहर्तुम्—तुम्हारे साथ खेलने के लिए; सुप्तः—तुम सोये हुए हो; चिरम्—देर से; हि—निस्सन्देह; अशनया—भूख से; च—भी; भवान्—आप; परीतः—परास्त; भुङ्क्ष्व—खाओ; स्तनम्—( अपनी माँ के ) स्तनों को; पिब—पियो; शुचः—शोक; हर—हरो, दूर करो; नः—हमारा; स्वकानाम्—सम्बन्धियों के।

**प्यारे बेटे! तुम बहुत देर से सो रहे हो। अब उठ जाओ। तुम्हारे संगी तुम्हें खेलने के लिए बुला रहे हैं। चूँकि तुम्हें बहुत भूख लगी होगी इसलिए उठो, मेरे स्तनों से दूध पिओ और हमारा शोक दूर करो।**

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम् ।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकं
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥ ५८ ॥

### शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैंने; तनू-ज—( मेरे शरीर से उत्पन्न ) मेरे प्यारे पुत्र; ददृशे—देखा; हत-मङ्गला—हतभाग्य होने से; ते—तुम्हारा; मुग्ध-स्मितम्—मनोहर हँसी से युक्त; मुदित-वीक्षणम्—बन्द नेत्रों से; आनन-अब्जम्—कमल तुल्य मुख; किं वा—अथवा; गतः—चले गये; असि—हो; अ-पुनः-अन्वयम्—जहां से फिर कोई नहीं लौटता; अन्य-लोकम्—अन्य लोक अथवा यमलोक को; नीतः—ले जाये जाकर; अघृणेन—क्रूर यमराज द्वारा; न—नहीं; शृणोमि—सुनती हूँ; कलाः—अत्यन्त मधुर; गिरः—तोतली बोली; ते—तुम्हारी।

**प्रिय पुत्र! मैं सचमुच अभागिनी हूँ क्योंकि मैं अब तुम्हारे मुख पर मन्द हँसी नहीं देख सकती हूं। तुमने सदा के लिए आँखें बन्द कर ली हैं; अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि तुम इस लोक से दूसरे लोक में ले जाये गये हो जहाँ से तुम लौट नहीं पाओगे। बेटे! मैं तुम्हारी मनमोहक वाणी अब और आगे नहीं सुन सकती हूँ।**

श्रीशुक उवाच
विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः ।
चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥ ५९ ॥

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी बोले; विलपन्त्या—विलाप करती पत्नी के साथ; मृतम्—मृत; पुत्रम्—पुत्र के लिए; इति—इस प्रकार; चित्र-विलापनैः—अनेक प्रकार से विलाप करते हुए; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; भृशम्—अत्यधिक; तप्तः—व्याकुल; मुक्त-कण्ठः—फूट-फूट कर; रुरोद—रोने लगा; ह—निस्सन्देह।

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार अपने प्रिय पुत्र के लिए विलाप करती हुई अपनी पत्नी के साथ ही राजा चित्रकेतु भी अत्यन्त शोक से संतप्त होकर फूट-फूट कर रोने लगा।**

**तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः ।**
**रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम् ॥ ६० ॥**

**शब्दार्थ**

तयोः—उन दोनों के; विलपतोः—विलाप करते हुए; सर्वे—सभी; दम्-पत्योः—अपनी पत्नी सहित राजा; तत्-अनुव्रताः—उनके अनुयायी; रुरुदुः—जोर-जोर से रोने लगे; स्म—निस्सन्देह; नराः—पुरुष; नार्यः—नारियाँ, स्त्रियाँ; सर्वम्—समस्त राज्य; आसीत्—हो गया; अचेतनम्—अचेत सा।

**राजा तथा रानी को विलाप करते देखकर उनके समस्त अनुयायी स्त्री तथा पुरुष भी रोने लगे। इस आकस्मिक घटना से राज्य-भर के सभी नागरिक अचेत-से हो गये।**

**एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् ।**
**ज्ञात्वाङ्गिरा नाम ऋषिराजगाम सनारदः ॥ ६१ ॥**

**शब्दार्थ**

एवम्—इस प्रकार; कश्मलम्—वेदना; आपन्नम्—प्राप्त करके; नष्ट—गत, रहित; संज्ञम्—चेतना; अनायकम्—असहाय; ज्ञात्वा—जानकर; अङ्गिराः—अंगिरा; नाम—नामक; ऋषिः—साधु पुरुष; आजगाम—आ गये; स-नारदः—नारद मुनि के साथ।

**जब ऋषि अंगिरा ने समझ लिया कि राजा शोक-समुद्र में मृत-प्राय हो चुका है, तो वे नारद ऋषि के साथ वहाँ गये।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''राजा चित्रकेतु का शोक'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter पन्द्रह

# नारद तथा अंगिरा ऋषियों द्वारा राजा चित्रकेतु को उपदेश

इस अध्याय में अंगिरा ऋषि नारद सहित राजा चित्रकेतु को ढाँढस बँधाते हैं। वे दोनों राजा

को अत्यधिक शोक से विमुक्त करने और उसे जीवन के आध्यात्मिक महत्त्व के विषय में उपदेश देने के लिए आये थे।

अंगिरा मुनि तथा नारद मुनि ने बताया कि पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है; यह माया का प्रदर्शन मात्र है। यह सम्बन्ध न तो पहले था, न भविष्य में रहेगा। काल की व्यवस्था से इस सम्बन्ध का अस्तित्व वर्तमान काल में ही रहता है। मनुष्य को क्षणिक सम्बन्धों के लिए शोक नहीं करना चाहिए। सम्पूर्ण दृश्य जगत क्षणिक है; यद्यपि यह असत्य नहीं है, किन्तु फिर भी यह वास्तविक नहीं है। भगवान् के आदेश से इस संसार में उत्पन्न प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर है। अस्थायी व्यवस्था से पिता के पुत्र उत्पन्न होता है या जीवात्मा तथाकथित पिता का पुत्र बनता है। यह अस्थायी व्यवस्था परमेश्वर द्वारा की जाती है। न तो पिताका, न ही पुत्र का कोई स्वतंत्र अस्तित्व होता है।

जब राजा ने इन ऋषियों का उपदेश सुना तो उसे मिथ्या शोक से राहत मिली और तब उसने उनका परिचय जानना चाहा। उन ऋषियों ने अपना परिचय दिया और उपदेश दिया कि सारे कष्टों की जड़ यह देहात्मबुद्धि है। जब मनुष्य आध्यात्मिक बोध प्राप्त कर लेता है और अपने को परम पुरुष भगवान् को समर्पण कर देता है तब वह सचमुच सुखी हो जाता है। जब मनुष्य भौतिक पदार्थ में सुख की खोज करता है, वह निश्चय ही देह-धारी सम्बन्धों के लिए शोक करता है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध का आत्म-बोध; ऐसे बोध से मनुष्य के दुखी भौतिक जीवन का अन्त हो जाता है।

**श्रीशुक उवाच**
**ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम् ।**
**शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः ॥ १ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; ऊचतुः—वे बोले; मृतक—मृत शरीर; उपान्ते—निकट; पतितम्—गिरा हुआ; मृतक-उपमम्—शव के तुल्य; शोक-अभिभूतम्—शोक से अत्यधिक संतप्त; राजानम्—राजा को; बोधयन्तौ—उपदेश देकर; सत्-उक्तिभिः—उपदेशों से, जो क्षणिक नहीं वरन् वास्तविक हैं।.

**श्री शुकदेव गोस्वामी बोले—जब राजा चित्रकेतु शोकग्रस्त होकर अपने पुत्र के शव के निकट पड़े मृतप्राय हुए थे तो नारद तथा अंगिरा नामक दो महर्षियों ने उन्हें आध्यात्मिक चेतना के सम्बन्ध में इस प्रकार उपदेश दिया।**

**कोऽयं स्यात्तव राजेन्द्र भवान्यमनुशोचति ।**
**त्वं चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम् ॥ २ ॥**

### शब्दार्थ

कः—कौन; अयम्—यह; स्यात्—है; तव—तुम्हारे लिए; राज-इन्द्र—राजाओं में श्रेष्ठ; भवान्—आप; यम्—जिसको; अनुशोचति—शोक कर रहे हो; त्वम्—तुम; च—और; अस्य—उसका ( शव का ); कतमः—कौन; सृष्टौ—जन्म में; पुरा—गत; इदानीम्—इस समय; अतः परम्—अतः.

**हे राजन्! जिस शव के लिए तुम शोक कर रहे हो उसका तुमसे और तुम्हारा उसके साथ क्या सम्बन्ध है? तुम कह सकते हो कि इस समय तुम पिता हो और वह पुत्र है, किन्तु क्या तुम सोचते हो कि यह सम्बन्ध पहले भी था? क्या सचमुच अब भी यह सम्बन्ध है? क्या यह भविष्य में भी बना रहेगा?**

**तात्पर्य :** नारद तथा अंगिरा मुनि ने जो उपदेश दिये वे मोहग्रस्त बद्धजीव के लिए वास्तविक आध्यात्मिक उपदेश हैं। यह संसार अस्थायी है, किन्तु अपने पूर्वकर्मों के कारण हम यहाँ आते हैं और शरीर धारण करते हैं और समाज, मैत्री, प्रेम, राष्ट्रीयता तथा जन-समूह के रूप में अस्थायी सम्बन्धों की सृष्टि करते हैं, जो मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। ये अस्थायी सम्बन्ध न तो भूतकाल में थे और न भविष्य में रहेंगे। अतः वर्तमान समय में ये तथाकथित सम्बन्ध छलावा हैं।

**यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः ।**
**संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥ ३ ॥**

### शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; प्रयान्ति—विलग होते; संयान्ति—पास पास आते हैं; स्रोत:-वेगेन—लहरों के वेग से; बालुका:—बालू के सूक्ष्म कण; संयुज्यन्ते—परस्पर जुड़ते; वियुज्यन्ते—पृथक् होते हैं; तथा—उसी प्रकार; कालेन—काल के द्वारा; देहिन:—देहधारी जीवात्माएँ।

**हे राजन्! जिस प्रकार बालू के छोटे-छोटे कण लहरों के वेग से कभी एक दूसरे के निकट आते हैं और कभी विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार से देहधारी जीवात्माएँ काल के वेग से कभी मिलती हैं, तो कभी बिछुड़ जाती हैं।**

**तात्पर्य :** बद्धजीव के अज्ञान का कारण उसकी देहात्मबुद्धि है। यह देह भौतिक है, किन्तु देह के भीतर आत्मा है। यही आत्म-ज्ञान है। दुर्भाग्यवश सांसारिक मोहवश जो व्यक्ति अज्ञान में रहता है, वह देह को ही आत्मा मान लेता है। उसे यह ज्ञात नहीं हो पाता कि देह पदार्थ-स्वरूप है। ये देहें बालू के छोटे-छोटे कणों के समान एक दूसरे के निकट आती और पुन: कालवेग से पृथक् हो जाती हैं। लोग झूठे ही संयोग या वियोग के लिए शोक करते हैं। जब तक वे इसे समझ नहीं लेते तब तक सुख का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: *भगवद्गीता* (२.१३) में भगवान् श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम उपदेश यही है—

*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।*

*तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥*

"जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से बालपन, यौवन और वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी तरह मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपसिद्ध धीर पुरुष इस से मोहित नहीं होता।" हम देह नहीं हैं वरन् हम तो इस देह में बन्दी बने आध्यत्मिक जीव हैं। हमारी वास्तविक रुचि इस सामान्य तथ्य को जान लेने में है। तभी हम आगे आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। अन्यथा यदि हम देहात्म-बुद्धि में बने रहते हैं। तो हमारा दयनीय भौतिक अस्तित्व सदा-सर्वदा के लिए बना रहेगा। हम शान्ति तथा सुख के लिए कितना ही राजनीतिक तालमेल, सामाजिक कल्याणकार्य, चिकित्सा-सहायता तथा अन्य कार्यक्रम क्यों न बना लें, यह कभी नहीं चल सकता। हमें एक-एक करके भौतिक जीवन के सभी कष्ट उठाने ही होंगे। इसलिए भौतिक

जीवन को *दु:खालयं शाश्वतं* अर्थात् दुखों का आगार कहा गया है।

**यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च ।**
**एवं भूतानि भूतेषु चोदितानीशमायया ॥ ४॥**

### शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; धानासु—धान के बीजों से; वै—निस्सन्देह; धाना:—अन्न; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; न—नहीं; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; च—भी; एवम्—इस प्रकार; भूतानि—जीवात्माएँ; भूतेषु—अन्य जीवों में; चोदितानि—बाध्य; ईश-मायया—श्रीभगवान् की शक्ति के द्वारा।.

**जब बीजों को धरती में बोया जाता है, तो वे कभी तो उगते हैं और कभी नहीं उगते। कभी धरती उपजाऊ नहीं रहती जिससे बीजों का बोना निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति से बाध्य होने पर भावी पिता को कभी सन्तान की प्राप्ति होती है, तो कभी गर्भ ही नहीं रहता। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह माता-पिता जैसे बनावटी सम्बन्ध के लिए शोक न करे, क्योंकि अन्तत: इसका नियंत्रण परमेश्वर के हाथों में रहता है।**

**तात्पर्य :** वास्तव में महाराज चित्रकेतु को पुत्र प्राप्त ही नहीं होना था। यद्यपि उसने सैकड़ों हजारों स्त्रियों से विवाह किया, किन्तु वे सभी बाँझ निकलीं और उनसे एक भी पुत्र उत्पन्न नहीं हो सका। जब अंगिरा ऋषि राजा से भेंट करने आये तो राजा ने विनय की कि उसे कम से कम एक पुत्र की प्राप्ति हो जाए। अंगिरा ऋषि के आशीर्वाद से, माया ने अनुग्रह करके एक पुत्र प्रदान किया, किन्तु इस बालक को अधिक काल तक जीवित नहीं रहना था। इसलिए अंगिरा ऋषि ने प्रारम्भ में ही राजा से यह कह दिया था कि उसे पुत्र मिलेगा किन्तु वह उसके हर्ष और शोक का कारण बनेगा।

परमात्मा या विधाता की इच्छा नहीं थी कि चित्रकेतु को कोई सन्तान हो। जिस प्रकार भुने हुए अन्न से अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता, उसी प्रकार परमेश्वर की इच्छा से नपुंसक पुरुष के कोई सन्तान नहीं हो सकती। कभी कभी नपुंसक पिता और बाँझ माता से भी सन्तान उत्पन्न हो जाती है, तो कभी पुंसत्व को प्राप्त पिता तथा उर्वर माता से भी सन्तान उत्पन्न नहीं हो पाती। निस्सन्देह,

कभी-कभी गर्भनिरोधक विधियों का प्रयोग करने पर भी सन्तान उत्पन्न हो जाती है, जिससे माता-पिता उसे गर्भ में ही मार देते हैं। इस युग में तो भ्रूण-हत्या (गर्भ में ही सन्तान का वध) सर्वसामान्य बन चुकी है। ऐसा क्यों है? गर्भनिरोधक-विधियों के बावजूद भी ऐसा क्यों होता है? कभी-कभी सन्तान क्यों उत्पन्न होती है, जिस से माता पिता को गर्भ में ही उसका वध करना पड़ता है? इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि हमारी तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान की व्यवस्था यह निश्चित नहीं कर पाती कि क्या होने वाला है; जो कुछ भी होता है, वह तो वास्तव में परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है। ईश्वर की इच्छा मात्र से हम परिवार, समुदाय तथा व्यक्तित्व जैसी व्यवस्थाओं में स्थित हैं। ये सारी व्यवस्थाएँ माया के अधीन हमारी इच्छाओं के अनुसार ही परमेश्वर द्वारा सम्पन्न होती हैं। अत: भक्तिकाल में मनुष्य को निष्काम होना चाहिए, क्योंकि सब कुछ भगवान् पर ही निर्भर है। *भक्ति रसामृतसिन्धु* (१.१.११) में कहा गया है—

*अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यिनावृतम्।*

*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् भक्तिरुत्तमा॥*

''मनुष्य को चाहिये कि सकाम कर्म अथवा मानसिक ऊहापोह से जनित ज्ञान द्वारा भौतिक लाभ-प्राप्ति की इच्छा बिना, अनुकूल भाव से भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेममयी सेवा करे। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।'' मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभक्ति को बढ़ाने के लिए कर्म करे। अन्य बातों के लिए उसे पूरी तरह परम पुरुष पर निर्भर रहना चाहिए। हमें कभी भी ऐसी योजनाएँ नहीं बनानी चाहिए जिससे हमें अन्तत: उद्विग्न होना पड़े।

**वयं च त्वं च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचरा: ।**
**जन्ममृत्योर्यथा पश्चात्प्राङ्नैवमधुनापि भो: ॥ ५ ॥**

### शब्दार्थ

**वयम्—हम ( बड़े-बड़े साधु तथा मंत्री एवं राजा के अनुयायी ); च—तथा; त्वम्—तुम; च—भी; ये—जो; च—भी; इमे—ये; तुल्य-काला:—समकालीन; चर-अचरा:—समस्त स्थावर तथा जंगम; जन्म—जन्म; मृत्यो:—( तथा ) मृत्यु;**

यथा—जिस प्रकार; पश्चात्—बाद में; प्राक्—पहले; न—नहीं; एवम्—इस प्रकार; अधुना—इस समय; अपि—यद्यपि; भोः—हे राजन्!.

**हे राजन्! तुम तथा हम अर्थात् तुम्हारे परामर्शदाता, पत्नियाँ एवं मंत्री और समस्त सम्पूर्ण जगत में इस समय जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे सभी क्षणभंगुर हैं। यह स्थिति न तो हमारे जन्म के पूर्व थी और न हमारी मृत्यु के पश्चात् रहेगी। अतः इस समय हमारी स्थिति क्षणिक ( अस्थायी ) है, यद्यपि वह मिथ्या नहीं है।**

**तात्पर्य :** मायावादी दार्शनिकों का कहना है : *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—ब्रह्म अर्थात् जीव तो सत्य है, किन्तु उसकी वर्तमान दैहिक स्थिति मिथ्या है। वैष्णव दर्शन के अनुसार वर्तमान स्थिति क्षणिक है, मिथ्या नहीं। यह स्वप्न-तुल्य है। मनुष्य के सो जाने से पूर्व स्वप्न का अस्तित्व नहीं होता न ही उसके जग जाने के पश्चात् रहता है। स्वप्न का अस्तित्व तो इन दोनों स्थितियों के मध्य में रहता है, अतः यह अस्थायी होने के कारण मिथ्या है। इसी प्रकार यह समस्त भौतिक सृष्टि जिसमें हमारी अपनी सृष्टि तथा दूसरों की सृष्टियाँ सम्मिलित हैं, अस्थायी हैं। स्वप्न की स्थिति के लिए न तो सोने के पूर्व और न जागने के पश्चात् ही हम शोक व्यक्त करते हैं। स्वप्न की स्थिति को अथवा स्वप्न जैसी स्थिति को हमें वास्तविक नहीं मान लेना चाहिए, न ही उसके लिए शोक करना चाहिए। यही वास्तविक ज्ञान हैं।

**भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्ति च ।**
**आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत् ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

भूतैः—कुछ जीवों से; भूतानि—अन्य जीवात्माओं को; भूत-ईशः—सबके स्वामी, श्रीभगवान्; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; हन्ति—मारता है; च—भी; आत्म-सृष्टैः—अपने द्वारा उत्पन्न; अस्वतन्त्रैः—पराधीन; अनपेक्षः—( सृष्टि में ) न रुचि रखने से; अपि—यद्यपि; बाल-वत्—बालक के समान।.

**सबों के स्वामी तथा प्रत्येक वस्तु के मालिक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् निश्चय ही क्षणिक दृश्य जगत में तनिक भी रुचि नहीं रखते। तो भी जिस प्रकार समुद्र के किनारे पर बैठा हुआ बालक अनचाही किसी न किसी वस्तु ( घरौंदा ) को बनाता है उसी प्रकार से भगवान्**

**प्रत्येक वस्तु को अपने वश में रखते हुए सृजन, पालन तथा संहार का कार्य करते रहते हैं। वे पिता से पुत्र उत्पन्न कराकर सृष्टि करते हैं, प्रजा के कल्याण हेतु सरकार या राजा नियुक्त करके पालन करते हैं तथा सर्प जैसे माध्यमों से संहार करते हैं। सृजन, पालन तथा संहारकर्ता माध्यमों की कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं होती, किन्तु माया के सम्मोहन से वे अपने को कर्त्ता, पालक तथा संहारक मान बैठते हैं।**

**तात्पर्य :** किसी में यह सामर्थ्य नहीं कि वह वास्तव में स्वतंत्र रूप से सृजन, पालन तथा संहार कर सके। अत: *भगवद्गीता* (३.२७) का कथन है—

*प्रकृते: क्रियामाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।*

*अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥*

''प्रकृति के तीन गुणों से भ्रमित होकर मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को ही कर्त्ता मान बैठता है, जब कि समस्त कर्म वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पादित होते हैं।'' श्रीभगवान् के निर्देश से प्रकृति गुणों के अनुसार जीवात्माओं को सृजन, पालन तथा संहार के लिए प्रेरित करती है। किन्तु परमात्मा तथा उसकी प्रतिनिधि प्रकृति से अनजान रहकर जीवात्मा अपने को कर्त्ता मान बैठता है। वास्तव में वह कर्त्ता है ही नहीं। मनुष्य को परमकर्त्ता परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। इस समय संसार में जो असन्तोष छाया हुआ है, उसका कारण नेताओं की अविद्या है, जो यह भूल जाते हैं कि श्रीभगवान् ने उन्हें कार्य करने के लिए भेजा है। चूँकि उन्हें ईश्वर ने नियुक्त किया है इसलिए उन्हें चाहिए कि उनसे परामर्श लेकर तदनुसार कार्य करें। परामर्श के लिए भगवद्गीता नामक ग्रन्थ है, जिस में परमेश्वर ने सारे निर्देश दे रखे हैं। अत: जिन्हें ईश्वर ने सृजन, पालन तथा संहार कार्यों के लिए नियुक्त कर रखा है, उन्हें चाहिए कि ईश्वर से परामर्श लेकर उसी के अनुसार कार्य करें। तब प्रत्येक व्यक्ति सन्तुष्ट रहेगा और कोई अव्यवस्था नहीं फैलेगी।

**देहेन देहिनो राजन्देहाद्देहोऽभिजायते ।**
**बीजादेव यथा बीजं देह्यर्थ इव शाश्वतः ॥ ७॥**

शब्दार्थ

देहेन—शरीर से; देहिनः—शरीर ( माता के ) में; राजन्—हे राजन्; देहात्—शरीर से ( माता के ); देहः—अन्य शरीर; अभिजायते—उत्पन्न होता है; बीजात्—एक बीज से; एव—निस्सन्देह; यथा—जिस प्रकार; बीजम्—अन्य बीज; देही—भौतिक शरीरधारी मनुष्य; अर्थः—भौतिक तत्त्व; इव—सदृश; शाश्वतः—शाश्वत.

**हे राजन्! जिस प्रकार एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार एक शरीर ( पिता के शरीर ) द्वारा अन्य ( माता के ) शरीर के माध्यम से एक तीसरा ( पुत्र का ) शरीर उत्पन्न होता है। जैसे भौतिक शरीर के तत्त्व नित्य हैं, वैसे ही इन भौतिक तत्त्वों से प्रकट होने वाली जीवात्मा भी नित्य है।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* से यह पता चलता है कि शक्तियाँ दो प्रकार की हैं—उत्कृष्ट (परा) शक्ति तथा निकृष्ट (अपरा) शक्ति। निकृष्ट शक्ति के अन्तर्गत पाँच स्थूल तथा तीन सूक्ष्म भौतिक तत्त्व आते हैं। जीवात्मा जो उत्कृष्ट शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है इन्हीं तत्त्वों के द्वारा भौतिक शक्ति की देख रेख में विभिन्न शरीरों में प्रकट होती है। वास्तव में भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ—पदार्थ तथा आत्मा—नित्य रूप में श्रीभगवान् की शक्तियाँ हैं। शक्तिमय तत्त्व परम पुरुष हैं। चूँकि आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् जीव परमात्मा का अंश है और इस भौतिक जगत का भोग करना चाहता है इसलिए ईश्वर उसे छूट देता है कि वह विभिन्न शरीर धारण करके विभिन्न अवस्थाओं में सुख या दुख का भोग करे। वास्तव में यह आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् जीवात्मा, परमेश्वर की सृष्टि है। तथाकथित माता तथा पिता का जीव से कुछ लेना-देना नहीं रहता। जीव अपनी रुचि तथा कर्म के फलस्वरूप तथाकथित माता-पिता के माध्यम से विभिन्न शरीर धारण करता है।

**देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा ।**
**जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः ॥ ८॥**

शब्दार्थ

देह—इस शरीर का; देहि—तथा शरीर धारण करनेवाला; विभागः—विभाजन; अयम्—यह; अविवेक—अविद्या से; कृतः—निर्मित; पुरा—अनादि काल से; जाति—वर्ण या जाति; व्यक्ति—तथा व्यक्ति का; विभागः—विभाजन; अयम्—यह; यथा—जिस प्रकार; वस्तुनि—आदि वस्तु में; कल्पितः—कल्पना किया हुआ।

**राष्ट्रीयता तथा व्यक्तिगत सत्ता जैसे सामान्य तथा विशिष्ट विभाजन उन व्यक्तियों की कल्पनाएँ हैं, जो उन्नत ज्ञानी नहीं हैं।**

**तात्पर्य :** वास्तव में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक। वे दोनों नित्य हैं क्योंकि उनका उदय परमेश्वर अर्थात् परम सत्य से होता है। चूँकि व्यक्तिगत आत्मा अर्थात् जीवात्मा चिरकाल से अपनी मूल सत्ता को भूल कर विस्मृति में कार्य करना चाहता है, इसलिए वह विभिन्न शरीर धारण करता हुआ राष्ट्रीयता, समुदाय, समाज, प्रजाति आदि अनेक विभागों से जाना जाता है।

श्रीशुक उवाच
**एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।**
**विमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत ॥ ९ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आश्वासितः—आश्वासन दिये जाने पर, समझाने-बुझाने पर; राजा—राजा; चित्रकेतुः—चित्रकेतु ने; द्विज-उक्तिभिः—( नारद तथा अंगिरा जैसे ) ब्राह्मणों के उपदेश से; विमृज्य—पोंछ कर; पाणिना—हाथ से; वक्त्रम्—मुख; आधि-म्लानम्—शोक के कारण मुरझाया; अभाषत—बुद्धिमानी के साथ कहा।

**श्री शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—नारद तथा अंगिरा द्वारा इस प्रकार समझाये-बुझाये जाने पर राजा चित्रकेतु को ज्ञान के कारण आशा बँधी। राजा अपने हाथ से अपना मुरझाया मुखमण्डल पोंछते हुए कहने लगा।**

श्रीराजोवाच
**कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम् ।**
**अवधूतेन वेषेण गूढाविह समागतौ ॥ १० ॥**

### शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा चित्रकेतु बोला; कौ—कौन; युवाम्—तुम दोनों; ज्ञान-सम्पन्नौ—ज्ञान से पूर्ण; महिष्ठौ—सर्वश्रेष्ठ; च—भी; महीयसाम्—अन्य महापुरुषों में; अवधूतेन—अवधूत के; वेषेण—वेष में; गूढौ—छिपे हुए; इह—इस स्थान पर; समागतौ—आये हुए।

**राजा चित्रकेतु ने कहा—आप दोनों अपनी पहचान को छुपाए हुए अवधूत वेश में यहाँ**

आये हैं, किन्तु मैं देख रहा हूँ कि सभी पुरुषों में आप दोनों परम ज्ञानवान् हैं। आप सब कुछ जानते हैं, अतः समस्त महापुरुषों से भी आप महान् हैं।

चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः ।
मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

चरन्ति—विचरण करते हैं; हि—निस्सन्देह; अवनौ—पृथ्वी पर; कामम्—इच्छानुसार; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण; भगवत्-प्रियाः—श्रीभगवान् के अत्यन्त प्रिय, वैष्णव भी; मा-दृशाम्—मुझ जैसे; ग्राम्य-बुद्धीनाम्—क्षणिक भौतिक चेतना से ग्रस्त; बोधाय—उपदेश करने के लिए; उन्मत्त-लिङ्गिनः—प्रमत्त का-सा वेष बनाये हुए।.

श्रीकृष्ण के सर्वाधिक प्रिय सेवक, ब्राह्मणजन, जो वैष्णव पद को प्राप्त हैं, कभी-कभी अवधूतों जैसा वेष बना लेते हैं और हम जैसे भौतिकतावादियों को, जो इन्द्रियतृप्ति में सदैव आसक्त रहते हैं, लाभ पहुँचाने एवं उनकी अविद्या दूर करने के लिए अपनी इच्छानुसार भूमण्डल पर विचरण करते रहते हैं।

कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः ।
अपान्तरतमा व्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः ॥ १२ ॥
वसिष्ठो भगवान्रामः कपिलो बादरायणिः ।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातुकर्णस्तथारुणिः ॥ १३ ॥
रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः ।
ऋषिर्वेदशिरा धौम्यो मुनिः पञ्चशिखस्तथा ॥ १४॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः ।
एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कुमारः—सनत्कुमार; नारदः—नारद मुनि; ऋभुः—ऋभु; अङ्गिराः—अंगिरा; देवलः—देवल; असितः—असित; अपान्तरतमाः—अपान्तरतमा, व्यास का पहिले का नाम; व्यासः—व्यास; मार्कण्डेयः—मार्कण्डेय; अथ—तथा; गौतमः—गौतम; वसिष्ठः—वसिष्ठ; भगवान् रामः—परशुराम; कपिलः—कपिल; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी; दुर्वासाः—दुर्वासा; याज्ञवल्क्यः—याज्ञवाल्क्य; च—भी; जातुकर्णः—जातुकर्ण; तथा—और; अरुणिः—अरुणि; रोमशः—रोमश; च्यवनः—च्यवन; दत्तः—दत्तात्रेय; आसुरिः—आसुरि; स-पतञ्जलिः—पतंजलि ऋषि समेत; ऋषिः—ऋषि; वेद-शिराः—वेदों का प्रमुख; धौम्यः—धौम्य; मुनिः—मुनि; पञ्चशिखः—पंचशिख; तथा—और; हिरण्यनाभः—हिरण्यनाभ; कौशल्यः—कौशल्य; श्रुतदेवः—श्रुतदेव; ऋतध्वजः—ऋतध्वज; एते—ये सभी; परे—अन्य; च—तथा; सिद्ध-ईशाः—योगेश्वर; चरन्ति—विचरण करते हैं; ज्ञान-हेतवः—अत्यन्त विद्वान पुरुष जो सारे संसार में उपदेश देते हैं।.

**हे महात्माओ! मैंने सुना है कि अविद्या से ग्रस्त मनुष्यों को ज्ञान का उपदेश देने के लिए भूमण्डल-भर में जो महापुरुष विचरण करते रहते हैं उनमें सनत् कुमार, नारद, ऋभु, अंगिरा, देवल, असित, अपान्तरतमा (व्यासदेव), मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिल, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातुकर्ण तथा अरुणि हैं। अन्यों के नाम इस प्रकार हैं—रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरि, पतंजलि, वेदों के प्रधान परम साधु धौम्य, पंचशिख, हिरण्यनाभ, कौशल्य, श्रुतदेव तथा ऋतध्वज। आप अवश्य ही इनमें से हैं।**

**तात्पर्य :** *ज्ञानहेतवः* शब्द अत्यन्त सार्थक है क्योंकि इन श्लोकों में जिन महापुरुषों की सूची दी गई है, वे भूमण्डल पर जनता को पथभ्रष्ट करने के उद्देश्य से नहीं, वरन् वास्तविक ज्ञान का वितरण करने के लिए विचरण करते हैं। ज्ञान के बिना मनुष्य-जीवन वृथा है। मनुष्य-जीवन का अभिप्राय श्रीकृष्ण या ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को जान लेना है। जिसमें इस ज्ञान का अभाव होता है, वह पशु-तुल्य है। श्रीकृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (७.१५) में कहा है—

*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।*

*माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥*

''मनुष्यों में अधम और निम्नतम मूढ़ जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है और जो आसुरी स्वभाव धारण किये हुए हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण नहीं लेते।''

अविद्या है जीवन की देहात्मबुद्धि (*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके...स एव गोखरः*)। सामान्यतः इस ब्रह्माण्ड में और विशेष रूप से इस भूर्लोक में प्रत्येक मनुष्य सोचता है कि देह तथा आत्मा का अस्तित्व अभिन्न है, अतः आत्म-साक्षात्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह सत्य नहीं है। इसलिए यहाँ जिन ब्राह्मणों की सूची दी गई है, वे भक्त होने के कारण विश्व-भर का विचरण करके ऐसे मूढ़ भौतिकतावादियों के हृदय में कृष्णभावना जगाते हैं।

इन श्लोकों में जिन आचार्यों के नाम गिनाये गये हैं, उनका उल्लेख *महाभारत* में हुआ है। पंचशिख शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय की

बुद्धि से मुक्त है और आत्मा के सूक्ष्म कोशों (आवरणों) से परिचित है, वह पंचशिख कहलाता है। *महाभारत* (शान्ति पर्व, अध्याय २१८.२१९) के अनुसार पंचशिख नामक आचार्य ने मिथिला के राजा महाराज जनक के कुल में जन्म लिया था। सांख्य दर्शनशास्त्री पंचशिखाचार्य को अपने में से एक आचार्य मानते हैं। वास्तविक ज्ञान शरीर के भीतर निवास करने वाले जीव के विषय में है। दुर्भाग्यवश, जीवात्मा अविद्या-वश अपने को शरीर मान लेता है, जिससे उसे हर्ष तथा कष्ट का अनुभव होता है।

**तस्माद्युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभू ।**
**अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम् ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; युवाम्—आप दोनों; ग्राम्य-पशोः—शूकर या कूकर जैसे पशु का; मम—मुझे; मूढ-धियः—अत्यन्त मूर्ख; प्रभू—हे दोनों स्वामियो; अन्धे—गहरे; तमसि—अंधकार में; मग्नस्य—मग्न रहने वाले का; ज्ञान-दीपः—ज्ञान का प्रकाश; उदीर्यताम्—प्रकाशित कीजिये।

**चूंकि आप दोनों महापुरुष हैं, अतः मुझे वास्तविक ज्ञान देने में समर्थ हैं। मैं अविद्या के अंधकार में डूबा रहने के कारण शूकर अथवा कूकर जैसे ग्राम्य पशु के समान मूढ़ हूँ। अतः मुझे उबारने के लिए ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित करें।**

**तात्पर्य :** ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे महापुरुषों के चरणारविन्द में समर्पित हो ले जो वास्तविक दिव्य ज्ञान प्रदान कर सकें। इसलिए कहा गया है—*तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—"जो जीवन के उच्चादर्श तथा महत्त्व को जानने का इच्छुक है, उसे चाहिए कि प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचे और उनकी शरण ग्रहण करे।" जो सचमुच ही अविद्या के अंधकार को दूर करने के लिए ज्ञान अर्जित करना चाहता है, उसे ही गुरु के समीप जाना चाहिए, न तो भौतिक लाभ के लिए, न ही किसी रोग से मुक्ति या चमत्कार प्राप्ति के लिए गुरु के पास जाना चाहिये। गुरु के पास जाने का यह कोई ढंग नहीं है। *तद् विज्ञानार्थम्*—मनुष्य को चाहिए कि दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हेतु ही गुरु के पास जाए। दुर्भाग्यवश इस कलि-काल

में ऐसे अनेक धूर्त गुरु हैं, जो अपने शिष्यों को जादू दिखाते हैं और ऐसे अनेक मूढ़ शिष्य हैं, जो भौतिक लाभ हेतु ऐसा जादू देखना पसन्द करते हैं। ऐसे शिष्य अविद्या के अंधकार से बचने के लिए आध्यात्मिक जीवन बिताने में कोई रुचि नहीं रखते। कहा गया है—

*ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।*

*चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥*

"मैं अज्ञान के गहन अंधकार में उत्पन्न हुआ और मेरे गुरु ने ज्ञान के दीप से मेरी आँखें खोलीं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ।" इससे गुरु की परिभाषा प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति अविद्या के अंधकार में है, अतः हर एक को दिव्य ज्ञान से प्रकाशित होने की आवश्यकता है। सच्चा गुरु वही है, जो अपने शिष्य को प्रकाश प्रदान करके इस संसार के अविद्याजनित गहन अंधकार में सड़ने से उबार लेता है।

**श्रीअङ्गिरा उवाच**

**अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप ।**
**एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः ॥ १७॥**

### शब्दार्थ

श्री-अङ्गिराः उवाच—अंगिरा ऋषि बोले; अहम्—मैं; ते—तुमको; पुत्र-कामस्य—पुत्र की कामना करने वाले; पुत्र-दः—पुत्र देने वाला; अस्मि—हूँ; अङ्गिराः—अंगिरा ऋषि; नृप—हे राजन्; एषः—यह; ब्रह्म-सुतः—भगवान् ब्रह्मा का पुत्र; साक्षात्—प्रत्यक्ष; नारदः—नारद मुनि; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; ऋषिः—साधु।

**अंगिरा ने कहा—हे राजन्! जब तुमने पुत्र की कामना की थी तो मैं तुम्हारे पास आया था। दरअसल वही अंगिरा ऋषि हूँ जिसने तुम्हें यह पुत्र दिया था। ये जो तुम्हारे पास हैं, भगवान् ब्रह्मा के प्रत्यक्ष पुत्र, महान् ऋषि नारद हैं।**

**इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे ।**
**अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम् ॥ १८॥**
**अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो ।**
**ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावासादितुमर्हसि ॥ १९॥**

## शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; त्वाम्—तुमको; पुत्र-शोकेन—अपने पुत्र के शोक के कारण; मग्नम्—डूबे हुए; तमसि—अंधकार में; दुस्तरे—न पार कर सकने योग्य; अ-तत्-अर्हम्—तुम जैसे पुरुष के लिए उपयुक्त नहीं है; अनुस्मृत्य—स्मरण करने के; महा-पुरुष—श्रीभगवान्; गोचरम्—जो ज्ञानसम्पन्न हैं; अनुग्रहाय—अनुग्रह करने के लिए; भवतः—आपके ऊपर; प्राप्तौ—आये हैं; आवाम्—हम दोनों; इह—इस स्थान पर; प्रभो—हे राजन्; ब्रह्मण्यः—जो परम सत्य को प्राप्त हैं; भगवत्-भक्तः—श्रीभगवान् का उच्च भक्त; न—नहीं; अवासादितुम्—शोक करने के; अर्हसि—योग्य हो।

**हे राजन्! तुम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के परम भक्त हो। किसी भौतिक वस्तु की हानि के लिए इस प्रकार शोक करना तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं है। अतः हम दोनों तुम्हें इस मिथ्या शोक से उबारने के लिए आये हैं, जो आप के अविद्या के अंधकार में डूबे रहने के कारण उत्पन्न है। जो आध्यात्मिक ज्ञान से सम्पन्न हैं उनके लिए इस प्रकार से भौतिक लाभ तथा हानि से प्रभावित होना बिल्कुल अवांछनीय है।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में कई शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *महापुरुष* का अर्थ सिद्ध भक्त तथा श्रीभगवान् दोनों है। *महा* का अर्थ 'परम' तथा *पुरुष* का अर्थ 'पुरुष' या व्यक्ति है। जो व्यक्ति श्रीभगवान् की निरन्तर सेवा करता है, वह *महा-पौरुषिक* कहलाता है। शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित को कभी-कभी *महापौरुषिक* कहा गया है। उन्नत भक्त को चाहिए कि वह परम भक्तों की सेवा करते रहने की कामना करे। श्री नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—

*तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास*

*जनमे जनमे हय, एइ अभिलाषा।*

भक्त को चाहिए कि परम भक्त की संगति में रहने की सतत अभिलाषा करे और परम्परानुसार ईश्वर की सेवा में संलग्न रहे। मनुष्य को चाहिए कि वृन्दावन के परम गोस्वामियों के उपदेशों के माध्यम से श्री चैतन्य महाप्रभु के सन्देश का प्रसार करें। *यह तांदेर चरण सेवि* कहलाता है। गोस्वामियों के चरणकमलों की सेवा करते हुए भक्तों की संगति करनी चाहिए ( *भक्त-सने वास*)। भक्त का यही कार्य है। भक्त को न तो लाभ की कामना करनी चाहिए, न हानि पर शोक करना चाहिए। जब अंगिरा ऋषि तथा नारद ने देखा कि परम भक्त महाराज चित्रकेतु अज्ञान के अंधकार में गिर गया है और अपने पुत्र के भौतिक शरीर के लिये शोक कर रहा है, तो वे अहैतुक अनुग्रह-

वश उसे उपदेश देने पधारे जिससे वह इस अविद्या से बच सके। एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *ब्रह्मण्य* है। कभी-कभी भगवान् की प्रार्थना में *नमो ब्रह्मण्य-देवाय* के रूप में सम्बोधन किया जाता है, जिसका अर्थ है ईश्वर को नमस्कार क्योंकि भक्त लोग उसकी सेवा करते हैं। अत: यह श्लोक बताता है—*ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावासादतुम् अर्हसि।* यह परम भक्त का लक्षण है। *ब्रह्मभूत:प्रसन्नात्मा।* एक परम भक्त तथा स्वरूपसिद्ध भक्त को हर्ष या शोक करने का कोई कारण नहीं। वह तो सदैव बद्ध जीवन से परे है।

**तदैव ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः ।**
**ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददाम्यहम् ॥ २० ॥**

### शब्दार्थ

तदा—तब; एव—निस्सन्देह; ते—तुमको; परम्—दिव्य; ज्ञानम्—ज्ञान; ददामि—दिया होता; गृहम्—तुम्हारे घर पर; आगतः—आया था; ज्ञात्वा—जानकर; अन्य-अभिनिवेशम्—अन्य बातों में उलझा हुआ; ते—तुम्हारा; पुत्रम्—पुत्र; एव—केवल; ददामि—दिया; अहम्—मैंने।

**जिस समय पहले-पहल मैं तुम्हारे घर आया था, उसी समय मैं तुम्हें परम दिव्य ज्ञान देता, किन्तु जब मैंने देखा कि तुम्हारा मन भौतिक वस्तुओं में उलझा हुआ है, तो मैंने तुम्हें केवल एक पुत्र प्रदान किया जो तुम्हारे हर्ष और शोक का कारण बना।**

**अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते ।**
**एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः ॥ २१ ॥**
**शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः ।**
**मही राज्यं बलं कोषो भृत्यामात्यसुहृज्जनाः ॥ २२ ॥**
**सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः ।**
**गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

अधुना—इस समय; पुत्रिणाम्—पुत्रवानों को; तापः—कष्ट; भवता—आपके द्वारा; एव—निस्सन्देह; अनुभूयते—अनुभव किया जाता है; एवम्—इस प्रकार; दाराः—सुपत्नी; गृहाः—घर; रायः—धन; विविध—नाना प्रकार के; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; सम्पदः—सम्पत्ति; शब्द-आदयः—शब्द इत्यादि; च—तथा; विषयाः—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुएँ; चलाः—क्षणिक; राज्य—राज्य का; विभूतयः—ऐश्वर्य; मही—पृथ्वी; राज्यम्—राज्य; बलम्—बल; कोषः—खजाना; भृत्य—नौकर; अमात्य—मंत्री; सुहृत्-जनाः—मित्र; सर्वे—सभी; अपि—निस्सन्देह; शूरसेन—हे शूरसेन के राजा; इमे—ये; शोक—

शोक का; मोह—मोह का; भय—भय का; अर्ति—तथा दुख; दाः—देने वाले; गन्धर्व-नगर-प्रख्याः—गंधर्व नगर ( जंगल के मध्य एक बड़ा महल ) की माया-दृष्टि से प्रेरित; स्वप्न—स्वप्न; माया—माया; मनोरथाः—तथा कल्पनाएँ।

**हे राजन्! अब तुम्हें ऐसे व्यक्ति के कष्ट का वास्तविक अनुभव हो रहा है, जिसके पुत्र तथा पुत्रियाँ होती हैं। हे सूरसेन देश के राजा! पत्नी, घर, राज्य का ऐश्वर्य, अन्य सम्पत्ति तथा इन्द्रिय अनुभूति के विषय—ये सब इस बात में एक-से हैं, कि वे अनित्य हैं। राज्य, सैनिक, शक्ति, कोष, नौकर, मंत्री, मित्र तथा सम्बन्धी—ये सभी भय, मोह, शोक तथा दुख के कारण हैं। ये गंधर्व-नगर की भाँति हैं, जिसे जंगल के बीच स्थित समझा जाता है, किन्तु जिसका अस्तित्व नहीं होता। चूँकि ये सब वस्तुएँ अनित्य हैं, अतः ये मोह, स्वप्न तथा मनोरथों से श्रेष्ठ नहीं हैं।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में संसार का बन्धन वर्णित है। इस संसार में जीवात्मा के पास अनेक वस्तुएँ होती हैं, यथा—देह, संतान, पत्नी इत्यादि ( *देहापत्य कलत्रादिषु*)। मनुष्य ऐसा सोच सकता है कि ये उसे सुरक्षा प्रदान करेंगी किन्तु ऐसा असम्भव है। इतना सब होते हुए भी आत्मा को वर्तमान स्थिति का परित्याग करके दूसरी स्थिति ग्रहण करनी होती है। अगली स्थिति प्रतिकूल हो सकती है, किन्तु यदि अनुकूल भी रहे तो भी उसे इसका परित्याग करके दूसरा शरीर ग्रहण करना होगा। इस प्रकार इस जगत में दुखों का क्रम टूटता नहीं। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को यह भली-भाँति समझना चाहिए कि इन वस्तुओं से वह कभी सुखी नहीं रह सकता। मनुष्य को चाहिए कि अपने आध्यात्मिक स्वरूप में स्थित रहकर भक्त के रूप में श्रीभगवान् की सदा सर्वदा सेवा करे। अंगिरा ऋषि तथा नारद मुनि ने महाराज चित्रकेतु को यही उपदेश दिया।

**दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः ।**
**कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन् ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

दृश्यमानाः—देखे जाकर; विना—रहित, बिना; अर्थेन—वस्तु या सच्चाई; न—नहीं; दृश्यन्ते—देखे जाते हैं; मनोभवाः—मनोरथ; कर्मभिः—सकाम कर्म के द्वारा; ध्यायतः—चिन्तन करते हुए; नाना—विविध, अनेक; कर्माणि—सकाम कर्म; मनसः—मन से; अभवन्—प्रकट होते हैं।

**स्त्री, संतान तथा सम्पत्ति जैसी दृश्य वस्तुएँ स्वप्न एवं मनोरथों के तुल्य हैं। वास्तव में हम जो कुछ देखते हैं उसका स्थायी अस्तित्व नहीं होता है। वे कभी दिखती हैं, तो कभी नहीं। अपने पूर्वकर्मों के अनुसार हम मनोरथ का सृजन करते हैं और इन्हीं के कारण हम आगे कार्य करते हैं।**

**तात्पर्य :** प्रत्येक भौतिक वस्तु मानसिक कल्पना (मनोरथ) है, क्योंकि वह कभी दिखती है और कभी नहीं। रात्रि में स्वप्न में हमें बाघ तथा सर्प दिखते हैं, वे सचमुच उपस्थित नहीं रहते, किन्तु हम स्वप्न में देखी उन वस्तुओं से भयभीत होते हैं क्योंकि उनसे हम प्रभावित होते हैं, हर भौतिक पदार्थ एक स्वप्न की भाँति है, क्योंकि वास्तव में उनका स्थायी अस्तित्व नहीं होता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने भाष्य में इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है—अर्थेन व्याघ्र-सर्पादिना विनैव दृश्यमाना: स्वप्नादि-भंगे सति न दृश्यन्ते तद् एवं दारादयोऽवास्तव-वस्तु-भूता: स्वप्नादयोऽवस्तुभूताश्च सर्वे मनोभवा: मनोवासना जन्यत्वान् मनोभवा:। रात्रि में स्वप्न में बाघ तथा सर्प देखे जाते हैं, किन्तु ज्योंही स्वप्न भंग होता है, तो उनका अस्तित्व नहीं रह पाता। इसी प्रकार यह भौतिक जगत भी हमारे मनोरथों की सृष्टि है। हम इस जगत में भौतिक साधनों का उपभोग करने आये हैं और अपने मनोरथों के द्वारा हम भोग की अनेकानेक वस्तुएँ खोज लेते हैं क्योंकि हमारा मन इन भौतिक वस्तुओं में निरन्तर मग्न हो जाता है। यही कारण है कि हमें विविध शरीर धारण करने पड़ते हैं। अपने मनोरथों के अनुसार हम नाना प्रकार की सफलताओं की इच्छा करते हुए अनेक प्रकार से कार्य करते रहते हैं और भगवान् के आदेश तथा प्रकृति के द्वारा हमें मनवांछित फल प्राप्त होता है (कर्मणा दैव-नेत्रेण)। इस प्रकार हम अधिकाधिक भौतिक मनोरथों में उलझे रहते हैं। इस भौतिक जगत में हमारी विपदा का यही कारण है। एक प्रकार के कार्य से हम दूसरे कार्य पैदा करते हैं और ये सब हमारे मनोरथों के प्रतिफल हैं।

**अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ।**

**देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः ॥ २५ ॥**

### शब्दार्थ

अयम्—यह; हि—निश्चय ही; देहिनः—जीवात्मा का; देहः—शरीर; द्रव्य-ज्ञान-क्रिया-आत्मकः—भौतिक तत्त्वों, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों समेत; देहिनः—जीवात्मा का; विविध—नाना प्रकार का; क्लेश—कष्ट; सन्ताप—तथा पीड़ा का; कृत्—कारण; उदाहृतः—घोषित किया जाता है।

**देहात्मबुद्धि के कारण जीवात्मा अपने शरीर में, जो भौतिक तत्त्वों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन समेत पाँच कर्मेन्द्रियों का संपुंज है, मग्न रहता है। मन के कारण जीवात्मा को तीन प्रकार के—अधिभौतिक, अधिदैविक तथा अध्यात्मिक-ताप सहने पड़ते हैं। अतः यह शरीर समस्त दुखों का मूल है।**

**तात्पर्य :** पंचम स्कंध (५.५.४) में ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा है—*असन्नपि क्लेशद आस देहः*—अनित्य होते हुए भी यह शरीर संसार के समस्त दुखों का कारण है। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है, सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि मनोरथ पर आधारित है। मन कभी-कभी हमें सोचने के लिए प्रेरित करता है कि यदि हम एक वाहन (कार) खरीद लें तो हम भौतिक तत्त्वों का यथा पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि का लोहे, प्लास्टिक तथा पेट्रोल आदि के मिले जुले रूप से सुखोपभोग कर सकते हैं। पाँच भौतिक तत्त्वों (*पंच-भूत*) तथा आँख, कान और जिव्हा आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों तथा हाथ और पांव के बल पर कार्य करने के कारण हम भौतिक स्थिति प्राप्त करने में उलझ जाते हैं। इस प्रकार हमें तापत्रय—*अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक* सहने होते हैं। मन केन्द्र बिन्दु है क्योंकि उसी से सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ज्योंही वह भौतिक वस्तु मिल जाती है, तो मन पर उसका प्रभाव पड़ता है और हम कष्ट पाते हैं। उदाहरणार्थ, पाँच तत्त्वों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के बल पर हम एक बहुत सुन्दर कार बनाते हैं, किन्तु जब किसी दुर्घटना में वह कार नष्ट हो जाती है, तो मन को पीड़ा पहुँचती है, जिसके माध्यम से जीवात्मा को कष्ट होता है।

तथ्य तो यह है कि जीवात्मा मन के साथ सांठ-गांठ करके भौतिक स्थिति उत्पन्न करता है। चूँकि पदार्थ विनाशशील है, अतः भौतिक स्थिति के कारण जीवात्मा कष्ट भोगता है। अन्यथा

जीवात्मा समस्त प्रकार से सभी भौतिक स्थितियों से विरक्त है। जब मनुष्य ब्रह्म पद को प्राप्त होता है, जो आध्यात्मिक जीवन का सत्य है, तो उसे अच्छी तरह पता रहता है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*) अत: उसे शोक या गर्व प्रभावित नहीं करते। भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा है—*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति* ''जो इस प्रकार दिव्य पद पर स्थित होता है उसे तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और पूर्णरूपेण प्रसन्न हो जाता है। वह न शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा रखता है।'' अन्यत्र उन्होंने *भगवद्गीता* (१५.७) में ही कहा है—

*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।*
*मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥*

''इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं। बद्ध दशा के कारण वे मन समेत छह इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रही हैं।'' जीवात्मा निस्सन्देह भगवान् का अंश रूप है और भौतिक स्थितियों से प्रभावित नहीं होता, किन्तु मन (*मन:*) प्रभावित होता है, अत: इन्द्रियाँ प्रभावित होती हैं और जीवात्मा इस जगत में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता रहता है।

**तस्मात्स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मन: ।**
**द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश ॥ २६ ॥**

**शब्दार्थ**

तस्मात्—अत:; स्वस्थेन—स्वस्थ, सतर्क; मनसा—मन से; विमृश्य—विचार करके; गतिम्—वास्तविक स्थिति; आत्मन:—अपनी; द्वैते—द्वैत में; ध्रुव—स्थायी; अर्थ—वस्तु; विश्रम्भम्—विश्वास; त्यज—छोड़ दो; उपशमम्—शान्तिपूर्ण स्थिति; आविश—ग्रहण करो।

**अत: हे चित्रकेतु! आत्मा की स्थिति पर ठीक से विचार करो अर्थात् यह समझने का प्रयत्न करो कि तुम कौन हो—शरीर, मन, या आत्मा? यह विचार करो कि तुम कहाँ से आये हो, यह शरीर छोड़कर कहाँ जाओगे और तुम भौतिक शोक के वश में क्यों हो? इस प्रकार तुम अपनी वास्तविक स्थिति जानने का यत्न करो, तभी तुम अनावश्यक आसक्ति से छुटकारा पा सकोगे। तब तुम इस विश्वास का भी परित्याग कर सकोगे कि यह भौतिक**

**जगत या अन्य कोई वस्तु जिसका श्रीकृष्ण की सेवा से सीधा सम्बन्ध नहीं है, शाश्वत है। इस तरह तुम्हें शान्ति प्राप्ति हो सकेगी।**

**तात्पर्य :** वास्तव में कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज को गम्भीर बनाने का यत्न कर रहा है। दिग्भ्रमित सभ्यता के कारण सभी मनुष्य भौतिकता में उसी प्रकार घुस रहे हैं जैसे कुत्ते तथा बिल्लियाँ। वे सभी प्रकार के कुत्सित एवं पापपूर्ण कर्म करके अधिकाधिक उलझते जाते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में आत्म-साक्षात्कार सम्मिलित है क्योंकि इसमें सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा निर्देशित होकर पहले यह समझना होता है कि वह शरीर नहीं वरन् शरीर का स्वामी है। जब यह सीधी सी बात समझ में आ जाती है, तो वह जीवन-लक्ष्य की ओर स्वत:अग्रसर हो सकता है। चूँकि मनुष्यों को जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने की शिक्षा नहीं दी जाती इसलिए वे पागल मनुष्यों की तरह कार्य करते हैं और संसार में अधिकाधिक आसक्त होने लगते हैं। पथभ्रष्ट मनुष्य भौतिक स्थिति को नित्य मान बैठता है। उसे चाहिए कि वह भौतिक वस्तुओं के प्रति अपनी श्रद्धा तथा आसक्ति को छोड़ दे। तभी वह गम्भीर तथा शान्त बन सकेगा।

**श्रीनारद उवाच**
**एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम ।**
**यां धारयन्सप्तरात्राद्द्रष्टा सङ्कर्षणं विभुम् ॥ २७॥**

## शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; एताम्—यह; मन्त्र-उपनिषदम्—मंत्र के रूप में उपनिषद् जिससे जीवन का उच्चादर्श प्राप्त किया जा सकता है; प्रतीच्छ—स्वीकार करो; प्रयतः—सावधानीपूर्वक ( मृत पुत्र का दाह संस्कार करने के पश्चात् ); मम—मुझसे; याम्—जो; धारयन्—स्वीकार करके; सप्त-रात्रात्—सात रात्रियों के बाद; द्रष्टा—तुम देखोगे; सङ्कर्षणम्—संकर्षण, श्रीभगवान्; विभुम्—भगवान् को।

**नारद मुनि ने आगे कहा—हे राजन्! तुम एकाग्रचित्त होकर मुझसे अत्यन्त शुभ मंत्र ग्रहण करो। इसे स्वीकार कर लेने के बाद सात रातों में ही तुम साक्षात् भगवान् का दर्शन कर सकोगे।**

**यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे**
**शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य ।**
**सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं**
**प्रापुर्भवानपि परं न चिरादुपैति ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ

यत्-पाद-मूलम्—जिनके ( भगवान् संकर्षण के ) चरणकमल; उपसृत्य—शरण लेकर; नर-इन्द्र—हे राजन्; पूर्वे—प्राचीन काल में; शर्व-आदयः—भगवान् महादेव जैसे बड़े-बड़े देवता; भ्रमम्—मोह; इमम्—यह; द्वितयम्—द्वैत भाव; विसृज्य—त्याग कर; सद्यः—तुरन्त; तदीयम्—उसका; अतुल—अद्वितीय; अनधिकम्—अलंघ्य; महित्वम्—यश; प्रापुः—प्राप्त किया; भवान्—आप; अपि—भी; परम्—परम धाम; न—नहीं; चिरात्—बहुत काल बाद; उपैति—प्राप्त कर लोगे।

**हे राजन्! प्राचीनकाल में भगवान् शिव तथा अन्य देवताओं ने संकर्षण के चरणारविन्द की शरण ली थी। इस प्रकार वे द्वैत-मोह से तुरन्त मुक्त हो गये और उन्होंने आध्यात्मिक जीवन में अद्वितीय तथा अलंघ्य यश प्राप्त किया। तुम शीघ्र ठीक वैसा ही पद प्राप्त करोगे।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत "नारद तथा अंगिरा द्वारा राजा चित्रकेतु को उपदेश" नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter सोलह

# राजा चित्रकेतु की परमेश्वर से भेंट

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार चित्रकेतु अपने मृत पुत्र से बातें कर सका और उससे जीवन के सत्य के सम्बन्ध में बातें सुन सका। जब चित्रकेतु शान्त हुआ तो नारद मुनि ने उसे एक मंत्र दिया जिसके जप से वह संकर्षण के चरणारविन्द में शरण प्राप्त कर सका।

जीवात्मा नित्य है। न तो उसका जन्म होता है और न मृत्यु होती है ( *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)। अपने कर्म-बन्धनों के फल के अनुसार मनुष्य विभिन्न योनियों यथा पक्षी, पशु, वृक्ष, मनुष्य, देवता इत्यादि के अन्तर्गत जन्म लेता है और विविध शरीरों में चक्कर लगाता रहता है। कुछ काल के लिए वह पुत्र या पिता जैसे झूठे नाते के लिए विशेष शरीर धारण करता है। इसी भौतिक जगत में मित्रों, सम्बन्धियों अथवा शत्रुओं के साथ हमारे जितने नाते हैं, वे द्वैतपूर्ण हैं जिनमें मोह

के कारण वह सुखा तथी दुखी होता रहता है। वास्तविक जीवात्मा तो आध्यात्मिक आत्मा है, जो ईश्वर का भिन्न-अंश है और द्वैत संसार से उसका कोई सरोकार नहीं होता। इसलिए नारद मुनि ने चित्रकेतु को उपदेश दिया कि वह अपने तथाकथित पुत्र की मृत्यु पर शोक न करे।

जब चित्रकेतु तथा उसकी पत्नी ने अपने मृत पुत्र से सारे उपदेश सुने तो उनकी समझ में आया कि इस संसार के सारे नाते ही दुख के कारण हैं। जिन रानियों ने कृतद्युति के पुत्र को विष दिया था वे अत्यन्त लज्जित हुईं। उन्होंने शिशु-हत्या का जो जघन्य अपराध किया था उसके लिए प्रायश्चित्त किया और पुत्र-प्राप्ति की अपनी-अपनी कामनाएँ त्याग दीं। तत्पश्चात् नारद मुनि ने नारायण की स्तुति की, जो चतुर्व्यूह रूप में विद्यमान हैं। उन्होंने चित्रकेतु को भौतिक प्रकृति के स्वामी तथा प्रत्येक वस्तु के कर्ता, पालक एवं संहारक परमेश्वर के सम्बन्ध में उपदेश दिया। राजा चित्रकेतु को उपदेश देने के बाद वे ब्रह्मलोक वापस चले गये। परम सत्य के सम्बन्ध में दिये गये ये उपदेश *महाविद्या* के नाम से प्रसिद्ध हैं। नारद मुनि से दीक्षा लेने के पश्चात् राजा चित्रकेतु ने *महाविद्या* का जप किया और एक सप्ताह के बाद चार कुमारों से घिरे हुए भगवान् संकर्षण ने उसे दर्शन दिया। भगवान् ने सुन्दर नीला वस्त्र धारण कर रखा था। वे मुकुट तथा स्वर्णाभूषणों से सुशोभित थे। उनका मुख-मण्डल अत्यन्त प्रसन्न प्रतीत हो रहा था। भगवान् संकर्षण को चित्रकेतु ने नमस्कार किया और फिर उनकी अर्चना की।

अपनी प्रार्थना में चित्रकेतु ने कहा कि संकर्षण के रोमों में करोड़ों ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं; उनका न तो आदि है और न अन्त, वे अनन्त हैं। भगवान् के भक्त जानते हैं कि वे शाश्वत हैं। भगवान् की पूजा और देवताओं की पूजा में यह अन्तर है कि भगवान् का उपासक भी शाश्वत हो जाता है, किन्तु देवताओं से प्राप्त आशीर्वाद अनित्य होते हैं। बिना भक्त बने कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाता।

जब चित्रकेतु ने अपनी प्रार्थना समाप्त की तो अनन्त परमेश्वर ने चित्रकेतु को अपना ज्ञान प्रदान किया।

श्रीबादरायणिरुवाच
अथ देवऋषी राजन्सम्परेतं नृपात्मजम् ।
दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—इस प्रकार; देव-ऋषिः—परम साधु नारद; राजन्—हे राजन्; सम्परेतम्—मृत; नृप-आत्मजम्—राजा के पुत्र को; दर्शयित्वा—दिखलाकर; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; उवाच—बताया; ज्ञातीनाम्—समस्त सम्बन्धियों को; अनुशोचताम्—शोक करने वाले।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजा परीक्षित! नारद ऋषि ने अपनी योगशक्ति से शोकाकुल स्वजनों के समक्ष उस पुत्र को ला दिया और फिर वे इस प्रकार बोले।

श्रीनारद उवाच
जीवात्मन्पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते ।
सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; जीव-आत्मन्—हे जीवात्मा; पश्य—देखो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारे; मातरम्—माता; पितरम्—पिता; च—तथा; ते—तुम्हारे; सुहृदः—मित्र; बान्धवाः—सम्बन्धी; तप्ताः—संतप्त, दुखी; शुचा—शोक से; त्वत्-कृतया—तुम्हारे कारण; भृशम्—अत्यधिक।

श्री नारद मुनि ने कहा—हे जीवात्मा! तुम्हारा कल्याण हो। जरा अपने माता-पिता को तो देखो। तुम्हारे चले जाने ( मरने ) से तुम्हारे समस्त मित्र तथा सम्बन्धी शोकाकुल हैं।

कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः ।
भुङ्क्ष्व भोगान्पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कलेवरम्—शरीर में; स्वम्—अपना; आविश्य—प्रवेश करके; शेषम्—शेष, बाकी; आयुः—जीवन अवधि; सुहृत्-वृतः—अपने मित्र तथा सम्बन्धियों से घिरे हुए; भुङ्क्ष्व—भोग करो; भोगान्—समस्त भोग्य ऐश्वर्य; पितृ—अपने पिता द्वारा; प्रत्तान्—प्रदत्त; अधितिष्ठ—स्वीकार करो; नृप-आसनम्—राजसिंहासन को।

तुम असमय ही मरे थे इसलिए तुम्हारी आयु अब भी शेष है। अतः तुम अपने शरीर में पुनः प्रवेश करके अपने मित्रों तथा स्वजनों की संगति में शेष जीवन का भोग करो। अपने पिता द्वारा प्रदत्त यह समस्त ऐश्वर्य तथा राजसिंहासन स्वीकार करो।

जीव उवाच

**कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन् ।**
**कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु ॥ ४॥**

शब्दार्थ

जीवः उवाच—जीवात्मा ने कहा; कस्मिन्—किस; जन्मनि—जन्म में; अमी—ये सब; मह्यम्—मुझको; पितरः—पितृगण; मातरः—माताएँ; अभवन्—थे; कर्मभिः—कर्मफल से; भ्राम्यमाणस्य—भ्रमण करने वालों के; देव-तिर्यक्—देवताओं तथा निम्न पशुओं के; नृ—तथा मनुष्य जाति के; योनिषु—गर्भों में।

**नारद मुनि की योगशक्ति से जीवात्मा थोड़े समय के लिए मृत शरीर में पुनः प्रविष्ट हुआ और नारद मुनि के अनुरोध पर इस प्रकार बोला, ''मैं ( जीव ) अपने कर्म-फलों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करता रहता हूँ; इस प्रकार कभी देवताओं की योनि में रहता हूँ तो कभी निम्न पशुओं, अथवा वनस्पतियों में और कभी मनुष्य योनि में रहता हूँ। अतः ये किस जन्म में मेरे माता तथा पिता थे? वास्तव में न तो कोई मेरी माता है और न कोई पिता। तो मैं इन दोनों व्यक्तियों को अपने माता-पिता के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ?**

**तात्पर्य :** यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जीव भौतिक देह में प्रवेश करता है, जो कि एक यंत्र (मशीन) के तुल्य है, जिसकी रचना पाँच स्थूल तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु तथा आकाश) तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहंकार) से हुई है। जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, उत्तम तथा अधम-ये दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं और इन दोनों का सम्बन्ध श्रीभगवान् से है। जीवात्मा के कर्म-फल के अनुसार ही जीव विभिन्न प्रकार की भौतिक देहों में प्रवेश करने के लिए बाध्य है।

यहाँ पर वह जीवात्मा महाराज चित्रकेतु तथा रानी कृतद्युति का पुत्र ही माना गया था क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार वह राजा तथा रानी द्वारा निर्मित शरीर में प्रविष्ट हुआ था। किन्तु वास्तव में वह उनका पुत्र नहीं था। जीवात्मा तो श्रीभगवान् का पुत्र है और चूँकि वह इस जगत का भोग करना चाहता है, अतः परमेश्वर उसे विभिन्न देहों में प्रविष्ट होने का अवसर प्रदान करते हैं।

जीवात्मा का उस भौतिक देह से कोई सच्चा सम्बन्ध नहीं होता जिसे वह अपने माता-पिता से प्राप्त करता है। वह तो परमात्मा का भिन्न अंश होता है किन्तु विभिन्न देहों में जाने के लिए उसे छूट मिली रहती है। तथाकथित माता-पिता द्वारा प्रदत्त शरीर का वास्तव में इसके तथाकथित सृष्टिकर्ताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए जीवात्मा ने सीधे नकार दिया कि महाराज चित्रकेतु तथा उसकी पत्नी उसके माता-पिता थे।

**बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः ।**
**सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः ॥ ५ ॥**

### शब्दार्थ

बन्धु—दोस्त; ज्ञाति—कुटुम्बी; अरि—शत्रु; मध्यस्थ—बिचौलिए; मित्र—शुभचिन्तक; उदासीन—उदासीन; विद्विषः—अथवा द्वेषी; सर्वे—सभी; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; सर्वेषाम्—सबों का; भवन्ति—होते हैं; क्रमशः—धीरे-धीरे; मिथः—परस्पर।

**यह भौतिक जगत नदी की भाँति प्रवहमान है, जो अपने जीवात्मा को लिये जा रही है और जिसमें सभी लोग समयानुसार मित्र, कुटुम्बी तथा शत्रु बनते रहते हैं। वे उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी तथा कई अन्य प्रकारों से कार्य करते हैं। इतने पर भी कोई किसी से स्थायी रूप से सम्बद्ध नहीं है।**

**तात्पर्य :** इस भौतिक जगत में यह हमारा व्यवहारसिद्ध अनुभव है कि जो व्यक्ति आज किसी का मित्र है, वही कल उसका शत्रु बन जाता है। मित्र अथवा शत्रु, परिजन या बाहरी लोग जैसे सम्बन्ध वास्तव में हमारे भिन्न-भिन्न व्यवहारों से उत्पन्न हैं। चित्रकेतु महाराज अपने मृत पुत्र के लिए शोक कर रहे थे, किन्तु वे चाहते तो इस स्थिति को भिन्न रूप में सोच सकते थे। वे यह सोच सकते थे कि जीवात्मा पिछले जन्म में मेरा शत्रु था, जो अब मेरा पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ और मुझे कष्ट पहुँचाने के लिए असमय प्रयाण कर रहा है। तो अपने मृत पुत्र को अपना शत्रु सोचकर वे शोक करने के बजाय अपने शत्रु की मृत्यु पर उल्लसित क्यों नहीं हुए? जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः*—वास्तव में प्रकृति के गुणों

की संगति से ही सब कुछ घटित होता है। अत: सतोगुण की संगति से जो आज मेरा मित्र है, वही कल रजो तथा तमो गुणों की संगति से मेरा शत्रु बन सकता है। प्रकृति के इन गुणों के कार्यशील होने से ही हम मोहवश अन्यों को मित्र, शत्रु, पुत्र या पिता मान बैठते हैं।

**यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्तत: ।**
**पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥ ६ ॥**

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; वस्तूनि—वस्तुएँ; पण्यानि—क्रय-विक्रय के हेतु; हेम-आदीनि—यथा सोना; ततः ततः—यहाँ से वहाँ; पर्यटन्ति—घूमते रहते हैं; नरेषु—मनुष्यों के बीच; एवम्—इस प्रकार; जीवः—जीवात्मा; योनिषु—विभिन्न योनियों में; कर्तृषु—विभिन्न भौतिक पिता के रूपों में।

**जिस प्रकार सोना तथा अन्य व्यापारिक वस्तुएँ समय-समय पर क्रम-विक्रम के कारण लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित होती रहती हैं उसी प्रकार जीवात्मा भी अपने कर्मों के कारण पूरे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है।**

**तात्पर्य :** जैसाकि पहले कहा जा चुका है चित्रकेतु का पुत्र उसका शत्रु था और अब उसे दारुण दुख देने के लिए ही पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ था। निस्सन्देह, पुत्र के असामयिक निधन से पिता को गहरा शोक हुआ। चाहे तो कोई तर्क कर सकता है—"यदि पुत्र राजा का शत्रु था, तो फिर उसके लिए राजा के हृदय में इतना स्नेह क्यों?" इसका उत्तर यह है कि शत्रु के हाथ में किसी की सम्पत्ति चली जाती है, तो वह सम्पत्ति शत्रु की मित्र बन जाती है, वह उसे अपने कार्य के लिए उपयोग में ला सकता है। यही नहीं, यदि चाहे तो वह पहले स्वामी को उसके द्वारा हानि भी पहुँचा सकता है। अत: वह सम्पत्ति दो में से किसी की भी नहीं रहती। सम्पत्ति तो सदा सम्पत्ति रहती है, किन्तु विभिन्न अवस्थाओं में इसे मित्र या शत्रु के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है।

जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जीवात्मा को जन्म देने वाला न तो कोई पिता है, न माता। जीवात्मा तथाकथित पिता-माता से पृथक् स्वरूप है। प्रकृति के नियमानुसार जीवात्मा पिता

के वीर्य में प्रविष्ट होकर माँ के गर्भ में अन्त: क्षेपण किया जाता है। उसे यह चुनने की छूट नहीं है कि कौन उसका पिता हो। *प्रकृते: क्रियमाणानि*—प्रकृति के नियम उसे बाध्य करके भिन्न-भिन्न माताओं तथा पिताओं के पास भेजते हैं मानो खरीदी तथा बेची जाने वाली कोई सामग्री हो। अत: पिता तथा पुत्र का तथाकथित सम्बन्ध प्रकृति की व्यवस्था है। इसका कोई अर्थ नहीं है, अत: यह मोह कहलाती है।

वही जीवात्मा कभी पशु रूपी माता-पिता की शरण ग्रहण करता है, तो कभी मानव माता-पिता की। कभी कभी वह पक्षियों के मध्य माता-पिता को स्वीकार करता हैं और कभी कभी वह किसी देवता को माता-पिता स्वीकार करता है। लोकों तथा योनियों में प्रकृति के नियमों से बारम्बार प्रताड़ित होकर जीवात्मा ब्रह्माण्ड भर में चक्कर लगाता है। यदि संयोगवश वह किसी भक्त के सम्पर्क में आता है, तो उसका जीवन सुधर जाता है। तब जीवात्मा परम धाम को वापस जाता है। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।*

*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥*

*जनमे जनमे सबे पिता माता पाय।*

*कृष्ण गुरु नहिं मिले बज हरि एइ॥*

विभिन्न देहों में आत्मा के देहान्तरण से प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक जीवन में, चाहे वह मनुष्य का हो या पशु, वृक्ष या देवता का हो, माता तथा पिता की प्राप्ति करता है। इतना मिलना कठिन नहीं। कठिन तो है परम गुरु तथा श्रीकृष्ण को पा लेना। अत: मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कृष्ण के प्रतिनिधि अर्थात् गुरु के सम्पर्क में आने के अवसर को पकड़े। गुरु या आत्म-पिता के पथप्रदर्शन से परम धाम वापस जाना सहज है।

**नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु ।**

**यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि ॥ ७॥**

### शब्दार्थ

नित्यस्य—नित्य; अर्थस्य—वस्तु का; सम्बन्धः—सम्बन्ध; हि—निस्सन्देह; अनित्यः—अनित्य, क्षणिक; दृश्यते—दिखाई पड़ता है; नृषु—मानव समाज में; यावत्—जब तक; यस्य—जिसका; हि—निसन्देह; सम्बन्धः—सम्बन्धः; ममत्वम्—मालिकाना, ममता; तावत्—तब तक; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही।

**कुछ ही जीवात्माएँ मनुष्य योनि में जन्म लेती हैं और शेष दूसरी पशु-योनि में जन्मती हैं। यद्यपि ये दोनों ही जीवात्माएँ हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध अस्थायी हैं। कोई पशु किसी मनुष्य के अधिकार में कुछ काल तक रहकर किसी दूसरे के अधिकार में जा सकता है। जब पशु चला जाता है पहले वाले मालिक का स्वामित्व भी चला जाता है। जब तक वह पशु उसके अधिकार में रहता है, उसके प्रति उसका लगाव रहता है, किन्तु उसको बेचते ही सारा लगाव छूट जाता है।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में दिये गये उदाहरण से स्पष्ट है कि आत्मा का देहान्तरण एक शरीर से दूसरे में होने के साथ ही इस जीवन में भी जीवात्माओं के बीच के सम्बन्ध अस्थायी हैं। चित्रकेतु के पुत्र का नाम हर्षशोक अथवा हर्ष तथा शोक था। जीवात्मा निश्चय ही नित्य है, किन्तु शरीर रूपी अनित्य परिधान से आवृत होने से उसकी अनित्यता प्रकट नहीं होती। *देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा*—"इस शरीर के साथ लगा आत्मा निरन्तर बाल्यपन से तरुणावस्था और फिर बुढ़ापे में जाता रहता है।" इस प्रकार यह शारीरिक परिधान अस्थायी है। किन्तु जीवात्मा स्थायी है। जिस प्रकार पशु एक स्वामी से दूसरे स्वामी के यहाँ चला जाता है। उसी प्रकार जीवात्मा, जो कुछ काल तक चित्रकेतु के पुत्र रूप में था वही जब अन्य शरीर में प्रविष्ट हो गया तो सारा स्नेह-सम्बन्ध टूट गया। जैसाकि पिछले श्लोक में दिए उदाहरण में कहा गया है, जब कोई व्यापारिक सामग्री किसी के हाथ में रहती है, तो उसकी होती है, किन्तु दूसरे के हाथ में पहुँचते ही वह पराई हो जाती है। तब न तो उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध रह जाता है, न ही वह स्नेह और शोक करता है।

**एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः ।**

**यावद्यत्रोपलभ्येत तावत्स्वत्वं हि तस्य तत् ॥ ८ ॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; योनि-गतः—किसी विशेष योनि में जाकर; जीवः—जीवात्मा; सः—वह; नित्यः—नित्य, शाश्वत; निरहङ्कृतः—अहंकाररहित; यावत्—जब तक; यत्र—जहाँ; उपलभ्येत—वह पाया जा सकता है; तावत्—तब तक; स्वत्वम्—स्व का ज्ञान; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; तत्—वह।

**भले ही एक जीवात्मा मर्त्यदेहों के सम्बन्धों के कारण दूसरी जीवात्मा से सम्बद्ध जान पड़े, किन्तु जीवात्मा शाश्वत है। वास्तव में शरीर ही जन्मता है और नष्ट होता है, जीवात्मा नहीं। हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि जीवात्मा की उत्पत्ति या मृत्यु होती है। जीवात्मा का तथाकथित माता-पिता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब तक जीवात्मा अपने पूर्व कर्म के फलस्वरूप किन्हीं माता-पिता का पुत्र बन कर प्रकट होता है तभी तक माता-पिता द्वारा प्रदत्त शरीर से उसका नाता रहता है। इस प्रकार वह अपने को मिथ्या ही उनका पुत्र मानकर अत्यन्त स्नेह जताता है। मरने के बाद यह सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य को झूठे ही हर्ष तथा शोक में लीन नहीं होना चाहिए।**

**तात्पर्य :** जब जीवात्मा शरीर के अन्दर रहता है, तो वह अपने को झूठे ही शरीर मान बैठता है यद्यपि वास्तव में ऐसा नहीं है। अपने शरीर एवं तथाकथित माता-पिता के साथ उसका सम्बन्ध झूठा रहता है, यह मोह-बुद्धि है। जब तक कोई जीवात्मा की वास्तविकता से अवगत नहीं हो लेता मनुष्य इसी मोह में पड़ा रहता है।

**एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ।**
**आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ॥ ९ ॥**

### शब्दार्थ

एषः—यह जीवात्मा; नित्यः—नित्य, शाश्वत; अव्ययः—अविनाशी; सूक्ष्मः—सूक्ष्म (आँख से न दिखाई पड़ने वाला); एषः—यह जीवात्मा; सर्व-आश्रयः—विभिन्न प्रकार के देहों का कारण; स्व-दृक्—स्वयं-तेज; आत्म-माया-गुणैः—श्रीभगवान् की माया के गुणों द्वारा; विश्वम्—इस भौतिक जगत में; आत्मानम्—अपने आपको; सृजते—प्रकट कर देता है; प्रभुः—स्वामी।

**जीवात्मा नित्य तथा अविनाशी है क्योंकि इसका आदि तथा अन्त नहीं है। न तो उसका जन्म होता है, न मृत्यु। वह समस्त प्रकार की देहों का मूल है, तो भी उसकी दैहिक वर्ग में**

**गिनती नहीं होती। जीवात्मा इतना उच्च है कि परमात्मा के ही समधर्मा है। तो भी, अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होता रहता है और अपनी इच्छाओं के अनुसार अपने लिए विभिन्न देहें उत्पन्न करता है।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *अचिन्त्य-भेदाभेद* दर्शन का वर्णन है। जीवात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान नित्य है, अन्तर इतना ही है कि परमात्मा विराट है, उससे बड़ा कोई नहीं है न ही उसके समान कोई है, जबकि जीवात्मा सूक्ष्म है। शास्त्रों का कथन है कि जीवात्मा बाल के अग्रभाग के दस-हजारवें भाग के तुल्य है। परमात्मा सर्वव्यापी है (*अण्डान्तरस्थ-परमाणु-चयान्तरस्थम्*)। यदि सापेक्षतया जीवात्मा को सूक्ष्म (अति लघु) मान लिया जाता है, तो प्रश्न उठता है कि फिर सबसे बड़ा (विराट) कौन है? विराट तो श्रीभगवान् हैं और जीवात्मा अति लघु।

जीव की दूसरी विशेषता यह है कि वह माया से *आच्छन्न* हो जाता है। *आत्ममाया गुणैः*—वह श्रीभगवान् की माया से आवृत्त होने वाला है। जीवात्मा ही इस जगत में बद्ध-जीवन के लिए उत्तरदायी है इसीलिए उसे प्रभु (स्वामी) कहा जाता है। यदि वह चाहे तो इस जगत में आ सकता है और चाहे तो भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। चूँकि वह भौतिक जगत का सुख उठाना चाहता है इसलिए श्रीभगवान् ने माया के माध्यम से उसे भौतिक शरीर प्रदान किया है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा है—

*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।*

*भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥*

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में बैठा है। वही देहरूपी यंत्र में आरूढ़ सब जीवों को अपनी मायाशक्ति से घुमा रहा है।" परमात्मा जीवात्मा को अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी इच्छानुसार इस जगत का सुखोपभोग कर ले, किन्तु साथ ही भगवान् अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं कि जीवात्मा समस्त आकांक्षाओं को त्याग कर उनको समर्पण करके परम धाम को वापस

जाए।

जीवात्मा अत्यन्त लघु (सूक्ष्म) है। इस प्रसंग में जीव गोस्वामी का कथन है कि भौतिक वैज्ञानियों के लिए शरीर में जीवात्मा ढूँढ पाना अत्यन्त दुष्कर है यद्यपि हमें विद्वानों से यह ज्ञात है कि जीवात्मा शरीर के भीतर ही है। शरीर जीवात्मा से भिन्न है।

**न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।**
**एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तृणां गुणदोषयोः ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

न—न तो; हि—निस्सन्देह; अस्य—जीवात्मा का; अस्ति—है; प्रियः—प्रिय; कश्चित्—कोई; न—न तो; अप्रियः—अप्रिय; स्वः—अपना; परः—पराया; अपि—भी; वा—अथवा; एकः—एक; सर्व-धियाम्—बुद्धि के विभिन्न प्रकारों का; द्रष्टा—देखने वाला; कर्तृणाम्—करने वालों का; गुण-दोषयोः—गुण तथा दोष का, उचित-अनुचित का।

**इस जीवात्मा को न तो कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय। यह अपने पराये में भेद-भाव नहीं रखता। यह अनन्य है, अर्थात् यह न तो मित्रों तथा शत्रुओं, न ही शुभचिन्तकों या दुराग्रह करने वालों से प्रभावित होता है। यह मनुष्यों के विभिन्न गुणों का मात्र दर्शक अथवा साक्षी है।**

**तात्पर्य :** जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, जीवात्मा तथा श्रीभगवान् के गुण एक से हैं, किन्तु जीव सूक्ष्म होने के कारण इन्हें कम, मात्रा में रखता है, जबकि परमात्मा सर्वव्यापी तथा विराट हैं। परमात्मा के न तो मित्र हैं, न शत्रु या सम्बन्धी ही, क्योंकि वे बद्धजीवों की सभी प्रकार की अयोग्यताओं से वे परे हैं। दूसरी ओर वे अपने भक्तों पर अत्यन्त अनुकूल एवं दयालु रहते हैं। वे उन व्यक्तियों से तनिक भी प्रसन्न नहीं होते जो उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—

*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽमस्ति न प्रियः ।*

*ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥*

"मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न किसी का पक्षपात; मेरा तो जीवमात्र में सम-भाव

है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे मित्र हैं और मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका मित्र हूँ।'' परमेश्वर के न तो शत्रु हैं न मित्र, किन्तु वे उस भक्त के प्रति अनुकूल हैं, जो उनकी भक्ति में सदा लगा रहता है। इसी प्रकार भगवान् *गीता* (१६.१९) में अन्यत्र कहते हैं—

*तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।*

*क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥*

''वे जो ईष्यालु है और दुराग्रही है उन नराधमों को मैं भवसागर में निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।'' ईश्वर उनके परम विरुद्ध रहते हैं, जो उनके भक्तों से द्वेष रखते हैं। अपने भक्तों की रक्षा के लिए कभी-कभी ईश्वर को उनके शत्रुओं का वध भी करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्रह्लाद महाराज की रक्षा के लिए उन्हें उनके शत्रु हिरण्यकशिपु का वध करना पड़ा यद्यपि उनके द्वारा मारे जाने से उसे मोक्ष मिल गया। चूँकि ईश्वर सबके कार्यों का साक्षी है, अतः वह अपने भक्तों के शत्रुओं के कार्यों को देखता रहता है और उनको दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है। किन्तु अन्य जीवात्माओं के कार्यों का वह साक्षी भर रहता है और उन्हें पाप या पुण्य कर्मों के अनुसार फल देता है।

**नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम् ।**
**उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; आदत्ते—स्वीकार करता है; आत्मा—परमात्मा; हि—निश्चय ही; गुणम्—सुख; न—नहीं; दोषम्—दुख; न—न तो; क्रिया-फलम्—किसी कर्म का फल; उदासीन-वत्—उदासीन पुरुष की तरह; आसीनः—बैठे हुए (हृदय में); पर-अवर-दृक्—कार्य और कारण को देखते हुए; ईश्वरः—परमेश्वर।

**कार्य और कारण का स्त्रष्टा यह आत्मा सकाम कर्मों से जनित सुख तथा दुख को स्वीकार नहीं करता। वह भौतिक देह स्वीकार करने या न करने के लिए परम स्वतंत्र है और भौतिक शरीर न होने के कारण वह सदैव उदासीन या तटस्थ रहता है। जीवात्मा ईश्वर का भिन्न अंश है और सूक्ष्म मात्रा में उनके गुणों को धारण किए रहता है। अतः मनुष्य को शोक**

**से प्रभावित नहीं होना चाहिए।**

**तात्पर्य :** बद्धजीव के शत्रु तथा मित्र दोनों होते हैं। वह अपनी स्थिति के कारण गुण और दोषों से प्रभावित होता है। किन्तु परमेश्वर तो सदैव दिव्य है। ईश्वर होने से द्वैतता का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अत: यह कहा जा सकता है कि वह अच्छे या बुरे कर्मों के कारणों तथा फलों का साक्षीस्वरूप हृदयों में स्थित रहता है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि उदासीन का अर्थ यह नहीं है कि वह क्रियाहीन रहता है। वरन् इसका अर्थ यह है कि वह स्वयं प्रभावित नहीं होता है। उदाहरणार्थ, जब न्यायाधीश के समक्ष दो विरोधी पक्ष उपस्थित होते हैं, तो वह निष्पक्ष (उदासीन) बना रहता है किन्तु वह फिर भी प्रसंगानुसार न्याय करता है। कर्मों के प्रति पूर्णतया उदासीन या निष्पक्ष रहने के लिए हमें परम उदासीन पुरुष के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

महाराज चित्रकेतु को यह उपदेश दिया गया कि पुत्र की मृत्यु जैसी दुखदायक घटना के उपस्थित होने पर उदासीन रह पाना असम्भव है। फिर भी चूँकि ईश्वर हर तरह से सन्तुलन करना जानते हैं, अत: सबसे सुगम मार्ग यही है कि उन्हीं पर आश्रित रहा जाये और उन्हीं की भक्ति की जाये। सभी परिस्थितियों में द्वैत-भाव से विचलित नहीं होना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (२.४७) में कहा गया है—

*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।*
*मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्माणि॥*

"तेरा अधिकार नियत कर्म करने में ही है, कर्मफल में नहीं। तू अपने को कर्मफल का हेतु भी न मान और कर्तव्य न करने में भी आसक्त न हो।" मनुष्य को चाहिए कि वह भक्ति का उत्तरदायित्व निभाये और कर्मफल के लिए भगवान् पर आश्रित रहे।

**श्रीबादरायणिरुवाच**
**इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा ।**
**विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वात्मस्नेहशृङ्खलाम् ॥ १२॥**

### शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उदीर्य—कहकर; गतः—चला गया; जीवः—जीवात्मा ( जो महाराज चित्रकेतु के पुत्र रूप में प्रकट हुआ था ); ज्ञातयः—सगे-सम्बन्धी; तस्य—उसके; ते—वे; तदा—उस समय; विस्मिताः—चकित; मुमुचुः—त्याग दिया; शोकम्—शोक; छित्त्वा—काट कर; आत्म-स्नेह—सम्बन्ध के कारण स्नेह की; शृङ्खलाम्—लोहे की जंजीर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—जब महाराज चित्रकेतु के पुत्र रूप में वह बद्धजीव इस प्रकार बोलकर जब चला गया तो चित्रकेतु तथा मृत पुत्र के अन्य सम्बन्धी अत्यन्त विस्मित हुए। तब उन्होंने उसके साथ अपने सम्बन्ध से उत्पन्न स्नेह-बन्धन को काट दिया और शोक का परित्याग कर दिया।

निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचिताः क्रियाः ।
तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम् ॥ १३॥

### शब्दार्थ

निर्हृत्य—हटा कर; ज्ञातयः—राजा चित्रकेतु तथा अन्य सम्बन्धी; ज्ञातेः—पुत्र का; देहम्—शरीर; कृत्वा—सम्पन्न करके; उचिताः—समुचित; क्रियाः—क्रियाएँ; तत्यजुः—त्याग दिया; दुस्त्यजम्—दुस्त्यज, छोड़ने में कठिन; स्नेहम्—स्नेह; शोक—शोक; मोह—मोह; भय—डर; अर्ति—तथा दुख; दम्—देने वाला।

मृत बालक के शरीर का दाह-संस्कार तथा यथोचित अनुष्ठान सम्पन्न करने के बाद सम्बन्धियों ने उस स्नेह को भी त्याग दिया जिसके कारण मोह, शोक, भय तथा दुख की प्राप्ति होती है। निस्सन्देह, ऐसे स्नेह को त्याग पाना कठिन है, किन्तु उन्होंने सरलता से परित्याग कर दिया।

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः ।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥ १४॥

### शब्दार्थ

बाल-घ्न्यः—बालक का वध करने वाली; व्रीडिताः—अत्यन्त लज्जित; तत्र—वहाँ; बाल-हत्या—बालक को मारने के कारण; हत—हीन; प्रभाः—समस्त शारीरिक द्युति; बाल-हत्या-व्रतम्—बालक की हत्या का प्रायश्चित्त; चेरुः—क्रिया; ब्राह्मणैः—पुरोहितों के द्वारा; यत्—जो; निरूपितम्—कथित; यमुनायाम्—यमुना नदी के तट पर; महा-राज—हे राजा परीक्षित; स्मरन्त्यः—स्मरण करते हुए; द्विज-भाषितम्—ब्राह्मण के द्वारा दिये गये आदेश।

रानी कृतद्युति की सौतें, जिन्होंने बालक को विष दिया था, अत्यन्त लज्जित हुईं और

**उनके शरीर कान्तिविहीन हो गये। हे राजन्! शोक करते हुए उन्हें ऋषि अंगिरा के उपदेश स्मरण हो आए और उन्होंने पुत्र उत्पन्न करने की कामना का परित्याग कर दिया। ब्राह्मणों के निर्देशानुसार वे यमुना के तट पर गईं, वहाँ पर स्नान किया और अपने पापकर्मों के लिए प्रायश्चित्त किया।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *बाल-हत्या-हत-प्रभा:* पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। बालहत्या की प्रथा दीर्घकाल से मानव समाज में चली आती रही है, किन्तु उस समय यह बिरले ही की जाती थी। किन्तु आजकल, कलि काल में गर्भपात—भ्रूणहत्या—एक सामान्य बात हो गई है। यहाँ तक कि कभी कभी जन्म के बाद भी बच्चे की हत्या कर दी जाती है। यदि कोई स्त्री ऐसा जघन्य कार्य करती है, वह धीरे धीरे अपने शरीर की कान्ति खो देती है।( *बाल-हत्या-हत-प्रभा:*) । यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि जिन स्त्रियों ने बच्चे को विष देने का घोर पापकर्म किया था, वे अत्यधिक लज्जित थीं और उन्हें ब्राह्मणों के आदेशानुसार बालहत्या के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ा। यदि किसी स्त्री ने कभी ऐसा दुष्कृत्य किया हो तो उसे प्रायश्चित्त करना होता है, किन्तु आजकल कोई ऐसा नहीं करता। ऐसी दशा में, जो स्त्री बालहत्या की अपराधी होती है उसे इस जीवन में तथा अगले जन्म में दुख भोगना पड़ेगा। इस घटना को सुनकर सत्यनिष्ठ आत्माओं को बालहत्या से विरत होना चाहिए और अपने दुष्कर्मों के लिए गम्भीरतापूर्वक श्रीकृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। यदि कोई निरपराध भाव से हरे कृष्ण महामंत्र का जप करता है, तो तुरन्त ही उसके सभी पापकर्मों का प्रायश्चित्त हो जाता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि ऐसे कर्म पुन:न करे, क्योंकि यह पाप है।

**स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।**
**गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः ॥ १५॥**

**शब्दार्थ**

सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; प्रतिबुद्ध-आत्मा—आत्मज्ञान से भली-भाँति परिचित होकर; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; द्विज-उक्तिभिः—परम ब्राह्मणों ( अंगिरा तथा नारद मुनि ) के आदेश से; गृह-अन्ध-कूपात्—गृहस्थ जीवन के अन्धे कुएँ से; निष्क्रान्तः—बाहर निकल आया; सरः—झील या जलाशय के; पङ्कात्—कीचड़ से; इव—समान; द्विपः—हाथी के।

परम ब्राह्मण अंगिरा तथा नारद के उपदेशों से जाग्रत होकर राजा चित्रकेतु आत्मज्ञान से भलीभाँति अवगत हो गया। जिस प्रकार हाथी कीचड़-युक्त जलाशय से बाहर निकल आता है, वैसे ही राजा चित्रकेतु गृहस्थ जीवन के अंधकूप से बाहर निकल आया।

कालिन्द्यां विधिवत्स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः ।
मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कालिन्द्याम्—यमुना नदी में; विधि-वत्—विधिपूर्वक; स्नात्वा—नहा कर; कृत—पूरा करते हुए; पुण्य—पावन; जल-क्रियः—तर्पण, जल देने की क्रिया; मौनेन—गम्भीरतापूर्वक; संयत-प्राणः—मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके; ब्रह्म-पुत्रौ—ब्रह्माजी के दोनों पुत्रों ( अंगिरा तथा नारद ) की; अवन्दत—वन्दना की।

राजा ने यमुना जल में स्नान किया और विधिपूर्वक अपने पितरों तथा देवताओं को जल का अर्घ्य दिया। फिर इन्द्रियों तथा मन को बड़े विकटता से संयमित करते हुए उन्होंने ब्रह्माजी के दोनों पुत्रों ( अंगिरा तथा नारद ) को नमस्कार किया।

अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने ।
भगवान्नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; तस्मै—उस; प्रपन्नाय—शरणागत; भक्ताय—भक्त को; प्रयत-आत्मने—आत्म-संयमी; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; नारदः—नारद; प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; विद्याम्—दिव्य ज्ञान; एताम्—यह; उवाच—बोले; ह—निस्सन्देह।

तत्पश्चात् आत्मसंयमी तथा शरणागत भक्त चित्रकेतु पर अत्यधिक प्रसन्न होकर सर्वाधिक शक्तिमान मुनि नारद ने निम्नानुस्तर दिव्य उपदेश दिया।

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ १८ ॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥ १९ ॥

### शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—श्रीभगवान्; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण को; धीमहि—ध्यान करने दो; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; नमः—नमस्कार है; सङ्कर्षणाय—भगवान् संकर्षण को; च—भी; नमः—नमस्कार है; विज्ञान-मात्राय—ज्ञान से पूर्ण रूप को; परम-आनन्द-मूर्तये—दिव्य आनन्द से पूर्ण; आत्म-आरामाय—आत्मनिर्भर ( आत्माराम ) भगवान् को; शान्ताय—तथा शान्त; निवृत्त-द्वैत-दृष्टये—जिसकी दृष्टि द्वैत से हट गई है, अथवा जो अद्वितीय है।.

**[नारद ने चित्रकेतु को निम्नलिखित मंत्र प्रदान किया]। ॐकार ( प्रणव ) नाम से सम्बोधित किये जाने वाले हे ईश्वर, हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे भगवान् वासुदेव! मैं आपका ध्यान करता हूँ। हे भगवान् प्रद्युम्न, भगवान् अनिरुद्ध तथा भगवान् संकर्षण! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे दिव्य शक्ति के आगार, हे परमानन्द! मैं आत्मनिर्भर ( आत्माराम ) तथा परम शान्त आपको सादर नमस्कार करता हूँ। हे परम सत्य, अद्वितीय! आप ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् रूप में जाने जाते हैं, अतः आप समस्त ज्ञान के आगार हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे *प्रणवः सर्ववेदेषु*—वैदिक मंत्रों में ॐ अक्षर हैं। दिव्य ज्ञान में भगवान् को प्रणव ॐकार के रूप में सम्बोधित किया जाता है, जो नाद रूप में ईश्वर का प्रतीकात्मक रूप है। *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* वासुदेव जो नारायण का अंश है अपने आपको प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण रूप में विस्तारित करते हैं। संकर्षण से नारायण का दूसरा विस्तार होता है और इस नारायण से वासुदेव, प्रद्युम्न, संकर्षण और अनिरुद्ध का विस्तार होता है। संकर्षण तीन पुरुषों के इस समूह के आदि कारण हैं। इनके नाम हैं कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। क्षीरोदकशायी विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में श्वेतद्वीप नामक विशेष लोक में अवस्थित हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में मिलती है—*अण्डान्तरस्थ। अण्ड* शब्द का अर्थ है यह ब्रह्माण्ड। इस ब्रह्माण्ड में श्वेतद्वीप नामक एक लोक है जहाँ क्षीरोदकशायी विष्णु अवस्थित हैं। उन्हीं से इस ब्रह्माण्ड के सारे अवतार उद्भूत हैं।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है श्रीभगवान् के ये समस्त रूप अद्वैत तथा अच्युत हैं—बद्धजीवों की भाँति वे नीचे नहीं गिरते। सामान्य जीवात्मा माया के चंगुल में गिर सकता है, किन्तु

परमात्मा अपने विभिन्न अवतारों तथा रूपों में अच्युत हैं। अत: उनका शरीर बद्धजीव के शरीर से भिन्न होता है।

*मात्रा* शब्द की व्याख्या *मेदिनीकोश* में इस प्रकार दी हुई है—*मात्रा कर्ण-विभूषायां वित्ते माने परिच्छदे*—अर्थात् मात्रा शब्द का अर्थ विभिन्न संदर्भो में कान का अलंकरण, सम्पत्ति, आदर तथा आवरण का स्वामित्व है। *भगवद्गीता* (२.१४) में कहा गया है—

*मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।*

*आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥*

"हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने-जाने के समान ही अनित्य तथा क्षणभंगुर हैं। वे इन्द्रियों की अनुभूति से होती है इसलिए हे अर्जुन! विचलित हुए बिना उसको सहने का अभ्यास कर।" इस बद्ध जीवन में, शरीर वस्त्र की भाँति काम में लाया जाता है। जिस प्रकार हमें गर्मी तथा सर्दी में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार हम बद्धजीव अपनी कामनाओं के ही अनुरूप अपना शरीर बदलते रहते हैं। किन्तु भगवान् का शरीर ज्ञान से पूर्ण होने के कारण इसे किसी प्रकार के आच्छादन (वस्त्र) की आवश्यकता नहीं होती। यह विचार कि श्रीकृष्ण का शरीर भी हमारी ही तरह है—अर्थात् उनके शरीर तथा आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, हमारी नासमझी है। श्रीकृष्ण में ऐसा अन्तर नहीं होता, क्योंकि उनका शरीर ज्ञानमय है। हमें तो भौतिक शरीर इसलिए प्राप्त होता है क्योंकि हममें ज्ञान का अभाव रहता है, किन्तु वासुदेव श्रीकृष्ण ज्ञान से पूरित हैं इसलिए उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। श्रीकृष्ण को आज से ४ करोड़ वर्ष पूर्व सूर्यदेव से कहे गये वचन याद हैं, किन्तु सामान्य मनुष्य को एक दिन पहले कही गयी बातें याद नहीं रहती हैं। हमारे शरीर तथा श्रीकृष्ण के शरीर में यही अन्तर है। इसलिए ईश्वर को *विज्ञान-मात्राय परमानन्दमूर्तये* कहा गया है।

चूँकि भगवान् का शरीर ज्ञानमय है, अत: वे सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते रहते हैं।

दरअसल, उनका स्वरूप ही परमानन्द है। इसकी पुष्टि *वेदान्त सूत्र* में हुई है। *आनन्दमयोऽभ्यासात्।* ईश्वर सहज ही आनन्दमय है। जब भी हम श्रीकृष्ण का दर्शन करते हैं, वे सभी परिस्थितियों में आनन्दमय रहते हैं। उन्हें कोई खिन्न नहीं कर सकता। *आत्मारामाय*—उन्हें बाहरी सुख ढूँढने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे आत्म-निर्भर हैं। *शान्ताय*—उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। जिसे अन्य साधनों से आनन्द खोजना होता है, वह सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है। कर्मी, ज्ञानी तथा योगी चिन्ता से पूर्ण रहते हैं, क्योंकि उन्हें कुछ न कुछ चाहिए, किन्तु भक्त को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो परम आनन्दमय भगवान् की सेवा करके ही संतुष्ट रहता है।

*निवृत्त-द्वैत-दृष्टये*—हमारे बद्ध जीवन में हमारे शरीर में विभिन्न अंग होते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के विभिन्न अंगों का आभास तो होता है पर उनके शरीर का कोई भी अंग दूसरे अंग से भिन्न नहीं होता। श्रीकृष्ण अपने नेत्रों से देख सकते हैं और नेत्रों के बिना भी देख सकते हैं। अत: *श्वेताश्वतर उपनिषद्* का वचन है—*पश्यत्यचक्षु:*। वे अपने हाथों तथा पाँवों से देख सकते हैं। उन्हें किसी विशेष कार्य को करने के लिए शरीर का कोई विशेष अंग नहीं चाहिए *अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति*—वे अपने शरीर के किसी भी अंग से कोई भी इच्छित कार्य कर सकते हैं इसलिए वे सर्वशक्तिमान कहलाते हैं।

**आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नम: ।**
**हृषीकेशाय महते नमस्तेऽनन्तमूर्तये ॥ २० ॥**

### शब्दार्थ

आत्म-आनन्द—आपके अपने आनन्द की; अनुभूत्या—अनुभूति से; एव—निश्चय ही; न्यस्त—परित्यक्त; शक्ति-ऊर्मये—भौतिक शक्ति ( माया ) की लहरें; नम:—नमस्कार; हृषीकेशाय—इन्द्रियों के परम नियामक को; महते—परमात्मा को; नम:—नमस्कार; ते—तुमको; अनन्त—असीम; मूर्तये—जिनका विस्तार ( प्रकाश )।

**अपने व्यक्तिगत आनन्द का अनुभव करते हुए आप सदैव भौतिक प्रकृति की लहरों के परे हैं। अत: हे ईश्वर! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। आप इन्द्रियों के परम नियामक ( प्रेरक ) हैं और आपके रूप के प्रकाश ( विस्तार ) अनन्त हैं। आप परम महान् हैं, अत: मैं**

**आपको सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर बताया गया है। बद्धजीव तथा ईश्वर के रूपों में अन्तर है, क्योंकि ईश्वर सदा आनन्दमय है, किन्तु जीव सदैव भौतिक संसार के ताप-त्रय के अधीन रहता है। परमेश्वर तो सच्चिदानन्द विग्रह हैं। वे अपने आप से आनन्द प्राप्त करते हैं। उनका शरीर दिव्य सत्त्वमय है, किन्तु बद्धजीव को भौतिक शरीर के कारण अनेक शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ सताती रहती हैं। बद्धजीव सदैव आसक्ति तथा विरक्ति से पीड़ित रहता है, जबकि ईश्वर इस द्वैतता से सदा मुक्त रहता है। ईश्वर समस्त इन्द्रियों का परम स्वामी है, जबकि बद्धजीव इन्द्रियों द्वारा संचालित होता है। ईश्वर विराट है, जबकि जीवात्मा सूक्ष्मतम है। जीवात्मा को माया की लहरें प्रभावित करती रहती हैं, किन्तु परमेश्वर समस्त कर्मों तथा उनके फलों से परे हैं। परमेश्वर के अनेकानेक विस्तार हैं (*अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्त-रूपम्*) किन्तु बद्ध जीवात्मा का केवल एक रूप होता है। इतिहास बताता है कि कभी-कभी जीवात्मा योगशक्ति से आठ रूपों में विस्तार कर सकता है, किन्तु ईश्वर के शारिरिक विस्तार अनन्त हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की देहों का कोई वार-पार नहीं है।

**वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह ।**
**अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥ २१ ॥**

**शब्दार्थ**

वचसि—जब शब्द ( वाणी ); उपरते—नहीं रहते; अप्राप्य—लक्ष्य न प्राप्त करके; यः—जो; एकः—एक; मनसा—मन के; सह—साथ; अनाम—बिना नाम का; रूपः—अथवा भौतिक रूप; चित्-मात्रः—पूर्णतया आध्यात्मिक; सः—वह; अव्यात्—रक्षा करे; नः—हमारी; सत्-असत्-परः—जो समस्त कारणों का कारण ( परम कारण ) है।.

**बद्धजीव की वाणी तथा मन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तक नहीं पहुँच पाते क्योंकि वे नितान्त आत्मस्वरूप, स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की अवधारणाओं से परे हैं, अतः उन पर भौतिक नाम तथा रूप लागू नहीं होते। निर्गुण ब्रह्म उनके अन्य रूपों में से है। वे अपने आनन्द-स्वरुप से हमारी रक्षा करें।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में निराकार ब्रह्म, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की ज्योति है, वर्णन हुआ है।

**यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते ।**
**मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥ २२ ॥**

### शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह ( दृश्य जगत ); यतः—जिससे; च—भी; इदम्—यह ( दृश्य जगत ); तिष्ठति—स्थित है; अप्येति—विलीन होता है; जायते—उत्पन्न होता है; मृत्-मयेषु—मिट्टी से बनी वस्तुओं में; इव—के जैसा; मृत्-जातिः—मिट्टी से जन्मा; तस्मै—उस ( ईश्वर ); ते—तुमको; ब्रह्मणे—परम कारण; नमः—नमस्कार।

**जिस प्रकार मिट्टी के पात्र बनाये जाने के बाद पृथ्वी पर स्थित रहते हैं और तोड़ दिये जाने पर पुनः मिट्टी बन जाते हैं, उसी प्रकार से यह दृश्य जगत परम ब्रह्म द्वारा उत्पन्न किया जाता है, उन्हीं में स्थित रहता है और उन्हीं में विलीन हो जाता है। अतः ब्रह्म के कारण स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम को हमारा सादर नमस्कार है।**

**तात्पर्य :** परमेश्वर इस दृश्य जगत के कारण हैं, वे ही सृष्टि के बाद इसके पालन करने वाले तथा प्रलय के बाद प्रत्येक वस्तु के आगार हैं।

**यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।**
**अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

यत्—जिसको; न—नहीं; स्पृशन्ति—छू सकता है; न—नहीं; विदुः—जान सकता है; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असवः—प्राण; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; च—भी; विततम्—प्रसारित; व्योम-वत्—आकाश के समान; तत्—उसको; नतः—प्रणत; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं।

**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से प्रादुर्भूत होकर परम ब्रह्म व्योम की तरह विस्तृत हो जाता है। यद्यपि इसको कोई भौतिक पदार्थ स्पर्श नहीं कर सकता, किन्तु यह भीतर तथा बाहर विद्यमान है। तो भी मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राणशक्ति न तो उसका स्पर्श कर सकती हैं, न उसे जान सकती हैं। मैं उनको सादर नमस्कार करता हूँ।**

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।
नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति ॥ २४॥

## शब्दार्थ

देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रिय; प्राण—प्राणशक्ति; मनः—मन; धियः—तथा बुद्धि; अमी—ये सब; यत्-अंश-विद्धाः—ब्रह्म या परमेश्वर की किरणों से प्रभावित; प्रचरन्ति—फैलती हैं; कर्मसु—विभिन्न गतिविधियों में; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अन्यदा—अन्य अवसरों पर; लौहम्—लोहा; इव—के समान; अप्रतप्तम्—( अग्नि से ) अतप्त; स्थानेषु—उन स्थितियों में; तत्—वह; द्रष्टृ-अपदेशम्—किसी दृष्ट वस्तु का नाम; एति—प्राप्त करता है।

**जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क से तप्त हुआ लोहा भस्म कर देने में समर्थ है उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, प्राणशक्ति, मन तथा बुद्धि पदार्थ के पिण्ड मात्र होते हुए भी श्रीभगवान् द्वारा चेतना के कणमात्र से पूरित होने पर अपने-अपने कार्य करने लगते हैं। जिस प्रकार अग्नि में तप्त हुए बिना लोहा कुछ भी जला पाने में अशक्त रहता है उसी प्रकार ये शारीरिक इन्द्रियाँ परमेश्वर की कृपादृष्टि के बिना कार्य नहीं कर सकतीं।**

**तात्पर्य :** तपाकर लाल किया गया लोहा जला सकता है, किन्तु वह मूल अग्नि को भस्म नहीं कर सकता। अत: ब्रह्म के सूक्ष्म कण की चेतना परब्रह्म की शक्ति पर पूर्णतया आश्रित है। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—बद्धजीव मुझी से स्मृति, *ज्ञान* तथा विस्मृति प्राप्त करता है। कार्य करने की शक्ति परमेश्वर से प्राप्त होती है और जब भगवान् शक्ति वापस ले लेते हैं, तो बद्धजीव की इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती। शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन के अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु वास्तव में ये पदार्थ के खण्डों के सदृश हैं। उदाहरणस्वरूप, मस्तिष्क पदार्थ के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु जब वही श्रीभगवान् की शक्ति से विद्युन्मय हो जाता है, तो कार्य कर सकता है, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में आकर लाल होने पर लोहा जला सकने में समर्थ है। हमारे जगते रहने या स्वप्न देखते समय भी मस्तिष्क कार्य कर सकता है, किन्तु हमारे संज्ञाशून्य होने पर यह निष्क्रिय रहता है या प्रगाढ़ निद्रा के समय यह निष्क्रिय रहता है। चूंकि मस्तिष्क पदार्थ का एक पिण्ड है, इसमें कार्य

करने की स्वतंत्र सक्षमता नहीं होती है वह तभी कार्य कर सकता है जब उस पर ब्रह्म या परब्रह्म स्वरूप श्रीभगवान् की कृपादृष्टि होती है। यही वह विधि है, जिससे यह समझा जा सकता है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण सर्वत्र व्याप्त हैं। जैसे सूर्य मण्डल में सूर्यदेव की उपस्थिति के कारण धूप दिखती है। परमेश्वर को हृषीकेश कहा जाता है। वे ही इन्द्रियों के एकमात्र संचालक हैं। जब तक उनकी शक्ति प्राप्त नहीं होती, हमारी इन्द्रियाँ कार्य नहीं कर सकतीं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर ही एकमात्र द्रष्टा, कर्ता, श्रोता तथा नियन्ता है।

**ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये**
**सकलसात्वतपरिवृढनिकर करकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परमपरमेष्ठिन्नमस्ते. ॥ २५ ॥**

**शब्दार्थ**

ॐ—हे भगवन्; नमः—नमस्कार; भगवते—छः ऐश्वर्यों से पूर्ण ब्रह्म आपको; महा-पुरुषाय—परम भोक्ता; महा-अनुभावाय—परम सिद्ध आत्मा या परमात्मा; महा-विभूति-पतये—समस्त योग-शक्तियों के स्वामी; सकल-सात्वत-परिवृढ—समस्त श्रेष्ठ भक्तों का; निकर—समूह; कर-कमल—कमल रूपी हाथों का; कुड्मल—कलियों का; उपलालित—सेवित; चरण-अरविन्द-युगल—जिनके दोनों चरणकमल; परम—सर्वोच्च; परमे-ष्ठिन्—वैकुण्ठलोक में स्थित; नमः ते—आपको नमस्कार है।.

**हे वैकुण्ठलोक में आसीन दिव्य ईश्वर! आपके चरणकमल सदैव श्रेष्ठ-भक्तों के समुदाय के करकमलों के द्वारा चाँपे जाते हैं। आप छः ऐश्वर्यों से पूर्ण श्रीभगवान् हैं। आप पुरुषसूक्त की स्तुतियों में वर्णित परम पुरुष हैं। आप परम पूर्ण, समस्त योग-शक्तियों के स्वरूपसिद्ध स्वामी हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** कहा जाता है परम सत्य तो एक है, किन्तु वह ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् जैसे विविध रूपों में प्रकट होता रहता है। पिछले श्लोकों में परम सत्य के ब्रह्म तथा परमात्मा रूपों का वर्णन हो चुका है। अब यह परम पुरुष के प्रति भक्तियोग में की गई स्तुति है। इस प्रसंग में *सकल-सात्वतपरिवृढ* शब्दों का प्रयोग हुआ है। *सात्वत* शब्द का अर्थ 'भक्तजन' है और *सकल* का अर्थ है "सब मिलकर।" भक्तों के भी चरणकमल होते हैं और वे अपने कर-कमलों से भगवान् के चरणकमलों की सेवा करते हैं। कभी-कभी भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में

सक्षम नहीं होते इसलिए भगवान् को *परम-परमेष्ठिन्* कहा गया है। परम पुरुष होते हुए भी वे भक्तों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। भगवान् की सेवा करने के लिए कोई भी योग्य (सक्षम) नहीं है, किन्तु फिर भी यदि भक्त उसके योग्य नहीं होता तो दयालु भगवान् उसके इस विनीत प्रयत्न को स्वीकार कर लेते हैं।

**श्रीशुक उवाच**
**भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः ।**
**ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो ॥ २६ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भक्ताय—भक्त को; एताम्—यह; प्रपन्नाय—शरणागत को; विद्याम्—दिव्य ज्ञान; आदिश्य—उपदेश देकर; नारदः—परम साधु नारद; ययौ—चले गये; अङ्गिरसा—परम सन्त अंगिरा; साकम्—के साथ; धाम—सर्वोच्च लोक के लिए; स्वायम्भुवम्—ब्रह्माजी के; प्रभो—हे राजन्।

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—चित्रकेतु के पूर्णतः शरणागत होने पर गुरु हो जाने के कारण नारद ने इस स्तुति के द्वारा उसे पूरा पूरा उपदेश दिया। हे राजा परीक्षित! तत्पश्चात् अंगिरा ऋषि सहित नारद मुनि ब्रह्मलोक नामक सर्वोच्च लोक के लिए चल पड़े।**

**तात्पर्य :** जब अंगिरा राजा चित्रकेतु को सर्वप्रथम देखने आये थे तो अपने साथ नारद को नहीं लाये थे। किन्तु चित्रकेतु के पुत्र की मृत्यु के पश्चात् वे नारद को अपने साथ इसलिए ले आये जिससे वे चित्रकेतु को भक्तियोग के सम्बन्ध में उपदेश दे सकें। अन्तर यह था कि प्रारम्भ में चित्रकेतु में वैराग्य वृत्ति नहीं थी, किन्तु पुत्र की मृत्यु के पश्चात् अब वह शोक से अत्यन्त संतप्त था, तो जगत तथा भौतिक सम्पत्ति की असारता के विषय में उपदेश दिये जाने पर उसमें वैराग्य जागृत हुआ। यही अवस्था है, जिसमें भक्तियोग का उपदेश दिया जा सकता है। जब तक मनुष्य भौतिक सुखभोग में आसक्त रहता है तब तक भक्तियोग समझ में नहीं आता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.४४) में की गई है—

*भोगेश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेसाम्।*

*व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥*

''जो मनुष्य विषयभोग तथा लौकिक ऐश्वर्य में गहरी आसक्ति के कारण इस प्रकार मोहित हो रहे हैं उनके चित्त में भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं हो पाता।'' जब तक मनुष्य विषयभोग के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है तब तक उसका मन भक्ति जैसे विषय पर केन्द्रित नहीं हो पाता।

इस समय पश्चिमी देशों में कृष्णभावनामृत आन्दोलन सफलतापूर्वक इसलिए अग्रसर हो रहा है क्योंकि पश्चिम के युवक वैराग्य की अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। वे समस्त भौतिक सुख से एक प्रकार से ऊब चुके हैं, अत: समूचे पश्चिमी देशों में हिप्पियों की जनसंख्या हो गई है। अत: यदि ऐसे युवा व्यक्तियों को भक्तियोग अर्थात् कृष्णभावनामृत का उपदेश दिया जाता है, तो वह अवश्य ही प्रभावशाली होगा।

ज्योंही चित्रकेतु को वैराग्य विद्या का दर्शन समझ में आ गया त्योंही वह भक्तियोग की प्रक्रिया को समझ सका। इस सम्बन्ध में श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा है—*वैराग्य-विद्या निजभक्तियोग।* वैराग्य विद्या तथा भक्तियोग समान्तर रेखाएँ हैं। एक को समझने के लिए दूसरा अनिवार्य है। यह भी कहा गया है—*भक्तिः परदेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (*भागवत ११.२.४२*)। कृष्णभावनामृत अथवा भक्ति में उन्नति का लक्षण है भौतिक सुख से बढ़ती हुई विरक्ति। नारद मुनि भक्ति के जनक हैं, इसलिए चित्रकेतु पर अहैतुकी कृपा करने के कारण उसे उपदेश देने के लिए अंगिरा अपने साथ नारद मुनि को लेते आये। उनके इन उपदेशों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। जो कोई नारद मुनि के चरण-चिह्नों का अनुसरण करता है, वह निश्चय ही शुद्ध भक्त है।

**चित्रकेतुस्तु तां विद्यां यथा नारदभाषिताम् ।**
**धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः ॥ २७॥**

### शब्दार्थ

चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु ने; तु—निस्सन्देह; ताम्—उस; विद्याम्—दिव्य ज्ञान को; यथा—जिस प्रकार; नारद-भाषिताम्—परम साधु नारद द्वारा उपदेश दिया गया; धारयाम् आस—जाप किया; सप्त-अहम्—लगातार एक सप्ताह तक; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर; सु-समाहितः—अत्यन्त ध्यानपूर्वक।

**केवल जल पीकर उपवास करते हुए राजा चित्रकेतु ने नारद मुनि द्वारा दिये गये मंत्र का**

**एक सप्ताह तक अत्यन्त ध्यानपूर्वक लगातार जप किया।**

**ततः स सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।**
**विद्याधराधिपत्यं च लेभेऽप्रतिहतं नृप ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ

ततः—इससे; सः—वह; सप्त-रात्र-अन्ते—सात रातों के बाद; विद्यया—स्तुतियों से; धार्यमाणया—अत्यन्त सावधानी से अभ्यास करने से; विद्याधर-अधिपत्यम्—विद्याधरों का स्वामित्व ( बीच के फल के रूप में ); च—भी; लेभे—प्राप्त किया; अप्रतिहतम्—गुरु द्वारा दिये गये उपदेशों से विचलित न होते हुए; नृप—हे राजा परीक्षित।

**हे राजा परीक्षित! अपने गुरु से प्राप्त मंत्र को केवल सात दिनों तक अभ्यास करने पर राजा चित्रकेतु को अन्तिम फल के रूप में आत्मज्ञान हो जाने से विद्याधर लोक का राज्य प्राप्त हुआ।**

**तात्पर्य :** यदि दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद कोई भक्त अपने गुरु के उपदेशों का कठोरता से पालन करता है, तो उसे *विद्याधर-अधिपत्यम्* का भौतिक ऐश्वर्य एवं अन्य पद प्राप्त होते हैं। भक्त को सफलता प्राप्त करने के लिए योग, कर्म या ज्ञान की साधना नहीं करनी होती। अकेले भगवद्भक्ति से उसे समस्त भौतिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। किन्तु शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक शक्ति के प्रति आसक्त नहीं होता, यद्यपि वह उसे बिना प्रयास के सुगमता से ही प्राप्त होती है। चित्रकेतु को नारद के उपदेशों के अनुसार भक्ति में तत्परता से अग्रसर होने से यह अतिरिक्त लाभ हो सका।

**ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः ।**
**जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम् ॥ २९ ॥**

शब्दार्थ

ततः—तदनन्तर; कतिपय-अहोभिः—कुछ ही दिनों के भीतर; विद्यया—आध्यात्मिक मंत्र से; इद्ध-मनः-गतिः—मन के पथ के प्रकाशित होने से; जगाम—गया; देव-देवस्य—अन्य देवताओं के स्वामी; शेषस्य—भगवान् शेष के; चरण-अन्तिकम्—चरणकमल की शरण में।

**तदनन्तर कुछ ही दिनों में चित्रकेतु द्वारा जपे गए मंत्र के प्रभाव से उस का मन आत्म-ज्ञान से अत्यधिक प्रकाशित हो गया और उन्होंने अनन्त देव के चरणारविन्द की शरण प्राप्त**

**की।**

**तात्पर्य :** भक्त की चरम सिद्धि वैकुण्ठ के किसी एक लोक में ईश्वर के चरणारविन्द में शरण प्राप्त करना है। भक्ति के कठोर अनुष्ठान से यदि भक्त चाहता है, तो उसे सभी भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं, अन्यथा न तो भक्त को ऐश्वर्य की इच्छा रहती है और न परमेश्वर ही उसे प्रदान करते हैं। ईश्वर की भक्ति में संलग्न भक्त का वास्तविक ऐश्वर्य, भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई भक्त एक सुन्दर तथा मूल्यवान मन्दिर के निर्माण में धन व्यय करता है, तो यह निर्माण-कार्य भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है (*निर्बन्धः कृष्ण-सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते*)। भक्त का मन कभी भी मन्दिर के भौतिक पक्ष की ओर नहीं जाता। मन्दिर के निर्माण में लगने वाली ईंटें, पत्थर तथा लकड़ी सभी श्रीविग्रह (मूर्ति) के ही समान आध्यात्मिक हैं, जो पत्थर से निर्मित होने पर भी पत्थर न होकर स्वयं श्रीभगवान् होता है। ज्यों-ज्यों भक्त आध्यात्मिक-चेतना की ओर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसे भक्ति के तत्त्व और अधिक स्पष्ट होते जाते हैं। भक्ति में कुछ भी भौतिक नहीं है; प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। फलतः भक्त को तथाकथित भौतिक ऐश्वर्य इसलिए प्रदान किया जाता है कि वह आत्मिक उन्नति करे। यह ऐश्वर्य भक्त को वैकुण्ठ धाम के निकट पहुँचने के लिए सहायता के रूप में होता है। इस प्रकार महाराज चित्रकेतु विद्याधर पति के रूप में भौतिक ऐश्वर्य में ही बने रहे। भक्ति साधना के द्वारा वे कुछ ही दिनों में सिद्ध होकर भगवान् के धाम जाकर भगवान् शेष अथवा अनन्त के चरणकमल की शरण को प्राप्त हुए।

एक कर्मी का भौतिक ऐश्वर्य तथा भक्त का ऐश्वर्य एकसमान नहीं होते, इस पर श्रील मध्वाचार्य की टीका इस प्रकार है—

*अन्यान्तर्यामिणं विष्णुं उपास्यान्यसमीपगः॥*

*भवेद् योग्यतया तस्य पदं वा प्राप्नुयान् नरः॥*

भगवान् विष्णु की आराधना से भक्त को मनवांछित फल प्राप्त हो सकता है, किन्तु शुद्ध भक्त

उनसे कभी लाभ की याचना नहीं करता। उल्टे वह निष्काम भाव से भगवान् विष्णु की सेवा करता है, जिससे अन्तत: उसे वैकुण्ठ धाम भेज दिया जाता है। इस सन्दर्भ में श्रील वीरराघव आचार्य की टीका है—*यथेष्ट-गतिरित्य अर्थ:*—विष्णु की आराधना से भक्त को मनवांछित प्राप्ति होती है। महाराज चित्रकेतु भगवान् के धाम को ही वापस जाना चाहते थे, अत: उन्हें इसमें सफलता प्राप्त हुई।

**मृणालगौरं शितिवाससं स्फुरत्-**
**किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।**
**प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं**
**ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

मृणाल-गौरम्—कमल के रेशों के समान श्वेत; शिति-वाससम्—नीले रेशम के वस्त्र धारण किये; स्फुरत्—चमकते हुए; किरीट—मुकुट; केयूर—बाजूबंद, बिजावट; कटित्र—करधनी; कङ्कणम्—जिनके कंगन; प्रसन्न-वक्त्र—स्मित मुख; अरुण-लोचनम्—लाल-लाल नेत्र वाला; वृतम्—घिरा हुआ; ददर्श—देखा; सिद्ध-ईश्वर-मण्डलैः—परम सिद्ध भक्तों के द्वारा; प्रभुम्—श्रीभगवान् को।

**भगवान् शेष की शरण में पहुँचकर चित्रकेतु ने देखा कि वे कमल-पुष्प के श्वेत रेशों के समान ही श्वेत वर्ण के थे। उन्होंने नीला वस्त्र धारण कर रखा था और चमचमाते मुकुट, बाजूबंद, करधनी तथा कंगन से आभूषित थे। उनका मुख मन्द हँसी से युक्त था। उनके नेत्र रक्तिम थे। वे सनत्कुमार जैसे मुक्त पुरुषों से घिरे हुए थे।**

**तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः**
**स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।**
**प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः**
**प्रहृष्टरोमानमदादिपुरुषम् ॥ ३१ ॥**

### शब्दार्थ

तत्-दर्शन—श्रीभगवान् के दर्शन से; ध्वस्त—विनष्ट; समस्त-किल्बिषः—समस्त पाप; स्वस्थ—स्वस्थ; अमल—तथा शुद्ध; अन्तःकरणः—जिसके हृदय का अभ्यन्तर; अभ्ययात्—आमने-सामने पहुँच कर; मुनिः—राजा, जो मानसिक तुष्टि से शान्त था; प्रवृद्ध-भक्त्या—भक्ति बढ़ने की प्रवृत्ति के कारण; प्रणय-अश्रु-लोचनः—प्रेम के कारण अश्रुपूरित नेत्र; प्रहृष्ट-रोम—हर्ष के कारण रोमांचित; अनमत्—नमस्कार किया; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष को।

**परमेश्वर का दर्शन पाते ही महाराज चित्रकेतु के समस्त भौतिक कल्मष धुल गये और वे पूर्णतः पवित्र हो जाने के कारण अपनी मूल कृष्णचेतना ( भक्ति ) में स्थित हो गये। वे पूर्णतः पवित्र हो जाने के कारण शान्त एवं गम्भीर हो गये, ईश्वर के प्रेमवश उनकी आँखों से अश्रु झरने लगे और अन्त में उन्हें रोमांच हो आया। उन्होंने अत्यन्त भक्ति तथा प्रेम-पूर्वक आदि भगवान् को सादर नमस्कार किया।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *तद्-दर्शन-ध्वस्त-समस्त-किल्बिष:* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई मन्दिर में भगवान् का नियमित दर्शन करता है, तो मात्र मन्दिर तथा मूर्ति को देखते रहने से वह समस्त भौतिक कामनाओं के संक्रामक रोग से मुक्त हो जाता है। जब मनुष्य समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त हो जाता है, तो वह पवित्र बन जाता है। तभी स्वस्थचित्त तथा पूर्ण स्वच्छ होकर वह कृष्णभावनामृत (भक्ति) में अग्रसर होता है।

**स उत्तमश्लोकपदाब्जविष्टरं**
**प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्मुहुः ।**
**प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो**
**नैवाशकत्तं प्रसमीडितुं चिरम् ॥ ३२ ॥**

### शब्दार्थ

सः—वह; उत्तमश्लोक—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; पद-अब्ज—चरणकमल का; विष्टरम्—आसन ( चौकी ); प्रेम-अश्रु—शुद्ध प्रेम के आँसुओं के; लेशैः—बूँदों से; उपमेहयन्—सिक्त करके; मुहुः—पुनः पुनः; प्रेम-उपरुद्ध—प्रेम से गला रुँधकर; अखिल—समस्त; वर्ण—अक्षरों का; निर्गमः—बाहर निकलना; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अशकत्—समर्थ; तम्—उसको; प्रसमीडितुम्—प्रार्थना करने में; चिरम्—दीर्घ काल तक ।

**चित्रकेतु के प्रेमाश्रुओं से भगवान् के चरणकमल का आसन ( चौकी ) बार बार भीग जाता था। आल्हाद के कारण वाणी अवरुद्ध हो जाने से वे लम्बे अन्तराल तक भगवान् की उचित स्तुति में एक भी शब्द का उच्चारण न कर पाये।**

**तात्पर्य :** सभी अक्षर तथा अक्षरों से निर्मित शब्द भगवान् की स्तुति करने के निमित्त होते हैं। महाराज चित्रकेतु को अक्षरों से सुन्दर श्लोक तैयार करके भगवान् की स्तुति करने का सुअवसर

प्राप्त हुआ था, किन्तु आल्हाद के कारण वे बहुत समय तक उन शब्दों को स्तुति करने के लिए जोड़ ही नहीं पाये। *श्रीमद्भागवत* (१.५.२२) में कहा गया है—

*इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा*

*स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।*

*अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो*

*यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥*

यदि किसी के पास वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक अथवा कोई अन्य योग्यता है और ज्ञान-सिद्धि चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह श्रेष्ठ कविता बनाकर भगवान् की स्तुति करे अथवा अपनी प्रतिभा को ईश्वर की सेवा में लगाए। चित्रकेतु ऐसा ही करना चाह रहे थे, किन्तु प्रेमाभिभूत होने के कारण वे ऐसा करने में असमर्थ थे। अतः स्तुति करने के पूर्व उन्हें देर तक रुके रहना पड़ा।

**ततः समाधाय मनो मनीषया**
**बभाष एतत्प्रतिलब्धवागसौ ।**
**नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्तनं**
**जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम् ॥ ३३ ॥**

### शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; समाधाय—संयमित करके; मनः—मन को; मनीषया—अपनी बुद्धि से; बभाष—बोला; एतत्—यह; प्रतिलब्ध—पुनः प्राप्त करके; वाक्—वाणी; असौ—वह (राजा चित्रकेतु); नियम्य—वश में करके; सर्व-इन्द्रिय—समस्त इन्द्रियों को; बाह्य—बाहरी; वर्तनम्—घूमने को; जगत्-गुरुम्—जो सबों का गुरु; सात्वत—भक्ति का; शास्त्र—शास्त्रों का; विग्रहम्—मूर्त रूप।

**तत्पश्चात् अपनी बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके और अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से समेट कर वे अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द ढूँढ सके। इस प्रकार वे उन भगवान् की स्तुति करने लगे जो साक्षात् शास्त्रों (*ब्रह्म-संहिता* तथा नारद-पंचरात्र जैसी सात्वत संहिताओं) के स्वरूप हैं एवं सबों के गुरु हैं। उन्होंने निम्नवत् स्तुति**

की।

**तात्पर्य :** सांसारिक शब्दों से भगवान् की स्तुति नहीं की जा सकती। मनुष्य को चाहिए कि वह पहले मन तथा इन्द्रियों को संयमित करके आध्यात्मिक उन्नति करे। तभी भगवान् की स्तुति के उपयुक्त शब्द मिल सकेंगे। श्रील सनातन गोस्वामी *पद्मपुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हुए कोई ऐसा गीत गाने के लिए मना करते हैं, जो किसी अधिकारी भक्त द्वारा न गाया गया हो—

*अवैष्णव मुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम्।*

*श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पय: ॥*

किसी व्यक्ति के वे शब्द या गीत जो वैष्णव-आचार में मान्य नहीं हैं अथवा हरे कृष्ण महामंत्र के जप के नियमों के अनुसार नहीं हैं उन्हें शुद्ध भक्तों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। *सात्वत-शास्त्र विग्रहं* शब्द यह सूचित करते हैं कि भगवान् के सच्चिदानन्द शरीर को कभी भी माया से निर्मित नहीं माना जा सकता। भक्त कभी भी ईश्वर के कल्पित रूप की स्तुति नहीं करते। भगवान् के स्वरूप के अस्तित्व की पुष्टि समस्त वैदिक ग्रंथों के द्वारा होती है।

**चित्रकेतुरुवाच**
**अजित जित: सममतिभि:**
**साधुभिर्भवान्जितात्मभिर्भवता ।**
**विजितास्तेऽपि च भजता-**
**मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुण: ॥ ३४॥**

### शब्दार्थ

चित्रकेतु: उवाच—राजा त्रित्रकेतु ने कहा; अजित—हे दुर्जेय भगवान्; जित:—जीता गया; सम-मतिभि:—मन को वश में करने वाले पुरुषों द्वारा; साधुभि:—भक्तों के द्वारा; भवान्—आप; जित-आत्मभि:—जिन्होंने इन्द्रियों को पूरी तरह जीत लिया है; भवता—आपके द्वारा; विजिता:—जीता जाकर; ते—वे; अपि—भी; च—तथा; भजताम्—आपकी भक्ति में लगे रहने वालों को; अकाम-आत्मनाम्—भौतिक लाभ की कामना से रहित, निष्काम; य:—जो; आत्म-द:—अपने आप को देने वाले; अति-करुण:—अत्यन्त दयालु।

**चित्रकेतु ने कहा—हे अजेय भगवान्! यद्यपि आप को कोई जीत नहीं सकता, किन्तु उन भक्तों के द्वारा अवश्य जीत लिये जाते हैं जिनका अपने मन तथा इन्द्रियों पर संयम है। वे**

**आपको इसलिए वश में रख पाते हैं क्योंकि आप उन भक्तों पर अकारण दयालु हैं, जो आपसे किसी प्रकार के लाभ की कामना नहीं करते। निस्सन्देह, आप उन्हें अपने आपको प्रदान कर देते हैं; इसलिए अपने भक्तों पर आपका भी पूरा नियंत्रण रहता है।**

**तात्पर्य :** भगवान् तथा भक्त दोनों की जीत होती है। भगवान् भक्तों द्वारा और भक्त भगवान् द्वारा जीते जाते हैं। एक दूसरे से जीते जाने के कारण ही अपने इस सम्बन्ध से उन्हें दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। इस पारस्परिक विजय की परम सिद्धि कृष्ण तथा गोपियों द्वारा प्रकट है। गोपियों ने कृष्ण को जीत लिया था और कृष्ण ने गोपियों को। इस प्रकार जब भी कृष्ण वंशीवादन करते वे गोपियों के मन को वश में कर लेते और गोपियों को देखे बिना चैन न पाते। अन्य अध्यात्मवादी यथा ज्ञानी तथा योगी भगवान् को नहीं जीत पाते, केवल शुद्ध भक्त ही ऐसा कर पाते हैं।

शुद्ध भक्तों को *सम-मति* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे किसी भी परिस्थिति में अपनी भक्ति से विचलित नहीं होते। ऐसा नहीं है कि भक्त सुखी रहने पर ही भगवान् की आराधना करते हैं, वे दुख में भी उनकी उपासना करते हैं। सुख तथा दुख से भक्ति की प्रक्रिया पर कोई बाधा नहीं पहुँचती। इसलिए *श्रीमद्भागवत* का कथन है कि *भक्ति अहैतुक्यप्रतिहता* अर्थात् भक्ति निष्काम तथा अबाध है। जब भक्त बिना किसी अभिलाषा के भगवान् की भक्ति करता है (*अन्याभिलाषिता-शून्यम्*) तो उसकी भक्ति किसी भी भौतिक दशा में अवरुद्ध नहीं होती (*अप्रतिहता*)। अत: जो भक्त सभी परिस्थितियों में सेवा करता रहता है, वह श्रीभगवान् को जीत सकता है।

भक्तों तथा अन्य इन्द्रयातीतवादियों यथा ज्ञानियों तथा योगियों में एक विशेष अन्तर यह है कि ज्ञानी तथा योगी ईश्वर के साथ तादात्म्य के लिए कृत्रिम प्रयास करते हैं जबकि भक्त ऐसे असम्भव कार्य की कभी इच्छा नहीं करते। भक्त जानते हैं कि वे परमेश्वर के शाश्वत दास हैं, अत: वे तदाकार नहीं होना चाहते। इसलिए इन्हें *सम-मति* या जितात्मा कहा जाता है। उन्हें परमेश्वर से

तदाकार होने से घृणा है। उनके मन में इसके लिए कोई कामना नहीं है; वे तो भौतिक अहंकार से मुक्त होना चाहते हैं। इसलिए उन्हें *निष्काम* कहा जाता है। जीवात्मा कभी निष्काम नहीं हो सकता, किन्तु जिन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती उन्हें वासनायुक्त *काम* कहते हैं—*कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञाना:*—कामेच्छाओं के कारण वे अपनी बुद्धि खो बैठते हैं। अत: वे ईश्वर को जीत नहीं पाते जबकि भक्त ऐसी तर्करहित इच्छाओं से मुक्त होने के कारण ईश्वर को जीत सकते हैं। ऐसे भक्तों को श्रीभगवान् भी जीत लेते हैं। वे शुद्ध तथा भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने के कारण ईश्वर के शरणागत होते हैं, अत: ईश्वर उनको जीत लेता है। ऐसे भक्त कभी भी मुक्ति की कामना नहीं करते। उनकी एकमात्र इच्छा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने की होती है। चूँकि वे किसी प्रकार का पारिश्रमिक प्राप्त करने की भावना से ईश्वर की सेवा नहीं करते इसलिए वे ईश्वर के कृपापात्र बन जाते हैं। ईश्वर स्वभाव से ही परम दयालु हैं अत: जब वे देखते हैं कि उनका दास किसी लाभ की आकांक्षा के बिना ही सेवा कर रहा है, तो स्वभावत: वे जीते जाते हैं। भक्त सदैव सेवारत रहते हैं। *स वै मन: कृष्ण-पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने*—उनकी इन्द्रियों की समस्त गतिविधियाँ भगवान् की सेवा में नियुक्त रहती हैं ऐसी भक्ति के कारण भगवान् अपने आप को अपने भक्तों के हवाले कर देते हैं ताकि वे उन्हें मन-वान्छित कार्य के लिये उपयोग में ला सकें। जब भक्त निष्काम भाव से पूर्ण समर्पण कर देता है, तो भगवान् निश्चय ही उसे अपनी सेवा का अवसर प्रदान करते हैं। भक्तों द्वारा जीते जाने पर ईश्वर की भी यही दशा होती है।

**तव विभव: खलु भगवन्**
**जगदुदयस्थितिलयादीनि ।**
**विश्वसृजस्तेऽंशांशास्**
**तत्र मृषा स्पर्धन्ति पृथगभिमत्या ॥ ३५ ॥**

### शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; विभव:—ऐश्वर्य; खलु—निस्सन्देह; भगवन्—हे भगवान्; जगत्—दृश्य जगत का; उदय—सृष्टि; स्थिति—पालन; लय-आदीनि—संहार इत्यादि; विश्व-सृज:—दृश्य जगत के कर्ता; ते—वे; अंश-अंशा:—आपके अंश के भी अंशस्वरूप; तत्र—उसमें; मृषा—व्यर्थ; स्पर्धन्ति—स्पर्धा करते हैं; पृथक्—अलग; अभिमत्या—मिथ्या विचार से।

**हे ईश्वर! यह दृश्य जगत तथा इसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार—ये सभी आपके ऐश्वर्य हैं। चूँकि ब्रह्मा तथा अन्य कर्ता ( निर्माता ) आपके अंश के भी क्षुद्र अंश हैं, अतः सृष्टि करने की उनकी आंशिक शक्ति उन्हें ईश्वर नहीं बना सकती। तो भी अपने को पृथक् ईश्वर मान बैठने की चेतना उनके अहंकार मात्र की द्योतक है। यह वैध नहीं है।**

**तात्पर्य :** भगवान् के चरणकमलों की शरण में आया हुआ भक्त यह अच्छी तरह जानता है कि ब्रह्मा से लेकर छोटी से छोटी चींटी तक समस्त जीवात्माओं में सृजन शक्ति इसलिए है क्योंकि वे ईश्वर के भिन्न-अंश हैं। *भगवद्गीता* (१५.७) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत:सनातन:* ''इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं।'' जीवात्माएँ परमात्मा के लघु अंश रूप हैं मानो आग की चिनगारियाँ हों। परमात्मा के अंशमात्र होने से उनमें सृजन-शक्ति अत्यल्प रहती है।

आधुनिक जगत के तथाकथित वैज्ञानियों को गर्व है कि उन्होंने वायुयान जैसी आधुनिक सुविधाएँ उत्पन्न की हैं, किन्तु इसका श्रेय भगवान् को ही मिलना चाहिए न कि वैज्ञानिकों को जिन्होंने तथाकथित आश्चर्यजनक चीजें बनाई हैं। पहली विचारणीय बात है वैज्ञानियों की बुद्धि। मनुष्य को भगवान् के आदेश द्वारा ऊपर उठना होता है क्योंकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में उनका वचन है—*मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—''मुझी से स्मृति ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।'' परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित है, अत: जिस प्रेरणा (आदेश) से कोई मनुष्य वैज्ञानिक ज्ञान में या सृजन शक्तियों में आगे बढ़ता है, वह उन्हीं ईश्वर से प्राप्त होती है। यही नहीं, जिन अवयवों से वायुयान जैसे अद्भुत यंत्रों का निर्माण होता है वे ईश्वर की देन हैं, वैज्ञानिकों की नहीं। वायुयान बनने के पूर्व इसके सभी अवयवों की सामग्री पहले से श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न की जा चुकी थी। किन्तु जब वायुमान विनष्ट होता है, तो इसका मलवा (ध्वंसावशेष) तथाकथित सृष्टिकर्ताओं के लिए समस्या बन जाता है। एक अन्य उदाहरण है पाश्चात्य लोगों द्वारा स्वचालित वाहनों का निर्माण। इन मोटरकारों के सभी अवयव तथा इनकी सृष्टि के लिए आवश्यक बुद्धि ईश्वर द्वारा प्रदत्त

होती है। अन्त में जब ये कारें नष्ट हो जाती हैं, तो तथाकथित स्रष्टाओं के समक्ष समस्या उठ खड़ी होती है कि इन अवयवों का क्या किया जाए। इनका वास्तविक तथा आद्य सृजनकर्ता तो भगवान् है। बीच के कुछ काल के लिए ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धि से लोग कुछ वस्तुओं का सृजन करते हैं, बाद में यह वस्तु भार बन जाती है। अत: तथाकथित सृजनकर्ताओं को सृष्टि कार्य का श्रेय नहीं मिलना चाहिए; सारा श्रेय श्रीभगवान् को जाता है। इस श्लोक में यह उचित ही कहा गया है कि सृष्टि, पालन तथा संहार के सारे ऐश्वर्य का श्रेय ईश्वर का है, जीवात्मा का नहीं।

**परमाणुपरममहतोस्**
**त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।**
**आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां**
**यद्ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥ ३६ ॥**

**शब्दार्थ**

परम-अणु—सूक्ष्म कणों का; परम-महतोः—तथा सबसे बड़े ( परमाणुओं के संयोग से बने ) कणों का; त्वम्—तुम्हीं; आदि-अन्त—आदि तथा अन्त; अन्तर—तथा बीच में; वर्ती—स्थित; त्रय-विधुरः—आरम्भ, अन्त अथवा मध्य से विहीन; आदौ—प्रारम्भ में; अन्ते—अन्त में; अपि—भी; च—तथा; सत्त्वानाम्—समस्त अस्तित्वों का; यत्—जो; ध्रुवम्—अचल; तत्—वह; एव—निश्चय ही; अन्तराले—मध्य में; अपि—भी।

**आप इस दृश्य जगत के नन्हें से नन्हें कण-परमाणु से लेकर विराट ब्रह्माण्डों तथा समस्त भौतिक शक्ति तक की प्रत्येक वस्तु के आदि, मध्य तथा अन्त में विद्यमान हैं। फिर भी आप नित्य हैं, जिसका न कोई आदि है, न अन्त या मध्य। आप इन तीनों स्थितियों में विद्यमान देखे जाते हैं; इस तरह आप अटल हैं। जब इस दृश्य जगत का अस्तित्व नहीं रहता तो आप आदि शक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं।**

**तात्पर्य :** *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) का कथन है—

*अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्*

*आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।*

*वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्मभक्तौ*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥*

''मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की उपासना करता हूँ जो आदि पुरुष हैं, परम, अच्युत, अनादि, अनन्त रूपों में विस्तार करते हुए भी वही आदि पुरातन तथा नवयौवन से पूर्ण पुरुष हैं। ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ ईश्वर को सर्वोत्तम वेदज्ञानी भी नहीं जान पाते किन्तु शुद्ध भक्तों के समक्ष वे सदैव प्रकट होते हैं।'' श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु के कारण हैं, किन्तु उनका कोई कारण नहीं। वे कार्य-कारण से परे हैं। वे शाश्वत हैं। *ब्रह्म-संहिता* के एक अन्य श्लोक में कहा गया है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*—ईश्वर विराट ब्रह्माण्ड तथा परमाणु के भीतर स्थित हैं। इस विराट ब्रह्माण्ड तथा परमाणु के भीतर ईश्वर की उपस्थिति यह सूचित करती है कि उनके बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। विज्ञानियों का कहना है कि जल की उत्पत्ति हाइड्रोजन तथा आक्सिजन के संयोग से होती है, किन्तु जब वे सागर की अनन्त जलराशि देखते हैं, तो उनकी बुद्धि चकरा जाती है कि इतनी मात्रा में हाइड्रोजन और आक्सिजन कहाँ से आई। उनका विचार है सभी वस्तुएँ रसायनों से उद्भूत हुई, किन्तु फिर ये सारे रसायन कहाँ से आये? इसको वे नहीं जानते। चूँकि श्रीभगवान् समस्त कारणों के कारण हैं, अत: वे रासायनिक विकास के लिए प्रचुर मात्रा में रसायन उत्पन्न कर सकते हैं। हम यह देख रहे हैं कि जीवात्माओं से रसायन तैयार होते हैं। उदाहरणार्थ, संतरे के वृक्ष से कई टन सिट्रिक अम्ल उत्पन्न होता है। यह सिट्रिक अम्ल संतरे के वृक्ष का कारण नहीं अपितु वृक्ष इस अम्ल का कारण है। इसी प्रकार भगवान् प्रत्येक वस्तु के कारण हैं। वे सिट्रिक अम्ल को उत्पन्न करने वाले वृक्ष के कारण हैं (*बीजं मां सर्वभूतानाम्*)। भक्त देख सकते हैं कि दृश्य जगत के कारणस्वरूप आदिशक्तियाँ रसायनों में नहीं अपितु भगवान् में निहित हैं, क्योंकि वे ही रसायनों के कारण हैं।

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति परमेश्वर की शक्ति से हुई है और जब प्रत्येक वस्तु का विलय हो जाता है, तो आदिशक्ति पुन: परमेश्वर के शरीर में प्रवेश करती है। इसलिए यह श्लोक कहता है—*आदावन्तेऽपि च सत्वानां यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि। ध्रुवम्* का अर्थ है 'अविचल' या 'स्थायी'।

अविचल सत्य श्रीकृष्ण हैं, यह दृश्य जगत नहीं। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*अहं आदिर्हि देवानाम् तथा मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु के आदि कारण हैं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आदि पुरुष के रूप में पहचाना (*पुरुषं शाश्वतं दिव्यं आदिदेवम् अजं विभुम्*) तथा *ब्रह्म-संहिता* भी उन्हें आदि पुरुष के रूप में वर्णन करती है (*गोविन्दम् आदि-पुरुषम्*)। वही समस्त कारणों के कारण हैं चाहे वह आदि में हो, अन्त में अथवा मध्य में।

**क्षित्यादिभिरेष किलावृतः**
**सप्तभिर्दशगुणोत्तरैरण्डकोशः ।**
**यत्र पतत्यणुकल्पः**
**सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥ ३७॥**

### शब्दार्थ

क्षिति-आदिभिः—भौतिक जगत के अवयवों द्वारा, यथा पृथ्वी इत्यादि; एषः—यह; किल—निस्सन्देह; आवृतः—ढका हुआ; सप्तभिः—सात; दश-गुण-उत्तरैः—प्रत्येक अपने से पहले वाले से दस गुना; अण्ड-कोशः—अण्डाकार ब्रह्माण्ड; यत्र—जिसमें; पतति—गिरता है; अणु-कल्पः—सूक्ष्म कण की भाँति; सह—के साथ; अण्ड-कोटि-कोटिभिः—ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्डों से; तत्—अतः; अनन्तः—(आप) अनन्त (कहलाते हैं)।

**प्रत्येक ब्रह्माण्ड सात आवरणों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सकल भौतिक शक्ति तथा अहंकार—से घिरा है जिनमें से प्रत्येक अपने से पहले वाले से दस गुना बड़ा है। इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त भी असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो असीम और विशाल हैं और आपमें स्थित परमाणुओं की भाँति चक्कर लगाते रहते हैं। इसलिए आप अनन्त कहलाते हैं।**

**तात्पर्य :** *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) का कथन है—

*यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य*

*जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ॥*

*विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥*

इस भौतिक सृष्टि के उद्गम महाविष्णु हैं, जो कारण-समुद्र में शयन करते हैं। इस समुद्र में

शयन करते हुए उनके नि:श्वास से लाखों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जब वे श्वास अन्दर लेते हैं, तो उन सबका संहार हो जाता है। यह महाविष्णु, विष्णु अथवा गोविन्द के अंश के भी अंश हैं (*यस्य कला विशेष:*)। *कला* शब्द अंश के भी अंश का द्योतन करता है। कृष्ण अथवा गोविन्द से बलराम, बलराम से संकर्षण, फिर इनसे नारायण, नारायण से द्वितीय संकर्षण जिनसे महाविष्णु, उनसे गर्भोदकशायी विष्णु और इनसे क्षीरोदकशायी विष्णु उत्पन्न हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करते हैं इससे अनन्त के अर्थ का अनुमान लग जाता है। तो फिर ईश्वर की अनन्त शक्ति तथा उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में क्या कहना? इस श्लोक में ब्रह्माण्ड के आवरणों का वर्णन हुआ है (*सप्तभिर्दश-गुणोत्तरैरण्डकोश:*)। पहला आवरण पृथ्वी का है, दूसरा जल का, तीसरा अग्नि, चौथा वायु, पाँचवाँ आकाश, छठा सकल भौतिक शक्ति तथा सातवाँ अहंकार का। पृथ्वी के आवरण से प्रारम्भ करके प्रत्येक अगला आवरण दस गुना विस्तृत है। इस प्रकार हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड कितना विशाल है। फिर ऐसे लाखों ब्रह्माण्ड हैं। *भगवद्गीता* (१०.४२) में ईश्वर ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—

*अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।*

*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥*

"हे अर्जुन! इस विस्तृत ज्ञान की क्या आवश्यकता है? मैं अपने एक अंशमात्र से इस सम्पूर्ण जगत में व्याप्त होकर इसे धारण किए हुए हूँ, यह समस्त जगत परमेश्वर की चतुर्थांश शक्ति को प्रकट करता है। इसलिए वह अनन्त कहलाता है।"

**विषयतृषो नरपशवो**
**य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम्।**
**तेषामाशिष ईश**
**तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम्॥ ३८॥**

**शब्दार्थ**

विषय-तृषः—इन्द्रिय-तृप्ति के उत्सुक; नर-पशवः—पशुतुल्य मनुष्य; ये—जो; उपासते—अत्यन्त भव्य आराधना करते हैं; विभूतीः—परमेश्वर के लघु कण ( देवतागण ); न—नहीं; परम्—परमात्मा; त्वाम्—तुम ( आप ) को; तेषाम्—उनका; आशिषः—आशीर्वाद; ईश—हे परम नियन्ता; तत्—उन ( देवताओं ) को; अनु—तत्पश्चात्; विनश्यन्ति—विनष्ट होंगे; यथा—जिस प्रकार; राज-कुलम्—सरकार ( राज्य ) द्वारा सहायता प्राप्त ( सरकार के भंग होने पर )।

**हे भगवन्, हे परमेश्वर! इन्द्रियतृप्ति के भूखे तथा विभिन्न देवताओं की उपासना करने वाले अज्ञानी पुरुष नर-वेश में पशुओं के समान हैं। वे पाशविक वृत्ति के कारण आपकी उपासना न करके नगण्य देवताओं को, जो आपके यश की लघु चिनगारी के समान हैं, पूजते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के संहार के साथ ये देवता तथा इनसे प्राप्त आशीर्वाद उसी प्रकार विनष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार राजा की सत्ता छिन जाने पर राजकीय अधिकारी।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (७.२०) का कथन है—*कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञाना:* प्रपद्यन्तेदेवता: "जिनके मन भौतिक कामनाओं से विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं।" इसी प्रकार इस श्लोक में भी देवताओं की उपासना की भर्त्सना की गयी है। हम देवताओं का आदर कर सकते हैं, किन्तु वे पूजनीय नहीं हैं। जो मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि मारी गयी होती है ( *हृतज्ञाना:*) क्योंकि वे यह नहीं जानते कि जब इस भौतिक दृश्य जगत का संहार होगा तो ये सारे देवता भी, जो जगत के विभागाध्यक्ष हैं, नष्ट हो जाएँगे। और जब देवता नष्ट हो जाएंगे तो उन्होंने अज्ञानी मनुष्यों को जो वर दिये हैं, वे भी नष्ट हो जाएँगे। इसलिए भक्त को चाहिए कि देवताओं की पूजा करके भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा न करे वरन् ईश्वर की सेवा करे जो इनकी आकांक्षाओं को पूरा करने वाले हैं। *भागवत* ( २.३.१० ) का वचन है—

*अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।*

*तीणेव्र भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

"चाहे भौतिक कामनाओं से पूर्ण हो या उनसे मुक्त या मुक्ति का इच्छुक हो, व्यापक दृष्टि से बुद्धिमान मनुष्य को सभी प्रकार से परम पुरुष परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए।" यह सिद्ध मनुष्य का परम कर्तव्य है। जिसका रूप मनुष्य का और कर्म पशु जैसे होते हैं वह नर-पशु या द्विपद-पशु कहलाता है। जो मनुष्य कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं रखता उसकी भर्त्सना यहाँ नर-पशु के रूप में

की गई है।

**कामधियस्त्वयि रचिता**
**न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि ।**
**ज्ञानात्मन्यगुणमये**
**गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

काम-धियः—इन्द्रिय-तृप्ति की आकांक्षाएँ; त्वयि—तुममें; रचिताः—सम्पन्न की गई; न—नहीं; परम—भगवान्; रोहन्ति—उगते हैं (अन्य शरीर उत्पन्न करते हैं); यथा—जिस प्रकार; करम्भ-बीजानि—भुने बीज; ज्ञान-आत्मनि—तुममें जो ज्ञान से पूर्ण हैं; अगुण-मये—जो भौतिक गुणों से अप्रभावित रहता है; गुण-गणतः—भौतिक गुणों में से; अस्य—व्यक्ति का; द्वन्द्व-जालानि—द्वैतता का जाल।

**हे परमेश्वर! यदि ऐश्वर्य द्वारा इन्द्रियतृप्ति पाने के इच्छुक व्यक्ति भी समस्त ज्ञान के स्रोत तथा भौतिक गुणों से परे आपकी उपासना करते हैं, तो उनका पुनर्जन्म नहीं होता जिस प्रकार भुने बीज से पौधे नहीं उत्पन्न होते। जीवात्माओं को जन्म तथा मृत्यु का चक्र भोगना पड़ता है क्योंकि वे भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध हैं परन्तु आप दिव्य हैं, अतः जो आपसे संगति करता है, वह भौतिक प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण द्वारा इसकी पुष्टि की गई है—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवंयो वेत्ति तत्त्वतः।*

*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥*

"हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव तथा मेरे कर्म दिव्य हैं, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व को जानता है, वह देह त्यागने पर फिर इस भौतिक संसार में जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।" यदि कोई श्रीकृष्ण को समझने के लिए अपने आपको कृष्णभावनामृत में लगाता है, तो उसे जन्म-मृत्यु का चक्कर नहीं सताता। जैसा कि *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—ऐसा व्यक्ति कृष्ण-भक्ति में अथवा श्रीभगवान् को जानने में संलग्न रहकर भगवान् के धाम वापस जाने के लिए योग्य बन जाता है। यहाँ तक कि भौतिक विषयवासनाओं से ग्रस्त

व्यक्ति भी श्रीभगवान् की भक्ति करता है, वह भले ही भौतिक कामनाओं से पूरित हो, किन्तु वह ईश्वर के पवित्र नाम का जप करते रहने से कृष्ण के चरणारविन्द के प्रति आकृष्ट होता जाता है। परमेश्वर तथा उनका पवित्र नाम एक ही हैं। इस प्रकार भौतिक सुख से उसे विरक्ति होने लगती है। जीवन की पूर्णता इसीमें है कि भौतिक सुख में विरक्ति हो और श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग हो। यदि कोई येन-केन-प्रकारेण कृष्ण-भक्ति करता है भले ही वह भौतिक लाभ के लिए क्यों न हो, तो उसको मुक्ति मिल जाती है। *कामाद् द्वैषाद् भयात् स्नेहात्।* चाहे कोई कामवश, द्वेषवश, भयवश या स्नेहवश अथवा किसी और कारणवश, कृष्ण के पास जाता है, तो उसका जीवन धन्य हो जाता है।

**जितमजित तदा भवता**
**यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।**
**निष्किञ्चना ये मुनय**
**आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥ ४० ॥**

### शब्दार्थ

जितम्—जीत लिया; अजित—हे अजित, न जीते जा सकने योग्य; तदा—तब; भवता—आपके द्वारा; यदा—जब; आह—कहा; भागवतम्—जो भक्त को ईश्वर के पास पहुँचाने में सहायक होता है; धर्मम्—धर्म; अनवद्यम्—दोषरहित (निष्कलुष); निष्किञ्चनाः—जो ऐश्वर्य के द्वारा सुखी होने की इच्छा नहीं रखते; ये—जो; मुनयः—बड़े-बड़े विचारक तथा महान् साधु; आत्म-आरामाः—आत्म-तुष्ट, आत्माराम; यम्—जिसको; उपासते—पूजते हैं; अपवर्गाय—भौतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए।

**हे अजित! जब आपने भागवत-धर्म कह सुनाया जो आप के चरणकमलों में शरण लेने के लिए अकलुषित धार्मिक प्रणाली थी, तो वह आपकी विजय थी। आत्मतुष्ट (आत्माराम) चतु:सन के समान निष्काम व्यक्ति, भौतिक कल्मष से मुक्त होने के लिए आपकी उपासना करते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि वे आपके चरणारविन्द की शरण प्राप्त करने के लिए भागवतधर्म को ग्रहण करते हैं।**

**तात्पर्य :** श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिंन्धु* में इस प्रकार कहा है—

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।*

*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥*

''मनुष्य को चाहिए कि भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति अनुकूल होकर तथा बिना किसी भौतिक लाभ, या सकाम कर्म करके या मानसिक चिन्तन के माध्यम से लाभ प्राप्त करने की इच्छा से करे। यह शुद्ध भक्ति कहलाती है।''

*नारद पञ्चरात्र* में भी कहा गया है—

*सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*

*हृषीकेण सेवनं भक्ति रुच्यते॥*

''मनुष्य को समस्त उपाधियों तथा कल्मषों से रहित होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करे जिसमें वह अपनी इन्द्रियों को उनके स्वामी की सेवा में लगाता है इसे भक्ति कहते हैं। यही *भागवत्-धर्म* कहलाता है। मनुष्य को चाहिए कि निष्काम भाव से श्रीकृष्ण की सेवा करे—यही *भगवद्गीता, नारद-पंचरात्र* तथा *श्रीमद्भागवत* का उपदेश है। भागवत-धर्म, धर्म की वह प्रक्रिया है, जिसे नारद, शुकदेव गोस्वामी तथा उनकी शिष्य-परम्परा के विनम्र भक्तों द्वारा, जो श्रीभगवान् के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि हैं, व्याख्यायित है। भागवत धर्म को समझ कर मनुष्य तुरन्त ही भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। जीवात्माएँ श्रीभगवान् के अंशरूप होकर सांसारिक दुखों के बीच विचर रही हैं। जब भगवान् उन्हें स्वयं *भागवत-धर्म* का उपदेश देते हैं और यह भगवान् की विजय है, क्योंकि तब वे इन आत्माओं को पुनः अपना लेते हैं। *भागवत-धर्म* का अनुयायी भक्त श्रीभगवान् का अत्यन्त कृतज्ञ रहता है। वह *भागवत-धर्म* से युक्त तथा उससे रहित जीवन के अन्तर को समझता है। श्रीकृष्ण की भक्ति ग्रहण करना और पतित आत्माओं को कृष्णभावनामृत में लगाना भगवान् कृष्ण की विजय है।

*स वै पुंसा परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।*

*अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥*

''समस्त मानवता का वही परम धर्म है, जिससे मनुष्य दिव्य परमेश्वर के प्रति प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सके। आत्मतोष के निमित्त ऐसी भक्ति को अबाध तथा निरुद्देश्य होना चाहिए (*भागवत*

१.२.६)। अत: *श्रीमद्भागवत* ही धर्म की शुद्ध दिव्य प्रक्रिया है।

**विषममतिर्न यत्र नृणां**
**त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।**
**विषमधिया रचितो य:**
**स ह्यविशुद्ध: क्षयिष्णुरधर्मबहुल: ॥ ४१ ॥**

### शब्दार्थ

विषम—असमान (तेरा धर्म, मेरा धर्म या तेरा विश्वास, मेरा विश्वास); मति:—चेतना; न—नहीं; यत्र—जिसमें; नृणाम्—मानव समाज का; त्वम्—तुम; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; तव—तेरा; इति—इस प्रकार; च—भी; यत्—जो; अन्यत्र—और कहीं (भागवत-धर्म के अतिरिक्त); विषम-धिया—इस विषम बुद्धि के कारण; रचित:—निर्मित; य:—जो; स:—वह धर्म-पद्धति; हि—निस्सन्देह; अविशुद्ध:—अशुद्ध; क्षयिष्णु:—क्षणिक, नाशवान्; अधर्म-बहुल:—अधर्म से पूर्ण।

**भागवतधर्म को छोड़कर शेष सभी धर्म पारम्पारिक विरोधाभासों से पूर्ण हैं और कर्मफल की सकाम विचारधारा और 'तू और मैं' तथा 'तेरा और मेरा' जैसे भेदभावों से पूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत के अनुयायियों में ऐसी चेतना नहीं रहती। वे कृष्णभावनामृत से पूरित रहते हैं और अपने को श्रीकृष्ण का और श्रीकृष्ण को अपना मानते हैं। कुछ निम्नकोटि की भी धार्मिक पद्धतियाँ हैं, जो शत्रुओं को मारने या योगशक्ति प्राप्त करने के लिए निर्मित हैं, किन्तु ये काम तथा द्वेष से पूर्ण होने के कारण अशुद्ध एवं नाशवान् हैं। द्वेषपूर्ण होने से वे अधर्म से पूर्ण हैं।**

**तात्पर्य :** *भागवत-धर्म* विरोधाभासों से रहित है। इसमें 'तुम्हारा धर्म' या 'मेरा धर्म' जैसे विचार नहीं मिलते। *भागवत-धर्म* का अभिप्राय है भगवान् के आदेशों का पालन, जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—ईश्वर एक है और वह सबका है। अत: मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं की शरण में जाए। धर्म का यही शुद्ध मत है। ईश्वर के आदेशों से ही धर्म बनता है—(*धर्मं तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतम्*)। *भागवत्-धर्म* में 'तुम्हारा क्या विश्वास है' और 'मेरा क्या विश्वास है' इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक व्यक्ति को परमेश्वर में विश्वास करना चाहिए और उनके आदेशों का पालन करना चाहिए। *आनुकूल्येन*

*कृष्णानुशीलनम्*—श्रीकृष्ण अर्थात् ईश्वर जो कुछ भी कहें उसको प्रत्यक्षत: सम्पन्न करना चाहिए। यही धर्म है।

यदि वास्तव में कोई कृष्णभावनाभावित है, तो उसका कोई शत्रु नहीं हो सकता। चूँकि इसका एकमात्र कार्य अन्यों को श्रीकृष्ण या ईश्वर के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित करना है, तो उसके शत्रु कैसे होंगे? यदि कोई हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म या अन्य किसी धर्म का पक्ष लेता है, तो संघर्ष हो सकता है। इतिहास बताता है कि ईश्वर की स्पष्ट संकल्पना के बिना चलने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय परस्पर लड़ते-भिड़ते रहे हैं। मानव इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। किन्तु ऐसे धर्म जो परमेश्वर की सेवा पर ध्यान नहीं देते वे नश्वर होते हैं और द्वेष से पूर्ण होने के कारण दीर्घकाल तक नहीं चल पाते। ऐसी बहुत सी गतिविधियाँ हैं, जो ऐसी धर्म-पद्धतियों के विरूद्ध कार्य करती हैं। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह 'मेरा विश्वास' या 'तेरा विश्वास' जैसे विचारों को त्याग दे। हर एक मनुष्य को ईश्वर में विश्वास करना चाहिए और उन्ही की शरण में जाना चाहिए। यही *भागवत-धर्म* है।

*भागवत-धर्म* कोई आडम्बर नहीं, इसमें तो कृष्ण से प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध का अनुशीलन किया जाता है (*ईशावस्यम् इदं सर्वम्*)। वैदिक आदशों के अनुसार—*सर्वं खल्व् इदं ब्रह्म*—सभी वस्तुओं में ब्रह्म विद्यमान है। *भागवत-धर्म* परमेश्वर की इसी उपस्थिति को ग्रहण करता है। वह इस संसार की प्रत्येक वस्तु को मिथ्या नहीं मानता। चूंकि प्रत्येक वस्तु परम से उद्भुत है। अत: प्रत्येक वस्तु का ईश्वर की सेवा में कुछ न कुछ उपयोग है। उदाहरणार्थ, इस समय हम माइक्रोफोन में बोल कर लिखा रहे हैं और उसका श्रुतिलेखन मशीन पर अंकन होता जा रहा है। इस प्रकार हमें ज्ञात हो रहा है कि मशीन भी किस प्रकार परब्रह्म से सम्बन्धित हो सकती है। चूँकि हम इसका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर रहे हैं अत: यह ब्रह्म है। *सर्वं खल्व् इदं ब्रह्म*—का यही अर्थ है। प्रत्येक वस्तु इसलिए ब्रह्म है क्योंकि वह भगवान् की सेवा के कार्य में आ सकती है। कुछ भी मिथ्या नहीं, सभी कुछ सत्य है।

*भागवत-धर्म* को सब धर्मों में सर्वोत्कृष्ट कहा जाता है क्योंकि इसके अनुयायी किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते। शुद्ध भागवत अर्थात् शुद्ध भक्त किसी द्वेष के बिना सबों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करते हैं। इस प्रकार भक्त ठीक श्रीभगवान् की तरह होता है। *सुहृदं-सर्वभूतानाम्*—वह समस्त जीवात्माओं का सखा है। इसलिए यह धर्म सभी धर्मों में श्रेष्ठ है। जबकि तथाकथित दूसरे धर्म किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति के लिए होते हैं जो किसी एक विचारधारा को मानते हैं। ऐसी विचारधारा का *भागवत-धर्म* या कृष्ण-भक्ति में कोई स्थान नहीं है। यदि हम उन समस्त धर्मों की छानबीन करें जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं या किसी और की उपासना करते हैं, तो हमें पता चलेगा कि वे द्वेषों से पूर्ण हैं अतः अशुद्ध हैं।

**कः क्षेमो निजपरयोः**
**कियान्वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।**
**स्वद्रोहात्तव कोपः**
**परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥ ४२ ॥**

### शब्दार्थ

कः—क्या; क्षेमः—लाभ; निज—अपना; परयोः—तथा पराया; कियान्—कितना; वा—अथवा; अर्थः—उद्देश्य; स्व-पर-द्रुहा—जो कर्ता तथा अन्यों के प्रति द्वेष करता है; धर्मेण—धर्म से; स्व-द्रोहात्—अपने आप द्वेष पूर्ण होने से; तव—तुम्हारा; कोपः—क्रोध; पर-सम्पीडया—अन्यों को कष्ट पहुँचा कर; च—भी; तथा—और; अधर्मः—अधर्म।

**ऐसा धर्म जिससे अपने तथा परायों में द्वेष उत्पन्न होता है किस प्रकार लाभप्रद हो सकता है? ऐसे धर्म का पालन करने से कौन सा कल्याण हो सकता है? इससे आखिर क्या मिलेगा? आत्म द्वेष के द्वारा अपने आपको तथा अन्यों को कष्ट पहुँचा कर मनुष्य आपके (भगवान् के) क्रोध का भाजन होता है और अधर्म करता है।**

**तात्पर्य :** भगवत-धर्म के अतिरिक्त कोई भी धर्म अपने तथा अन्यों के प्रति द्वेष का कारण बनता हैं। उदाहरणार्थ, ऐसे अनेक धर्म हैं जिनमें पशु-वध की संस्तुति की जाती है। कर्ता तथा पशु दोनों के लिए ऐसी पशुबलि अमंगलकारक है। यद्यपि कभी-कभी देवी काली के समक्ष पशु की

बलि चढ़ाकर देवी के ही समक्ष बूचड़ खाने से मांस खरीदकर खाने के बजाय उसी पशु का मांस खाने की आज्ञा दी जाती है, किन्तु देवी काली की उपस्थिति में मांस खाने की यह आज्ञा श्रीभगवान् की आज्ञा नहीं होती। यह तो उस बेचारे व्यक्ति को छुट देना है, जो मांस खाना नहीं त्याग पाता। यह तो अनाप-सनाप रूप से मांस खाते रहने पर अंकुश है। ऐसा धर्म निन्दनीय है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—अन्य सभी कर्मों (धर्मों) को त्याग कर मेरी शरण में आओ। धर्म में यही अन्तिम शब्द है।

कोई-कोई यह तर्क कर सकते हैं कि पशुबलि की संस्तुति वेदों में तो की गई है। किन्तु यह संस्तुति एक प्रकार से प्रतिबन्ध है। मांस की खरीद पर वेदों द्वारा प्रतिबन्ध न लगाये जाने से लोग बाजार से मांस खरीदेंगे और बाजारों में मांस की दुकानों में बढ़ोतरी होगी और कसाईघरों में वृद्धि होगी। इस पर प्रतिबन्ध के हेतु कभी-कभी वेदों में कहा गया है कि देवी काली के समक्ष बकरे जैसे किसी पशु का वध करके उसका मांस खाया जा सकता है। चाहे जो भी धर्म हो जिसमें पशु-यज्ञ की अनुमति दी जाती है, वह यज्ञकर्ता तथा पशु दोनों ही के लिए अशुभ है। *भगवद्गीता*(१६.१७) में ऐसे ईर्ष्यालु मनुष्यों की भर्त्सना की गई है, जो दिखावे के लिए पशु-यज्ञ करते हैं—

*आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।*

*यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥*

''वे अपने को ही श्रेष्ठ मानते हुए, सदा अशिष्ट व्यवहार करने वाले, धन तथा झूठे मान के मद में अंधे कभी कभी शास्त्रविधि का पालन किये बिना ही नाम के लिए यज्ञ करते हैं।'' कभी-कभी देवी काली की पूजा के लिए भव्य आयोजन करके पशु-यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु ऐसे उत्सव भले ही यज्ञ कह कर किये जाँय, वास्तव में यज्ञ नहीं हैं, क्योंकि यज्ञ का अर्थ है श्रीभगवान् को प्रसन्न करना। इसलिए इस युग में विशेष रूप से *यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—जिनकी विमल बुद्धि है उन्हें यज्ञपुरुष विष्णु को हरे कृष्णमंत्र के जप से तुष्ट करना चाहिये। किन्तु

श्रीभगवान् द्वारा द्वेषपूर्ण व्यक्तियों की भर्त्सना निम्नवित् की जाती है, यथा (*भगवद्गीता* १६.१८-१९)—

*अहंकारं बलं दर्प क्रोधं च संश्रिता:।*

*मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका:॥*

*तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।*

*क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥*

"असुर मिथ्या अहंकार, बल, घमंड, काम तथा क्रोध में मोहग्रस्त होकर उन श्रीभगवान् से द्वेष करता है, जो उसके अपने तथा अन्यों के शरीरों में स्थित हैं और इस प्रकार असली धर्म की निन्दा करता है। जो द्वेषपूर्ण तथा दुराचारी हैं और जो मनुष्यों में अधम हैं उन्हें मैं भवसागर में, निरन्तर आसुरी योनियों में डालता हूँ।" भगवान् ऐसे पुरुषों की भर्त्सना करते हैं, जैसाकि *तव कोप:* शब्दों से प्रकट है। हत्या करने वाला पुरुष अपने आप से तथा मारे गये व्यक्ति से ईर्ष्या करता है, क्योंकि हत्या करने का परिणाम यह होता है कि वह पकड़ा जाएगा और शूली पर चढ़ाया जाएगा। भले ही कोई मनुष्यनिर्मित राज्य के नियमों की अवज्ञा करके मृत्यु दंड से अपने को बचा ले, किन्तु वह ईश्वरीय नियमों से नहीं बच सकता। किसी भी पशु का हन्ता अगले जीवन में उसी पशु द्वारा मारा जायेगा। यही प्रकृति का नियम है। मनुष्य को भगवान् के आदेशों का पालन करना ही चाहिए। *सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—यदि कोई किसी अन्य तथाकथित धर्म का पालन करता है, तो श्रीभगवान् उसे अनेक प्रकार से दण्डित करते हैं। इस प्रकार यदि कोई कल्पित धर्म का पालन करता है, तो वह न केवल अन्यों के प्रति ईर्ष्या करता है, वरन् अपने आपसे भी करता है। अत: उसका धर्म निरर्थक है।

*श्रीमद्भागवत* (१.२.८) का कथन है—

*धर्म:स्वनुष्ठित: पुंसां विष्वक्सेनकथासु य:।*

*नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥*

"यदि परमेश्वर के संदेश के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में अक्षम रहें तो चाहे जिस वृत्ति के पुरुष द्वारा धर्म (कर्तव्य) किया जाये वे धर्म निरर्थक श्रम के सदृश हैं।" ऐसा धर्म, जो कृष्णभक्ति उत्पन्न न कर सके, समय तथा श्रम का अपव्यय मात्र है।

**न व्यभिचरति तवेक्षा**
**यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।**
**स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्व्**
**अपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥ ४३ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; व्यभिचरति—असफल होती है; तव—तुम्हारी; ईक्षा—दृष्टि; यया—जिससे; हि—निस्सन्देह; अभिहितः—कथित; भागवतः—आपके उपदेशों तथा गतिविधियों के अनुसार; धर्मः—धार्मिक नियम; स्थिर—अचल; चर—चल; सत्त्व-कदम्बेषु—जीवात्माओं में से; अपृथक्-धियः—जो भेदभाव नहीं विचारते; यम्—जिसको; उपासते—पालन करते हैं; तु—निश्चय ही; आर्याः—सभ्यता में अग्रणी लोग।

**हे भगवन्! जीवन के महदुद्देश्य से विचलित न होने वाले आपके दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य का वृत्तिपरक धर्म श्रीमद्भागवत तथा *भगवद्गीता* में उपदिष्ट होना है। जो मनुष्य आपके आदेशानुसार इस धर्म का पालन करते हैं, जड़ तथा चेतन समस्त जीवात्माओं को समान मानते हैं और किसी को उच्च तथा निम्न नहीं मानते हैं, वे आर्य कहलाते हैं। ऐसे आर्य आप की अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना करते हैं।**

**तात्पर्य :** *भागवत-धर्म* तथा कृष्णकथा एक ही हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति गुरु बन कर *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत,* अन्य *पुराणों, वेदान्त सूत्र* तथा इसी प्रकार के वैदिक ग्रथों से सर्वत्र श्रीकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करे। सभ्यता में अग्रणी आर्य लोग *भागवत-धर्म* का पालन करते हैं। पाँच वर्ष का एक बालक होते हुए भी प्रह्लाद महाराज ने कहा ( *भागवत* ७.६.१)—

*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।*
*दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥*

प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को *भागवत-धर्म* का उपदेश उस समय देते जब कक्षा में अध्यापक के अनुपस्थित होने से उन्हें अवसर मिल जाता। उनका कथन है कि जीवन के आरम्भ होते ही बच्चों को पाँच वर्ष की आयु से ही *भागवत-धर्म* की शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य देह जो अत्यन्त दुर्लभ है इस विषय को समझने के लिए है।

*भागवत-धर्म* का अभिप्राय है श्रीभगवान् के आदेशानुसार जीवन बिताना। *भगवद्गीता* में हम देखते हैं कि परमेश्वर ने मानव-समाज को चार सामाजिक विभागों में नियोजित किया है। ये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। पुनः पुराणों तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में भी चार आश्रम वर्णित हैं, जो आध्यात्मिक जीवन के विभाग हैं। अत: *भागवत-धर्म* का अर्थ है चार प्रकार के सामाजिक तथा आध्यात्मिक विभागों का वर्णाश्रम धर्म।

मानव समाज के वे सभी सदस्य जो *भागवत-धर्म* का कठोरता से पालन करते हैं तथा श्रीभगवान् के उपदेशों के अनुसार जीवनयापन करते हैं, आर्य कहलाते हैं। ऐसे आर्यों की सभ्यता जो भगवान् के उपदेशों का कठोरता से पालन करते हैं और इन से कभी विचलित नहीं होते, पूर्ण हैं। ऐसे सभ्य मनुष्य वृक्षों, पशुओं मनुष्यों तथा अन्य जीवात्माओं में कोई भेदभाव नहीं रखते। *पंडिता: समदर्शिन:*—कृष्णभावनामृत में पूर्णत: सुशिक्षित होने से वे प्राणियों को समभाव से देखते हैं। आर्यजन एक छोटे से पौधे तक को वृथा नहीं काटते, बड़े-बड़े वृक्षों को इन्द्रियतृप्ति हेतु काटने की बात तो दूर रही। इस समय सम्पूर्ण विश्व में हत्या का बोलबाला है। मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के हेतु वृक्षों की, पशुओं की, यहाँ तक कि मनुष्यों की भी हत्या करते हैं। किन्तु यह आर्य सभ्यता नहीं है। जैसाकि यहाँ कहा गया है—*स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्ववपृथग्धिय:*। *अपृथग्-धिय:* शब्द बताता है कि आर्य लोग जीव की उच्च तथा निम्न कोटियों में भेदभाव नहीं रखते हैं। समस्त प्रकार के जीवों की रक्षा होनी चाहिए। सभी जीवों को जीने का अधिकार है, चाहे वे पशु हों या पौधे। आर्य सभ्यता का यही मूल सिद्धान्त है। निम्न जीवों के अतिरिक्त जितने भी जीव मानवीय सभ्यता को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के समाज में विभाजित करना चाहिए।

ब्राह्मणों को चाहिए कि वे *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रथों में वर्णित श्रीभगवान् के उपदेशों का पालन करें। जिसके लिए गुण तथा कर्म को आधार बनाना चाहिए। इसे यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के गुण अर्जित करके तदनुसार कर्म करना चाहिए। इसी सभ्यता को आर्यों ने ग्रहण किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया है? क्योंकि वे श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखने के इच्छुक हैं। यही परिपूर्ण सभ्यता है।

आयजन न तो कृष्ण के उपदेशों से विपथ होते हैं और न उन्हें श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह है, किन्तु जो अनार्य तथा अन्य आसुरी लोग हैं, वे *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों का पालन नहीं करते। इसका कारण यही है कि उन्हें अन्य जीवात्माओं के बलिदान पर इन्द्रियतृप्ति करते रहने की शिक्षा दी गई है। *नूनं प्रमत्त: कुरुते विकर्म*—उनका एकमात्र कार्य इन्द्रियतृप्ति के हेतु सभी प्रकार की वर्जित गतिविधियाँ करना है। *यद् इन्द्रिय-प्रीतया-पृणोति*—अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करने के इच्छुक होने से वे इस प्रकार विचलित होते हैं। उनके न तो कोई अन्य कार्य होता है न अभिलाषा रहती है। पिछले श्लोक में उनकी सभ्यता प्रणाली की भर्त्सना की गई है। *क: क्षेमो निजपरयो: कियान् वार्थ: स्वपरद्रुहा धर्मेण*—"ऐसी सभ्यता से क्या लाभ जो अपने आपकी तथा अन्यों की हत्या करती हो।"

अत: यह श्लोक प्रत्येक मनुष्य को आर्य सभ्यता का सदस्य बनने एवं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के उपदेशों को स्वीकार करने की सलाह देता है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के उपदेशानुसार ही अपने सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक कार्य करे। श्रीकृष्ण द्वारा इच्छित समाज की स्थापना करने के प्रयास हेतु हम कृष्णभावनामृत आंदोलन का प्रसार कर रहे हैं। कृष्णभावनामृत का यही अभिप्राय है। इसलिए हम *भगवद्गीता* को यथारूप में प्रस्तुत कर रहे हैं और समस्त प्रकार के मनोरथों को पास नहीं फटकने देते। मूढ़ तथा उचक्के लोग *भगवद्गीता* की अपने ढंग से व्याख्या करते लगते हैं। जब श्रीकृष्ण कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—अर्थात् सदैव मेरा स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो—तो उनकी टीका है

हमें जिनकी शरण में जाना है वे कृष्ण नहीं। इस प्रकार वे *भगवद्गीता* का काल्पनिक अर्थ लगाते हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के पूर्ण कल्याण हेतु *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों का अर्थात् *भागवत-धर्म* का कठोरता से पालन करता है। जो *भगवद्गीता* को तोड़-मरोड़ कर अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के हेतु कोई अर्थ निकालता है, वह अनार्य है। अत: ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई *भगवद्गीता* की टीकाओं का बहिष्कार करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि यथारूप में *भगवद्गीता* का पालन करे। श्रीकृष्ण भगवान् *भगवद्गीता* (१२.६-७) में कहते हैं—

*ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा: ।*

*अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥*

*तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।*

*भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥*

"जो अपने सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पित करके और अनन्य भक्ति के परायण होकर नित्य निरन्तर मेरा ही भजन-चिन्तन करते हैं, मुझमें एकान्तिक भाव से मन को अनुरक्त करते हैं, हे पार्थ! मैं उन भक्तों का जन्म-मृत्यु रूपी संसार-सागर से अतिशीघ्र उद्धार करता हूँ।"

**न हि भगवन्नघटितमिदं**
**त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।**
**यन्नाम सकृच्छ्रवणात्**
**पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥ ४४॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; भगवन्—हे भगवान्; अघटितम्—जो कभी न हुआ हो; इदम्—यह; त्वत्—तुम्हारे; दर्शनात्—दर्शन से; नृणाम्—समस्त मनुष्यों का; अखिल—सम्पूर्ण; पाप—पापों का; क्षयः—संहार; यत्-नाम—जिसका नाम; सकृत्—केवल एक बार; श्रवणात्—सुनने से; पुक्कशः—निम्नतम जाति, चण्डाल; अपि—भी; विमुच्यते—छूट जाता है; संसारात्—इस संसार के बन्धन से।

**हे भगवन्! आपके दर्शनमात्र से किसी के लिए भी समस्त भौतिक कल्मषों से तुरन्त**

**मुक्त हो जाना असम्भव नहीं है। आपको प्रत्यक्ष देखने की बात तो एक ओर रही; आपके पवित्र नाम को एक बार सुन लेने से ही चण्डाल तक समस्त भौतिक कल्मष से विमुक्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में आपके दर्शनमात्र से ऐसा कौन है, जो भौतिक कल्मष से मुक्त नहीं हो पायेगा?**

**तात्पर्य :** जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* (९५.१६) में कहा गया है—*यन्नाम श्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मल:*—ईश्वर का पवित्र नाम सुनने मात्र से ही मनुष्य तुरन्त शुद्ध हो जाता है। अत: इस कलियुग में, जबकि सभी मनुष्य कल्मषग्रस्त हैं, भगवन्नाम जप को सुधार का एकमात्र साधन संस्तुत किया गया है।

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।*

*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥*

''कलह तथा छल-छद्म के इस युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का जप है। इसका कोई अन्य साधन नहीं है, कोई अन्य साधन नहीं, कोई अन्य साधन नहीं है।'' (*बृहन्नारदीय पुराण*)। पाँच सौ वर्ष पूर्व चैतन्य महाप्रभु ने पवित्र नाम के इस जप का सूत्रपात किया और हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के माध्यम से अब यह देख रहे हैं कि निम्न श्रेणी के व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम को सुनने मात्र से ही समस्त पापकर्मों से छुटकारा पा रहे हैं। यह संसार पापकर्मों का परिणाम है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति धिक्कारणीय है, तो भी जिस प्रकार कैदियों की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार मनुष्यों की भी विभिन्न श्रेणियाँ हैं। वे जीवन की समस्त अवस्थाओं में दुख भोग रहे हैं। सांसारिक दुखों को रोकने के लिए हरे कृष्ण *सङ्कीर्तन* आन्दोलन को या कृष्ण-भावनामृत के जीवन को अपनाना चाहिए।

यहाँ पर कहा गया है *यन्नाम सकृच्छ्रवणात्*—श्रीभगवान् का पवित्र नाम इतना शक्तिमान है कि अपराधरहित होकर एक बार भी सुनने पर नीच मनुष्य भी पवित्र हो सकते हैं (*किरात-हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कशा:*)। ऐसे मनुष्य जो चण्डाल कहलाते हैं, वे शूद्रों से भी नीच हैं, किन्तु वे भी

पवित्र नाम के श्रवणमात्र से पवित्र किये जा सकते हैं। हम अपनी वर्तमान स्थिति में भगवान् को मन्दिरों में श्रीविग्रह रूप में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। भगवान् के साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या? भगवान् का श्रीविग्रह परमेश्वर से भिन्न नहीं। चूँकि भगवान् हमारे वर्तमान् मोहग्रस्त नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ते इसलिए उन्होंने हमारे समक्ष ऐसे रूप में उपस्थित होना स्वीकार किया है, जिसे हम देख सकें। अत: मन्दिर में स्थित श्रीविग्रह को भौतिक नहीं समझना चाहिए। श्रीविग्रह को भोजन भेंट करके तथा उसे अलंकृत करके उसकी सेवा करने से मनुष्य को वही फल प्राप्त होता है, जो वैकुण्ठ में साक्षात् भगवान् की सेवा से प्राप्त होता है।

**अथ भगवन्वयमधुना**
**त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।**
**सुरऋषिणा यत्कथितं**
**तावकेन कथमन्यथा भवति ॥ ४५ ॥**

### शब्दार्थ

अथ—अत:; भगवन्—हे भगवन्; वयम्—हम; अधुना—इस समय; त्वत्-अवलोक—आपके दर्शन से; परिमृष्ट—धुल जाती हैं; आशय-मलाः—हृदय की दूषित कामनाएँ; सुर-ऋषिणा—देवताओं में ऋषि ( नारद ) द्वारा; यत्—जो; कथितम्—कहा गया; तावकेन—जो आपका भक्त है; कथम्—किस प्रकार; अन्यथा—और कुछ; भवति—हो सकता है।

**अत: हे भगवन्! आपके दर्शन मात्र मेरे समस्त पापकर्मों के कल्मष एवं भौतिक आसक्ति तथा कामासक्त विषयों के फल, जिनसे मेरा मन तथा अन्त:स्थल पूरित था, सदा-सर्वदा के लिए धो दिये हैं। जो कुछ नारद मुनि ने भविष्यवाणी की है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, नारद मुनि के द्वारा शिक्षित किये जाने के कारण ही मुझे आपका सान्निध्य प्राप्त हो सका है।**

**तात्पर्य :** यही पूर्ण विधि की प्रक्रिया है। मनुष्य को चाहिए कि वह नारद, व्यास तथा असित जैसे विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करे और उनके सिद्धान्तों का पालन करे। तभी उसे अपने ही नेत्रों से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दर्शन हो सकेंगे। इसके लिए केवल अभ्यास चाहिए। अत:

*श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः*। हम अपने कुंद नेत्रों तथा अन्य इन्द्रियों से श्रीभगवान् को नहीं देख सकते, किन्तु यदि विद्वानों के उपदेशों के अनुसार अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाते हैं, तो हम उनका दर्शन कर सकेंगे। श्रीभगवान् का दर्शन करते ही निश्चय रूप से अन्तःस्थल के समस्त पाप-फल कट जाते हैं।

**विदितमनन्त समस्तं**
**तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।**
**विज्ञाप्यं परमगुरोः**
**कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥ ४६ ॥**

शब्दार्थ

विदितम्—ज्ञात; अनन्त—हे अनन्त; समस्तम्—सब कुछ; तव—तुम्हारा; जगत्-आत्मनः—समस्त जीवों का परमात्मा; जनैः—जनसमूह या जीवों द्वारा; इह—इस संसार में; आचरितम्—किया हुआ; विज्ञाप्यम्—सूचित किया गया; परम-गुरोः—परम स्वामी, परमेश्वर को; कियत्—कितना; इव—निश्चय ही; सवितुः—सूर्य को; इव—के समान; खद्योतैः—जुगनुओं के द्वारा।

**हे अनन्त भगवान्! इस भौतिक जगत में जीवात्मा जो भी करता है, वह आपको भली-भाँति विदित रहता है क्योंकि आप परमात्मा हैं। सूर्य की उपस्थिति में जुगनुओं के प्रकाश से कुछ भी उद्दीप्त नहीं होता? इसी प्रकार, चूँकि आप सब कुछ जानने वाले हैं, अतः आपकी उपस्थिति में मेरे बताने के लिए कुछ भी नहीं है।**

**नमस्तुभ्यं भगवते**
**सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय ।**
**दुरवसितात्मगतये**
**कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥ ४७॥**

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—हे भगवान्; सकल—समस्त; जगत्—दृश्य जगत की; स्थिति—पालन; लय—संहार; उदय—तथा उत्पत्ति; ईशाय—ईश्वर को; दुरवसित—समझ पाना असम्भव; आत्म-गतये—जिसकी अपनी स्थिति; कु-योगिनाम्—ऐन्द्रिय पदार्थों में आसक्त रहने वालों का; भिदा—भेददृष्टि के मिथ्या ज्ञान के कारण; परम-हंसाय—परम पवित्र को।

**हे भगवान्! आप ही इस दृश्य जगत के स्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं, किन्तु घोर**

**संसारी तथा भेदवादी जनों के पास वे नेत्र ही नहीं होते जिनसे वे आपको देख सकें। वे आपकी वास्तविक स्थिति को न समझ पाने के कारण इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि यह दृश्य-जगत आपके ऐश्वर्य से स्वतंत्र है। हे भगवान्! आप परम विशुद्ध हैं और सभी छहों ऐश्वर्यों से ओतप्रोत हैं। अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** नास्तिक लोग सोचते हैं कि दृश्य जगत पदार्थ के संयोग से अकस्मात् निर्मित हुआ, उसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। भौतिकतावादी तथाकथित रसायन विज्ञानी एवं नास्तिक विचारक इस दृश्य-जगत के सम्बन्ध में ईश्वर का नामोल्लेख भी करने से कतराते रहते हैं। उनके लिए ईश्वर की सृष्टि को समझ पाना असम्भव है क्योंकि वे घोर भौतिकतावादी होते हैं। श्रीभगवान् तो परमहंस हैं ? अर्थात् परम शुद्ध, जबकि इन्द्रिय-सुख में आसक्त तथा भौतिक कार्य-कलापों में गधों की तरह जुटे रहने वाले पापी व्यक्ति अत्यन्त नीच मनुष्य होते हैं। नास्तिक प्रवृत्ति होने के कारण उनका सारा तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान वृथा है। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते।

**यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति**
**यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति ।**
**भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि**
**तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्त्रमूर्ध्ने ॥ ४८ ॥**

## शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; श्वसन्तम्—चेष्टा से; अनु—पीछे-पीछे; विश्व-सृजः—दृश्य जगत के अधीक्षक; श्वसन्ति—चेष्टा करते हैं; यम्—जिसको; चेकितानम्—देखते हुए; अनु—पीछे; चित्तयः—समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ; उच्चकन्ति—देखती हैं; भू-मण्डलम्—विशाल ब्रह्माण्ड; सर्षपायति—सरसों के बीज सदृश बन जाता हैं; यस्य—जिसके; मूर्ध्नि—शीश पर; तस्मै—उनको; नमः—नमस्कार है; भगवते—छः ऐश्वर्यों से पूर्ण, श्रीभगवान्; अस्तु—हो; सहस्त्र-मूर्ध्ने—सहस्त्र फनों वाले।

**हे भगवान्! आपकी चेष्टा से ही भगवान् ब्रह्मा, इन्द्र तथा दृश्य जगत के अन्य अधीक्षक अपने अपने कार्यों में निरत हो जाते हैं। हे ईश्वर! आपके द्वारा भौतिक शक्ति को देखे जाने पर ही इन्द्रियाँ देख पाती हैं। अनन्त भगवान् समस्त ब्रह्माण्डों को अपने सर पर सरसों के**

**बीजों के समान धारण किये रहते हैं। हे सहस्र-फण वाले परम पुरुष! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।**

श्रीशुक उवाच
**संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत ।**
**विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरूद्वह ॥ ४९ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; संस्तुतः—पूजित होकर; भगवान्—श्रीभगवान्; एवम्—इस प्रकार; अनन्तः—भगवान् अनन्त; तम्—उससे; अभाषत—बोले; विद्याधर-पतिम्—विद्याधरों के राजा; प्रीतः—प्रसन्न होकर; चित्रकेतुम्—चित्रकेतु; कुरु-उद्वह—हे कुरु वंश में श्रेष्ठ.

**शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे कुरुवंश में श्रेष्ठ, महाराज परीक्षित! विद्याधरों के राजा चित्रकेतु द्वारा की गई स्तुति से अत्यधिक प्रसन्न होकर भगवान् अनन्तदेव ने इस प्रकार उत्तर दिया।**

श्रीभगवानुवाच
**यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम् ।**
**संसिद्धोऽसि तया राजन्विद्यया दर्शनाच्च मे ॥ ५० ॥**

### शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् संकर्षण ने उत्तर दिया; यत्—जो; नारद-अङ्गिरोभ्याम्—नारद तथा अंगिरा द्वारा; ते—तुमसे; व्याहृतम्—कहे गये; मे—मेरी; अनुशासनम्—पूजा; संसिद्धः—परम सिद्धि प्राप्त; असि—हो; तया—उससे; राजन्—हे राजन्; विद्यया—मंत्र से; दर्शनात्—प्रत्यक्ष दर्शन से; च—भी; मे—मेरे।

**भगवान् अनन्त देव ने इस प्रकार उत्तर दिया—हे राजन्! परम साधु नारद तथा अंगिरा द्वारा मेरे सम्बन्ध में दिये गये उपदेशों को अंगीकार करने के फलस्वरुप तुम दिव्य ज्ञान से भली-भाँति अवगत हो चुके हो। आध्यात्मिक ज्ञान में शिक्षित हो जाने के कारण अब तुमने मेरा साक्षात् दर्शन किया है, अतः तुम अब पूर्णतया सिद्ध हो चुके हो।**

**तात्पर्य :** जीवन की सिद्धि इसी में है कि आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा ईश्वर के अस्तित्व तथा ईश्वर द्वारा इस संसार के सृजन, पालन एवं संहार की क्रिया को समझा जाये। पूर्ण ज्ञान होने पर नारद तथा अंगिरा एवं उनकी शिष्य-परम्परा के सदस्यों की संगति द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम विकसित

किया जा सकता है। तब मनुष्य भगवान् अनन्त का साक्षात् दर्शन कर सकता हैं। यद्यपि ईश्वर अनन्त हैं, किन्तु अहैतुकी दयावश वे भक्त को दिखाई पड़ते हैं। अपने वर्तमान बद्ध जीवन के कारण न तो हम ईश्वर को देख सकते हैं, न जान सकते हैं।

*अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः।*

*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयम् एव स्फुरत्यदः॥*

"अपनी सांसारिक कलुषित इन्द्रियों के द्वारा कोई भी श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं के दिव्य स्वरूप को नहीं समझ सकता। जब वह ईश्वर की दिव्य सेवा से दिव्य रूप से संतृप्त हो जाता है तभी उसे इन सबकी अनुभूति है।" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२३४। यदि कोई नारद मुनि अथवा उनके प्रतिनिधि के निर्देशन में आध्यात्मिक जीवन बिताता है और भगवान् की सेवा करता है, तो वह ईश्वर के साक्षात्कार के योग्य हो सकता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) का कथन है—

*प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*

*सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।*

*यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥*

"मैं आदि ईश्वर गोविन्द की पूजा करता हूँ जो प्रेम-अंजन से आँजे हुए नेत्रों वाले भक्तों द्वारा सदैव देखे जाते हैं। वे भक्त के हृदय में स्थित अपने शाश्वत श्यामसुन्दर स्वरूप में देखे जाते हैं।" मनुष्य को अपने गुरु के उपदेशों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार योग्य बनकर वह श्रीभगवान् को देख पाता है जैसाकि महाराज चित्रकेतु के उदाहरण से स्पष्ट है।

**अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः ।**
**शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥ ५१ ॥**

### शब्दार्थ

अहम्—मैं; वै—निस्सन्देह; सर्व-भूतानि—जीवात्माओं के विभिन्न रूपों में विस्तार करके; भूत-आत्मा—समस्त जीवात्माओं की परम आत्मा ( उनके परम निर्देशक तथा भोक्ता ); भूत-भावनः—समस्त जीवात्माओं के दृष्टिगोचर होने के कारण; शब्द-ब्रह्म—दिव्य शब्द का स्पंदन ( हरे कृष्ण मंत्र ); परम् ब्रह्म—परम सत्य; मम—मेरा; उभे—दोनों, उभय ( शब्द तथा रूप ); शाश्वती—नित्य; तनू—दोनों शरीर।

**समस्त चर तथा अचर जीवात्माएँ मेरे ही प्रकाश ( विस्तार ) हैं और मुझसे पृथक् हैं। मैं ही समस्त जीवों का परमात्मा हूँ; मेरे प्रकाशित करने के ही कारण उनका अस्तित्व है। मैं ही ऊँकार तथा हरे कृष्ण हरे राम मंत्र जैसे दिव्य शब्दों का रूप हूँ और मैं ही परम सत्य हूँ। ये दोनों रूप—दिव्य शब्द तथा श्रीविग्रह का शाश्वत आनन्दमय दिव्य रूप—मेरे शाश्वत रूप हैं, वे भौतिक नहीं हैं।**

**तात्पर्य :** नारद तथा अंगिरा ने चित्रकेतु को भक्तियोग का उपदेश दिया है। चित्रकेतु को अपनी भक्ति के ही कारण भगवान् के दर्शन हुए। भक्ति के द्वारा क्रमशः अग्रसर होकर मनुष्य जब ईश्वर के प्रेम के पद पर पहुंच जाता है (*प्रेमा पुमार्थो महान्*) तो उसे प्रतिक्षण ईश्वर का दर्शन होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जब कोई गुरु की बताई विधि से चौबीसों घंटे भक्ति में लगा रहता है (*तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्*) तो उसकी भक्ति अधिकाधिक आनन्दप्रद हो जाती है। तब प्रत्येक के हृदय में स्थित भगवान् भक्त से बातें करता है। (*ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते*)। चित्रकेतु को पहले उसके गुरुद्वय अंगिरा तथा नारद ने शिक्षा दी और उनके उपदेशों का पालन करते हुए वह इस योग्य बन सका कि ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर सके। इसलिए अब भगवान् उसे ज्ञान का सार समझा रहे हैं।

ज्ञान का सार यह है कि वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो सत्य और दूसरी क्षणिक या मिथ्या। मनुष्य को इन दोनों का अस्तित्व समझना होगा। वास्तविक तत्त्व या सत्य तो ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् हैं। *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में कहा गया है—

*वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।*

*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥*

''परम सत्य के ज्ञाता तत्त्वविद् इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् कहकर पुकारते हैं।'' परम सत्य इन तीन रूपों में सदैव विद्यमान है, अत: ये तीनों मिलकर तत्त्व कहलाते हैं।

अतत्त्व से दो प्रकार के निसर्जन होते हैं—*कर्म* तथा *विकर्म*। *कर्म* से भौतिक दिन में सम्पन्न दैहिक कार्यों तथा रात्रि में स्वप्न के मानसिक कार्यों का बोध होता है। ये न्यूनाधिक ऐच्छिक कार्यकलाप हैं। किन्तु विकर्म से मिथ्या गतिविधियों का बोध होता है, जो मायाजाल के तुल्य हैं। ये ऐसे कर्म हैं जिनकी कोई सार्थकता नहीं है। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञानी यह कल्पना करते हैं कि रासायनिक संयोग से जीवन उत्पन्न किया जा सकता है और इसी को सिद्ध करने के लिए वे विश्व भर में अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में व्यस्त हैं यद्यपि पूरे इतिहास में आज तक कोई भौतिक संयोग के द्वारा जीवन उत्पन्न करने में सक्षम हुआ नहीं मिलता है। एसे कर्मों को विकर्म कहा गया है।

सभी भौतिक कार्य-कलाप वास्तव में छल हैं और इनमें प्रगति करना समय का अपव्यय मात्र है। इन्हें अकार्य कहते हैं। मनुष्य को भगवान् के उपदेशों से सीखना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१७) में कहा गया है—

*कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण:।*

*अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति:॥*

''कर्म का तत्त्व समझ पाना अत्यन्त गहन है, अत: कर्म, विकर्म तथा अकर्म को भलीभाँति जानना चाहिए।'' मनुष्य को इन्हें भगवान् से सीधे ग्रहण करना चाहिए जो अनन्तदेव के रूप में राजा चित्रकेतु को उपदेश दे रहे हैं क्योंकि उसने नारद तथा अंगिरा के उपदेशों का पालन करते हुए भक्ति की समुन्नत अवस्था प्राप्त कर ली थी।

यहाँ पर यह कहा गया है—*अहं वै सर्वभूतानि*—ईश्वर सब कुछ (*सर्वभूतानि*) है। जिसमें जीवात्माएँ तथा भौतिक तत्त्व सम्मिलित हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.४-५) में श्रीकृष्ण स्वयं

कहते हैं—

*भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।*

*अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥*

*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।*

*जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥*

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और मिथ्या अहंकार—ऐसे आठ प्रकार से विभाजित ये मेरी अपरा भौतिक शक्तियाँ हैं। हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़) शक्ति के अतिरिक्त मेरी एक परा (चेतन) शक्ति भी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते हुए जीवों से बनी है और जो ब्रह्माण्ड को धारण किए हुए हैं।" जीवात्मा भौतिक तत्त्वों के ऊपर अपना आधिपत्य जताना चाहता है, किन्तु ये भौतिक तत्त्व तथा आध्यात्मिक स्फुलिंग श्रीभगवान् से निकलने वाली शक्तियाँ हैं। इसलिए ईश्वर का कथन है—*अहं वै सर्वभूतानि*—"मैं सब कुछ हूँ।" जिस प्रकार अग्नि से उष्मा तथा प्रकाश दोनों ही निकलते हैं उसी प्रकार ये दोनों शक्तियाँ—भौतिक तत्त्व तथा जीवात्माएँ—परमात्मा से उद्‌भूत हैं। इसलिए ईश्वर का कथन है—*अहं वै सर्वभूतानि*—"मैं भौतिक तथा आध्यात्मिक श्रेणियों का विस्तार करता हूँ।"

पुनः, परमात्मा ही बद्धजीवों के मार्गदर्शक हैं, जो भौतिक वातावरण से आबद्ध हो जाते हैं। इसलिए वे *भूतात्मा भूतभावनः* कहलाते हैं। वे जीवात्मा को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह अपनी स्थिति सुधार कर परम धाम को वापस जा सकता है अथवा यदि वह परम धाम को वापस नहीं जाना चाहता तो उसे परमात्मा अपनी भौतिक स्थिति सुधारने के लिए बुद्धि प्रदान करते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्‌गीता* (१५.१५) में की है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।" ईश्वर भीतर से ही जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह कार्य कर सके। इसलिए पिछले श्लोक में यह कहा गया था कि ईश्वर की चेष्टा के बाद ही हम चेष्टा आरम्भ करते हैं। हम स्वतंत्र

रूप से चेष्टा करने का कोई कार्य कर सकने में असमर्थ हैं इसलिए ईश्वर भूतभावन हैं।

इस श्लोक में दिये गये ज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि *शब्द-ब्रह्म* भी परमेश्वर का एक रूप है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के नित्य, आनन्दमय स्वरूप को परम ब्रह्म रूप में स्वीकार किया है। बद्ध जीवात्मा मायावी वस्तु को सत्य मान बैठता है। यह माया या अविद्या कहलाती है। अत: वैदिक ज्ञान के अनुसार सर्वप्रथम भक्त बनना चाहिए और तब विद्या तथा अविद्या के भेद को समझना चाहिए जिसका विशद वर्णन *ईशोपनिषद्* में हुआ है। विद्या के स्तर पर वास्तविक रूप में होने पर मनुष्य स्वत: राम, कृष्ण तथा संकर्षण जैसे रूपों में श्रीभगवान् को समझ पाता है। वैदिक ज्ञान को भगवान् का श्वास कहते हैं। वैदिक ज्ञान के आधार पर ही सारे कार्यकलाप प्रारम्भ होते हैं। इसलिए भगवान् का कथन है कि जब मैं चेष्टा करता हूँ या साँस लेता हूँ तभी भौतिक ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और क्रमश: विभिन्न कार्य चालू होते हैं। *भगवद्गीता* में ईश्वर का कथन है प्रणव *सर्ववेदेषु*—''मैं समस्त मंत्रों में ॐ शब्द हूँ।'' वैदिक ज्ञान दिव्य शब्द ध्वनि प्रणव या ऊँकार से प्रारम्भ होती है। *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे* भी वह दिव्य ध्वनि (शब्द) है। *अभिन्नत्वान् नामनामिनो:*—ईश्वर के पवित्र नाम तथा स्वयं ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है।

**लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि सन्ततम् ।**
**उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥ ५२ ॥**

### शब्दार्थ

लोके—इस भौतिक जगत में; विततम्—विस्तीर्ण ( भौतिक सुख के प्रसंग में ); आत्मानम्—जीवात्मा; लोकम्—भौतिक जगत; च—भी; आत्मनि—जीवात्मा में; सन्ततम्—विस्तृत; उभयम्—दोनों ( भौतिक जगत तथा जीवात्मा ); च—तथा; मया—मेरे द्वारा; व्याप्तम्—व्याप्त; मयि—मुझमें; च—भी; एव—निस्सन्देह; उभयम्—दोनों ही; कृतम्—उत्पन्न।

**बद्धजीव इस भौतिक जगत में, जिसे वह सुख के साधनों से भरा हुआ समझता है, यह सोचकर विस्तार करता है कि वही इस जगत का भोक्ता है। इसी प्रकार यह भौतिक जगत जीवात्मा के सुख के साधनस्वरूप विस्तार करता है। इस प्रकार दोनों ही विस्तार करते हैं,**

**किन्तु दोनों ही मेरी शक्तियाँ होने के कारण मुझसे युक्त हैं। परमेश्वर होने के कारण मैं इन फलों का कारण हूँ और मनुष्य को यह जानना चाहिए कि ये दोनों ही मुझमें व्याप्त हैं।**

**तात्पर्य :** मायावादी दर्शन सभी वस्तुओं को गुण की दृष्टि से श्रीभगवान् या परब्रह्म के तुल्य मानता हैं, फलत: प्रत्येक वस्तु को पूजनीय समझता हैं। मायावाद को इस खतरनाक सिद्धान्त के कारण सामान्य लोग नास्तिकता की ओर प्रवृत्त हुए हैं। इस सिद्धान्त के बल पर व्यक्ति अपने को ईश्वर समझता है, जो सत्य नहीं है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*) कि वास्तविकता तो यह है कि समस्त दृश्य जगत परमेश्वर की शक्तियों का प्रसार है। ये शक्तियाँ भौतिक तत्त्वों तथा जीवात्माओं के रूप में प्रकट होती हैं। जीवात्माएँ भ्रमवश यह मान बैठती हैं कि भौतिक तत्त्व उनके भोग के साधन हैं और वे अपने को उनका भोक्ता मान बैठती हैं। किन्तु इनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं, ये दोनों भगवान् की शक्तियाँ हैं। इनका मूल कारण श्रीभगवान् ही हैं। यद्यपि ईश्वर की शक्तियों का प्रसार ही यह मूल कारण है किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ईश्वर ने स्वयं का विभिन्न प्रकार से विस्तार किया है। मायावादियों के सिद्धान्त की भर्त्सना करते हुए गीता में भगवान् का कथन है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:*—सभी जीव मुझमें स्थित हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है और उनकी शक्तियों का विस्तार मात्र है किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सारी वस्तुएँ उन्हीं के समान पूजनीय हैं। भौतिक विस्तार तो क्षणिक है, जबकि ईश्वर क्षणिक नहीं है। जीवात्माएँ ईश्वर के अंश हैं, किन्तु वे स्वयं ईश्वर नहीं हैं। इस जगत में जीवात्माएँ अकल्पनीय नहीं हैं, किन्तु ईश्वर तो है। अत: यह सिद्धान्त कि ईश्वर की शक्तियाँ उन्हीं के विस्तार होने के कारण ईश्वर के ही समान हैं, भ्रामक है।

**यथा सुषुप्त: पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।**
**आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थित: ॥५३॥**

**एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः ।**
**मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥५४॥**

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; सुषुप्तः—सोया हुआ; पुरुषः—व्यक्ति; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्डों को; पश्यति—देखता है; च—भी; आत्मनि—अपने भीतर; आत्मानम्—अपने आपको; एक-देश-स्थम्—एक स्थान में स्थित होकर; मन्यते—मानता है; स्वप्ने—स्वप्नावस्था में; उत्थितः—जगकर; एवम्—इस प्रकार; जागरण-आदीनि—जागृत अवस्था तथा अन्य; जीव-स्थानानि—जीव की विभिन्न स्थितियाँ; च—भी; आत्मनः—श्रीभगवान् की; माया-मात्राणि—माया शक्ति के प्रदर्शन; विज्ञाय—जानकर; तत्—उनका; द्रष्टारम्—जनक या द्रष्टा; परम्—परमात्मा; स्मरेत्—स्मरण करना चाहिए।

**जब मनुष्य गाढ़ निद्रा में होता है, तो वह स्वप्न देखता है और अपने अन्तर में विशाल पर्वत तथा नदियाँ या सम्भवतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भी देखता है, यद्यपि ये सारी वस्तुएँ अत्यन्त दूर हैं। किन्तु कभी कभी जब वह स्वप्न से जगता है, तो अपने को मनुष्य रूप में एक स्थान पर बिस्तर पर लेटा पाता है। तब वह अपने को अनेक स्थितियों में पाता है यथा विशेष राष्ट्रीयता, परिवार आदि में। प्रगाढ़-निद्रा, स्वप्न तथा जाग्रत ये समस्त अवस्थाएँ भगवान् की ही शक्तियाँ हैं। मनुष्य को इन अवस्थाओं के मूल स्रष्टा को, जो इनसे प्रभावित नहीं होता, सदैव स्मरण रखना चाहिए।**

**तात्पर्य :** जीवात्माओं की जागृत, स्वप्न, सुषुप्त अवस्थाओं में से कोई भी यथार्थ नहीं हैं। ये बद्ध जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की झलकियाँ हैं। भले ही अनेक पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, मधु-मक्खियाँ, शेर तथा सर्प कितनी ही दूर स्थित क्यों न हो, किन्तु स्वप्न में कोई उन्हें पास दिखने की कल्पना कर सकता हैं। जिस प्रकार रात्रि में सूक्ष्म स्वप्न दिखते हैं उसी प्रकार जीवात्मा जगने पर भी राष्ट्र, जाति, समाज, धन, उच्च प्रासाद, बैंक बचत, पद तथा यश के स्थूल स्वप्न में खोया रहता है। ऐसी दशा में मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भौतिक जगत के संसर्ग से ही ऐसा होता है। जीवन के विभिन्न रूपों में वह विभिन्न पदों पर स्थित है और ये माया की सृष्टियाँ हैं, जो भगवान् के निर्देश से कार्यरत रहती हैं। फलतः भगवान् ही परम कर्ता है और बद्धजीव का कर्तव्य है कि वह इन परमकर्ता श्रीकृष्ण का स्मरण करे। जीवात्मा के रूप में हम सभी प्रकृति की तरंगों में बहाए लिए जा रहे हैं, जो ईश्वर के निर्देशानुसार कार्य करती हैं ( *मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)।

भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है— *मिछे मायार वशे, याच्छ भेसेऽ, खाच्छ हाबुडुबु, भाइ*—स्वप्न तथा जागृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में तुम माया की तरंगों में क्यों बहे चले जा रहे हो? ये सब माया की सृष्टियाँ हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि माया के अध्यक्ष श्रीकृष्ण का स्मरण करते रहें। ऐसा करने के लिए शास्त्रों का उपदेश है— *हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*—मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के नाम का अर्थात् *हरेकृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे* का निरन्तर जप करे। परमेश्वर का साक्षात्कार तीन विभिन्न परम रूपों में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—में होता है किन्तु परम साक्षात्कार तो भगवान् ही हैं। जो भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करता है, वह ही पूर्ण महात्मा है *(वासुदेवः सर्वं इति स महात्मा सुदुर्लभः)*। मनुष्य जन्म पाकर हमें भगवान् को समझना चाहिए क्योंकि इससे प्रत्येक अन्य वस्तु समझ में आ सकेगी। *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति।* इस वैदिक शिक्षा से मात्र श्रीकृष्ण को जान लेने से ब्रह्म, परमात्मा, प्रकृति, माया, दिव्य शक्ति इत्यादि सभी जाने जा सकते हैं। प्रकृति भगवान् की अध्यक्षता में कार्य करती है और हम सब प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा दूर ले जाये जा रहे हैं। आत्म-साक्षात्कार के लिए सदैव श्रीकृष्ण को स्मरण रखना होगा। जैसा *पद्मपुराण* में कहा गया है— *स्मर्तव्यः सततं विष्णुः*—हमें चाहिए कि भगवान् विष्णु का सदैव स्मरण करें। *विस्मर्तव्यो न जातुचित्*—हमें भगवान् को कभी नहीं भूलना चाहिए। यही जीवन की सिद्धि है।

**येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा ।**
**सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥ ५५ ॥**

### शब्दार्थ

येन—जिसके ( परब्रह्म ) द्वारा; प्रसुप्तः—सोया हुआ; पुरुषः—व्यक्ति; स्वापम्—स्वप्न के विषय को; वेद—जानता है; आत्मनः—अपना; तदा—उस समय; सुखम्—सुख; च—भी; निर्गुणम्—भौतिक परिवेश से किसी प्रकार के सम्पर्क से रहित, सम्पर्कहीन; ब्रह्म—परमात्मा; तम्—उसको; आत्मानम्—सर्वव्यापी; अवेहि—जानो; माम्—मुझको।.

**तुम मुझे परब्रह्म जानो, जो सर्वव्यापी परमात्मा है और जिसके माध्यम से सुप्त जीवात्मा अपनी सुप्तावस्था तथा इन्द्रियातीत सुखों का अनुभव कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह**

**है। कि सुप्त जीवात्माओं की गतिविधियों का कारण मैं ही हूँ।**

**तात्पर्य :** जब जीवात्मा मिथ्या अहंकार से मुक्त हो जाता है, तो वह ईश्वर के अंश रूप में, अर्थात् आत्मा रूप में अपनी श्रेष्ठ स्थिति को समझता है। फलत: सुप्तावस्था में भी जीवात्मा ब्रह्म के कारण सुख का अनुभव कर सकता है। भगवान् का कथन है कि वह ब्रह्म, वह परमात्मा तथा वह भगवान् मैं ही हूँ। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने ग्रंथ *क्रम सन्दर्भ* में ऐसा लिखा है।

**उभयं स्मरत: पुंस: प्रस्वापप्रतिबोधयो: ।**
**अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत्परम् ॥ ५६ ॥**

शब्दार्थ

उभयम्—दोनों अवस्थाएँ ( निद्रा तथा जागृति ); स्मरतः—स्मरण रखते हुए; पुंसः—पुरुष का; प्रस्वाप—निद्रा के समय चेतना का; प्रतिबोधयोः—तथा जगते रहने पर चेतना का; अन्वेति—विस्तार होता है; व्यतिरिच्येत—के परे पहुँच सकता है; तत्—वह; ज्ञानम्—ज्ञान; ब्रह्म—परब्रह्म; तत्—वह; परम्—दिव्य।

**यदि निद्रा के समय देखे गये स्वप्न केवल परमात्मा द्वारा ही देखे गए विषय हैं, तो फिर जीवात्मा, जो परमात्मा से पृथक् है, स्वप्नों के क्रियाकलापों को क्यों स्मरण रखता है? एक व्यक्ति के अनुभवों को दूसरा नहीं समझ सकता। अत: जीवात्मा, जो तथ्यों का ज्ञाता है और स्वप्न तथा जागृति में प्रकट होने वाली घटनाओं के विषय में जिज्ञासा करता है आकस्मिक कार्यों से पृथक् है। जानने वाला तो ब्रह्म है। दूसरे शब्दों में जानने का गुण जीवात्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित है। इसलिए जीवात्मा को भी स्वप्न तथा जागृति की घटनाओं का अनुभव हो सकता है। दोनों दशाओं में ज्ञाता वही रहता है और गुणरूप में वह परब्रह्म से एकाकार है।**

**तात्पर्य :** जीवात्मा गुणों में परब्रह्म के ही समान है, किन्तु मात्रा में जीवात्मा ब्रह्म का अंश होने से परब्रह्म के समान नहीं हो सकता। गुणों में ब्रह्म होने के कारण जीवात्मा स्वप्न में तो विगत कार्यकलपों को स्मरण रख सकता है और जागृत अवस्था की वर्तमान् गतिविधियों को भी जान सकता है।

**यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः ।**
**ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः ॥५७॥**

### शब्दार्थ

यत्—जो; एतत्—यह; विस्मृतम्—भूला हुआ; पुंसः—जीवात्मा का; मत्-भावम्—मेरी स्थिति; भिन्नम्—भिन्न, विलग; आत्मनः—परमात्मा से; ततः—उससे; संसारः—भौतिक, बद्ध जीवन; एतस्य—जीवात्मा का; देहात्—एक शरीर से; देहः—दूसरा शरीर; मृतेः—एक मृत्यु से; मृतिः—दूसरी मृत्यु।

**जब जीवात्मा अपने आपको मुझसे भिन्न मानकर ज्ञान तथा आनन्द में मुझसे अपने गुण रूप में दिव्य तादात्म्य को भूल जाता है तभी उसका यह भौतिक बद्ध जीवन प्रारम्भ होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह मुझमें तादात्म्य न मानकर अपने सांसारिक विस्तारों में, यथा पत्नी, सन्तान तथा धन में अभिरुचि दिखाने लगता है। इस प्रकार अपने कर्मों के प्रभाव से एक शरीर के बाद दूसरा शरीर और एक मृत्यु के बाद दूसरी मृत्यु का चक्कर लगाता रहता है।**

**तात्पर्य :** सामान्यतः मायावादी दार्शनिक अथवा उनसे प्रभावित व्यक्ति अपने आपको श्रीभगवान् के ही सदृश उत्तम मानते हैं। यह उनके बद्ध जीवन का कारण है। वैष्णव कवि जगदानन्द पंडित ने *प्रेम-विवर्त* में कहा है—

*कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोग वांछा करे।*

*निकट-स्थ माया तारे जापटिया धरे॥*

ज्योंही जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलकर परमेश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करता है, उसी क्षण बद्ध जीवन शुरु हो जाता है। जीवात्मा तथा परमात्मा में गुणात्मक तथा मात्रात्मक सादृश्य का विचार उठना ही बद्ध जीवन का मूल कारण है। यदि कोई परमेश्वर तथा जीवात्मा के अन्तर को भूलता है, तो बद्ध जीवन शुरू हो जाता है। बद्ध जीवन का अभिप्राय है एक शरीर त्याग कर दूसरा ग्रहण करना और मरने के बाद पुनः मृत्यु को स्वीकार करना। मायावादी ज्ञानी का दर्शन कहता है—*तत् त्वम् असि*—अर्थात् तुम ईश्वर ही हो। वह भूल जाता है

कि उसका यह उपदेश जीवात्मा की तटस्था स्थिति पर लागू होता है, जो सूर्य प्रकाश के समान है। सूर्य में उष्मा तथा प्रकाश दोनों रहते हैं एवं सूर्य प्रकाश में भी ये दोनों विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार सूर्य तथा सूर्य प्रकाश गुण-रूप से एक ही हैं, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सूर्य का प्रकाश सूर्य पर आश्रित है। जैसा भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—"मैं ब्रह्म का मूल स्रोत हूँ।" सूर्य गोलक की उपस्थिति के कारण सूर्य-प्रकाश महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि सूर्यप्रकाश की सर्वव्यापकता के कारण सूर्यगोलक महत्त्वपूर्ण है। इस तथ्य को न समझना तथा उसे भूलना ही माया है। अपनी तथा परमेश्वर की स्वाभाविक स्थिति के विस्मरण से ही मनुष्य माया या संसार अर्थात् बद्ध जीवन में प्रवेश करता है। इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य का कहना है—

*सर्वभिन्नं परात्मानं विस्मरन् संसरेदिह।*

*अभिन्नं संस्मरन् याति तमो नास्त्यत्र संशयः॥*

जब मनुष्य यह सोचता है कि वह सब प्रकार से परमात्मा से अभिन्न है, तो वह निश्चित रूप से अंधकार (*तमः*) में रहता है।

**लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।**
**आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचित्क्षेममाप्नुयात् ॥ ५८ ॥**

### शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; इह—इस संसार (विशेषतः भारतवर्ष की इस पवित्र भूमि पर) में; मानुषीम्—मनुष्य की; योनिम्—योनि; ज्ञान—वैदिक शास्त्रों के माध्यम से ज्ञान का; विज्ञान—तथा जीवन में उस ज्ञान का व्यवहार; सम्भवाम्—सम्भाव्यता, सम्भावना; आत्मानम्—अपना वास्तविक स्वरूप; यः—जो भी; न—नहीं; बुद्ध्येत—समझता है; न—कभी नहीं; क्वचित्—किसी समय; क्षेमम्—जीवन में सफलता; आप्नुयात्—प्राप्त कर सकता है।

**वैदिक ज्ञान तथा उसके व्यवहार के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य अपने जीवन में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसा भारत में जन्म लेने वाले मनुष्य के लिए विशेष रूप से सम्भव है। जो मनुष्य ऐसी उपयुक्त परिस्थिति में जन्म लेकर अपने आपको नहीं जान पाता वह परम सिद्धि को प्राप्त कर सकने में अक्षम रहता है भले ही वह स्वर्ग लोक को**

**प्राप्त क्यों न हो जाए।**

**तात्पर्य :** इस कथत की पुष्टि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ९.४१) में मिलती है। भगवान् चैतन्य ने कहा है—

*भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।*

*जन्म सार्थक करि, कर पर-उपकार॥*

भारत भूमि में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी विशेषतया मानव वैदिक ज्ञान तथा उसके व्यवहार के द्वारा परम साफल्य प्राप्त कर सकता है। स्वयंसिद्ध होने पर वह सम्पूर्ण मानव समाज के आत्म-साक्षात्कार के लिए सेवा-कार्य कर सकता है। परोपकार करने की यह सर्वोत्तम विधि है।

**स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम् ।**
**अभयं चाप्यनीहायां सङ्कल्पाद्विरमेत्कविः ॥५९॥**

शब्दार्थ

स्मृत्वा—स्मरण करके; ईहायाम्—कर्मफल के उद्देश्य से किये गये कर्म के क्षेत्र में; परिक्लेशम्—शक्ति का क्षय तथा दयनीय स्थिति; ततः—उससे; फल-विपर्ययम्—इच्छा से विपरीत फल; अभयम्—निर्भयता; च—भी; अपि—निस्सन्देह; अनीहायाम्—जब कर्मफल की कोई आकांक्षा नहीं रह जाती; सङ्कल्पात्—भौतिक कामना से; विरमेत्—रुक जाना चाहिए; कविः—ज्ञानी पुरुष।.

**यह स्मरण रखते हुए कि कर्मफल हेतु सम्पन्न कर्मों के क्षेत्र में बड़ी बड़ी अड़चनें आती हैं और इच्छा से विपरीत फल प्राप्त होते हैं चाहे वे भौतिक कर्मों से उत्पन्न हों या वैदिक ग्रंथों द्वारा बताये सकाम कर्मों के फल हों, बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह सकाम कर्मों की इच्छा का परित्याग कर दे क्योंकि ऐसी चेष्टाओं से जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि कोई कर्मफल के हेतु निष्काम भाव से कर्म करता है अर्थात् वह भक्ति-कार्यों में लगता है, तो दयनीय स्थितियों से मुक्त रहकर वह जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त कर सकता है। इस पर विचार करते हुए मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कामनाओं का परित्याग करे।**

सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः ।
ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ६० ॥

### शब्दार्थ

सुखाय—सुख के लिए; दुःख-मोक्षाय—दुख से छुटकारा पाने के लिए; कुर्वाते—करते हैं; दम्-पती—पत्नी तथा पति; क्रियाः—कर्म; ततः—उससे; अनिवृत्तिः—विश्राम न मिलना; अप्राप्तिः—लाभ न होना; दुःखस्य—दुख का; च—भी; सुखस्य—सुख का; च—भी।

पुरुष तथा स्त्री जैसे दम्पत्ति के रूप में कई प्रकार से पारस्परिक सहयोग करके सुख प्राप्त करने तथा दुख को कम करने के लिए कई प्रकार से योजना बनाते हैं; किन्तु कामनाओं से पूर्ण होने के कारण उनके कर्मों से न तो कभी सुख प्राप्त होता है और न दुख में कमी आती है। उल्टे, ये भारी दुख के कारण बनते हैं।

एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम् ।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ॥ ६१ ॥
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
ज्ञानविज्ञानसन्तृप्तो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥ ६२ ॥

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विपर्ययम्—विपरीत; बुद्ध्वा—समझकर; नृणाम्—मनुष्यों का; विज्ञ-अभिमानिनाम्—जो अपने को विज्ञान से पूर्ण मानते हैं; आत्मनः—अपने आप का; च—भी; गतिम्—उन्नति; सूक्ष्माम्—समझने में अत्यन्त कठिन; स्थान-त्रय—जीवन की तीन दशाएँ ( गाढ़ निद्रा, स्वप्न तथा जागृति ); विलक्षणाम्—से विलग; दृष्ट—प्रत्यक्ष देखा हुआ; श्रुताभिः—अथवा अधिकारियों की सूचना से समझा हुआ; मात्राभिः—वस्तुओं से; निर्मुक्तः—मुक्त होकर; स्वेन—अपने आप से; तेजसा—विवेक से; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा इस ज्ञान के व्यवहार से; सन्तृप्तः—पूर्णतया सन्तुष्ट; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; पुरुषः—पुरुष; भवेत्—हो जाना चाहिए।

मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने भौतिक अनुभव पर गर्व करते हैं उन्हें जगते, सोते तथा प्रगाढ़ निद्रा में कल्पित किए गये फलों के विपरीत फल मिलते हैं। मनुष्य को यह भी समझना चाहिए कि यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए आत्मा को देख पाना दुष्कर है, तो भी वह इन समस्त स्थितियों से परे है और उसे अपने विवेक के आधार पर इस जन्म में तथा अगले जन्म में कर्म-फल की इच्छा का परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार दिव्य ज्ञान में अनुभवी बनकर ही किसी को मेरा भक्त बनना चाहिए।

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—निस्सन्देह; मनुजैः—मनुष्यों के द्वारा; योग—भक्ति योग के द्वारा, परमेश्वर से जुड़ने की विधि द्वारा; नैपुण्य—निपुणता; बुद्धिभिः—बुद्धिमानों के द्वारा; स्व-अर्थः—जीवन का परम उद्देश्य; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; ज्ञेयः—जानने योग्य; यत्—जो; पर—दिव्य ईश्वर का; आत्म—तथा आत्मा का; एक—एकत्व का; दर्शनम्—समझ।

जो पुरुष जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे परम पुरुष तथा जीवात्मा का भलीभाँति अवलोकन करें जो अंश तथा पूर्ण होने के कारण गुण रूप से एक ही हैं। जीवन की यही सबसे बड़ी समझ है। इससे बढ़कर और कोई सत्य नहीं है।

त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥ ६४॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एतत्—यह; श्रद्धया—परम श्रद्धापूर्वक; राजन्—हे राजन्; अप्रमत्तः—प्रमत्त हुए बिना किसी अन्य निष्कर्ष को न पहुँचते हुए; वचः—उपदेश; मम—मेरा; ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नः—ज्ञान तथा विज्ञान से भलीभाँति अवगत होकर; धारयन्—स्वीकार करते हुए; आशु—शीघ्र ही; सिध्यसि—सिद्ध हो सकोगे।

हे राजन्! यदि तुम भौतिक सुख से विरक्त रह कर परम श्रद्धा सहित मुझसे संलग्न होकर ज्ञान तथा इसकी जीवन में व्यवहारिकता में निपुण बन कर मेरे इस निष्कर्ष को स्वीकार करोगे तो तुम परम सिद्धि को प्राप्त होगे।

श्रीशुक उवाच
आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः ।
पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; आश्वास्य—आश्वासन देकर; भगवान्—भगवान्; इत्थम्—इस प्रकार; चित्रकेतुम्—राजा चित्रकेतु को; जगत्-गुरुः—परम गुरु; पश्यतः—देखते देखते; तस्य—उसके; विश्व-आत्मा—समस्त ब्रह्माण्ड का परमात्मा; ततः—वहाँ से; च—भी; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गया; हरिः—भगवान् हरि।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार चित्रकेतु को उपदेश देकर और उसे सिद्धि का आश्वासन देकर जगद्गुरु परमात्मा भगवान् संकर्षण उस स्थान से चित्रकेतु के देखते-देखते अन्तर्धान हो गये।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''राजा चित्रकेतु की परमेश्वर से भेंट'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter सत्रह

# माता पार्वती द्वारा चित्रकेतु को शाप

इस अध्याय में भगवान् शिव के साथ हँसी करने के कारण चित्रकेतु द्वारा असुर देह प्राप्त करने का वर्णन है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से बातें करने के बाद चित्रकेतु विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ अपने विमान में सुखोपभोग करने लगा। भगवान् के यश का सामूहिक कीर्तन करने के बाद उसने अपने विमान में बाह्य अन्तरिक्ष में उड़ान भरी। एक दिन इस प्रकार उड़ते-उड़ते वह सुमेरु पर्वत के निकुंजों में जा पहुँचा जहाँ चारों ओर से सिद्धों, चारणों और साधुओं से घिरे हुए शिवजी पार्वती का आलिंगन कर रहे थे। शिवजी को उस स्थिति में देखकर चित्रकेतु जोर-जोर से हँसा जिससे पार्वती अत्यन्त रुष्ट हो उठीं और उसे शाप दे दिया। इस शाप से चित्रकेतु ने बाद में वृत्रासुर नामक असुर के रूप में जन्म लिया।

किन्तु चित्रकेतु पार्वती के शाप से तनिक भी नहीं डरा। वह इस प्रकार बोला—''प्रत्येक प्राणी अपने विगत कर्मों के अनुसार मानव-समाज में सुख-दुख का भोग करता है और इस भौतिक जगत में विचरण करता है। अत: वह स्वयं अपने सुख-दुख के लिए उत्तरदायी है। इस जगत में प्रत्येक प्राणी भौतिक प्रकृति द्वारा नियंत्रित होता है, तो भी वह अपने आपको प्रत्येक वस्तु का कर्ता मानता है। यह जगत में जो मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उद्भूत है वह भी शापित होता है, तो कभी वर प्राप्त करता है और इस प्रकार वह कभी स्वर्गलोक का सुख भोगता है, तो कभी अधोलोकों का दुख; किन्तु ये समस्त स्थितियाँ एक सी हैं क्योंकि ये इसी भौतिक संसार में हैं। इनमें कोई भी स्थिति स्थायी अस्तित्व नहीं रखती क्योंकि ये सभी अस्थायी हैं। भगवान् ही

परम नियंता हैं क्योंकि उन्हीं के नियंत्रण में इस संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, किन्तु वे इन विभिन्न रूपान्तरों के प्रति उदासीन बने रहते हैं। भगवान् की भौतिक बहिरंगा शक्ति इस भौतिक जगत के ऊपर नियंत्रण रखती है। ईश्वर जीवात्माओं के लिए विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न करके संसार की सहायता करते हैं।''

जब चित्रकेतु ने इस प्रकार कहा तो वहाँ पर उपस्थित शिव तथा पार्वती सहित सभा के सभी सदस्यों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तब भगवान् शिव ईश्वर के भक्तों के सम्बन्ध में बताने लगे। उन्होंने बताया कि भक्त जीवन की समस्त स्थितियों में उदासीन रहता है, चाहे वह स्वर्गलोक में हो या नरक लोक में, चाहे वह मुक्त हो या बद्ध, चाहे वह सुखी हो या दुखी। ये माया द्वारा उत्पन्न द्वैत मात्र हैं। माया के प्रभाव से जीवात्मा स्थूल तथा सूक्ष्म देह धारण करता है और इस आडम्बरपूर्ण स्थिति में ईश्वर का अंश होते हुए भी कष्ट उठाता है। तथाकथित देवता अपने को स्वतंत्र राजा मानते हैं और वे यह भूल जाते हैं कि समस्त जीवात्माएँ परमेश्वर के भिन्न अंश हैं। यह अध्याय भक्त तथा भगवान् के यशोगान के साथ समाप्त होता है।

**श्रीशुक उवाच**
**यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः ।**
**विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगने चरः ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यतः—जिस ( दिशा ); च—तथा; अन्तर्हितः—अन्तर्धान; अनन्तः—भगवान् अनन्त; तस्यै—उसको; कृत्वा—करके; दिशे—दिशा में; नमः—नमस्कार; विद्याधरः—विद्याधर लोक का राजा; चित्रकेतुः—चित्रकेतु; चचार—यात्रा की; गगने—बाह्य अन्तरिक्ष में; चरः—चल।

**श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा—जिस दिशा में भगवान् अनन्त अन्तर्धान हुए थे उस दिशा की ओर नमस्कार करके, राजा चित्रकेतु विद्याधरों का अगुवा बनकर बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा करने लगा।**

**स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः ।**

स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः ॥ २॥
कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु ।
रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन्हरिमीश्वरम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—वह ( चित्रकेतु ); लक्षम्—एक लाख; वर्ष—वर्ष; लक्षाणाम्—एक लाख का; अव्याहत—बाधारहित; बल-इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियों का बल तथा शक्ति; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; महा-योगी—परम योगी; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; सिद्ध-चारणैः—सिद्धों तथा चारणों से; कुलाचलेन्द्र-द्रोणीषु—कुलाचलेन्द्र अथवा सुमेरु पर्वत की घाटियों में; नाना-सङ्कल्प-सिद्धिषु—जहाँ समस्त प्रकार की योग शक्तियाँ सिद्ध हो जाती हैं; रेमे—भोग किया; विद्याधर-स्त्रीभिः—विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ; गापयन्—प्रशंसा करती हुई; हरिम्—भगवान्, हरि; ईश्वरम्—नियन्ता की।

**महान् साधुओं तथा मुनियों एवं सिद्धलोक तथा चारणलोक के वासियों द्वारा प्रशंसित, सर्वाधिक शक्तिशाली योगी चित्रकेतु लाखों वर्षों तक जीवन का आनन्द भोगता हुआ विचरता रहा। शारीरिक शक्ति तथा इन्द्रियों के क्षीण हुए बिना वह सुमेरु पर्वत की घाटियों में घूमता रहा वहाँ जो विभिन्न प्रकार की योग-शक्तियों की सिद्धि का स्थान है। उसने भगवान् हरि की महिमा का जप करते हुए विद्याधरलोक की रमणियों के साथ जीवन का आनन्द उठाया।**

**तात्पर्य :** यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि महाराज चित्रकेतु विद्याधरलोक की अनुपम सुन्दरियों से घिरे होते थे, किन्तु वे भगवान् के पवित्र नाम का जाप करके उनका यशोगान करना नहीं भूले। कई स्थलों पर यह सिद्ध हो चुका है कि जो किसी भौतिक अवस्था से कलुषित नहीं है और जो भगवान् के यश का जप करने वाला शुद्ध भक्त है, ऐसे शुद्ध भक्त को सिद्ध मानना चाहिए।

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता ।
गिरिशं ददृशे गच्छन्परीतं सिद्धचारणैः ॥ ४॥
आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।
उवाच देव्याः शृण्वन्त्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥ ५॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; सः—उस ( राजा चित्रकेतु ) ने; विमानेन—विमान से; विष्णु-दत्तेन—भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त; भास्वता—देदीप्यमान्, तेजोमय; गिरिशम्—भगवान् शिव को; ददृशे—देखा; गच्छन्—जाते हुए; परीतम्—घिरे हुए;

सिद्ध—सिद्धलोक के वासियों से; चारणैः—तथा चारणलोक के वासियों से; आलिङ्ग्य—आलिंगन करते हुए; अङ्कीकृताम्—अपनी गोद में बैठाये हुए; देवीम्—अपनी पार्वती को; बाहुना—अपने हाथ से; मुनि-संसदि—अनेक बड़े-बड़े साधुओं की उपस्थिति में; उवाच—वह बोला; देव्याः—जब देवी पार्वती; शृण्वन्त्याः—सुन रही थीं; जहास—वह हँसा; उच्चैः—अत्यन्त तेजी से; तद्-अन्तिके—पास में।

**एक बार जब राजा चित्रकेतु भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त अत्यन्त तेजोमय विमान पर बैठकर बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा कर रहा था, तो उन्होंने भगवान् शिव को सिद्धों एवं चारणों से घिरा हुआ देखा। शिवजी महामुनियों की सभा में बैठे थे और देवी पार्वती को अपनी गोद में बैठाकर अपने हाथ से उनका आलिंगन कर रहे थे। राजा चित्रकेतु पार्वती के निकट जाकर तेजी से हँसे और कहने लगे।**

**तात्पर्य :** इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—

*भक्तिं भूतिं हरिर्दत्त्वा स्वविच्छेदानुभूतये।*

*देव्याः शापेन वृत्रत्वं नीत्वातं स्वान्तिकेऽनयत्॥*

सारांश यह कि भगवान् चित्रकेतु को यथाशीघ्र वैकुण्ठलोक लाना चाहते थे। ईश्वर की योजना यह थी कि पार्वती के शाप से चित्रकेतु वृत्रासुर बने जिससे वह अगले जन्म में भगवान् के धाम को तुरन्त लौट सके। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब भक्त से असुर का कार्य कराते हुए ईश्वर ने अनुग्रहवश उसे अपने धाम वापस बुला लिया। भगवान् शिव द्वारा पार्वती का आलिंगन किया जाना पति-पत्नी सम्बन्ध के अनुसार स्वाभाविक था; यह चित्रकेतु के लिए कोई विलक्षण घटना न थी। तो भी चित्रकेतु भगवान् शिव को उस मुद्रा में देखकर जोर से हँस पड़ा, यद्यपि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। फलतः उसे शापित होना पड़ा और यह शाप उसके भगवान् के धाम वापस जाने का कारण बना।

**चित्रकेतुरुवाच**

**एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम् ।**
**आस्ते मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—चित्रकेतु ने कहा; एषः—यह; लोक-गुरुः—वैदिक शिक्षाओं को मानने वाले लोगों के गुरु; साक्षात्—प्रत्यक्ष; धर्मम्—धर्म का; वक्ता—बोलने वाला; शरीरिणाम्—देहधारी समस्त जीवात्माओं के; आस्ते—बैठाना है; मुख्यः—प्रधान, मुखिया; सभायाम्—सभा में; वै—निस्सन्देह; मिथुनी-भूय—आलिंगन करते हुए; भार्यया—अपनी पत्नी के साथ।

**चित्रकेतु ने कहा—शिवजी समस्त जगत के गुरु हैं और भौतिक देहधारी जीवात्माओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ही धर्मपद्धति के व्याख्याता हैं, तो भी यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे बड़े बड़े सन्त पुरुषों की सभा के बीच अपनी पत्नी पार्वती का आलिंगन कर रहे हैं!**

**जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादिसभापतिः ।**
**अङ्कीकृत्य स्त्रियं चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा ॥ ७॥**

### शब्दार्थ

जटा-धरः—जटा धारण करने वाले; तीव्र-तपाः—कठिन तपस्या के कारण सिद्ध; ब्रह्म-वादि—वैदिक नियमों के कट्टर अनुयायी का; सभा-पतिः—अध्यक्ष, सभापति; अङ्कीकृत्य—आलिंगन करके; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; आस्ते—बैठा है; गत-ह्रीः—निर्लज्ज; प्राकृतः—प्रकृति द्वारा बद्ध पुरुष; यथा—जिस प्रकार।

**जटाधरी शिवजी ने निस्सन्देह कठिन तपस्या की है। वे वैदिक नियमों के कट्टर अनुयायियों की सभा के अध्यक्ष हैं। किन्तु तो भी वे साधु पुरुषों के मध्य अपनी गोद में अपनी पत्नी को लेकर विराजमान हैं और सामान्य निर्लज्ज व्यक्ति की भाँति उसका आलिंगन कर रहे हैं।**

**तात्पर्य :** चित्रकेतु शिवजी के उच्च पद से परिचित था इसलिए उन्होंने यह कहा कि यह कितना आश्चर्य है कि शिवजी सामान्य व्यक्ति जैसा आचरण कर रहे हैं। उन्होंने शिवजी के पद की प्रशंसा की किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे साधु पुरुषों की सभा में बैठकर निर्लज्ज होकर सामान्य व्यक्तियों का सा व्यवहार कर रहे हैं, तो उन्हें आश्चर्य हुआ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि चित्रकेतु ने शिवजी की आलोचना की, किन्तु दक्ष की भाँति उनका अपमान नहीं किया। दक्ष ने तो शिवजी को नगण्य मान लिया था जबकि चित्रकेतु ने शिवजी के इस प्रकार आसीन होने पर आश्चर्य ही व्यक्त किया।

**प्रायश: प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति ।**
**अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ

प्रायश:—सामान्यत:; प्राकृता:—बद्धजीव; च—भी; अपि—यद्यपि; स्त्रियम्—स्त्री को; रहसि—निर्जन स्थान में; बिभ्रति—आलिंगन करता है; अयम्—यह ( शिवजी ); महा-व्रत-धर:—महान् व्रतों तथा तपस्याओं का स्वामी; बिभर्ति—भोग कर रहा है; सदसि—महान् पुरुषों की सभा में; स्त्रियम्—अपनी पत्नी का।

**प्राय: सामान्य पुरुष एकान्त में ही अपनी पत्नियों का आलिंगन और भोग करते हैं। यह कितना आश्चर्यजनक है कि इतने बड़े तपस्वी महादेव परम साधुओं की सभा के बीच अपनी पत्नी का सबों के समक्ष आलिंगन कर रहे हैं!**

**तात्पर्य :** महा-व्रत-धर: शब्द का अर्थ ब्रह्मचारी है, जो कभी नीचे पतित नहीं होता। शिवजी की गणना श्रेष्ठ योगियों में की जाती है, तो भी उन्होंने साधुओं की सभा में अपनी पत्नी का आलिंगन किया। चित्रकेतु इसकी प्रशंसा करते हैं कि शिव कितने महान् हैं, जो इस स्थिति में भी अप्रभावित बने रहे। अत: चित्रकेतु ने कोई अपराध नहीं किया; उसने मात्र अपना आश्चर्य प्रकट किया।

**श्रीशुक उवाच**
**भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप ।**
**तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रता: ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भगवान्—भगवान् शिव; अपि—भी; तत्—वह; श्रुत्वा—सुनकर; प्रहस्य—हँसकर; अगाधधी:—अगाध बुद्धि वाला; नृप—हे राजा; तूष्णीम्—चुप; बभूव—हो गया; सदसि—सभा में; सभ्या:—सारे सदस्यों ने; च—तथा; तत्-अनुव्रता:—भगवान् शिव का अनुसरण किया ( चुप रहे )।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा! चित्रकेतु के वचन सुनकर परम बलशाली, अगाध ज्ञानवान् देवाधिदेव शिव केवल हँस दिये और चुप रहे। सभा के समस्त सदस्यों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया और कुछ नहीं कहा।**

**तात्पर्य :** चित्रकेतु द्वारा शिव की आलोचना का उद्देश्य रहस्यमय है और सामान्य व्यक्ति की समझ के परे है। तो भी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस प्रकार टिप्पणी की है। परम वैष्णव

एवं परम शक्तिशाली देवता होने के कारण शिवजी अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने में समर्थ हैं। यद्यपि वे बाह्यरूप से सामान्य व्यक्ति का सा आचरण कर रहे थे और शिष्टाचार का पालन नहीं कर रहे थे, किन्तु ऐसे कार्यों से उनकी उच्च स्थिति में कोई कमी नहीं आती। कठिनाई यही है कि सामान्य व्यक्ति उनके इस आचरण को देखकर उसका अनुकरण कर सकता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२१) में कहा गया है—

*यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।*

*स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥*

"महापुरुष जो जो आचरण करता है, सामान्य पुरुष उसका अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कार्यों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसी के अनुसार कार्य करता है।" सामान्य व्यक्ति भी दक्ष की भाँति जिसने आलोचना का फल भोगा वह शिवजी की आलोचना करके कष्ट का भागी हो सकता है। राजा चित्रकेतु चाहते थे कि शिवजी अपना बाह्य व्यवहार बन्द कर दें ताकि दूसरे लोग आलोचना न करें और अपराध के भागी न हों। यदि कोई यह सोचता है कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण हैं और अन्य सभी देवता शिवजी के समान अनुचित कृत्य करते रहें तो वह अपराधी है। यह सब सोचकर ही चित्रकेतु शिवजी के प्रति इतने निष्ठुर हो सके।

शिवजी परम ज्ञानी होने के कारण चित्रकेतु के मन्तव्य को समझ गये, अतः वे तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए; अपितु हँसकर शान्त बने रहे। शिवजी को घेर कर बैठे हुए सभा के सदस्य भी चित्रकेतु के मन्तव्य को समझ गये। फलतः शिवजी के व्यवहार की प्रतिक्रिया में उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया और वे भी शान्त रहे। यदि सभा के सदस्यों ने यह सोचा होता कि चित्रकेतु ने शिवजी का अपमान किया है, तो वे अपने कानों को बन्द करके अवश्य ही उठकर चले जाते।

**इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम् ।**

**रुषाह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने ॥ १० ॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अ-तत्-वीर्य-विदुषि—शिव के शौर्य को न जानने के कारण चित्रकेतु ने; ब्रुवाणे—कहा; बहु-अशोभनम्—अत्यन्त अशोभनीय बातें उच्चपदीय शिव की आलोचना; रुषा—क्रोध से; आह—कहा; देवी—देवी पार्वती; धृष्टाय—निर्लज्ज चित्रकेतु से; निर्जित-आत्म—जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है; अभिमानिने—अपने आपको मानते हुए।

**शिवजी तथा पार्वती के शौर्य ( वीर्य ) को न जानते हुए राजा चित्रकेतु ने उनकी तीखी आलोचना की। उसके बचन तनिक भी अच्छे लगने वाले न थे, अतः अत्यन्त क्रुद्ध देवी पार्वती चित्रकेतु से, जो अपने को इन्द्रियों के नियंत्रण में शिवजी से श्रेष्ठ समझ रहा था, इस प्रकार बोलीं।**

**तात्पर्य :** यद्यपि चित्रकेतु शिव का अपमान नहीं करना चाहता था, किन्तु उसे चाहिए था कि उनकी आलोचना नहीं करता भले ही शिवजी सामाजिक शिष्टाचार का उल्लंघनन कर रहे थे फिर भी उनकी आलोचना न करता। कहा गया है—*तेजीयसां न दोषाय*—जो परम समर्थ है उसे निर्दोष मानना चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी को सूर्य की बुराई नहीं करनी चाहिए यद्यपि वह सड़कों से मूत्रादि को उड़ाता है। सर्वाधिक शक्तिमान की आलोचना न तो सामान्य व्यक्ति द्वारा, न ही महान् पुरुष द्वारा होनी चाहिए। चित्रकेतु को यह समझना चाहिए था कि यद्यपि शिव उस प्रकार बैठे हुए थे तो भी उनकी आलोचना नहीं होनी चाहिए थी। कठिनाई यह थी कि चित्रकेतु भगवान् विष्णु, संकर्षण का परम भक्त हो गया था और संकर्षण का वर प्राप्त होने से उसे कुछ-कुछ घमण्ड भी हो आया था, अत: उसने सोचा कि वह किसी की भी, चाहे वह शिवजी ही क्यों न हों, आलोचना कर सकता था। भक्त में ऐसा गर्व अक्षम्य है। वैष्णव को हमेशा विनम्र रहना चाहिए और अन्यों का आदर करना चाहिए।

*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।*

*अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि: ॥*

“अपने को तिनके से भी तुच्छ मानते हुए मनुष्य को विनीत भाव से हरि के पवित्र नाम का

जप करना चाहिए। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु तथा मिथ्या अहंकार से रहित एवं अन्यों को सम्मान प्रदान करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसी ही मनोदशा में ईश्वर के पवित्र नाम का निरन्तर जप सम्भव है।'' वैष्णव को किसी अन्य की स्थिति को कम समझने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। विनम्र बने रहकर हरे कृष्ण मंत्र का जाप करना ही श्रेयस्कर है। निर्जितात्माभिमानिने शब्द से सूचित होता है कि चित्रकेतु अपने को शिव से भी बड़ा इन्द्रियजित मानता था, किन्तु वास्तव में वह वैसा नहीं था। इन्हीं कारणों से माता पार्वती चित्रकेतु पर क्रुद्ध हुईं।

**श्रीपार्वत्युवाच**
**अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः ।**
**अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानां च विप्रकृत् ॥ ११ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-पार्वती उवाच—देवी पार्वती ने कहा; अयम्—यह; किम्—क्या; अधुना—अब; लोके—संसार में; शास्ता—परम नियन्ता; दण्ड-धरः—दण्ड देने वाला; प्रभुः—स्वामी; अस्मत्-विधानाम्—इन जैसे व्यक्तियों का; दुष्टानाम्—अपराधी; निर्लज्जानाम्—निर्लज्जों का; च—तथा; विप्रकृत्—नियंत्रण रखने वाला, रोकने वाला।

**देवी पार्वती ने कहा—ओह, क्या हम जैसे निर्लज्ज व्यक्तियों को दण्ड देने के लिए इसने दण्डधारी का पद ले लिया है? क्या इसे शासक नियुक्त किया गया है? क्या यही सबों का एकमात्र स्वामी है?**

**न वेद धर्मं किल पद्मयोनि-**
**र्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः ।**
**न वै कुमारः कपिलो मनुश्च**
**ये नो निषेधन्त्यतिवर्तिनं हरम् ॥ १२ ॥**

**शब्दार्थ**

न—नहीं; वेद—जानता है; धर्मम्—धर्म को; किल—निस्सन्देह; पद्म-योनिः—भगवान् ब्रह्मा; न—न तो; ब्रह्म-पुत्राः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र; भृगु—भृगु; नारद—नारद; आद्याः—इत्यादि; न—न तो; वै—निस्सन्देह; कुमारः—चारों अश्विनी कुमार; कपिलः—भगवान् कपिल; मनुः—स्वयं मनु; च—तथा; ये—जो; नो—नहीं; निषेधन्ति—रोक लगाते हैं; अति-वर्तिनम्—नियमों तथा आदेशों के परे; हरम्—भगवान् शिव को।

**अहो! ऐसा प्रतीत होता है कि न तो कमल-पुष्प से जन्म लेने वाले ब्रह्मा, न भृगु तथा**

**नारद जैसे महामुनि अथवा सनत कुमार आदि चारों कुमार ही धर्म के नियमों को जानते हैं। मनु तथा कपिल भी उन नियमों को भूल चुके हैं। मैं सोचती हूँ कि इसलिए उन्होंने कभी शिवजी को इस प्रकार अनुचित ढंग से आचरण करने के लिए नहीं टोका।**

**एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं**
**जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम् ।**
**यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्**
**प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥ १३॥**

शब्दार्थ

एषाम्—इन सबों में ( महापुरुषों ) में; अनुध्येय—ध्यान करने योग्य; पद-अब्ज-युग्मम्—जिनके दो चरणकमल; जगत्-गुरुम्—सारे विश्व का गुरु; मङ्गल-मङ्गलम्—साक्षात् सर्वश्रेष्ठ धार्मिक नियम; स्वयम्—स्वयं; यः—जो; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रियों में सबसे निकृष्ट; परिभूय—मात देकर; सूरीन्—देवतागण ( यथा ब्रह्मा तथा अन्य ); प्रशास्ति—दण्ड देता है; धृष्टः—ढीठ ने; तत्—अतः; अयम्—यह व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; दण्ड्यः—दण्डनीय है।

**यह चित्रकेतु में घोर निकृष्ट है क्योंकि इसने उन शिवजी का तिरस्कार करके ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं को मात कर दिया है, जो उनके चरणकमलों पर बैठकर सदैव ध्यान धरते रहते हैं। भगवान् शिव साक्षात् धर्म तथा समस्त जगत के गुरु हैं अतः चित्रकेतु दण्डनीय है।**

**तात्पर्य :** सभा के सभी सदस्य परम ब्रह्म तथा स्वरूपसिद्ध जीव थे, किन्तु उन्होंने अपनी गोद में लेकर पार्वती को आलिंगित करते हुए शिवजी के व्यवहार के लिए कुछ भी नहीं कहा। तो भी चित्रकेतु ने शिवजी की आलोचना की, अतः पार्वती के विचार से वह दण्डनीय था।

**नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम् ।**
**सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम् ॥ १४॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह व्यक्ति; अर्हति—के योग्य है; वैकुण्ठ-पाद-मूल-उपसर्पणम्—भगवान् विष्णु के चरणकमल की शरण प्राप्त करने का; सम्भावित-मतिः—अपने को अत्यन्त पूज्य समझकर; स्तब्धः—घमंडी; साधुभिः—बड़े बड़े सन्त पुरुषों के द्वारा; पर्युपासितम्—पूजनीय।

**यह व्यक्ति ऐसा सोचकर अपनी सफलता से फूला हुआ है कि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। यह व्यक्ति भगवान् विष्णु के उन चरणकमलों के निकट, जिनकी उपासना सभी साधु पुरुष**

**करते हैं, जाने के योग्य ही नहीं है क्योंकि यह अपने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझ कर घमंडी बन गया है।**

**तात्पर्य :** यदि कोई भक्त अपने आपको भक्ति में सिद्ध मान बैठता है, तो लोग उसे घमंडी तथा भगवान् के चरणकमलों के आश्रय के नीचे बैठने के लिए अयोग्य मानते हैं। यही नहीं, भगवान् चैतन्य का यह उपदेश भी लागू होता है—

*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।*

*अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥*

"मनुष्य को चाहिए कि अपने आपको तिनके से भी तुच्छ मानकर विनीत भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन कर; उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, अहंकार से रहित तथा अन्यों का आदर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।" ऐसी ही मानसिक स्थिति में वह निरन्तर भगवन्नाम का जप कर सकता है। जब तक मनुष्य विनम्र नहीं होता वह भगवान् के चरणकमलों के निकट बैठने का अधिकारी नहीं होता।

**अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते ।**
**यथेह भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम् ॥ १५॥**

### शब्दार्थ

अतः—इसलिए; पापीयसीम्—अत्यन्त पापपूर्ण; योनिम्—योनि को; आसुरीम्—आसुरी; याहि—जाओ; दुर्मते—हे दुर्मति (कुबुद्धि); यथा—जिससे; इह—इस संसार में; भूयः—फिर; महताम्—महान् पुरुष को; न—नहीं; कर्ता—करोगे; पुत्र—हे पुत्र; किल्बिषम्—कोई पाप।

**ऐ मेरे दुर्बुद्धि बेटे! अब तुम असुरों के निम्न तथा पापी परिवार में जन्म ग्रहण करो जिससे तुम पुनः इस संसार में महान् सन्त पुरुषों के प्रति ऐसा पाप न कर सको।**

**तात्पर्य :** मनुष्य को चाहिए कि वैष्णवों में श्रेष्ठ भगवान् शिव के चरणकमल में पाप करने के प्रति सतर्क रहे। श्रील रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव के चरणकमल पर किये गये पाप को हाती माता अर्थात् प्रमत्त हाथी कहा है। जब कोई मस्त हाथी किसी सुन्दर

बाग में घुसता है, तो वह उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के चरणकमल पर मस्त हाथी के समान पाप करता है, तो उसका सारा आध्यात्मिक जीवन अवरुद्ध हो जाता है। अत: उसे वैष्णव के चरणकमल में पाप करने के प्रति सचेष्ट रहना चाहिए।

माता पार्वती ने चित्रकेतु को दण्ड देकर ठीक ही किया क्योंकि उसने इस भौतिक संसार के बद्धजीवों के परम पिता महादेव का धृष्टतापूर्वक अपमान किया था। देवी दुर्गा माता कहलाती हैं और भगवान् शिव पिता कहलाते हैं। शुद्ध वैष्णव को चाहिए कि अन्यों की आलोचना किये बिना अपना कर्तव्य पालन करे। यही सबसे सुरक्षित स्थिति है अन्यथा यदि उस पर वैष्णव की आलोचना का पाप चढ़ता है।

चूँकि चित्रकेतु निस्सन्देह वैष्णव था, उसे पार्वती के शाप से अवश्य ही आश्चर्य हुआ होगा। इसलिए देवी पार्वती उसे पुत्र कहकर सम्बोधित किया। प्रत्येक पुरुष माता दुर्गा का पुत्र है किन्तु वे एक सामान्य माता नहीं हैं। ज्योंही कोई असुर दुराचरण करता है, माता दुर्गा तुरन्त उसे दण्डित करती हैं जिससे उसे चेत जाये। इसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में इस प्रकार की है—

*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।*

*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥*

''मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे इसे सुगमतापूर्वक तर जाते हैं।'' श्रीकृष्ण के शरणागत होने का अर्थ है उनके भक्तों के भी शरणागत होना क्योंकि कोई भी श्रीकृष्ण का तब तक पूर्ण दास नहीं बन सकता जब तक वह किसी भक्त का दास नहीं बन जाता। छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा—श्रीकृष्ण के दास की सेवा किये बिना कोई श्रीकृष्ण के दास पद को नहीं प्राप्त कर सकता। अत: माता पार्वती चित्रकेतु से वैसे ही बोलीं जैसे कोई माता अपने चंचल पुत्र से कहती है, ''बेटे! मैं तुम्हें इसलिए दण्ड दे रही हूँ जिससे तुम फिर से ऐसा न करो।'' अपने पुत्र के प्रति माता की यह प्रवृत्ति यशोदा

में भी देखी जाती है, जो श्रीभगवान् की माता बनीं। माता यशोदा भगवान् कृष्ण को बाँधकर उन्हें छड़ी दिखाकर दण्ड देती थीं। इस प्रकार माता का यह परम कर्तव्य है कि अपने प्रिय पुत्र को डाँटे, भले ही वह परमेश्वर ही क्यों न हो। अत: यह समझना चाहिए कि चित्रकेतु को दण्डित करना माता दुर्गा के लिए उचित था। यह दण्ड चित्रकेतु के लिए वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि वृत्रासुर असुर रूप में जन्म लेकर वह सीधे वैकुण्ठ को भेज दिया गया।

श्रीशुक उवाच

**एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः ।**
**प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक देव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; शप्तः—शापित; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; विमानात्—विमान से; अवरुह्य—उतर कर; सः—वह; प्रसादयाम् आस—परम प्रसन्न हुआ; सतीम्—पार्वती को; मूर्ध्ना—शिर से; नम्रेण—नीचे झुक कर; भारत—हे राजा परीक्षित।

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा परीक्षित! पार्वती द्वारा शाप दिये जाने पर चित्रकेतु अपने विमान से नीचे उतरा, उनके समक्ष विनम्रतापूर्वक नतमस्तक हुआ और उसने उन्हें पूर्णरूपेण प्रसन्न कर दिया।**

चित्रकेतुरुवाच

**प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके ।**
**देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत् ॥ १७ ॥**

### शब्दार्थ

चित्रकेतुः उवाच—राजा चित्रकेतु ने कहा; प्रतिगृह्णामि—अंगीकार करता हूँ; ते—तुम्हारा; शापम्—शाप; आत्मनः—अपने; अञ्जलिना—बद्ध हाथों से; अम्बिके—हे माता; देवैः—देवताओं द्वारा; मर्त्याय—मनुष्य को; यत्—जो; प्रोक्तम्—नियत; पूर्व-दिष्टम्—पूर्वकर्मों के अनुसार पहले से निश्चित; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; तत्—वह।

**चित्रकेतु ने कहा—हे माता! मैं अपने हाथ जोड़ कर आपका शाप स्वीकार करता हूँ। मुझे शाप की परवाह नहीं है, क्योंकि मनुष्य के पूर्वकर्मों के अनुसार ही देवताओं द्वारा सुख या दुख प्रदान किये जाते हैं।**

**तात्पर्य :** चूँकि चित्रकेतु भगवान् का भक्त था इसलिए वह माता पार्वती के शाप से तनिक भी

विचलित नहीं हुआ। उसे यह भली-भाँति ज्ञात था कि सुख या दुख दैवनेत्र या श्रीभगवान् के दूतों द्वारा पहले से निश्चित विगत कर्मों के फल होते हैं। उसे यह ज्ञात था कि उसने भगवान् शिव या माता पार्वती के चरणकमलों पर किसी प्रकार का पाप नहीं किया था किन्तु फिर भी उसे दण्डित किया गया था जिसका सीधा अर्थ था कि दण्ड तो पूर्वनिश्चित था। अत: राजा ने कोई परवाह नहीं की। भक्त स्वभाव से इतना विनम्र होता है कि जीवन की किसी अवस्था को वह ईश्वर का वरदान मानकर स्वीकार करता है, *तत् तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाण:* (*भागवत १०.१४.८*)। भक्त किसी के द्वारा दिये गये दण्ड को ईश्वर का अनुग्रह मान कर स्वीकार करता है। यदि मनुष्य इस प्रकार की विचारधारा से रहे तो वह देखता है कि उसे जो भी असफलताएँ मिलती हैं, वे गत दुष्कर्मों के फलस्वरूप हैं; अत: वह किसी को दोष नहीं देता। उल्टे कष्टों के कारण अधिकाधिक विमल होकर वह भगवान् में आसक्त होता जाता है। अत: कष्टभोग भी पवित्र होने की विधि है।

इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि जिसने कृष्णभक्ति विकसित कर ली है और श्रीकृष्ण से प्रेम करना सीख लिया है उसे कर्म के नियमों के अन्तर्गत सुख तथा दुख नहीं सताते। निस्सन्देह वह कर्म से परे होता है। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—भक्त कर्म-फल से इसलिए मुक्त हो जाता है क्योंकि वह भक्ति करता है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी हुई है—*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते*—जो भक्ति में संलग्न है, वह पहले ही अपने कर्म के फल से मुक्त है, अत: वह तुरन्त ही ब्रह्म-भूत अर्थात् दिव्य हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२१) में भी यह व्यक्त हुआ है—*क्षीयन्ते चास्य कर्माणि*—प्रेम दशा प्राप्त करने के पूर्व वह कर्म के समस्त फलों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त दयालु एवं वत्सल हैं, फलत: भक्त को किसी भी दशा में कर्मफल नहीं भोगने पड़ते। भक्त कभी स्वर्ग की कामना नहीं करता। भक्त के लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरक एकसमान हैं क्योंकि वह भौतिक संसार में विभिन्न अवस्थाओं के बीच भेद नहीं करता। वह भगवान् के धाम वापस जाने का सदैव आकांक्षी होता है और वहाँ ईश्वर का पार्षद बनना

चाहता है। यह अभिलाषा उसके हृदय में अत्यन्त उत्कट हो उठती है इसलिए इस जीवन में भौतिक परिवर्तनों की परवाह नहीं करता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि पार्वती द्वारा चित्रकेतु का शापित होना एक प्रकार से ईश्वर का अनुग्रह माना जाना चाहिए। भगवान् चाहते थे कि चित्रकेतु यथाशीघ्र उनके पास वापस आए, अत: उन्होंने उसके समस्त पूर्वकर्मों के बन्धनों को समाप्त कर दिया। प्रत्येक प्राणी के हृदय में वास करने वाले भगवान् ने पार्वती के हृदय से कार्य करके चित्रकेतु को शाप दिलाया जिससे उसके सारे भौतिक कर्म फल विनष्ट हो जाँए। इस प्रकार अगले जीवन में चित्रकेतु वृत्रासुर हुआ और भगवान् के धाम को वापस गया।

**संसारचक्र एतस्मिञ्जन्तुरज्ञानमोहित: ।**
**भ्राम्यन्सुखं च दु:खं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा ॥ १८॥**

### शब्दार्थ

संसार-चक्रे—इस संसार रूपी पहिए में; एतस्मिन्—यह; जन्तु:—जीवात्मा; अज्ञान-मोहित:—अज्ञान के कारण मोहग्रस्त; भ्राम्यन्—घूमता हुआ; सुखम्—सुख; च—तथा; दु:खम्—दुख; च—भी; भुङ्क्ते —भोगता है; सर्वत्र—सभी जगह; सर्वदा—सदैव।

**अज्ञान से मोहग्रस्त होकर यह जीवात्मा इस संसार रूपी जंगल में भटकता रहता है और हर जगह तथा हर समय अपने पूर्वकर्मों के फलस्वरूप सुख तथा दुख पाता रहता है ( अत: हे माता! इस घटना के लिए न आप दोषी हैं न मैं )।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* ( ३.२७) में पुष्टि की गई है—

*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।*

*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥*

''सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पन्न होते हैं परन्तु गुणों से मोहग्रस्त जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।'' वस्तुत: बद्धजीव पूर्णत: भौतिक प्रकृति के वश में रहता है। हर समय यहाँ-वहाँ भटकते हुए उसे पूर्वकर्मों के फल भोगने होते हैं। यह सब प्रकृति के नियमों से घटित होता है, किन्तु मनुष्य मूर्खतावश अपने को कर्ता मान बैठता है, जो कि सत्य नहीं है। कर्म-

चक्र से छूटने के लिए भक्ति-मार्ग या कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। यही एकमात्र उपाय है। *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*।

**नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात्सुखदुःखयोः ।**
**कर्तारं मन्यतेऽत्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; न—न तो; परः—दूसरा ( शत्रु या मित्र ); च—भी; अपि—निस्सन्देह; कर्ता—करने वाला; स्यात्—हो सकता है; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; कर्तारम्—करनेवाला; मन्यते—मानता है; अत्र—इस सम्बन्ध में; अज्ञः—मूर्ख; आत्मानम्—अपने आपको; परम्—अन्य; एव—निस्सन्देह; च—भी।

**इस संसार में न तो स्वयं जीवात्मा और न पराये ( मित्र तथा शत्रु ) ही भौतिक सुख तथा दुख के कारण हैं। केवल अज्ञानतावश जीवात्मा यह सोचता है कि वह तथा पराये लोग इसके कारणस्वरूप हैं।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में *अज्ञ* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस संसार में सभी जीवात्माएँ थोड़ी बुहत अज्ञ हैं। यह अज्ञानता भौतिक प्रकृति द्वारा प्रस्तुत तमोगुण में अत्यन्त प्रबल रूप से चलती रहती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने चरित्र तथा आचरण द्वारा सतोगुण को प्राप्त करके अधोक्षज पद पर पहुँचे जहाँ से उसे अपनी तथा अन्यों की स्थिति का ज्ञान होने लगता है। प्रत्येक कार्य भगवान् की अध्यक्षता में सम्पन्न होता है। जिस विधि से कर्मफल निश्चित होते हैं वह *नियतम्* (सदैव कार्यशील) कहलाता है।

**गुणप्रवाह एतस्मिन्कः शापः को न्वनुग्रहः ।**
**कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

गुण-प्रवाहे—प्रकृति के गुणों की धारा में; एतस्मिन्—यह; कः—क्या; शापः—शाप; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; अनुग्रहः—कृपा; कः—क्या; स्वर्गः—स्वर्गलोक के पद तक पहुँचना; नरकः—नरक; कः—क्या; वा—अथवा; किम्—क्या; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा।

**यह संसार सतत प्रवाहमान् नदी की तरंगों के समान है, अतः इसमें क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्गलोक और क्या नरकलोक? क्या सुख और क्या वास्तविक दुख?**

**निरन्तर प्रवाहित होते रहने के कारण तरंगें कोई शाश्वत प्रभाव नहीं छोड़तीं।**

**तात्पर्य :** श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*(मिछे) मायार वशे, याच्छ भेसे, खाच्छ हाबुडुबु, भाइ*—हे जीवात्माओ! इस संसार में भौतिक प्रकृति की गुणरूपी तरंगों में क्यों इधर उधर भटक रही हो? *(जीव) कृष्णदास, एइ विश्वास, कर्ले त' आर दुःख नाइ*—"यदि जीवात्मा यह समझ ले कि वह श्रीकृष्ण का शाश्वत दास है, तो किसी प्रकार का कष्ट न रह जाए।" श्रीकृष्ण चाहते हैं कि हम इस भौतिक संसार के समस्त व्यापारों को छोड़कर उनकी शरण में जाँए। यदि हम ऐसा करें तो फिर इस संसार के कार्य-कारण कहाँ रहेंगे? शरणागत जीव के लिए कार्य-कारण जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है कि इस संसार में भेजा जाना वैसा ही है जैसे कि नमक की खान में फेंका जाना। नमक की खान में गिरे हुए व्यक्ति को चारों ओर नमक ही चखने को मिलता है। इसी प्रकार यह संसार दुखों से पूर्ण है। इस संसार का तथाकथित क्षणिक सुख भी एक प्रकार से दुख ही होता है, किन्तु अज्ञानतावश हम इसे समझ नहीं पाते। यही वास्तविकता है। जब मनुष्य को चेत होता है अर्थात् जब उसे कृष्ण-चेतना होती है, तो उसे इस संसार की विभिन्न स्थितियों से कोई सरोकार नहीं रह जाता। उसे सुख-दुख, शाप-कृपा या स्वर्ग-नरक से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। उसे इनमें कोई अन्तर नहीं दिखता।

**एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया ।**
**एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

एकः—एक; सृजति—उत्पन्न करता है; भूतानि—विभिन्न प्रकार की जीवात्माओं को; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—आत्म स्वरूप शक्तियों से; एषाम्—समस्त बद्धजीवों का; बन्धम्—बद्ध जीवन; च—तथा; मोक्षम्—मुक्त जीवन; च—भी; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; च—तथा; निष्कलः—भौतिक गुणों से अप्रभावित।

**श्रीभगवान् एक हैं। वे भौतिक जगत की स्थितियों से प्रभावित हुए बिना आत्मस्वरूप शक्ति से समस्त जीवों की सृष्टि करते हैं। माया से दूषित होकर जीवात्मा अविद्या को प्राप्त**

**होता है और अनेक प्रकार के बन्धनों में जा पड़ता है। कभी-कभी ज्ञान के कारण जीवात्मा को मुक्ति दी जाती है। सत्व तथा रजो गुणों के कारण उसे सुख तथा दुख मिलते हैं।**

**तात्पर्य :** यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीवात्माएँ विभिन्न स्थितियों में क्यों रहती हैं और ऐसा कौन करता है ? इसका उत्तर यही है कि भगवान् अकेले ही बिना किसी की सहायता के यह सब करते हैं। ईश्वर की अपनी शक्तियाँ हैं ( *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) और इनमें से उनकी बहिरंगा शक्ति के द्वारा यह जगत एवं बद्धजीवों के नाना प्रकार के सुख-दुख भगवान् की अध्यक्षता में उत्पन्न होते हैं। यह संसार तीन प्रकार के गुणों से युक्त है—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमो गुण। भगवान् सत्त्व गुण से संसार का पालन, रजोगुण से उसकी उत्पत्ति और तमोगुण से उसका संहार करते हैं। जीवात्माओं की उत्पत्ति के पश्चात् उनको सुख तथा दुख इन गुणों के संयोग से प्राप्त होते हैं। जब जीवात्माएँ सत्त्व गुण में होती हैं, तो वे सुख का अनुभव करती हैं, रजोगुण में दुख का और तमोगुण में उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं रह जाता कि करना क्या है अथवा अच्छा-बुरा होता क्या है।

**न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो**
**न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः ।**
**समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य**
**सुखे न रागः कुत एव रोषः ॥ २२ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उस ( परमेश्वर ) का; कश्चित्—कोई; दयितः—प्रिय; प्रतीपः—अप्रिय; न—नहीं; ज्ञाति—परिजन; बन्धुः—मित्र; न—नहीं; परः—पराया; न—नहीं; च—भी; स्वः—अपना; समस्य—समानधर्मा; सर्वत्र—सभी जगह; निरञ्जनस्य—प्रकृति द्वारा अप्रभावित; सुखे—सुख में; न—नहीं; रागः—आसक्ति; कुतः—कहाँ से; एव—निस्सन्देह; रोषः—क्रोध।

**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त जीवों को एकसमान देखते हैं; अतः न तो कोई उनका अत्यन्त प्रिय है, न कोई शत्रु; न तो उनका कोई मित्र है न कोई परिजन। इस भौतिक जगत से अनासक्त होने के कारण उन्हें तथाकथित सुख के लिए न तो कोई स्नेह है, न दुख के**

**लिए किसी प्रकार की घृणा। सुख तथा दुख सापेक्ष हैं। भगवान् सदैव प्रसन्न रहने वाले हैं, अतः उनके लिए दुख का कोई अर्थ नहीं है।**

**तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां**
**सुखाय दुःखाय हिताहिताय ।**
**बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः**
**शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

तथापि—तो भी; तत्-शक्ति—ईश्वर की शक्ति का; विसर्गः—सृष्टि; एषाम्—इन सबों ( बद्धजीवों ) का; सुखाय—सुख के लिए; दुःखाय—दुख के लिए; हित-अहिताय—लाभ तथा हानि के लिए; बन्धाय—बन्धन के लिए; मोक्षाय—मुक्ति के लिए; च—भी; मृत्यु—मृत्यु; जन्मनोः—तथा जन्म का; शरीरिणाम्—समस्त देहधारियों का; संसृतये—आवागमन के लिए; अवकल्पते—कर्म करता है।.

**यद्यपि परमेश्वर कर्म के अनुसार प्राप्त होने वाले हमारे सुख दुख से अनासक्त हैं और कोई भी उनका शत्रु या मित्र नहीं है, तो भी वे अपनी भौतिक शक्ति ( माया ) के द्वारा शुभ तथा अशुभ कर्मों की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार भौतिक जीवन को चालू रखने के लिए वे सुख-दुख, लाभ-हानि, बन्धन-मोक्ष, जन्म-मृत्यु की सृष्टि करते हैं।**

**तात्पर्य :** यद्यपि श्रीभगवान् अपनी आदि दिव्य स्थिति में प्रत्येक वस्तु के कर्ता हैं, किन्तु अपनी भौतिक स्थिति में, बद्धजीवों के सुख-दुख अथवा बन्धन-मोक्ष के लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं। ये तो उन बद्धजीवों के सकाम कर्मों के फल के अनुसार प्राप्त होते हैं। न्यायमूर्ति की आज्ञा से एक व्यक्ति बन्दीगृह से छूटता है और दूसरा बन्दी बनाया जाता है, किन्तु इन लोगों के सुख, दुख के लिए वह न्यायमूर्ति उत्तरदायी नहीं होता। इन लोगों के सुख-दुख तो उनके अपने कर्मों के परिणाम होते हैं। यद्यपि सर्वोपरि सत्ता शासन (राज्य) ही होती है, किन्तु न्याय तो सरकार के विभिन्न विभागों को सौंपा रहता है, अतः व्यक्तिगत न्याय के लिए राज्य उत्तरदायी नहीं रहता। इस प्रकार राजसत्ता सभी नागरिकों के लिए एकसमान है। इसी प्रकार परमेश्वर भी निरपेक्ष (उदासीन) हैं, किन्तु उन्होंने न्याय तथा व्यवस्था के लिए कई विभाग बना रखे हैं, जो जीवात्माओं की

गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं। इस प्रसंग में एक अन्य उदाहरण कमलिनी तथा भौंरों का है। जिस प्रकार कमलिनियाँ सूर्य प्रकाश से खिलती या बन्द होती हैं, तो उससे भौंरों को सुख या दुख का अनुभव होता है, किन्तु इसके लिए सूर्य या सूर्य प्रकाश उत्तरदायी नहीं होता।

**अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि ।**
**यन्मन्यसे ह्यसाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति ॥ २४॥**

### शब्दार्थ

अथ—अत:; प्रसादये—प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा हूँ; न—नहीं; त्वाम्—तुमको; शाप-मोक्षाय—शाप से मुक्ति पाने के लिए; भामिनि—हे क्रुद्धा; यत्—जो; मन्यसे—तुम मान लो; हि—निस्सन्देह; असाधु-उक्तम्—अनुचित बात; मम—मेरी; तत्—वह; क्षम्यताम्—क्षमा करें; सति—हे सती!.

**हे माता! आप अब वृथा ही क्रुद्ध हैं। चूँकि मेरे समस्त सुख-दुख मेरे पूर्वकर्मों के द्वारा सुनिश्चित हैं, अत: मैं न तो क्षमा-प्रार्थी हूँ और न आपके शाप से मुक्त होना चाहता हूँ। यद्यपि मैंने जो कुछ कहा है अनुचित नहीं है, किन्तु जो कुछ आप अनुचित समझती हों उसके लिए क्षमा करें।**

**तात्पर्य :** चित्रकेतु को यह भलीभाँति ज्ञात था कि प्रकृति के नियमों से कर्मों के फल प्राप्त होते हैं, अत: वह पार्वती के शाप से मुक्त नहीं होना चाहता था। तो भी वह उन्हें संतुष्ट करना चाहता था क्योंकि उसने कहा था उसके कथन के स्वाभाविक होने पर भी वे उससे रुष्ट थीं। अत: शिष्टाचार के नाते महाराज चित्रकेतु ने पार्वती से क्षमायाचना की।

**श्रीशुक उवाच**
**इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम ।**
**जगाम स्वविमानेन पश्यतो: स्मयतोस्तयो: ॥ २५ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रसाद्य—प्रसन्न करके; गिरिशौ—भगवान् शिव तथा उनकी पत्नी पार्वती को; चित्रकेतु:—राजा चित्रकेतु; अरिम्-दम—शत्रुओं को दमन करने में समर्थ हे राजा परीक्षित; जगाम—चला गया; स्व-विमानेन—अपने विमान द्वारा; पश्यतो:—देखते देखते; स्मयतो:—हँसते हुए; तयो:—भगवान् शिव तथा पार्वती दोनों के।.

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे शत्रुओं को दमन करने वाले राजा परीक्षित!**

**शिवजी तथा पार्वती को प्रसन्न करने के बाद चित्रकेतु अपने विमान पर बैठ गये और उनके देखते-देखते प्रस्थान कर गये। जब शिवजी तथा पार्वती ने देखा कि शापित होने पर भी चित्रकेतु निर्भय था, तो वे उसके आचरण पर विस्मित होकर हँस पड़े।**

**ततस्तु भगवान्रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत् ।**
**देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानां च शृण्वताम् ॥ २६ ॥**

**शब्दार्थ**

ततः—तत्पश्चात्; तु—तब; भगवान्—सर्वशक्तिमान; रुद्रः—भगवान् शिव ने; रुद्राणीम्—अपनी पत्नी पार्वती से; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा; देवर्षि—जबकि परम साधु नारद; दैत्य—असुरों; सिद्धानाम्—तथा योगशक्ति में पटु सिद्धलोक के वासियों के; पार्षदानाम्—अपने निजी सहयोगियों के; च—भी; शृण्वताम्—सुन रहे थे।

**तत्पश्चात् परमसाधु नारद, असुरों, सिद्धलोक के वासियों तथा अपने व्यक्तिगत सहयोगियों के समक्ष सर्वशक्तिमान भगवान् शिव अपनी पत्नी पार्वती से बोले और वे सब सुनते रहे।**

श्रीरुद्र उवाच
**दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः ।**
**माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् ॥ २७ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने कहा; दृष्टवती असि—क्या तुमने देखा; सु-श्रोणि—हे सुन्दरी पार्वती; हरेः—श्रीभगवान् के; अद्भुत-कर्मणः—विस्मयपूर्ण कार्य; माहात्म्यम्—महानता; भृत्य-भृत्यानाम्—दासानुदासों की; निःस्पृहाणाम्—इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा से रहित; महात्मनाम्—महान् पुरुषों का।

**शिवजी ने कहा—हे सुन्दरी! तुमने वैष्णवों की महानता देख ली? श्रीभगवान् हरि के दासानुदास होकर वे महान् पुरुष होते हैं और किसी प्रकार के सांसारिक सुख में रुचि नहीं रखते।**

**तात्पर्य :** पार्वती-पति भगवान् शिव ने अपनी पत्नी से कहा, "हे पार्वती! तुम अत्यन्त सुन्दर शरीर वाली हो, निस्सन्देह, तुम यशस्वी भी हो, किन्तु मेरा विचार है कि तुम श्रीभगवान् के दासानुदास भक्तों की सुन्दरता तथा महिमा की बराबरी नहीं कर सकतीं।" निस्सन्देह, जब वे

अपनी पत्नी के साथ ऐसा परिहास कर रहे थे तो मुसका रहे थे क्योंकि कोई दूसरा ऐसा नहीं कह सकता था। शिवजी ने आगे कहा, ''परमेश्वर के कार्य महान् होते हैं और अपने भक्त चित्रकेतु पर उनके विचित्र प्रभाव का यह दूसरा उदाहरण है। देखो न, तुमने इस राजा को शाप दिया है, किन्तु न तो वह भयभीत हुआ, न ही दुखी है। उल्टे, उसने तुम्हारा सम्मान किया, तुम्हें माता कहकर सम्बोधित किया और अपने को दोषी मानकर तुम्हारे शाप को अंगीकार कर लिया। उसने प्रतिकार में कुछ भी नहीं कहा। यही भक्त की श्रेष्ठता है। तुम्हारे शाप को विनम्रतापूर्वक सहन करके उसने तुम्हारी सुन्दरता तथा तुम्हारी शाप-शक्ति की महिमा को मात कर दिया है। मैं निष्पक्ष होकर यह कह सकता हूँ कि चित्रकेतु ने ईश्वर का भक्त होने के कारण ही तुम्हें तथा तुम्हारी श्रेष्ठता को पराजित कर दिया है।'' जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*तरोरपि सहिष्णुना*—अर्थात् भक्त वृक्ष के समान समस्त शापों तथा विफलताओं को सहन कर सकता है। भक्त की यही श्रेष्ठता है। अप्रत्यक्ष रूप से शिवजी ने पार्वती को भविष्य में चित्रकेतु जैसे भगवद्भक्त को शाप देने की भूल न करने के लिए आगाह किया। उन्होंने संकेत किया कि यद्यपि तुम शक्तिमान हो, किन्तु राजा चित्रकेतु अपनी शक्ति का प्रदर्शन किये बिना ही अपनी सहिष्णुता के कारण तुमसे आगे निकल गया है।

**नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।**
**स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ २८ ॥**

### शब्दार्थ

नारायण-पराः—जो केवल नारायण की सेवा में रुचि रखते हैं, शुद्ध भक्त; सर्वे—समस्त; न—नहीं; कुतश्चन—कहीं भी; बिभ्यति—डरते हैं; स्वर्ग—स्वर्ग लोक; अपवर्ग—मुक्ति; नरकेषु—तथा नरक में; अपि—भी; तुल्य—समान; अर्थ—महत्त्व; दर्शिनः—देखने वाले।

**पूरी तरह से भगवान् नारायण की सेवा में लीन रहने वाले भक्तजन जीवन की किसी भी अवस्था से भयभीत नहीं होते। उनके लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरक एकसमान हैं क्योंकि ऐसे भक्त ईश्वर की सेवा में ही रुचि रखते हैं।**

**तात्पर्य :** यह स्वाभाविक है कि पार्वती ने पूछा हो कि भक्त इतने महान् कैसे बनते हैं? अत: इस श्लोक में बताया गया है कि भक्तलोग *नारायण-पर* होते हैं। वे जीवन की विफलताओं की परवाह नहीं करते क्योंकि नारायण की सेवा करते हुए उन्होंने सभी प्रकार के कष्टों को झेलने की शिक्षा पाई है। उन्हें इसकी परवाह नहीं रहती कि वे स्वर्ग में हैं या नरक में, वे केवल ईश्वर की सेवा करते रहते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*—वे मुक्त रूप से ईश्वर की सेवा में प्रवृत्त होते हैं, अत: वे श्रेष्ठ हैं। भगवान् शिव ने *भृत्य-भृत्यानाम्* शब्द का व्यवहार करके यह संकेत किया है कि यद्यपि चित्रकेतु ने सहिष्णुता तथा श्रेष्ठता का यह आदर्श उपस्थित किया है, किन्तु जितने भी भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण कर रखी है वे सभी यशस्वी (महिमामय) हैं। उन्हें इसकी तनिक भी इच्छा नहीं कि वे स्वर्ग में रहकर सुखी बनें और मुक्त होकर परम तेजोमय ब्रह्म से एकाकार हो लें। ऐसे लाभ उनको नहीं भाते। वे तो भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करना चाहते हैं।

**देहिनां देहसंयोगाद्द्वन्द्वानीश्वरलीलया ।**
**सुखं दु:खं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

देहिनाम्—देहधारी व्यक्तियों का; देह-संयोगात्—भौतिक देह के सम्पर्क से; द्वन्द्वानि—द्वैत भावनाएँ; ईश्वर-लीलया—ईश्वर की परम इच्छा से; सुखम्—सुख; दु:खम्—दुख; मृति:—मृत्यु; जन्म—जन्म; शाप:—शाप; अनुग्रह:—कृपा; एव—निश्चय ही; च—तथा।

**परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति के कार्यों के कारण जीवात्माएँ भौतिक देह के सम्पर्क में बद्ध हैं। सुख तथा दुख, जन्म तथा मृत्यु, शाप तथा अनुग्रह के द्वैतभाव संसार के सम्पर्क के सहज गौण फल हैं।**

**तात्पर्य :** हम *भगवद्गीता* में पाते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—यह संसार ईश्वर की भौतिक शक्ति देवी दुर्गा के निर्देशानुसार कार्य करती है, जबकि देवी दुर्गा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के निर्देश से कार्य करती हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में भी हुई है—

*सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका*

*छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।*

दुर्गा अर्थात् शिवजी की पत्नी पार्वती अत्यन्त शक्तिमान हैं। वे अपनी इच्छा से अनेक ब्रह्माण्डों की सृष्टि, पालन एवं लय कर सकती हैं। किन्तु वे भगवान् श्रीकृष्ण के ही निर्देश पर कार्य करती हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। श्रीकृष्ण निष्पक्ष हैं, किन्तु यह संसार द्वैतपूर्ण है, अतः सुख-दुख, शाप-अनुग्रह जैसे सापेक्ष पद की इच्छा ईश्वर द्वारा सृजित हैं। वे जो *नारायण-पर* अर्थात् शुद्ध भक्त नहीं हैं, वे संसार की इस द्वैतता से विचलित होते हैं, किन्तु ईश्वर में निरन्तर अनुरक्त रहने के कारण भक्त उससे तनिक भी विचलित नहीं होते। उदाहरणार्थ, हरिदास ठाकुर को बाइस बाजार में बेतों से पीटा गया, किन्तु वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, उल्टे वे हँसते हुए इस पिटाई को सहते रहे। संसार की विचलनकारी द्वैतताओं के होते हुए भी भक्त कभी विचलित नहीं होते। चूँकि वे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रखते हैं और उनके पवित्र नाम में केन्द्रित रहते हैं अतः उन्हें इस द्वैतता से उत्पन्न होने वाले तथाकथित दुख तथा आनन्द का अनुभव नहीं होता।

**अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि ।**
**गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत्कृतः ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

अविवेक-कृतः—अज्ञानता में किया गया; पुंसः—जीवात्मा का; हि—निस्सन्देह; अर्थ-भेदः—महत्त्व का अन्तर; इव—के सदृश; आत्मनि—अपने आप में; गुण-दोष—गुण तथा दोष का; विकल्पः—कल्पना; च—तथा; भित्—अन्तर; एव—निश्चय ही; स्रजि—माला में; वत्—सदृश; कृतः—बनी हुई।

**जिस प्रकार मनुष्य फूलमाला को सर्प समझ बैठता है अथवा स्वप्न में सुख तथा दुख का अनुभव करता है उसी प्रकार भौतिक संसार में सुविचार के अभाव में हम सुख तथा दुख में एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा समझ कर विभेद करते हैं।**

**तात्पर्य :** द्वैतमय जगत के सुख तथा दुख दोनों ही भ्रामक धारणाएँ हैं। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

*''द्वैते'' भद्राभद्रज्ञान, सब—''मनोधर्म''।*

*एइ भाल, एइ मन्द,''—एइ सब ''भ्रम''॥*

द्वैतपूर्ण जगत में सुख तथा दुख का अन्तर मात्र मनोरथ होता है क्योंकि तथाकथित सुख तथा दुख वास्तव में एक ही हैं। वे स्वप्न में भोगे सुख तथा दुख के तुल्य हैं। सुप्त मनुष्य स्वप्न में सुख-दुख की सृष्टि कर लेता है यद्यपि इनका अस्तित्व होता है।

इस श्लोक में दूसरा उदाहरण फूल की माला का है, जो मूलतः अत्यन्त सुन्दर होती है, किन्तु भ्रमवश तथा प्रौढ़ ज्ञान के अभाव में मनुष्य उसे साँप समझ बैठता है। इस प्रसंग में प्रबोधानन्द सरस्वती का कथन—*विश्वं पूर्ण-सुखायते*—लागू होता है। इस भौतिक संसार में प्रत्येक मानव संकट-पूर्ण स्थितियों से दुखी है किन्तु प्रबोधानंद सरस्वती कहते हैं कि यह संसार सुख से पूर्ण है। यह कैसे सम्भव है? इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—*यत्-कारुण्य-कटाक्ष-वैभवतां तं गौरमेव स्तुमः*। भक्त श्री चैतन्य महाप्रभु की अहैतुकी कृपा के कारण ही इस संसार के दुख को सुख मान लेता है। उन्होंने स्वयं यह दिखा दिया कि हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करते हुए वे सदैव प्रसन्न रहे, उन्हें कोई कष्ट नहीं मिला। मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए निरन्तर *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामंत्र का कीर्तन करे। तब उसे इस संसार की द्वैतता से कष्ट नहीं पहुँचेगा। चाहे जिस स्थिति में वह रहे, ईश्वर के पवित्र नाम के जप से वह प्रसन्न रहेगा।

अपने स्वप्नों में हम कभी खीर खाने का आनन्द उठाते हैं, तो कभी ऐसा लगता है मानों हमारे परिवार का कोई प्रिय सदस्य मर गया है। चूँकि जाग्रत अवस्था में वही मन तथा वही शरीर उसी द्वैतपूर्ण संसार में रहते हैं, अतः संसार के तथाकथित सुख तथा दुख स्वप्न के काल्पनिक तथा ऊपरी सुख से श्रेष्ठ नहीं हैं। स्वप्न तथा जागृति दोनों में मन ही कार्य करता है और मन के संकल्प तथा विकल्प से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु मनोधर्म कहलाती है।

**वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम् ।**
**ज्ञानवैराग्यवीर्याणां न हि कश्चिद्व्यपाश्रय: ॥ ३१ ॥**

### शब्दार्थ

वासुदेवे—भगवान् वासुदेव, कृष्ण में; भगवति—भगवान्; भक्तिम्—भक्ति में प्रेम तथा श्रद्धा; उद्वहताम्—धारण करने वालों के लिए; नृणाम्—मनुष्यों का; ज्ञान-वैराग्य—वास्तविक ज्ञान तथा विरक्ति का; वीर्याणाम्—शक्तिमान; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; कश्चित्—कुछ भी; व्यपाश्रय:—शरण के रूप में।

**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कृष्ण की भक्ति में अनुरक्त व्यक्ति स्वभावत: परम ज्ञानी तथा इस संसार से विरक्त रहने वाले होते हैं। अत: ऐसे भक्त न तो इस संसार के तथाकथित सुख में न ही तथाकथित दुख में कोई रुचि रखते हैं।**

**तात्पर्य :** यहाँ पर एक भक्त तथा दिव्य विषय पर मनन करने वाले दार्शनिक का अन्तर दिखाया गया है। भक्त को इस संसार की असत्यता या विनश्वरता को समझने के लिए ज्ञान का अनुशीलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वासुदेव में विशुद्ध भक्ति के कारण उसमें यह ज्ञान तथा विरक्ति स्वत: प्रकट होती हैं। अन्यत्र *श्रीमद्भागवत* (१.२.७) में इसकी पुष्टि की गई है—

*वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।*
*जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥*

जो मनुष्य वासुदेव कृष्ण की शुद्ध भक्ति में अनुरक्त होता है, वह स्वत: इस संसार से अवगत हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह स्वभावत: विरक्त हो जाता है। यह विरक्ति उसके उच्च ज्ञान से ही सम्भव है। चिन्तनशील दार्शनिक ज्ञान के अनुशीलन से यह समझने का प्रयास करता है कि यह संसार मिथ्या है, किन्तु भक्त में बिना किसी प्रयास के यह ज्ञान स्वत: प्रकट होता है। मायावादी चिन्तक अपने तथाकथित ज्ञान पर गुमान कर सकते हैं किन्तु वासुदेव को न समझने के कारण (*वासुदेव: सर्वम् इति*) वे संसार की द्वैतता को नहीं समझ पाते क्योंकि यह वासुदेव की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है। अत: जब तक तथाकथित ज्ञानी वासुदेव की शरण में नहीं जाते तब तक उनका चिन्तनशील ज्ञान अधूरा रहता है। *येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्ति-मानिन:*—वे वासुदेव के चरणकमलों की शरण में गये बिना सांसारिक कलुष से मुक्त होना चाहते हैं किन्तु वे वासुदेव के

चरणकमलों में शरण नहीं लेते हैं, अत: उनका ज्ञान अशुद्ध है। वे जब सचमुच शुद्ध हो जाते हैं, तो वासुदेव की शरण ग्रहण करते हैं अत: ज्ञानी की अपेक्षा भक्त के लिए परम सत्य को समझ पाना सुगम है क्योंकि ज्ञानी वासुदेव को समझने के लिप मात्र चिन्तन करते हैं। शिवजी ने इस कथन की पुष्टि अगले श्लोक में की है।

**नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ**
**न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः ।**
**विदाम यस्येहितमंशकांशका**
**न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः ॥ ३२ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं ( शिव ); विरिञ्चः—ब्रह्माजी; न—नहीं; कुमार—अश्विनीकुमार; नारदौ—देवर्षि नारद; न—नहीं; ब्रह्म-पुत्राः—भगवान् ब्रह्मा के पुत्र; मुनयः—परम साधु पुरुष; सुर-ईशाः—समस्त देवता; विदाम—जानते हैं; यस्य—जिसका; ईहितम्—गतिविधि; अंशक-अंशकाः—अंशों के भी अंश; न—नहीं; तत्—उसका; स्व-रूपम्—वास्तविक व्यक्तित्व; पृथक्—भिन्न; ईश—राजा; मानिनः—मान बैठे हैं।.

**न तो मैं ( शिव ), न ब्रह्मा या अश्विनीकुमार, न ही नारद या ब्रह्मा के अन्य साधु-पुत्र और न देवता ही परमेश्वर की लीलाओं को तथा उनके स्वरूप को समझ सकते हैं। भगवान् के अंश होते हुए भी हम अपने को स्वतंत्र तथा पृथक् शासक ( नियन्ता ) मान बैठते हैं जिससे हम उनके स्वरूप को नहीं समझ सकते।**

**तात्पर्य :** *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) का कहना है—

*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*

*आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।*

*वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥*

“मैं उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द की उपासना करता हूँ जो आदि पुरुष हैं, परम अच्युत अनादि, अनन्त रूपों में विस्तार करते हुए भी वही आदि, पुरातन तथा नवयौवन से पूर्ण पुरुष हैं।

ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ ईश्वर को सर्वोत्तम वेदज्ञानी भी नहीं जान पाते, वे तो शुद्ध भक्तों के ही समक्ष सदैव प्रकट होते हैं।'' शिवजी अपने को एक ऐसा अभक्त बताते हैं, जो भगवान् के स्वरूप को नहीं समझ सकता। भगवान् अनन्त होने के कारण असंख्य 'रूपों' वाले हैं। तो भला सामान्य पुरुष उन्हें कैसे समझ सकता है? शिवजी निस्सन्देह सामान्य पुरुषों से ऊपर हैं, किन्तु वे भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते। शिव न तो सामान्य जीवों की श्रेणी में आते हैं न ही भगवान् विष्णु की श्रेणी में। वे सामान्य पुरुषों तथा भगवान् विष्णु दोनों के मध्य में हैं।

**न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।**
**आत्मत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥ ३३ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—ईश्वर का; अस्ति—है; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; कश्चित्—कोई; न—नहीं; अप्रियः—जो प्रिय न हो; स्वः—अपना; परः—पराया; अपि—भी; वा—या; आत्मत्वात्—आत्मा की भी आत्मा होने से; सर्व-भूतानाम्—सभी जीवात्माओं का; सर्व-भूत—सभी जीवात्माओं के लिए; प्रियः—अत्यधिक प्रिय; हरिः—भगवान् हरि।

**भगवान् को न कोई अति प्रिय है और न कोई अप्रिय। उनके न तो कोई स्वजन है और न कोई पराया है। वे वास्तव में समस्त जीवों के आत्मा के आत्मा हैं। इस प्रकार वे समस्त जीवों के कल्याणकारी मित्र तथा उन सबों के अत्यन्त प्रिय हैं।**

**तात्पर्य :** श्रीभगवान् का दूसरा स्वरूप समस्त जीवात्माओं का परम आत्मा है। जिस प्रकार 'स्व' अत्यन्त प्रिय होता है उसी 'स्व' का परम 'स्व' और भी अधिक प्रिय होता है। प्रत्येक के लिए समान मित्रवत् परमात्मा का कोई भी शत्रु नहीं हो सकता। भगवान् तथा जीवात्माओं के बीच शत्रुता या मित्रता का भाव माया के बीच में आ जाने के कारण है। चूंकि भौतिक प्रकृति के तीन प्रकार के गुण यह हस्तक्षेप करते हैं जिसके कारण भिन्न-भिन्न सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। वास्तव में शुद्ध जीवात्मा सदैव ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है और उसे भी ईश्वर प्रिय होता है। पक्षपात अथवा शत्रुता का प्रश्न नहीं उठता।

**तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः ।**
**सर्वत्र समदृक्शान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः ॥ ३४॥**
**तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु ।**
**महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु ॥ ३५॥**

शब्दार्थ

तस्य—उस (ईश्वर) का; च—तथा; अयम्—यह; महा-भागः—परम भाग्यशाली; चित्रकेतुः—राजा चित्रकेतु; प्रियः—प्यारा; अनुगः—आज्ञापालक सेवक; सर्वत्र—सभी जगह; सम-दृक्—समान दृष्टि; शान्तः—अत्यन्त शांत; हि—निस्सन्देह; अहम्—मैं; च—भी; एव—निश्चय ही; अच्युत-प्रियः—कभी न चूकने वाले भगवान् कृष्ण को प्रिय; तस्मात्—अतः; न—नहीं; विस्मयः—आश्चर्य; कार्यः—करणीय, कार्य; पुरुषेषु—पुरुषों में से; महा-आत्मसु—जो महात्मा है; महा-पुरुष-भक्तेषु—भगवान् विष्णु के भक्त; शान्तेषु—शान्त; सम-दर्शिषु—सम-दर्शियों में, सबको समान मानने वाले।

**यह परम उदार चित्रकेतु ईश्वर का प्रिय भक्त है। यह सभी जीवों का समदर्शी है और आसक्ति तथा घृणा से मुक्त है। इसी प्रकार मैं भी भगवान् नारायण का परम प्रिय हूँ, अतः नारायण के उच्च भक्तों की गतिविधियों को देखकर चकित नहीं होना चाहिए क्योंकि वे आसक्ति तथा द्वेष से मुक्त रहते हैं। वे सदैव शान्त रहते हैं और समदर्शी होते हैं।**

**तात्पर्य :** कहा गया है कि *वैष्णवेर क्रिया, मुद्रा विज्ञेय ना बुझय*—"परम मुक्त वैष्णवों की गतिविधियों को देखकर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।" किसी को भगवान् की गतिविधियों तथा भक्तों की गतिविधियों को देखकर गुमराह नहीं होना चाहिए। ईश्वर तथा उनके भक्त दोनों ही मुक्त हैं। वे समान स्तर पर हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि ईश्वर स्वामी हैं और भक्तजन दास। गुणात्मक रूप से वे एक ही हैं। *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।*
*ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥*

"मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ और न पक्षपात; जीव मात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे मित्र मुझमें ही स्थित हैं। और मैं भी उनका मित्र हूं। " भगवान् के इस कथन से स्पष्ट है कि भगवान् को उनके भक्त सदैव अत्यन्त प्रिय हैं। वास्तव में शिव ने पार्वती से यह कहा, "चित्रकेतु तथा मैं दोनों ही भगवान् को परम प्रिय हैं अर्थात् हम दास रूप में समान स्तर पर हैं; हम एक दूसरे के सखा हैं और कभी कभी परिहास भी कर लेते हैं। जब

चित्रकेतु मेरे व्यवहार पर जोर से हँसा तो वास्तव में मित्र होने के नाते उसने ऐसा किया, अतः उसे शाप देने की कोई आवश्यकता न थी।'' इस प्रकार शिवजी ने अपनी पत्नी पार्वती को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने अच्छा नहीं किया।

जीवन के उच्च स्तर पर भी स्त्री तथा पुरुष में भेद हैं, यहाँ तक कि भगवान् शिव तथा पार्वती में भी। शिवजी तो चित्रकेतु को ठीक से जान पाये किन्तु पार्वती नहीं जान पाईं। अतः जीवन के उच्च स्तरों में भी पुरुष और स्त्री की समझ में अन्तर होता है। यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि स्त्री की समझ पुरुष से निम्न कोटि की होती है। अब पाश्चात्य देशों में स्त्री तथा पुरुष को समान मानने के लिए आन्दोलन किया जा रहा है, किन्तु इस श्लोक से पता चलता है कि स्त्री सदैव पुरुष की अपेक्षा कम बुद्धिमान होती है।

यह स्पष्ट है कि चित्रकेतु अपने मित्र शिव की आलोचना इसलिए करना चाहते थे क्योंकि वे अपनी पत्नी को गोद में बैठाये हुए थे। शिव भी चित्रकेतु की आलोचना करना चाहते थे क्योंकि ऊपर से वे महान् भक्त थे और भीतर भीतर विद्याधर लोक की स्त्रियों के साथ सुखोपभोग में रुचि दिखा रहे थे। ये तो मित्रों के पारस्परिक हास-परिहास थे, इसमें चित्रकेतु को पार्वती द्वारा शाप दिये जाने का कोई कारण न था। शिवजी के उपदेश को सुनकर पार्वती अवश्य ही लज्जित हुई होंगी कि उन्होंने चित्रकेतु को असुर बनने का शाप क्यों दिया? माता पार्वती चित्रकेतु की स्थिति नहीं समझ पाई थीं अतः उन्होंने शाप दे दिया। किन्तु शिवजी के वचनों को समझने के बाद वे लज्जित हुईं।

**श्रीशुक उवाच**

**इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम् ।**
**बभूव शान्तधी राजन्देवी विगतविस्मया ॥ ३६ ॥**

**शब्दार्थ**

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; श्रुत्वा—सुनकर; भगवतः—अत्यन्त शक्तिमान देवता; शिवस्य—शिव का; उमा—पार्वती; अभिभाषितम्—भाषण; बभूव—हो गई; शान्त-धीः—अत्यन्त शान्त; राजन्—हे राजा परीक्षित; देवी—देवी; विगत-विस्मया—आश्चर्य से मुक्त।

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन्! अपने पति से यह संभाषण सुनकर देवी उमा ( शिव की पत्नी ) को राजा चित्रकेतु के व्यवहार पर जो विस्मय उत्पन्न हुआ था वह जाता रहा और उनकी बुद्धि स्थिर हो गई।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *शान्त-धीः* शब्द का अर्थ *स्वीय-पूर्व-स्वभाव-स्मृत्या* है। जब पार्वती ने चित्रकेतु को शाप देने वाले अपने पूर्व आचरण का स्मरण किया, तो वे अत्यन्त लज्जित हुईं और उन्होंने अपने मुख को साड़ी के छोर से ढक लिया। उन्होंने स्वीकार किया कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने त्रुटि की है।

**इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः ।**
**मूर्ध्ना स जगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम् ॥ ३७॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भागवतः—परम भक्त; देव्याः—देवी पार्वती का; प्रतिशप्तुम्—बदले में शाप देने; अलन्तमः—समर्थ; मूर्ध्ना—सिर से; सः—वह ( चित्रकेतु ); जगृहे—स्वीकार किया; शापम्—शाप; एतावत्—इतना बड़ा; साधु-लक्षणम्—भक्त के लक्षण।

**महान् भक्त चित्रकेतु इतना शक्तिमान था कि यदि वह चाहता तो पलट कर ( बदले में ) माता पार्वती को शाप दे देता, किन्तु ऐसा न करके उसने नम्रता से शाप को स्वीकार किया और शिवजी तथा उनकी पत्नी के सम्मुख अपना शिर झुकाया। इसे वैष्णव का आदर्श आचरण समझना चाहिए।**

**तात्पर्य :** शिवजी द्वारा सूचित किये जाने पर माता पार्वती जान सकीं कि चित्रकेतु को शाप देकर उन्होंने त्रुटि की है। चित्रकेतु का चरित्र इतना महान् था कि पार्वती द्वारा गलती से शापित होने पर भी वह अपने विमान से तत्काल उतरा और शाप को अंगीकार करके माता के समक्ष अपना माथा टेका। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है—*नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति*। चित्रकेतु ने खेल-खेल में माता के शाप को इसलिए स्वीकार कर लिया जिससे वे प्रसन्न

हो जाय। यही साधु का लक्षण है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*तृणादपि सुनीचेन तरोरपिसहिष्णुना*। भक्त को अत्यन्त विनम्र होना चाहिए और बड़ों का सम्मान करना चाहिए। श्रीभगवान् द्वारा रक्षित होने से भक्त सदा परम शक्तिमान होता है, किन्तु वह अपनी शक्ति का वृथा प्रदर्शन नहीं करना चाहता। किन्तु यदि अल्प-ज्ञानी पुरुष को थोड़ी सी भी शक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वह उसका उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करना चाहता है। भक्त का आचरण ऐसा नहीं होता।

**जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः ।**
**वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥ ३८ ॥**

### शब्दार्थ

जज्ञे—उत्पन्न हुआ; त्वष्टुः—त्वष्टा नामक ब्राह्मण का; दक्षिण-अग्नौ—दक्षिणाग्नि नामक यज्ञ की अग्नि में; दानवीम्—आसुरी; योनिम्—योनि; आश्रितः—शरणागत; वृत्रः—वृत्र; इति—इस प्रकार; अभिविख्यातः—विख्यात; ज्ञान-विज्ञान-संयुतः—जीवन के दिव्य ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान से युक्त।

**माता दुर्गा ( भवानी, शिवजी की पत्नी ) से शापित होकर उसी चित्रकेतु ने आसुरी योनि में जन्म लिया। वह त्वष्टा द्वारा किये गये यज्ञ से असुर के रूप में प्रकट हुआ, यद्यपि वह दिव्य ज्ञान और उसके व्यावहारिक उपयोग में अभी भी परिपूर्ण था और इस प्रकार वह वृत्रासुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।**

**तात्पर्य :** योनि का सामान्य अर्थ जाति—अर्थात् परिवार, समूह या किस्म—समझा जाता है। यद्यपि वृत्रासुर असुरों के परिवार में उत्पन्न हुआ, किन्तु उसका आध्यात्मिक ज्ञान तब भी बना रहा। *ज्ञान-विज्ञान-संयुतः*—उसका दिव्य ज्ञान तथा जीवन में उस ज्ञान का व्यवहार उसे भूले नहीं। अतः यदि किसी कारणवश भक्त च्युत होता है, तो भी वह नष्ट नहीं होता।

*यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं*

*को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।*

(भागवत १.५.१७)

एक बार भक्ति में सिद्ध हो जाने पर किसी भी दशा में उसकी आध्यात्मिक निधि का क्षय नहीं

होता। वह जितना भी आत्मज्ञान अर्जित कर चुका होता है, वह बना रहता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है। यदि कोई भक्तियोगी भ्रष्ट होता है, तो वह सम्पन्न परिवार में या ब्राह्मण परिवार में जन्म ग्रहण करता है और वहाँ वह फिर से अपनी भक्ति के कार्यकलाप जहाँ उसने छोड़े थे, वहाँ से प्रारम्भ कर देता है। वृत्रासुर भले ही असुर कहलाता रहा हो, किन्तु उसकी भी कृष्णभावना या भक्ति विनष्ट नहीं हुई थी।

**एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।**
**वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमको; सर्वम्—सब कुछ; आख्यातम्—बता दिया; यत्—जो; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृच्छसि—पूछा था; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; असुर-जातेः—असुर योनि में उत्पन्न; च—तथा; कारणम्—कारण; भगवत्-मतेः—कृष्णभावना में उन्नत बुद्धि का।

**हे राजा परीक्षित! तुमने मुझसे पूछा था कि परम भक्त वृत्रासुर ने असुर वंश में किस प्रकार जन्म लिया; अतः मैंने तुम्हें उसके विषय में सब कुछ बताने का प्रयास किया है।**

**इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः ।**
**माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते ॥ ४० ॥**

### शब्दार्थ

इतिहासम्—इतिहास; इमम्—यह; पुण्यम्—परम पवित्र; चित्रकेतोः—चित्रकेतु का; महा-आत्मनः—परम भक्त; माहात्म्यम्—महिमायुक्त; विष्णु-भक्तानाम्—विष्णु के भक्तों का; श्रुत्वा—सुनकर; बन्धात्—जीवन के बन्धन से; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

**चित्रकेतु महान् भक्त ( महात्मा ) था। यदि कोई मनुष्य किसी शुद्ध भक्त से चित्रकेतु के इस इतिहास को सुने तो श्रोता भी इस संसार में अपने बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है।**

**तात्पर्य :** पुराणों में वर्णित ऐताहासिक घटनाएँ यथा भागवत पुराण का चित्रकेतु का यह इतिहास, अभक्तों अथवा बाहरी लोगों द्वारा कभी कभी गलत समझ लिया जाता है। इसलिए शुकदेव गोस्वामी का उपदेश है कि चित्रकेतु का यह इतिहास किसी भक्त के मुख से ही सुना जाये। भक्ति सम्बन्धी या भगवान् और भक्तों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हो उसे भक्त से ही सुना

जाये, किसी व्यावसायिक वाचक से नहीं। यहाँ इसकी संस्तुति की गई है। श्री चैतन्य महाप्रभु के सचिव का भी यही कहना था कि *श्रीमद्भागवत* का इतिहास भक्त से ही सीखा जाये—*याह, भागवत पड वैष्णवेर स्थाने*। मनुष्य को चाहिए कि भागवत के कथनों को व्यावसायिक वाचकों से न सुनें अन्यथा उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। श्रीसनातन गोस्वामी ने *पद्म पुराण* से उद्धरण देते हुए कठोर वर्जना की है कि अभक्तों के मुख से भगवान् तथा उनके भक्तों का चरित्र न सुना जाये।

*अवैष्णवमुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम्।*

*श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पयः॥*

"अवैष्णव के मुख से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सुना जाना चाहिए। जिस प्रकार सर्प के होंठों का स्पर्श करने से दूध विषाक्त हो जाता है उसी प्रकार अवैष्णव द्वारा कृष्ण के सम्बन्ध में दिया गया व्याख्यान विषपूर्ण होता है।" केवल प्रामाणिक भक्त ही अपने श्रोताओं को भक्ति के विषय में उपदेश देकर उन्हें भक्तियोग में प्रभावित कर सकता है।

**य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत् ।**
**इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ॥ ४१ ॥**

**शब्दार्थ**

यः—जो भी व्यक्ति; एतत्—यह; प्रातः—प्रातःकाल; उत्थाय—उठकर, जगकर; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; वाक्-यतः—मन तथा वाणी को वश में करके; पठेत्—पढ़े; इतिहासम्—इतिहास; हरिम्—परमेश्वर; स्मृत्वा—स्मरण करके; सः—वह व्यक्ति; याति—जाता है; परमाम् गतिम्—भगवान् के धाम को।.

**जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर अपने मन तथा वाणी को वश में रखकर तथा श्रीभगवान् का स्मरण करके चित्रकेतु का यह इतिहास पढ़ता है, वह बिना कठिनाई के भगवान् के धाम को चला जाता है।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत "माता पार्वती द्वारा चित्रकेतु को शाप" नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

# Chapter अठारह

# राजा इन्द्र का वध करने के लिए दिति का व्रत

इस अध्याय में कश्यप की पत्नी दिति की कथा है कि इन्द्र के वध के लिए पुत्र प्राप्त करने के निमित्त उसने किस प्रकार व्रत का पालन किया। इसमें यह भी उल्लेख है कि किस प्रकार इन्द्र ने दिति के गर्भ में ही पुत्र को खण्ड-खण्ड करके उस की योजना को विफल बनाने का प्रयास किया।

त्वष्टा तथा उसके वंशजों के प्रसंग में आदित्यों तथा अन्य देवताओं के वंश का वर्णन किया गया है। अदिति के पाँचवें पुत्र सविता की पत्नी पृश्नि के तीन पुत्रियाँ सावित्री, व्याहृति तथा त्रयी थीं एवं अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य तथा पंच महायज्ञ नामक महान् पुत्र हुए। भग की पत्नी सिद्धि के तीन पुत्र हुए, जिनके नाम महिमा, विभु तथा प्रभु थे तथा आशी नाम की एक कन्या भी उत्पन्न हुई। धाता की चार पत्नियों कुहू, सिनीवाली, राका तथा अनुमति से क्रमश: सायम्, दर्श, प्रात: तथा पूर्णमास नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए। विधाता की पत्नी क्रिया से पाँच पुरीष्य उत्पन्न हुए जो पाँच प्रकार के अग्निदेवों के प्रतिनिधि थे। ब्रह्मा के मानस पुत्र भृगु ने पुत्र वरुण की पत्नी चर्षणी के गर्भ से जन्म लिया और ऋषि वाल्मीकि वरुण के वीर्य से उत्पन्न हुए। अगस्त्य तथा वसिष्ठ वरुण तथा मित्र के दो पुत्र थे। वे दोनों उर्वशी के रूप पर मोहित हो गये तो उनका वीर्य स्खलित हो गया जिसे मिट्टी के पात्र में रखा गया। उसी पात्र से अगस्त्य तथा वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई। मित्र की पत्नी रेवती के गर्भ से तीन पुत्र हुए उत्सर्ग, अरिष्ठ तथा पिप्पल। अदिति के कुल बारह पुत्र हुए जिनमें इन्द्र ग्यारहवाँ था। इन्द्र की पत्नी का नाम पौलोमी (शची देवी) रखा गया। उसके तीन पुत्र हुए जयन्त, ऋषभ तथा मीढुष। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं अपनी शक्ति से वामनदेव के रूप में प्रकट हुए। उनकी पत्नी कीर्ति के गर्भ से बृहत्श्लोक नामक पुत्र जन्मा। उसके प्रथम पुत्र का नाम सौभग था। यह अदिति के पुत्रों का विवरण है। श्रीभगवान् के अवतार आदित्य उरुक्रम का विवरण अष्टम स्कन्ध में दिया जायेगा।

इस अध्याय में दिति से उत्पन्न असुरों का भी विवरण दिया गया है। दिति के वंश में परम साधु–भक्त प्रह्लाद तथा उनके नाती बलि भी उत्पन्न हुए। हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष दिति के प्रथम पुत्र थे। हिरण्यकशिपु तथा उनकी पत्नी कयाधु के चार पुत्र हुए संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद तथा प्रह्लाद। उनके एक पुत्री भी थी जिसका नाम सिंहिका था। विप्रचित नामक असुर के संयोग से सिंहिका के राहु नामक पुत्र हुआ जिसका शिरच्छेद श्रीभगवान् ने किया था। संह्लाद की पत्नी कृति से पंचजन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ह्लाद की पत्नी धमनि से वातापि और इल्वल नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। इल्वल ने वातापि को मेढा बनाकर उसे अगस्त्य को खाने के लिए दिया। अनुह्लाद की पत्नी सूर्या की कोख से बाष्कल तथा महिष नामक दो पुत्रों ने जन्म लिया। प्रह्लाद के पुत्र का नाम विरोचन था और पौत्र का नाम बलि महाराज। बलि महाराज के एक सौ पुत्र थे जिनमें बाण सबसे ज्येष्ठ था।

आदित्यों तथा अन्य देवताओं की वंशावली बताने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने दिति के मरुत नामक पुत्रों का वर्णन किया है और यह बताया है किस प्रकार वे देवता–पद को प्राप्त हुए। इन्द्र की सहायता के लिए ही भगवान् विष्णु ने हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु का वध किया। अत: दिति को अत्यन्त ईर्ष्या हुई। इसी कारण वह ऐसा पुत्र चाहती थी जो इन्द्र का बध कर सके। उसने अपनी सेवा से कश्यप मुनि को मोहित किया जिससे वह उनसे इस कार्य को करने के लिए महान् पुत्र प्राप्त कर सके। वेद वाक्य *विद्वांसम् अपि कर्षति* के अनुसार कश्यपमुनि इस परम सुन्दरी अपनी पत्नी, से परम आकृष्ट हुए और उसकी किसी भी प्रार्थना को स्वीकार करने का वचन दे दिया। किन्तु जब उसने इन्द्र का बध करने वाले पुत्र के लिए प्रार्थना कि तो कश्यपमुनि ने अपने आपको धिक्कारा और अपनी पत्नी दिति से कहा कि वैष्णव अनुष्ठानों के अनुसार अपनी शुद्धि करे। जब कश्यप के उपदेश से दिति सेवा–भक्ति करने लगी, तो इन्द्र उसके मन्तव्य को समझ गया अत: वह उसके सभी कार्यकलापों का निरीक्षण करने लगा। एक दिन इन्द्र ने देखा कि वह सेवा कार्य से विचलित हो गई अत: वह उसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया और उसके पुत्र को उनचास खण्डों में

काट डाला। इस प्रकार उनचास प्रकार के मरुत (वायु) प्रकट हुए किन्तु दिति ने वैष्णव अनुष्ठान किये थे इसलिए सभी पुत्र वैष्णव हो गये।

श्रीशुक उवाच
**पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् ।**
**अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ॥ १ ॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; पृश्निः—पृश्नि; तु—तब; पत्नी—भार्या; सवितुः—सविता की; सावित्रीम्—सावित्री; व्याहृतिम्—व्याहृति; त्रयीम्—त्रयी; अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र; पशुम्—पशु; सोमम्—सोम; चातुर्मास्यम्—चातुर्मास्य; महा-मखान्—पाँचों महायज्ञ।

**श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—पृश्नि, जो अदिति के बारह पुत्रों में से पाँचवें पुत्र सविता की पत्नी थी, तीन पुत्रियाँ सावित्री, व्याहृति तथा त्रयी और अग्निहोत्र, पशु, सोम, चार्तुमास्य तथा पंच महायज्ञ नामक पुत्र उत्पन्न हुए।**

**सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम् ।**
**आशिषं च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम् ॥ २ ॥**

शब्दार्थ

सिद्धिः—सिद्धि; भगस्य—भग की; भार्या—पत्नी; अङ्ग—हे राजा; महिमानम्—महिमा; विभुम्—विभु; प्रभुम्—प्रभु; आशिषम्—आशीष; च—तथा; वरारोहाम्—अत्यन्त सुन्दरी; कन्याम्—पुत्री को; प्रासूत—जन्म दिया; सु-व्रताम्—सदाचारिणी।

**हे राजन्! अदिति के छठे पुत्र भग की पत्नी का नाम सिद्धि था जिसके महिमा, विभु तथा प्रभु नामक तीन पुत्र तथा आशीष नामक एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई।**

**धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा ।**
**सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात् ॥ ३ ॥**
**अग्नीन्पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः ।**
**चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्यां जातो भृगुः पुनः ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ

धातुः—धाता के; कुहूः—कुहू; सिनीवाली—सिनीवाली; राका—राका; च—तथा; अनुमतिः—अनुमति; तथा—भी; सायम्—सायम्; दर्शम्—दर्श; अथ—भी; प्रातः—प्रातः; पूर्णमासम्—पूर्णमास; अनुक्रमात्—क्रमशः; अग्नीन्—

अग्निदेव; पुरीष्यान्—पुरीष्य नामक; आधत्त—जन्म दिया; क्रियायाम्—क्रिया से; समनन्तरः—अगला पुत्र विधाता; चर्षणी—चर्षणी; वरुणस्य—वरुण का; आसीत्—था; यस्याम्—जिसमें; जातः—जन्म लिया; भृगुः—भृगु ने; पुनः—फिर।

अदिति के सातवें पुत्र धाता के चार पत्नियाँ थीं जिनके नाम थे कुहू, सिनीवाली, राका तथा अनुमति। इन चारों से क्रमशः सायम्, दर्श, प्रातः तथा पूर्णमास नामक चार पुत्र हुए। अदिति के आठवें पुत्र विधाता की पत्नी का नाम क्रिया था जिससे पुरीष्य नामक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। अदिति के नवें पुत्र वरुण की पत्नी चर्षणी थी जिसके गर्भ से ब्रह्मा के पुत्र भृगु ने फिर जन्म लिया।

वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत्किल ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोरृषी ॥ ५॥

शब्दार्थ

वाल्मीकिः—वाल्मीकि; च—तथा; महा-योगी—परम योगी; वल्मीकात्—बाँबी से; अभवत्—जन्म लिया; किल—निस्सन्देह; अगस्त्यः—अगस्त्य; च—तथा; वसिष्ठः—वशिष्ठ; च—भी; मित्रा-वरुणयोः—मित्र तथा वरुण दोनों के; ऋषी—दो ऋषि।

वरुण के वीर्य से परम योगी वाल्मीकि ने बाँबी से जन्म लिया। भृगु तथा वाल्मीकि वरुण के विशिष्ट पुत्र थे, जबकि अगस्त्य तथा वसिष्ठ ऋषि वरुण तथा मित्र (अदिति के दसवें पुत्र) के संयुक्त पुत्र थे।

रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम् ।
रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात् ॥ ६॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; सिषिचतुः—स्खलित; कुम्भे—घड़े में; उर्वश्याः—उर्वशी का; सन्निधौ—उपस्थिति में; द्रुतम्—उड़कर; रेवत्याम्—रेवती में; मित्रः—मित्र; उत्सर्गम्—उत्सर्गम्; अरिष्टम्—अरिष्ट; पिप्पलम्—पिप्पल; व्यधात्—जन्म लिया।

स्वर्ग-सुन्दरी उर्वशी को देखकर मित्र तथा वरुण दोनों का वीर्य स्खलित हो गया जिसे उन्होंने एक मिट्टी के पात्र में रख दिया। बाद में इसी पात्र से अगस्त्य तथा वसिष्ठ नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये मित्र तथा वरुण के संयुक्त (उभयनिष्ट) पुत्र हैं। मित्र को अपनी पत्नी रेवती से तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम उत्सर्ग, अरिष्ट तथा पिप्पल थे।

**तात्पर्य :** आधुनिक विज्ञान वीर्य को संसाधित करके टेस्ट ट्यूबों में जीवात्माएँ उत्पन्न करने में प्रयत्नशील हैं, किन्तु बहुत काल पहले पात्र में वीर्य को रखकर शिशु उत्पन्न करना सम्भव था।

**पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन्पुत्रानिति नः श्रुतम् ।**
**जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः ॥ ७॥**

शब्दार्थ

पौलोम्याम्—पौलोमी ( शची देवी ) ने; इन्द्रः—इन्द्र ने; आधत्त—उत्पन्न किया; त्रीन्—तीन; पुत्रान्—पुत्र; इति—इस प्रकार; नः—हमारे द्वारा; श्रुतम्—सुना हुआ; जयन्तम्—जयन्त; ऋषभम्—ऋषभ; तात—हे राजन्; तृतीयम्—तीसरा; मीढुषम्—मीढुष; प्रभुः—राजा।

**हे राजा परीक्षित! अदिति के ग्यारहवें पुत्र एवं स्वर्गलोक के राजा इन्द्र की पत्नी पौलोमी के गर्भ से जयन्त, ऋषभ तथा मीढुष नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ऐसा हमने सुना है।**

**उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः ।**
**कीर्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन्सौभगादयः ॥ ८॥**

शब्दार्थ

उरुक्रमस्य—उरुक्रम की; देवस्य—भगवान् की; माया—अन्तरंगा शक्ति से; वामन-रूपिणः—वामन के रूप में; कीर्तौ—कीर्ति से; पत्न्याम्—अपनी पत्नी; बृहच्छ्लोकः—बृहत्श्लोक; तस्य—उसके; आसन्—थे; सौभग-आदयः—सौभग आदि पुत्र।

**अनेक शक्तियों वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी शक्ति से बौने ( वामन ) के रूप में प्रकट हुए जो अदिति के बारहवें पुत्र उरुक्रम कहलाते हैं। उनकी पत्नी कीर्ति के गर्भ से बृहत्श्लोक नामक एक पुत्र ने जन्म लिया जिसके सौभग इत्यादि कई पुत्र हुए।**

**तात्पर्य :** जैसा कि *भगवद्गीता* ( ४.६ ) में भगवान् का वचन है

*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।*

*प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥*

''मैं अजन्मा, सब प्राणियों का ईश्वर और सच्चिदानन्द अविनाशी स्वरूप होते हुए भी युग युग में अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता रहता हूँ।'' श्रीभगवान् अवतीर्ण होते हैं, तो उन्हें बहिरंगा शक्ति की सहायता की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वे अपनी स्वयं की शक्ति से यथार्थ रूप में प्रकट

होते हैं। यह आध्यात्मिक शक्ति माया भी कहलाती है। कहा गया है *अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति मनीषिण:* श्रीभगवान् द्वारा अंगीकृत शरीर मायामय कहलाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे बहिरंगा शक्ति से निर्मित हैं; इस माया का तात्पर्य उनकी अंतरंगा शक्ति से है।

**तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मन: ।**
**पश्चाद्वक्ष्यामहेऽदित्यां यथैवावततार ह ॥ ९ ॥**

### शब्दार्थ

तत्—उसका; कर्म—कर्म; गुण—गुण; वीर्याणि—तथा शक्ति; काश्यपस्य—कश्यप के पुत्र के; महा-आत्मन:—परम आत्मा; पश्चात्—बाद में; वक्ष्यामहे—मैं वर्णन करूँगा; अदित्याम्—अदिति से; यथा—कैसे; एव—निश्चय ही; अवततार—अवतार लिया; ह—निस्सन्देह।

**बाद में (आठवें स्कंध में) मैं यह वर्णन करूँगा कि किस प्रकार उरुक्रम अर्थात् भगवान् वामनदेव परम साधु कश्यप के पुत्र के रूप में प्रकट हुए और किस प्रकार तीनों लोकों को अपने पगों से नाप लिया। मैं उनके अपूर्व कर्मों, गुणों, शक्ति तथा अदिति के गर्भ से जन्म ग्रहण करने के सम्बन्ध में वर्णन करूँगा।**

**अथ कश्यपदायादान्दैतेयान्कीर्तयामि ते ।**
**यत्र भागवत: श्रीमान्प्रह्लादो बलिरेव च ॥ १० ॥**

### शब्दार्थ

अथ—अब; कश्यप-दायादान्—कश्यप के पुत्रों का; दैतेयान्—दिति से उत्पन्न; कीर्तयामि—वर्णन करूँगा; ते—तुमसे; यत्र—जहाँ; भागवत:—परम भक्त; श्री-मान्—यशस्वी; प्रह्लाद:—प्रह्लाद; बलि:—बलि; एव—निश्चय ही; च—भी।

**अब मैं दिति के उन पुत्रों का वर्णन करूँगा जो कश्यप के द्वारा उत्पन्न किये गये किन्तु जो असुर बने। इस असुर वंश में परम भक्त प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज प्रकट हुए। असुरों को दैत्य कहा जाता है क्योंकि वे दिति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।**

**दितेर्द्वाविव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ ।**
**हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

दितेः—दिति के; द्वौ—दो; एव—निश्चय ही; दायादौ—पुत्र; दैत्य-दानव—दैत्यों तथा दानवों के द्वारा; वन्दितौ—पूजित; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; नाम—नामक; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; च—भी; कीर्तितौ—विख्यात।

**सर्वप्रथम दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों अत्यन्त शक्तिशाली थे और दैत्यों तथा दानवों द्वारा पूजित थे।**

हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी ।
जम्भस्य तनया सा तु सुषुवे चतुरः सुतान् ॥ १२॥
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च ।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत् ॥ १३॥

### शब्दार्थ

हिरण्यकशिपोः—हिरण्यकशिपु की; भार्या—पत्नी; कयाधुः—कयाधु; नाम—नामक; दानवी—दनु की संतान; जम्भस्य—जम्भ की; तनया—पुत्री; सा—उसने; तु—निस्सन्देह; सुषुवे—जन्म दिया; चतुरः—चार; सुतान्—पुत्रों को; संह्लादम्—संह्लाद; प्राक्—पहले; अनुह्लादम्—अनुह्लाद; ह्लादम्—ह्लाद; प्रह्लादम्—प्रह्लाद; एव—भी; च—तथा; तत्-स्वसा—उसकी बहन; सिंहिका—सिंहिका; नाम—नाम की; राहुम्—राहु को; विप्रचितः—विप्रचित से; अग्रहीत्—प्राप्त किया।

**हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु नाम से विख्यात थी। वह जम्भ की पुत्री एवं दनु की वंशज थी। उसके एक एक करके चार पुत्र हुए जिनके नाम संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद तथा प्रह्लाद थे। इन चारों भाइयों की बहन का नाम सिंहिका था। उसने विप्रचित नामक असुर से ब्याह करके राहु नामक असुर को जन्म दिया।**

शिरोऽहरद्यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम् ।
संह्लादस्य कृतिर्भार्यासूत पञ्चजनं ततः ॥ १४॥

### शब्दार्थ

शिरः—शीश; अहरत्—काट लिया; यस्य—जिसका; हरिः—हरि ने; चक्रेण—चक्र से; पिबतः—पीते हुए; अमृतम्—अमृत; संह्लादस्य—संह्लाद की; कृतिः—कृति; भार्या—पत्नी ने; असूत—जन्म दिया; पञ्चजनम्—पंचजन; ततः—उससे।

**जब राहु वेश बदलकर देवताओं के बीच में अमृत पी रहा था, तो भगवान् हरि ने उसका सिर काट लिया। संह्लाद की पत्नी का नाम कृति था। इन दोनों के संयोग से कृति के पंचजन नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ।**

ह्लादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम् ।
योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः ॥ १५॥

शब्दार्थ

ह्लादस्य—ह्लाद की; धमनिः—धमनि; भार्या—पत्नी; असूत—जन्म दिया; वातापिम्—वातापि; इल्वलम्—इल्वल को; यः—जो; अगस्त्याय—अगस्त्य के लिए; तु—लेकिन; अतिथये—अपने अतिथि; पेचे—पकाया; वातापिम्—वातापि को; इल्वलः—इल्वल ने।

ह्लाद की पत्नी का नाम धमनि था। उसने वातापि तथा इल्वल नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। जब अगस्त्य मुनि इल्वल के अतिथि बने तो उसने वातापि को, जो मेढे के रूप में था, पकाकर भोजन करवाया।

अनुह्लादस्य सूर्यायां बाष्कलो महिषस्तथा ।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यां तस्याभवद्बलिः ॥ १६॥

शब्दार्थ

अनुह्लादस्य—अनुह्लाद की; सूर्यायाम्—सूर्या से; बाष्कलः—बाष्कल; महिषः—महिष; तथा—और; विरोचनः—विरोचन; तु—निस्सन्देह; प्राह्लादिः—प्रह्लाद का पुत्र; देव्याम्—उसकी पत्नी से; तस्य—उसके; अभवत्—हुआ; बलिः—बलि।

अनुह्लाद की पत्नी सूर्या थी। उसने बाष्कल तथा महिष नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। प्रह्लाद के विरोचन नामक एक पुत्र हुआ जिसकी पत्नी से बलि महाराज ने जन्म लिया।

बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत् ।
तस्यानुभावं सुश्लोक्यं पश्चादेवाभिधास्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

बाण-ज्येष्ठम्—सबसे बड़ा बाण; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; अशनायाम्—अशना से; ततः—उससे; अभवत्—हुए; तस्य—उसके; अनुभावम्—चरित्र, महिमा; सु-श्लोक्यम्—प्रशंसनीय; पश्चात्—बाद में; एव—निश्चय ही; अभिधास्यते—वर्णन किया जायेगा।

इसके पश्चात् अशना की कोख से महाराज बलि को एक सौ पुत्र प्राप्त हुए जिनमें राजा बाण ज्येष्ठ था। बलि महाराज का चरित्र ( महिमा ) अत्यन्त प्रशंसनीय है और उनका वर्णन आगे ( आठवें स्कंध में ) होगा।

बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम् ।

**यत्पार्श्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः ॥ १८ ॥**

### शब्दार्थ

बाणः—बाण ने; आराध्य—पूजा करके; गिरिशम्—शिवजी की; लेभे—प्राप्त किया; तत्—उसका ( भगवान् शिव ); गण-मुख्यताम्—प्रमुख पार्षदों में से एक का पद; यत्-पार्श्वे—जिसके निकट; भगवान्—भगवान् शिव; आस्ते—रहता है; हि—जिसके कारण; अद्य—अब; अपि—भी; पुर-पालकः—राजधानी का रक्षक।

**चूँकि राजा बाण शिवजी का उपासक था, अतः वह उनके सर्वश्रेष्ठ पार्षदों ( गणों ) में से एक बन गया। आज भी शिवजी राजा बाण की राजधानी की रक्षा करते हैं और सदैव उसके निकट खड़े रहते हैं।**

**मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।**
**त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम् ॥ १९ ॥**

### शब्दार्थ

मरुतः—मरुत गण; च—तथा; दितेः—दिति के; पुत्राः—पुत्र; चत्वारिंशत्—चालीस; नव-अधिकाः—तथा नौ; ते—वे; आसन्—थे; अप्रजाः—निःसन्तान; सर्वे—सभी; नीताः—लाये गये; इन्द्रेण—इन्द्र के द्वारा; स-आत्मताम्—देवताओं के पद को।

**दिति के गर्भ से उनचास मरुतदेव भी उत्पन्न हुए। इनमें से किसी के सन्तान नहीं हुई। यद्यपि दिति ने उन्हें जन्मा था किन्तु इन्द्र ने उन्हें देव-पद प्रदान किया।**

**तात्पर्य :** असुर भी देवता बना दिये जाते हैं जब उनका असुर-मूलक चरित्र सुधर जाता है। इस विश्व में दो प्रकार के मनुष्य हैं। भगवान् विष्णु के भक्त देवता कहलाते हैं और उनके विरोधी असुर कहलाते हैं। इस श्लोक के अनुसार असुरों को भी देवता बनाया जा सकता है।

**श्रीराजोवाच**
**कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो ।**
**इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत्साधु कृतं हि तैः ॥ २० ॥**

### शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; कथम्—क्योंकर; ते—वे; आसुरम्—आसुरी; भावम्—वृत्ति; अपोह्य—त्यागकर; औत्पत्तिकम्—जन्म के कारण; गुरो—हे प्रभो; इन्द्रेण—इन्द्र के द्वारा; प्रापिताः—बदले गए; स-आत्म्यम्—देवताओं को; किम्—क्या; तत्—अतः; साधु—पुण्यकर्म; कृतम्—सम्पन्न किये गये; हि—निस्सन्देह; तैः—उनके द्वारा।

**राजा परीक्षित ने पूछा—हे प्रभो! जन्म के कारण वे उनचासों मरुत आसुरी वृत्ति से**

**परिपूर्ण रहे होंगे तो फिर स्वर्ग के राजा इन्द्र ने उन्हें देवता क्यों बनाया? क्या उन्होंने कोई पुण्यकर्म या अनुष्ठान किए थे?**

**इमे श्रद्दधते ब्रह्मन्नृषयो हि मया सह ।**
**परिज्ञानाय भगवंस्तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥ २१ ॥**

### शब्दार्थ

इमे—ये; श्रद्दधते—उत्सुक हैं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ऋषयः—साधुजन; हि—निस्सन्देह; मया सह—मेरे साथ; परिज्ञानाय—जानने के लिए; भगवन्—हे महात्मन्; तत्—अतः; नः—हमको; व्याख्यातुम् अर्हसि—कृपा करके बताएँ।

**हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! मैं तथा यहाँ पर उपस्थित सभी साधुजन इसे जानने के लिए परम उत्सुक हैं। अतः हे महात्मन्! हमसे इसका कारण बताएँ।**

श्रीसूत उवाच
**तद्विष्णुरातस्य स बादरायणि-**
**र्वचो निशम्याद‍ृतमल्पमर्थवत् ।**
**सभाजयन्सन्निभृतेन चेतसा**
**जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः ॥ २२ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; तत्—वे; विष्णुरातस्य—महाराज परीक्षित का; सः—उस; बादरायणिः—शुकदेव गोस्वामी ने; वचः—शब्द; निशम्य—सुनकर; आद‍ृतम्—आदरपूर्ण; अल्पम्—संक्षिप्त; अर्थ-वत्—सप्रयोजन; सभाजयन् सन्—प्रशंसा करते हुए; निभृतेन चेतसा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; जगाद—उत्तर दिया; सत्रायण—हे शौनक; सर्व-दर्शनः—सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी।

**श्री सूत गोस्वामी ने कहा—हे महर्षि शौनक! महाराजा परीक्षित को सविनय एवं संक्षेप में आवश्यक विषयों पर बोलते हुए सुनकर सर्वज्ञाता शुकदेव गोस्वामी ने उनके प्रयत्नों की प्रशंसा की और इस प्रकार उत्तर दिया।**

**तात्पर्य :** शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित के प्रश्न की अत्यधिक सराहना की क्योंकि वह संक्षेप में होते हुए भी सारगर्भित जिज्ञासाओं से पूर्ण था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस बात पर बल देते हैं कि यद्यपि दिति ईर्ष्या से पूर्ण थी, किन्तु उसका हृदय भक्तिमय मनोवृत्ति के कारण शुद्ध हो चुका था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि कश्यप मुनि परम विद्वान थे और

आत्मचेतना में सिद्ध थे, किन्तु तो भी वे सुन्दर पत्नी की उत्प्रेरण के वश में थे। चूँकि इन समस्त प्रश्नों को महाराज परीक्षित ने अत्यन्त संक्षेप में पूछा इसलिए शुकदेव गोस्वामी अति प्रसन्न हुए।

श्रीशुक उवाच
**हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना ।**
**मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत् ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; हत-पुत्रा—जिसके पुत्रों का वध किया जा चुका था; दितिः—दिति ने; शक्र-पार्ष्णि-ग्राहेण—जो इन्द्र की सहायता कर रहा था; विष्णुना—भगवान् विष्णु के द्वारा; मन्युना—क्रोधपूर्वक; शोक-दीप्तेन—शोक से उद्दीप्त; ज्वलन्ती—जलते हुए; पर्यचिन्तयत्—सोचा।

**श्री शुकदेव गोस्वामी बोले—इन्द्र की सहायता करने मात्र के लिए भगवान् विष्णु ने हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष नामक दोनों भाइयों का वध कर दिया। उनके मारे जाने से उनकी माता दिति शोक तथा क्रोध से परिपूर्ण होकर इस प्रकार सोचने लगी।**

**कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम् ।**
**अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥ २४ ॥**

शब्दार्थ

कदा—कब; नु—निस्सन्देह; भ्रातृ-हन्तारम्—बन्धुओं को मारने वाला; इन्द्रिय-आरामम्—इन्द्रियतृप्ति का अत्यधिक इच्छुक; उल्बणम्—क्रूर; अक्लिन्न-हृदयम्—कठोर हृदय; पापम्—पापी; घातयित्वा—मरवाकर; शये—दम लूँगी; सुखम्—सुखपूर्वक।

**अत्यन्त इन्द्रियलोलुप भगवान् इन्द्र ने हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष इन दोनों भाइयों का वध भगवान् विष्णु के माध्यम से किया है। अतः वह क्रूर, कठोर हृदय एवं पापी है। मैं कब उसे मारकर शान्तचित्त होकर दम ले सकूँगी?**

**कृमिविड्भस्मसंज्ञासीद्यस्येशाभिहितस्य च ।**
**भूतध्रुक्तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ २५ ॥**

शब्दार्थ

कृमि—कीड़े; विट्—विष्ठा, मल; भस्म—राख; संज्ञा—नाम; आसीत्—होता है; यस्य—जिस ( शरीर ) का; ईश-अभिहितस्य—राजा कहलाने पर भी; च—भी; भूत-ध्रुक्—अन्यों को पीड़ा पहुँचाने वाला; तत्-कृते—उसके लिए; स्व-अर्थम्—स्वार्थ के लिए; किम् वेद—क्या वह जानता है; निरयः—नरक में यातना; यतः—जिससे।

**समस्त राजाओं तथा महान् नायकों के शरीर मृत्यु के पश्चात् कीड़ों, विष्ठा अथवा राख में परिणत हो जाएंगे। यदि कोई ऐसे शरीर की रक्षा के लिए ईर्ष्यावश अन्यों का बध करता है, तो क्या वह जीवन के वास्तविक हित को जानता है? निश्चय ही वह नहीं जानता क्योंकि अन्य जीवों के प्रति ईर्ष्या करने से वह अवश्य ही नरक को जाता है।**

**तात्पर्य :** बड़े से बड़े राजा का शरीर भी अन्ततः विष्ठा, कीड़ों अथवा राख में परिणत हो जाता है। यदि कोई देहात्मबुद्धि के प्रति अत्यधिक आसक्त है, तो वह अवश्य ही अधिक बुद्धिमान नहीं है।

**आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः ।**
**मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद्येन सुतो हि मे ॥ २६ ॥**

### शब्दार्थ

आशासानस्य—सोचते हुए; तस्य—उसका; इदम्—यह ( शरीर ); ध्रुवम्—शाश्वत; उन्नद्ध-चेतसः—जिसका मन वश में नहीं है; मद-शोषकः—प्रमत्तता को दूर करने वाला; इन्द्रस्य—इन्द्र की; भूयात्—हो सकता है कि; येन—जिससे; सुतः—पुत्र; हि—निश्चय ही; मे—मेरा।

**दिति ने विचार किया: कि इन्द्र अपने शरीर को शाश्वत समझ कर अनियंत्रित हो गया है। अतः मैं ऐसा पुत्र चाहूँगी जो इन्द्र की उन्मत्तता को दूर कर दे। इसके लिए मैं कुछ न कुछ उपाय करती हूँ।**

**तात्पर्य :** जो लोग देहात्मबुद्धि में रहते हैं शास्त्रों में उनकी तुलना गौवों और गधों जैसे पशुओं से की गयी है। दिति इन्द्र को दण्ड देना चाहती थी, जो पशु की तरह नीच बन गया था।

**इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत्प्रियम् ।**
**शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च ॥ २७॥**
**भक्त्या परमया राजन्मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः ।**
**मनो जग्राह भावज्ञा सस्मितापाङ्गवीक्षणैः ॥ २८ ॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; भावेन—विचार से; सा—उसने; भर्तुः—पति का; आचचार—सम्पन्न किया; असकृत्—निरन्तर; प्रियम्—प्रिय कार्य; शुश्रूषया—सेवा से; अनुरागेण—प्रेम से; प्रश्रयेण—विनम्रता से; दमेन—आत्म-संयम से; च—भी; भक्त्या—भक्ति से; परमया—महान्; राजन्—हे राजन्; मनोज्ञैः—मनोहर; वल्गु-भाषितैः—मीठे वचनों से; मनः—उसका मन; जग्राह—अपने वश में कर लिया; भाव-ज्ञा—उसकी प्रकृति को जानने वाली; स-स्मित—मुस्कान से पूर्ण; अपाङ्ग-वीक्षणैः—तिरछी चितवन से।

**इस प्रकार सोचती हुई (इन्द्र को मारने के लिए एक ऐसे पुत्र की इच्छा से) दिति निरन्तर अपने पति कश्यप को अपने मोहक आचरण से प्रसन्न रखने लगी। हे राजन्! दिति कश्यप की सभी आज्ञाओं का अत्यन्त निष्ठा से पालन करती रही। वह सेवा, प्रेम, विनय तथा आत्म-संयम एवं अपनी मृदुल वाणी से और अपनी मन्द हँसी और बाँकी चितवन से कश्यप के मन को आकृष्ट करते हुए उसने उन्हें अपने वश में कर लिया।**

**तात्पर्य :** जब कोई स्त्री अपने पति की परम प्रिय बनना चाहे और उसे अत्यन्त निष्ठावान् आज्ञाकारी बनाना चाहे तो उसको सब प्रकार से प्रसन्न करने का उसे यत्न करना चाहिए। जब पति अपनी पत्नी से प्रसन्न होता है, तो पत्नी उससे सभी आवश्यक वस्तुएँ, आभूषण तथा पूर्ण इन्द्रिय-सुख प्राप्त कर सकती है। यहाँ पर दिति के आचरण से यही सूचित होता है।

**एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि मनोज्ञया ।**
**बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति ॥ २९ ॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; स्त्रिया—स्त्री द्वारा; जडीभूतः—मंत्रमुग्ध; विद्वान्—विद्वान; अपि—भी; मनोज्ञया—अत्यन्त दक्ष; बाढम्—तथास्तु, स्वीकार है; इति—इस प्रकार; आह—कहा; विवशः—उसके वश में; न—नहीं; तत्—वह; चित्रम्—आश्चर्यजनक; हि—निस्सन्देह; योषिति—स्त्रियों के मामले में।

**यद्यपि कश्यप मुनि एक विद्वान पुरुष थे, किन्तु वे दिति के बनावटी व्यवहार से मोहित हो गये जिससे वे उसके वश में आ गये। अतः उन्होंने अपनी पत्नी को विश्वास दिलाया कि वे उसकी इच्छाओं की पूर्ति करेंगे। पति द्वारा ऐसा वचन तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है।**

**विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः ।**

**स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता ॥ ३० ॥**

### शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; एकान्त-भूतानि—विरक्त; भूतानि—जीवात्माएँ; आदौ—प्रारम्भ में; प्रजापतिः—भगवान् ब्रह्मा; स्त्रियम्—स्त्री; चक्रे—उत्पन्न किया; स्व-देह—अपने शरीर से; अर्धम्—आधा; यया—जिससे; पुंसाम्—मनुष्यों का; मतिः—मन; हृता—हर लिया गया।

**सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड की जीवात्माओं के पिता ब्रह्माजी ने देखा कि समस्त जीवात्मा विरक्त हो रहे हैं। अतः उन्होंने जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से पुरुष के आधे अंग से स्त्री की रचना की क्योंकि स्त्री का आचरण मनुष्य के मन को हर लेता है।**

**तात्पर्य :** यह समस्त ब्रह्माण्ड विषयासक्ति से मंत्रमुग्ध है। भगवान् ब्रह्मा ने इसलिए ऐसा किया है, जिससे न केवल मनुष्यों की वरन् अन्य योनियों की भी जनसंख्या में वृद्धि हो। जैसाकि ऋषभदेव ने पंचम स्कन्ध में कहा है—*पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावम् एतम्*—समस्त विश्व पुरुष तथा स्त्री के मध्य कामसक्ति से मंत्रमुग्ध है। जब स्त्री तथा पुरुष का संयोग होता है, तो यह आकर्षण-ग्रंथि और भी दृढ़ हो जाती है और मनुष्य सांसारिकता में फँसता जाता है। यही भौतिक जगत का मोह है। इसी मोह का प्रभाव कश्यप मुनि पर पड़ा, यद्यपि वे परम विद्वान तथा आध्यात्मिक ज्ञान में अग्रणी थे। मनुसंहिता (२.२१५) तथा *श्रीमद्भागवत* (९.१९.१७) में कहा गया है—

*मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा माविविक्तासनो भवेत्।*

*बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥*

"मनुष्यों को चाहिए कि किसी स्त्री के साथ, यहाँ तक कि अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्तवास न करे क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी बलवान् होती हैं कि ज्ञानी से ज्ञानी पुरुष भी पथभ्रष्ट हो सकता है।" जब कोई मनुष्य किसी स्त्री के पास एकान्त में रहता है, तो निश्चित रूप से उसकी कामेच्छा बढ़ जाती है। अतः यहाँ पर प्रयुक्त *एकान्त-भूतानि* शब्दों से सूचित होता है कि विषय-वासना से बचने के लिए मनुष्य को चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो स्त्री की संगति से दूर रहे। कामेच्छा इतनी प्रबल होती है कि यदि मनुष्य एकान्त में किसी स्त्री के साथ, भले ही वह उसकी माता, बहन या पुत्री ही क्यों न हो, रहता है, तो वह कामाभिभूत हो उठता है।

एवं शुश्रूषितस्तात भगवान्कश्यपः स्त्रिया ।
प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च ॥ ३१॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शुश्रूषितः—सेवा किये जाने पर; तात—हे प्रिय; भगवान्—परम शक्तिमान; कश्यपः—कश्यप मुनि ने; स्त्रिया—स्त्री के द्वारा; प्रहस्य—हँसकर; परम-प्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; दितिम्—दिति से; आह—कहा; अभिनन्द्य—स्वीकृति देते हुए; च—भी।

हे प्रिय! अपनी पत्नी दिति के विनम्र आचरण से अत्यधिक प्रसन्न होकर परम शक्तिशाली साधु पुरुष कश्यप हँस पड़े और इस प्रकार बोले।

श्रीकश्यप उवाच
वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते ।
स्त्रिया भर्तरि सुप्रीते कः काम इह चागमः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-कश्यपः उवाच—कश्यप मुनि ने कहा; वरम्—वर, आशीर्वाद; वरय—माँगो; वामोरु—हे सुन्दरी; प्रीतः—प्रसन्न; ते—तुमसे; अहम्—मैं; अनिन्दिते—हे अनिन्द्य स्त्री; स्त्रियाः—स्त्री के लिए; भर्तरि—जब उसका पति; सु-प्रीते—प्रसन्न हो; कः—क्या; कामः—इच्छा; इह—यहाँ; च—तथा; अगमः—प्राप्त करना कठिन।

कश्यप मुनि ने कहा—हे अनिन्द्य सुन्दरी! मैं तुम्हारे आचरण से परम प्रसन्न हूँ, अतः तुम चाहे जो भी वर माँग सकती हो। यदि पति प्रसन्न हो तो चाहे इस लोक की या अन्य लोक की वह कौन सी इच्छा है, जो पूरी न हो सके?

पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम् ।
मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः ॥ ३३॥
स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः ।
इज्यते भगवान्पुम्भिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पतिः—पति; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; नारीणाम्—स्त्रियों की; दैवतम्—देवता; परमम्—परम, सर्वश्रेष्ठ; स्मृतम्—माना जाता है; मानसः—हृदय में स्थित; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं के; वासुदेवः—वासुदेव; श्रियः—सौभाग्य की देवी का; पतिः—पति; सः—वह; एव—निश्चय ही; देवता-लिङ्गैः—देवताओं के स्वरूपों से; नाम—नाम; रूप—स्वरूप; विकल्पितैः—कल्पित; इज्यते—पूजा जाता है; भगवान्—श्रीभगवान्; पुम्भिः—मनुष्यों के द्वारा; स्त्रीभिः—स्त्रियों के द्वारा; च—भी; पति-रूप-धृक्—पति के रूप में।

**पति ही स्त्रियों के लिए परम देवता होता है। लक्ष्मीपति भगवान् वासुदेव सबों के हृदय में स्थित हैं और सकाम भक्तों द्वारा विभिन्न नामों तथा देव-रूपों में पूजे जाते हैं। इसी प्रकार पति भगवान् के रूप में पत्नी के लिए पूजा की वस्तु है।**

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (९.२३) में श्रीकृष्ण का कथन है—

*येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।*

*तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥*

''हे अर्जुन! अन्य देवताओं की यज्ञ द्वारा जो भी उपासना की जाती है, वह वास्तव में मेरे ही लिए होती है किन्तु यह बिना वास्तविक समझ-बूझ के की जाती है।'' देवतागण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सहायकों की तरह हैं, जो उनके हाथ-पाँव की भाँति कार्य करते हैं। जो श्रीभगवान् के वास्तविक सम्पर्क में नहीं है और न उनकी वास्तविक स्थिति को समझ सकता है उसे कभी-कभी यह सलाह दी जाती है कि देवताओं की पूजा करे क्योंकि वे भगवान् के अंगस्वरूप हैं। यदि स्त्रियाँ, जो साधारणतया अपने पतियों के प्रति अत्यधिक आसक्त होती हैं अपने पतियों को वासुदेव के प्रतिनिधियों के रूप में पूजें तो उन्हें उसी प्रकार लाभ मिल सकता है, जिस प्रकार अजामिल को अपने पुत्र नारायण का नाम लेने से। यद्यपि अजामिल को अपने पुत्र से प्यार था, किन्तु नारायण नाम के प्रति उसकी आसक्ति होने से और उस नाम का बारम्बार जप करने से ही उसे मुक्ति मिल सकी। भारत में आज भी पति को पति-गुरु कहा जाता है। यदि पति तथा पत्नी कृष्णभक्ति को बढ़ाने के लिए एक दूसरे पर आसक्त रहें तो इस प्रगति के लिए उनका यह सहयोग अत्यन्त लाभप्रद होगा। यद्यपि वैदिक मंत्रों में कभी-कभी इन्द्र तथा अग्नि के नामों का उच्चारण किया जाता है (*इन्द्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा*) किन्तु वैदिक यज्ञ वास्तव में भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही किए जाते हैं। जब तक कोई भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति अधिक आसक्त रहता है तब तक उसे देवताओं या अपने पति की पूजा करनी चाहिए।

तस्मात्पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे ।
यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; पति-व्रताः—पति-परायणः; नार्यः—स्त्रियाँ; श्रेयः-कामाः—कल्याण चाहने वाले; सु-मध्यमे—हे तन्वंगी; यजन्ते—पूजा करते हैं; अनन्य-भावेन—भक्तिपूर्वक; पतिम्—पति को; आत्मानम्—परमात्मा; ईश्वरम्—श्रीभगवान् के प्रतिनिधि को।

हे सुन्दर शरीर वाली, तन्वंगी प्रिये! कर्तव्यनिष्ठा पत्नी को सदाचारिणी और अपने पति की आज्ञाकारिणी होना चाहिए। उसे अपने पति की पूजा वासुदेव के प्रतिनिधि के रूप में भक्तिपूर्वक करनी चाहिए।

सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः ।
तं ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—ऐसा व्यक्ति; अहम्—मैं; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अर्चितः—पूजित; भद्रे—हे कल्याणी; ईदृक्-भावेन—इस प्रकार से; भक्तितः—भक्तिपूर्वक; तम्—उस; ते—तुम्हारी; सम्पादये—पूरी करूँगा; कामम्—इच्छा को; असतीनाम्—असतियों के लिए; सु-दुर्लभम्—अप्राप्य।

हे कल्याणी! तुमने मुझे श्रीभगवान् का प्रतिनिधि मानकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक मेरी पूजा की है, अतः मैं तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करके तुम्हें पुरस्कृत करूँगा, जो किसी अ-सती पत्नी के लिए दुर्लभ है।

दितिरुवाच
वरदो यदि मे ब्रह्मन्पुत्रमिन्द्रहणं वृणे ।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ॥ ३७॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—दिति ने कहा; वर-दः—वरदान देने वाला; यदि—यदि; मे—मुझको; ब्रह्मन्—हे परम आत्मन्; पुत्रम्—पुत्र की; इन्द्र-हणम्—इन्द्र का वध करने वाला; वृणे—याचना करती हूँ; अमृत्युम्—अमर; मृत-पुत्रा—जिसके पुत्र मर चुके हैं; अहम्—मैं; येन—जिसके द्वारा; मे—मेरे; घातितौ—मारे गये; सुतौ—दो पुत्र।

दितिने उत्तर दिया—हे पतिदेव! हे महात्मन्! मैं अपने दो पुत्र खो चुकी हूँ। यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं, तो मैं ऐसा अमर पुत्र चाहूँगी जो इन्द्र का वध कर सके। मैं इसलिए यह प्रार्थना कर रही हूँ क्योंकि इन्द्र ने विष्णु की सहायता से मेरे दो पुत्रों, हिरण्याक्ष तथा

**हिरण्यकशिपु, का वध किया है।**

**तात्पर्य :** *इन्द्र-हणम्* शब्द का अर्थ है, ''इन्द्र को मारने में समर्थ,'' किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ, ''जो इन्द्र का अनुगमन करे,'' भी होता है। *अमृत्युम्* शब्द से देवताओं का बोध होता है, जो दीर्घजीवी होने के कारण सामान्य मनुष्यों की भाँति नहीं मरते। उदाहरणार्थ, भगवान् ब्रह्मा की आयु *भगवद्गीता* में इस प्रकार बताई गई है—*सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*। ब्रह्मा का एक दिन अर्थात् १२ घंटे का समय ४३,००,००० गुणित १,००० वर्ष होता है। इस प्रकार उसका जीवनकाल सामान्य मनुष्य की कल्पना से परे है। इसलिए देवताओं को कभी-कभी अमर अर्थात् न मरने वाला कहा जाता है। किन्तु इस भौतिक जगत में सबको मरना है। अतः *अमृत्युम्* शब्द बताता है कि दिति ऐसा पुत्र चाहती थी जो देव-तुल्य हो।

**निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत ।**
**अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः ॥ ३८ ॥**

### शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्-वचः—उसके शब्द; विप्रः—ब्राह्मण; विमनाः—खिन्न; पर्यतप्यत—पछताने लगा; अहो—ओह; अधर्मः—अधर्म; सु-महान्—अत्यन्त महान्; अद्य—आज; मे—मुझ पर; समुपस्थितः—आ गया है।

**दिति की प्रार्थना सुनकर कश्यप मुनि अत्यधिक उद्विग्न हो गये। वे पश्चाताप करने लगे, ''हाय, अब मेरे समक्ष इन्द्र को वध करने के अपवित्र कार्य का संकट आया है।**

**तात्पर्य :** यद्यपि कश्यप मुनि अपनी पत्नी दिति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए उत्सुक थे, किन्तु जब उन्होंने सुना कि वह इन्द्र का वध करने वाला पुत्र चाहती है, तो उनकी प्रसन्नता छूमन्तर हो गई क्योंकि वे इस विचार के विरोधी थे।

**अहो अर्थेन्द्रियारामो योषिन्मय्येह मायया ।**
**गृहीतचेताः कृपणः पतिष्ये नरके ध्रुवम् ॥ ३९ ॥**

### शब्दार्थ

अहो—ओह; अर्थ-इन्द्रिय-आरामः—भौतिक सुख में अत्यधिक लिप्त; योषित्-मय्या—स्त्री के रूप में; इह—यहाँ; मायया—माया के द्वारा; गृहीत-चेताः—मेरा मोहित मन; कृपणः—कंजूस, निष्ठुर; पतिष्ये—मैं जा गिरूँगा; नरके—नरक में; ध्रुवम्—निश्चय ही।

**कश्यप मुनि ने सोचा, ओह! मैं अब भौतिक सुख के प्रति अत्यधिक आसक्त हो चुका हूँ। अतः इस अवसर का लाभ उठाकर मेरा मन श्रीभगवान् की माया द्वारा स्त्री (अपनी पत्नी) के रूप में आकृष्ट हुआ है। अतः मैं अत्यन्त नीच हूँ और अवश्य ही नरक में जा गिरूँगा।**

**कोऽतिक्रमोऽनुवर्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः ।**
**धिङ्मां बताबुधं स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः ॥ ४० ॥**

### शब्दार्थ

कः—क्या; अतिक्रमः—पाप (दोष); अनुवर्तन्त्याः—अनुसरण करते हुए; स्व-भावम्—उसकी प्रकृति; इह—यहाँ; योषितः—स्त्री का; धिक्—धिक्कार है; माम्—मुझको; बत—हाय, ओह; अबुधम्—अपरिचित; स्व-अर्थे—अपने लाभ के हेतु; यत्—क्योंकि; अहम्—मैं; तु—निस्सन्देह; अजित-इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियों को वश में करने में अशक्त।

**मेरी इस पत्नी ने उस साधन का सहारा लिया है, जो उसकी प्रकृति का अनुगामी है, अतः उसको दोष नहीं दिया जा सकता। किन्तु मैं तो पुरुष हूं। सारा दोष तो मेरा है क्योंकि मैं तनिक भी जान न पाया कि मेरी भलाई किसमें है क्योंकि मैं अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सका।**

**तात्पर्य :** स्त्री का जन्मजात स्वभाव संसार का उपभोग करना है। वह अपने पति को जिह्वा, उदर तथा उपस्थ की तुष्टि द्वारा इस संसार का सुख भोगने के लिए प्रवृत्त करती है। स्त्री पाकशास्त्र में निपुण होने के कारण अपने पति को सुस्वादु भोजन के द्वारा आसानी से प्रसन्न कर सकती है। जब कोई अच्छा-भोजन खाता है, तो उसका पेट भरता है और पेट भरने पर पुरुषेन्द्रियाँ प्रबल हो उठती हैं। विशेषतः जब मनुष्य मांस खाने तथा मद्य पीने जैसी तामसी वस्तुओं का आदी होता है, तो वह निश्चित रूप से विषयोन्मुख हो उठता है। यह समझ लेना चाहिए कि यह विषयोन्मुखी प्रवृत्ति नरक में गिरने का साधन है, आत्मोन्नत्ति का नहीं। इस प्रकार कश्यप मुनि ने अपनी स्थिति पर विचार किया, तो उन्हें पश्चाताप हुआ। दूसरे शब्दों में, गृहस्थ होना अत्यन्त संकटपूर्ण है जब

तक कि मनुष्य प्रशिक्षित न हो और उसकी पत्नी अपने पति की अनुगामिनी न हो। पति को जीवन के प्रारम्भ में ही इसकी शिक्षा मिलनी चाहिए। *कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह* ( *भागवत* ७.६.१ )। *ब्रह्मचर्य* काल में *ब्रह्मचारी* (विद्यार्थी) को *भागवत-धर्म* (भक्ति)में दक्ष होने की शिक्षा मिलनी चाहिए। अत: जब वह विवाह करे और यदि उसकी पत्नी पतिव्रता हो और वह भी भक्ति का पालन करे तो पति-पत्नी का सम्बन्ध अत्यधिक उपयुक्त रहता है। आध्यात्मिक चेतना के बिना, मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए पति-पत्नी का सम्बन्ध उत्तम नहीं है। *श्रीमद्भागवत* (१२.२.३) में कहा गया है कि इस कलियुग में—*दम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुः*—पति-पत्नी का सम्बन्ध विषय-वासना पर आधारित होगा। अत: जब पति-पत्नी दोनों ही कृष्णभक्ति में तत्पर न रहें, उनके लिए गृहस्थ जीवन अत्यन्त घातक होता है।

**शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम् ।**
**हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥ ४१ ॥**

## शब्दार्थ

शरत्—शरद ऋतु में; पद्म—कमल-पुष्प; उत्सवम्—फूलते हुए; वक्त्रम्—मुख; वचः—शब्द; च—भी; श्रवण—कान के लिए; अमृतम्—सुख देने वाले; हृदयम्—हृदय; क्षुर-धारा—छुरे की धार; आभम्—सदृश; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; कः—कौन; वेद—जानता है; चेष्टितम्—चरित्र को।

**स्त्री का मुख शरदकालीन खिले हुए कमल-पुष्प के समान आकर्षक तथा सुन्दर होता है। उसके शब्द अत्यन्त मधुर और कानों को प्रिय लगने वाले होते हैं, किन्तु यदि उसके हृदय का अध्ययन किया जाये, तो पता चलेगा कि वह छुरे की धार के समान अत्यन्त पैना है। भला ऐसा कौन है, जो स्त्री के कार्यकलापों को जान सके?**

**तात्पर्य :** कश्यप मुनि ने भौतिक दृष्टि से स्त्री का बहुत सुन्दर चित्र खींचा है। स्त्रियाँ अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं और तरुणावस्था में, विशेष रूप से सोलह या सत्रह वर्ष की आयु में, वे पुरुषों के लिए अत्यधिक आकर्षक होती हैं। इसलिए स्त्री के मुख की तुलना शरद्कालीन कमल-पुष्प से की गईं है। जिस प्रकार कमल का पुष्प शरद् में अत्यन्त सुन्दर लगता है उसी प्रकार

से तरुणावस्था को प्राप्त स्त्री भी अत्यन्त आकर्षक होती है। संस्कृत भाषा में स्त्री की वाणी को नारी स्वर कहते हैं क्योंकि सामान्यत: वह गाती है और उसका गायन आकर्षक होता है। आज-कल तो सिने-तारिकाओं का ही स्वागत होता है। उनमें से कुछ तो मात्र गायन के बल पर प्रभूत धन कमाती हैं। इसलिए, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा है, स्त्री का संगीत घातक है क्योंकि इससे संन्यासी उसका शिकार हो सकता है। संन्यास का अर्थ स्त्री-संग का परित्याग है, किन्तु यदि कोई संन्यासी स्त्री की वाणी सुनता है और उसके सुन्दर मुख को देखता है, तो वह निश्चित रूप से उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसका पतन हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ तक मुनि विश्वामित्र भी मेनका के शिकार हुए। अत: जो आध्यात्मिक उन्नति करना चाहता है उसे विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए कि वह न तो स्त्री का मुख देखे और न उसकी वाणी सुने। स्त्री के मुख को देखना और उसकी सुन्दरता की प्रशंसा करना या उसकी वाणी सुनकर उसके गायन की प्रशंसा करना ब्रह्मचारी या संन्यासी का निश्चित पतन है। अत: कश्यप मुनि द्वारा स्त्री के अंगों का वर्णन अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

यदि स्त्री के शरीर के अंग सुन्दर हैं, उसका मुख आकर्षक और वाणी मधुर है, तो वह पुरुष के लिए जाल के समान है। शास्त्रों का उपदेश है कि यदि ऐसी स्त्री पुरुष की सेवा के लिए आए तो उसे घास से ढका हुआ अन्धकूप समझना चाहिए। खेतों के बीच ऐसे अनेक कुँए होते हैं और मनुष्य उनसे परिचित न होने के कारण उनमें गिर जाते हैं। इस प्रकार ऐसे बहुत से निर्देश हैं। चूँकि संसार के सारे आकर्षण स्त्री के आकर्षण पर आधारित हैं, अत: कश्यपमुनि ने सोचा कि ऐसी स्थिति में भला स्त्री के हृदय को कौन जान सकता है? चाणाक्य पण्डित का भी उपदेश है—*विश्वासो नैव कर्तव्य: स्त्रीषु राजकुलेषु च*—"दो प्रकार के व्यक्तियों पर कभी विश्वास न करे—राजनीतिज्ञ तथा स्त्री।" ये शास्त्रों की आधिकारिक शिक्षाएँ हैं, अत: स्त्रियों के साथ उठने-बैठने में विशेष सतर्कता बरतनी चाहिए।

कभी कभी हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन की आलोचना की जाती है कि इसमें स्त्री तथा

पुरुष मिले-जुले रहते हैं। किन्तु कृष्णभक्ति तो हर एक के लिए होती है चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राश्तेऽपियान्ति परां गतिम्*—चाहे स्त्री हो, शूद्र या वैश्य, (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय होने को छोड़ दें), प्रत्येक जीव भगवान् के धाम वापस जाने के लिए उपयुक्त है यदि वह अपने गुरु तथा शास्त्र के उपदेशों का कठोरता से पालन करता है। अत: हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के समस्त सदस्यों से, चाहे स्त्री हों या पुरुष, यह आग्रह करेंगे कि वे भौतिक शरीर के प्रति आकृष्ट न होकर केवल श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हों। तभी सब कुछ ठीक रहेगा, अन्यथा भय बना रहेगा।

**न हि कश्चित्प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम् ।**
**पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च ॥ ४२ ॥**

**शब्दार्थ**

न—नहीं; हि—निश्चय ही; कश्चित्—कोई; प्रियः—प्रिय; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; अञ्जसा—वास्तव में; स्व-आशिषा—अपने स्वार्थ के लिए; आत्मनाम्—सर्वाधिक प्रिय; पतिम्—पति को; पुत्रम्—पुत्र को; भ्रातरम्—भाई को; वा—अथवा; घ्नन्ति—मार डालती हैं; अर्थे—अपने स्वार्थ के लिए; घातयन्ति—वध करवाती हैं; च—भी।

**अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए स्त्रियाँ मनुष्यों के साथ ऐसा व्यवहार करती हैं मानो वे उनकी सर्वाधिक प्रिय हों, किन्तु वास्तव में उनका कोई प्रिय नहीं होता। स्त्रियों को अति साधु स्वभाव का माना जाता है, किन्तु अपने स्वार्थ के लिए वे अपने पति, पुत्र या भाई की भी हत्या कर सकती हैं या दूसरों से करा सकती हैं।**

**तात्पर्य :** कश्यप मुनि ने स्त्रियों के स्वभाव का अच्छा अध्ययन किया है। स्वभाव से ही स्त्रियाँ स्वार्थी होती हैं, अत: सभी प्रकार से उनकी रक्षी की जानी चाहिए जिससे उनका स्वार्थी होने का यह स्वभाव प्रकट न हो। स्त्रियों को मनुष्यों द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता होती है। बचपन में स्त्री की सुरक्षा उसके पिता द्वारा, युवावस्था में उसके पति द्वारा और वृद्धावस्था में उसके पुत्र द्वारा होनी चाहिए। यह मनु का आदेश है। उनका कथन है कि स्त्री को किसी भी अवस्था में स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए। स्त्रियों की रक्षा इसलिए की जानी चाहिए कि उनकी स्वार्थपरता

प्रकट न हो पाए। इस काल में भी ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनमें स्त्रियों ने जीवन बीमा का लाभ उठाने के लिए अपने पतियों की हत्याएँ की हैं। यह स्त्रियों की आलोचना नहीं, अपितु उनके स्वभाव का व्यावहारिक अध्ययन है। देहात्मबुद्धि के द्वारा ही स्त्री की या पुरुष की आलोचना की ऐसी सहज वृत्तियों का प्राकट्य होता है। जब किसी स्त्री या पुरुष की आध्यत्मिक चेतना बढ़ जाती है, तो उसकी देहात्मबुद्धि जाती रहती है। हमें समस्त स्त्रियों को आध्यात्मिक इकाइयों (*अहम् ब्रह्मास्मि*) के रूप में देखना चाहिए जिनका एकमात्र धर्म श्रीकृष्ण को तुष्ट करना है। तब हम पर इस शरीर को धारण करने से उत्पन्न होने वाले प्रकृति के गुणों का प्रभाव नहीं होगा।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना लाभप्रद है कि यह भौतिक प्रकृति के कल्मष को, जो देह धारण करने से उत्पन्न होता है, दूर कर सकता है। इसलिए प्रारम्भ में ही *भगवद्गीता* का यह उपदेश है कि चाहे स्त्री हो या पुरुष, जीव को यह समझ लेना चाहिए कि वह शरीर नहीं वरन् आत्मा है। प्रत्येक मनुष्य को शरीर नहीं वरन् आत्मा के कार्यकलापों में रुचि रखनी चाहिए। चाहे स्त्री हो या पुरुष, जब तक कोई देहात्मबुद्धि से प्रेरित रहता है तब तक सदा ही पथभ्रष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है। आत्मा को कभी-कभी पुरुष कहा जाता है क्योंकि चाहे कोई स्त्री वेष में हो या पुरुष वेष में, वह इस भौतिक जगत का सुख उठाना चाहता है और जिसमें सुखोपभोग की यह वृत्ति होती है, वह पुरुष कहलाता है। चाहे पुरुष हो या स्त्री, वह अन्यों की सेवा करने में रुचि नहीं रखता, प्रत्येक प्राणी अपनी इन्द्रियों को ही तुष्ट करने में रुचि रखता है। किन्तु कृष्णभावनामृत या कृष्णभक्ति प्रत्येक पुरुष या स्त्री को उत्तम कोटि का प्रशिक्षण प्रदान करती है। पुरुष को उत्तमकोटि का कृष्णभक्त बनने और स्त्री को पति की निष्ठावान अनुगामिनी बनने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। इससे दोनों का जीवन सुखी बनेगा।

**प्रतिश्रुतं ददामीति वचस्तन्न मृषा भवेत् ।**
**वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते ॥ ४३ ॥**

### शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; ददामि—दूँगा; इति—इस प्रकार; वचः—कथन; तत्—वह; न—नहीं; मृषा—झूठा; भवेत्—हो सकता है; वधम्—हत्या; न—नहीं; अर्हति—उपयुक्त है; च—तथा; इन्द्रः—इन्द्र; अपि—भी; तत्र—उस प्रसंग में; इदम्—यह; उपकल्पते—उपयुक्त है।

**मैंने उसे एक वर देने का वचन दिया है, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता, लेकिन इन्द्र वध किये जाने योग्य नहीं है। इस स्थिति में मैने जो उपाय ( हल ) सोचा है, वह उपयुक्त है।**

**तात्पर्य :** कश्यप मुनि ने यह निष्कर्ष निकाला, ''दिति ऐसा पुत्र चाहती है, जो इन्द्र का वध कर सके। आखिर वह स्त्री है, अत: अधिक चतुर नहीं है। मैं उसे ऐसी शिक्षा दूँगा कि वह इन्द्र के वध के विचार को त्यागकर स्वयं वैष्णव अर्थात् कृष्ण की भक्त हो जाये। यदि वह वैष्णव नियमों को अंगीकार कर लेने के लिए राजी हो जाती है, तो उसका कुलषित हृदय निश्चय ही शुद्ध हो जाएगा—*चेतोदर्पणमार्जनम्*। भक्ति की यही विधि है। कृष्णभावनामृत में भक्ति के नियमों का पालन करके कोई भी व्यक्ति शुद्ध बनाया जा सकता है क्योंकि कृष्णभावनामृत इतना प्रबल होता है कि परम मलिन श्रेणी का व्यक्ति भी शुद्ध होकर श्रेष्ठतम् वैष्णव बन जाता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन का यही मुख्य उद्देश्य है। नरोत्तमदास ठाकुर का कहना है—

*ब्रजेन्द्रनन्दन एइ, शची-सुत हैल सेइ,*

*बलराम हइल निताइ*

*दीन-हीन यत छिल, हरि-नामे उद्धारिल,*

*त'र साक्षी जगाइ-माधाइ*

इस कलियुग में श्री चैतन्य महाप्रभु का प्राकट्य उन पतित आत्माओं के उद्धार के हेतु है, जो सदैव भौतिक सुख के लए कुछ न कुछ आयोजन करते रहते हैं। उन्होंने इस युग के मनुष्यों को हरे कृष्ण महामंत्र के जपने का अपूर्व अवसर प्रदान किया है, जिससे वे समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होकर पूर्णत: शुद्ध बन सकें। एक बार शुद्ध वैष्णव बन जाने पर कोई भी मनुष्य देहात्मबुद्धि से परे चला जाता है। इस प्रकार कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को वैष्णवी बनाने का प्रयत्न किया

जिससे वह इन्द्र के वध करने का विचार त्याग दे। उनकी इच्छा थी कि दिति तथा उसके पुत्र शुद्ध बनें जिससे वे वैष्णव बनने के योग्य हो सकें। निस्सन्देह, कभी-कभी अभ्यासकर्त्ता वैष्णव नियमों का पालन करते करते विचलित हो तो भी कोई हानि नहीं है। यहाँ तक कि भ्रष्ट वैष्णव को भी अच्छा फल प्राप्त होता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—वैष्णव नियमों के रंचमात्र पालन से भी इस संसार के बड़े से बड़े भय से छुटकारा पाया जा सकता है। इस प्रकार इन्द्र के प्राणों की रक्षा के लिए कश्यप ने अपनी पत्नी दिति को वैष्णव बनाने के लिए उपदेश देने की बात सोची।

**इति सञ्चिन्त्य भगवान्मारीचः कुरुनन्दन ।**
**उवाच किञ्चित्कुपित आत्मानं च विगर्हयन् ॥ ४४॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—सोचकर; भगवान्—शक्तिमान; मारीचः—कश्यप मुनि; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंशी; उवाच—बोला; किञ्चित्—कुछ-कुछ; कुपितः—क्रुद्ध; आत्मानम्—अपने आप को; च—भी; विगर्हयन्—धिक्कारते हुए।.

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार विचारते हुए कश्यप मुनि कुछ-कुछ क्रुद्ध हो गये। हे कुरुवंशी महाराज परीक्षित! वे अपने आपको धिक्कारते हुए दिति से इस प्रकार बोले।**

श्रीकश्यप उवाच
**पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहादेवबान्धवः ।**
**संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ॥ ४५॥**

### शब्दार्थ

श्री-कश्यपः उवाच—कश्यप मुनि ने कहा; पुत्रः—पुत्र; ते—तुम्हारा; भविता—होगा; भद्रे—हे कल्याणी; इन्द्र-हा—इन्द्र का वध करने वाला, अथवा इन्द्र का अनुयायी; अदेव-बान्धवः—असुरों का मित्र ( अथवा देव-बान्धवः—देवताओं का मित्र ); संवत्सरम्—एक वर्ष तक; व्रतम्—व्रत को; इदम्—इस; यदि—यदि; अञ्जः—उचित रीति से; धारयिष्यसि—पालन करोगी।.

**कश्यप मुनि ने कहा, हे कल्याणी! यदि तुम अपने इस व्रत के सम्बन्ध में मेरे उपदेशों का कम से कम एक वर्ष तक पालन करोगी तो तुम्हें निश्चित रूप से पुत्र प्राप्त होगा जो इन्द्र का वध करने में सक्षम होगा। किन्तु यदि तुम वैष्णव नियमों का पालन करने वाले इस व्रत**

**से तनिक भी विचलित होगी तो तुम्हें जो पुत्र प्राप्त होगा वह इन्द्र का अनुयायी होगा।**

**तात्पर्य :** *इन्द्र-हा* शब्द से ऐसे असुर का बोध होता है, जो इन्द्र को मारने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। स्वाभाविक है कि इन्द्र का शत्रु असुरों का मित्र होगा, किन्तु *इन्द्र-हा* शब्द से इन्द्र का अनुयायी या उसका आज्ञापालक अर्थ भी निकलता है। जब कोई इन्द्र का भक्त बनता है, तो निश्चय ही वह देवताओं का मित्र होगा। अत: *इन्द्र-हादेव-बान्धव:* शब्द समान उच्चारण वाले हैं और उनका अर्थ है ''तुम्हारा पुत्र इन्द्र को मारेगा किन्तु वह देवताओं का मित्र होगा।'' जब कोई व्यक्ति देवताओं का वास्तव में मित्र बन गया तो फिर वह इन्द्र का वध कैसे कर सकता है ?

**दितिरुवाच**
**धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन्ब्रूहि कार्याणि यानि मे ।**
**यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यान्युत ॥ ४६ ॥**

**शब्दार्थ**

**दिति: उवाच—दिति ने कहा; धारयिष्ये—अंगीकार करूँगी; व्रतम्—व्रत; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ब्रूहि—कृपया कहें; कार्याणि—करणीय; यानि—जो सब; मे—मुझसे; यानि—जो सब; च—तथा; इह—यहाँ; निषिद्धानि—वर्जित; न—नहीं; व्रतम्—व्रत; घ्नन्ति—तोड़ते हैं; यानि—जो सब; उत—भी।**

**दिति ने उत्तर दिया—हे ब्राह्मण! मैं आपके परामर्श को स्वीकार करती हूँ। मैं व्रत का पालन करूँगी। अब मुझे बतावें कि मुझे क्या करना है, क्या नहीं करना है और किस प्रकार यह व्रत भंग नहीं हो सकेगा? कृपा करके यह सब स्पष्ट बताए।**

**तात्पर्य :** जैसाकि पहले कहा जा चुका है, स्त्री सामान्यत: अपना स्वार्थ साधना चाहती है। कश्यप मुनि ने दिति की इच्छापूर्ति के लिए एक वर्ष तक शिक्षा देने का प्रस्ताव रखा और चूँकि वह इन्द्र को मारने के लिए इच्छुक थी, अत: उसने तुरन्त अंगीकर कर लिया और कहा, ''कृपया मुझसे उस व्रत को कहें और बताएँ कि उसे किस प्रकार पालना होगा। मैं वचन देती हूँ कि मैं उसको भंग नहीं करूँगी।'' स्त्री की मनोवृत्ति का यह दूसरा पक्ष है। यद्यपि स्त्री अपनी योजना पूरी करने की परम इच्छुक रहती है किन्तु जब कोई उसे शिक्षा देता है, विशेष रूप से जब पति शिक्षा देता है, तो वह निर्दोष भाव से पालन करती है। इस प्रकार उसे अच्छे उद्देश्य-प्राप्ति के लिए

शिक्षित किया जा सकता है। स्त्री स्वभाव से पुरुष की अनुगामिनी बनना चाहती है, अतः यदि पुरुष अच्छा है, तो स्त्री को सद्कार्य के लिए शिक्षित किया जा सकता है।

**श्रीकश्यप उवाच**
**न हिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत् ।**
**न छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम् ॥ ४७॥**

## शब्दार्थ

श्री-कश्यपः उवाच—कश्यप मुनि ने कहा; न हिंस्यात्—हिंसा न करे; भूत-जातानि—जीवात्माओं की; न शपेत्—शाप न दे; न—नहीं; अनृतम्—झूठ; वदेत्—बोले; न छिन्द्यात्—न काटे; नख-रोमाणि—नाखून तथा रोएँ; न स्पृशेत्—स्पर्श न करे; यत्—जो; अमङ्गलम्—अशुभ।

**कश्यप मुनि ने कहा, हे प्रिये! इस व्रत का पालन करते समय न तो उग्र बने, न ही किसी को कष्ट पहुँचाए। न तो किसी को शाप दे, न असत्य भाषण करे। न तो अपने नाखून तथा बाल काटे और न हड्डियों तथा खोपड़ी जैसी अशुद्ध वस्तुओं का स्पर्श करे।**

**तात्पर्य :** कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को जो पहला उपदेश दिया वह था किसी से द्वेष न करना। इस संसार में सबों में द्वेष करने की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः कृष्णभक्त बनने के लिए इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना चाहिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है (*परमो निर्मत्सराणाम्*)। कृष्णभक्त सदैव द्वेषरहित होता है, जबकि अन्य लोग द्वेषमय। अतः कश्यपमुनि द्वारा अपनी पत्नी को यह उपदेश देना कि वह द्वेषरहित हो, सूचित करता है कि कृष्णभक्ति को बढ़ाने की दिशा में यह पहली अवस्था है। कश्यप मुनि अपनी पत्नी को कृष्णभक्त बनाना चाहते थे जिससे उसकी तथा इन्द्र दोनों की रक्षा हो सके।

**नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न सम्भाषेत दुर्जनैः ।**
**न वसीताधौतवासः स्रजं च विधृतां क्वचित् ॥ ४८॥**

## शब्दार्थ

न—नहीं; अप्सु—जल में; स्नायात्—नहाए; न कुप्येत—न क्रोध करे; न सम्भाषेत—न बोले; दुर्जनैः—बुरे लोगों से; न वसीत—न धारण करे; अधौत-वासः—बिना धुले कपड़े; स्रजम्—फूलों की माला; च—तथा; विधृताम्—पहनी हुई; क्वचित्—कभी।

**कश्यप मुनि ने आगे कहा—हे कल्याणी! नहाते समय पानी में कभी न घुसे, कभी क्रोध न करे और न दुष्ट लोगों से कभी बोले या संगति करे। कभी भी बिना धुले वस्त्र न पहने और पहले धारण की गई माला को कभी न पहने।**

**नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च सामिषं वृषलाहृतम् ।**
**भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेन्नाञ्जलिना त्वपः ॥ ४९ ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; उच्छिष्टम्—जूठा भोजन; चण्डिका-अन्नम्—देवी काली को चढ़ाया गया भोजन; च—तथा; स-आमिषम्—मांस से युक्त; वृषल-आहृतम्—शूद्र द्वारा लाया हुआ; भुञ्जीत—खाए; उदक्यया—रजस्वला स्त्री द्वारा; दृष्टम्—देखा गया; पिबेत् न—नहीं पिये; अञ्जलिना—दोनों हाथों की अँजुली द्वारा; तु—भी; अपः—जल।.

**कभी भी जूठा भोजन न खायें, देवी काली ( दुर्गा ) को चढ़ाया हुआ प्रसाद न खायें और मांस या मछली से मिश्रित कोई भी वस्तु न खायें। शूद्र द्वारा लाई गई या शूद्र द्वारा स्पर्श की गई अथवा रजस्वला स्त्री द्वारा देखी गई किसी भी सामग्री को न खायें। अंजली से पानी न पियें।**

**तात्पर्य :** सामान्यत: देवी काली पर मांस तथा मछली से युक्त भोजन चढ़ाया जाता है, अत: कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को ऐसे जूठे प्रसाद को ग्रहण करने के लिए मना किया है। वास्तव में वैष्णवों को देवताओं पर चढ़ी हुई किसी भी भोज्य सामग्री को ग्रहण करने की अनुमति नहीं है। उन्हें तो भगवान् विष्णु पर चढ़ाये गये प्रसाद को ही ग्रहण करना चाहिए। इन उपदेशों के द्वारा निषेध विधि से कश्यपमुनि अपनी पत्नी को वैष्णवी बनाना चाह रहे थे।

**नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्धजा ।**
**अनर्चितासंयतवाक्नासंवीता बहिश्चरेत् ॥ ५० ॥**

### शब्दार्थ

न—नहीं; उच्छिष्टा—जूठा; अस्पृष्ट-सलिला—बिना धोये; सन्ध्यायाम्—सायंकाल; मुक्त-मूर्धजा—बाल खोले हुए; अनर्चिता—आभूषण रहित; असंयत-वाक्—वाणी के संयम बिना; न—नहीं; असंवीता—बिना ओढ़े; बहिः—बाहर; चरेत्—जाए।.

**भोजन करने के पश्चात् तुम्हें मुँह, हाथ तथा पाँव धोये बिना बाहर सड़क पर नहीं जाना**

**चाहिए। तुम्हें न तो शाम को या बाल खोले हुए और न आभूषणों से सज्जित हुए बिना बाहर जाना चाहिए। जब तक वाणी का संयम न हो और शरीर ठीक से ढका न हो तब तक तुम्हें घर से बाहर नहीं जाना चाहिए।**

**तात्पर्य :** कश्यप मुनि ने अपनी पत्नी को सलाह दी कि जब तक ठीक से अलंकृत और वस्त्राभूषित न होए, बाहर न निकले। उन्होंने आजकल की भाँति चारों ओर प्रचलित मिनीस्कर्ट पहन कर बाहर निकलने की अनुमति नहीं दी। प्राच्य सभ्यता के अनुसार जब कोई स्त्री बाहर निकलती है, तो वह अपने शरीर को ठीक से ढके रहती है, जिससे कोई उसे पहचान न सके। इन सब विधियों को शुद्धि के लिए स्वीकार करना चाहिए। यदि कोई कृष्णभक्ति करता है, तो वह पूर्णत: शुद्ध हो जाता है और इस संसार के कल्मष से बचा रहता है।

**नाधौतपादाप्रयता नार्द्रपादा उदक्शिराः ।**
**शयीत नापराङ्नान्यैर्न नग्ना न च सन्ध्ययोः ॥ ५१ ॥**

**शब्दार्थ**

न—नहीं; अधौत-पादा—बिना धुले पाँव; अप्रयता—बिना शुद्ध हुए; न—नहीं; अर्द्र-पादा—भीगे पाँव; उदक्-शिराः—उत्तर की ओर सिर करके; शयीत—सोए; न—नहीं; अपराक्—पश्चिम की ओर सिर करके; न—नहीं; अन्यैः—अन्य स्त्रियों के साथ; न—नहीं; नग्ना—निर्वस्त्र होकर; न—नहीं; च—तथा; सन्ध्ययोः—सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय।

**तुम्हें न तो दोनों पाँव धोये बिना या शुद्ध हुए बिना, न ही गीले पाँव अथवा अपना सिर पश्चिम या उतर करके सोना चाहिए। सूर्योदय अथवा सूर्यास्त के समय, निर्वस्त्र होकर तथा अन्य स्त्रियों के साथ नहीं लेटना चाहिए।**

**धौतवासा शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता ।**
**पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्गोविप्राञ्श्रियमच्युतम् ॥ ५२ ॥**

**शब्दार्थ**

धौत-वासा—धुले वस्त्र पहन कर; शुचिः—शुद्ध होकर; नित्यम्—सदैव; सर्व-मङ्गल—समस्त शुभ सामग्रियों सहित; संयुता—सज्जित होकर; पूजयेत्—पूजा करनी चाहिए; प्रातः-आशात् प्राक्—कलेवा के पूर्व; गो-विप्रान्—गायों तथा ब्राह्मणों; श्रियम्—सम्पत्ति की देवी; अच्युतम्—श्रीभगवान् को।

**मनुष्य को चाहिए कि धुला वस्त्र पहन कर, सदैव शुद्ध रहकर तथा हल्दी, चंदन और**

**अन्य मांगलिक सामग्रियों से अलंकृत होकर कलेवा करने के पूर्व गायों, ब्राह्मणों, ऐश्वर्य की देवी ( लक्ष्मी ) तथा श्रीभगवान् की पूजा करे।**

**तात्पर्य :** यदि किसी को गायों तथा ब्राह्मणों का सत्कार करने तथा पूजा करने की शिक्षा दे दी जाये तो वह वास्तव में सभ्य बन जाता है। परमेश्वर की पूजा की संस्तुति की जाती है और भगवान् को गाएँ तथा ब्राह्मण अत्यंन्त प्रिय हैं ( *नमो ब्रह्मण्य-देवाय गो-ब्राह्मणहिताय च*)। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं, जिस सभ्यता में गायों तथा ब्राह्मणों का आदर नहीं होता उसे धिक्कार है। ब्राह्मणों का गुण प्राप्त किये बिना तथा गायों को सुरक्षा प्रदान किये बिना कोई आत्मसिद्ध नहीं बन सकता। गो-रक्षा से प्रचुर दुग्ध-सामग्री की निश्चिन्तता आती है और उन्नत सभ्यता के लिए यह परमावश्यक है। गो-मांस खाकर सभ्यता को दूषित नहीं करना चाहिए। जब कोई सभ्यता अग्रसर होती है तभी वह आर्य सभ्यता कहलाती है। मांस के लिए गोवध न करके सभ्य मनुष्यों को उसके दूध से अनेक वस्तुएँ बनाकर समाज की दशा सुधारनी चाहिए। यदि मनुष्य ब्राह्मण-संस्कृति का अनुसरण करे तो वह कृष्णभक्ति में दक्ष हो सकता है।

**स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत्स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।**
**पतिं चार्च्योपतिष्ठेत ध्यायेत्कोष्ठगतं च तम् ॥ ५३ ॥**

### शब्दार्थ

स्त्रियः—स्त्रियाँ; वीर-वतीः—पति तथा पुत्रों से सम्पन्न; च—तथा; अर्चेत्—पूजन करना चाहिए; स्रक्—पुष्प मालाओं से; गन्ध—चन्दन; बलि—भेंट; मण्डनैः—तथा आभूषणों से; पतिम्—पति की; च—तथा; आर्च्य—पूजा करके; उपतिष्ठेत—स्तुति करना चाहिए; ध्यायेत्—ध्यान करनी चाहिए; कोष्ठ-गतम्—गर्भ में रहकर; च—भी; तम्—उसको।

**इस व्रत का पालन करने वाली स्त्री को चाहिए कि वह पुष्प माला, चन्दन, आभूषण तथा अन्य सामग्रियों से पुत्रवती तथा सौभाग्यवती स्त्रियों की पूजा करे। गर्भवती स्त्री को अपने पति की पूजा करके उसकी स्तुति करनी चाहिए। उसे उसका ध्यान यह सोचकर करना चाहिए कि वह उसके गर्भ में स्थित है।**

**तात्पर्य :** गर्भस्थ शिशु पति के शरीर का अंग होता है। अतः पति अपने प्रतिनिधि के माध्यम

से अपनी गर्भवती स्त्री के गर्भ में निवास करता है।

**सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम् ।**
**धारयिष्यसि चेत्तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः ॥५४॥**

### शब्दार्थ

सांवत्सरम्—एक वर्ष तक; पुंसवनम्—पुंसवन नामक; व्रतम्—व्रत; एतत्—यह; अविप्लुतम्—तोड़े बिना, अतिक्रमण किये बिना; धारयिष्यसि—करोगी; चेत्—यदि; तुभ्यम्—तुम्हारे; शक्र-हा—इन्द्र का वधकर्ता; भविता—होगा; सुतः—पुत्र।

**कश्यप मुनि ने आगे कहा—यदि तुम श्रद्धापूर्वक कम से कम एक वर्ष तक इस व्रत में लगी रहकर इस पुंसवन अनुष्ठान को करोगी तो तुम्हारे एक पुत्र उत्पन्न होगा जो इन्द्र का वध करेगा। किन्तु यदि इस व्रत को करने में कुछ भी त्रुटि रह गई तो तुम्हारा पुत्र इन्द्र का मित्र बन जाएगा।**

**बाढमित्यभ्युपेत्याथ दिती राजन्महामनाः ।**
**कश्यपाद्गर्भमाधत्त व्रतं चाञ्जो दधार सा ॥५५॥**

### शब्दार्थ

बाढम्—तथास्तु; इति—इस प्रकार; अभ्युपेत्य—स्वीकार करके; अथ—तब; दितिः—दिति ने; राजन्—हे राजा; महा-मनाः—हर्षित; कश्यपात्—कश्यप से; गर्भम्—वीर्य; आधत्त—प्राप्त करके; व्रतम्—व्रत; च—तथा; अञ्जः—ठीक से; दधार—पालन किया; सा—उसने।

**हे राजा परीक्षित! कश्यप की पत्नी दिति ने पुंसवन नामक शुद्धिकर्त्री विधि को करना अंगीकार कर लिया। उसने कहा, ''हाँ, मैं आपके उपदेशानुसार सब कुछ करूँगी।'' वह अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कश्यप का वीर्य धारण कर गर्भवती हुई और श्रद्धापूर्वक व्रत का पालन करती रही।**

**मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद ।**
**शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः ॥५६॥**

### शब्दार्थ

मातृ-स्वसुः—अपनी माता की बहन ( मौसी ) का; अभिप्रायम्—मन्तव्य; इन्द्रः—इन्द्र; आज्ञाय—समझकर; मान-द—सबों को सम्मान देने वाले, हे राजा परीक्षित; शुश्रूषणेन—सेवा से; आश्रम-स्थाम्—आश्रम में रहने वाली; दितिम्—दिति; पर्यचरत्—परिचर्या की गई; कविः—अपना स्वार्थ देखकर।

**सबों का सम्मान करने वाले हे राजा! इन्द्र ने दिति का मन्तव्य जान लिया, अतः वह अपना स्वार्थ साधने की युक्ति सोचने लगा। इस तर्क का अनुसरण करते हुए कि आत्म-रक्षा प्रकृति का प्रथम नियम है, उसने दिति की प्रतिज्ञा को भंग करना चाहा। अतः वह आश्रमवासिनी अपनी मौसी दिति की सेवा करने लगा।**

**नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान् ।**
**पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत् ॥ ५७॥**

### शब्दार्थ

नित्यम्—प्रतिदिन; वनात्—वन से; सुमनसः—फूल; फल—फल; मूल—जड़ें; समित्—यज्ञ के लिए समिधा ( लकड़ी ); कुशान्—तथा कुश; पत्र—पत्तियाँ; अङ्कुर—कलियाँ; मृदः—तथा मिट्टी; अपः—जल; च—भी; काले काले—उचित समय पर; उपाहरत्—ले आने लगा।

**इन्द्र प्रतिदिन जंगल से फूल, फल, कंद तथा यज्ञ के लिए समिधा लाकर अपनी मौसी की सेवा करने लगा। वह उचित समय पर कुश, पत्तियाँ, कलियाँ, मिट्टी तथा जल भी ले आता था।**

**एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप ।**
**प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्मो मृगहेव मृगाकृतिः ॥ ५८॥**

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तस्याः—उस ( दिति ) का; व्रत-स्थायाः—श्रद्धापूर्वक अपना व्रत का पालन करने वाली; व्रत-छिद्रम्—व्रत पालन करने में त्रुटि ( कमी ); हरिः—इन्द्र; नृप—हे राजन्; प्रेप्सुः—ढूँढने की इच्छा से; पर्यचरत्—सेवा की गई; जिह्मः—छलपूर्ण; मृग-हा—बहेलिया; इव—सदृश; मृग-आकृतिः—हिरन के रूप में।

**हे राजा परीक्षित! जिस प्रकार बहेलिया हिरन को मारने के लिए हिरन की खाल पहन कर छद्मवेष धारण करता है उसी प्रकार से इन्द्र, हृदय से दिति पुत्रों का शत्रु किन्तु बाहर से मित्र बनकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दिति की सेवा करने लगा। इन्द्र का मन्तव्य दिति के व्रत के अनुष्ठान में त्रुटि निकालकर उसे धोखा देना था, किन्तु साथ ही वह नहीं चाहता था कि कोई**

उसे पहचान सके इसलिए वह अत्यन्त सतर्कता के साथ उसकी सेवा करने लगा।

नाध्यगच्छद्व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते ।
चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवं त्विह ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अध्यगच्छत्—पा सका; व्रत-छिद्रम्—व्रत पालन में त्रुटि; तत्-परः—उसमें व्यस्त; अथ—तत्पश्चात्; मही-पते—हे विश्व के स्वामी; चिन्ताम्—चिन्ता को; तीव्राम्—तीव्र; गतः—प्राप्त; शक्रः—इन्द्र; केन—किस प्रकार; मे—मेरा; स्यात्—हो सकता है; शिवम्—शुभ; तु—तब; इह—यहाँ।

हे विश्वेश्वर! जब इन्द्र को कोई त्रुटि न मिली तो उसने सोचा, अब मेरा कल्याण कैसे हो? इस प्रकार वह गहरी चिन्ता में डूब गया।

एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता ।
अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; सा—वह; तु—लेकिन; सन्ध्यायाम्—संध्या समय; उच्छिष्टा—भोजन के तुरन्त बाद; व्रत—व्रत से; कर्शिता—दुर्बल तथा अशक्त; अस्पृष्ट—बिना आचमन लिए; वारि—जल; अधौत—बिना धोये; अङ्घ्रिः—अपने पाँव; सुष्वाप—सोने के लिए गई; विधि—दैववश; मोहिता—मोहित होकर।

कठोरता से व्रत का पालन करते रहने से अत्यन्त क्षीण एवं अशक्त हो जाने से दुर्भाग्यवश दिति ने भोजन के पश्चात् मुँह, हाथ तथा पाँव धोने में लापरवाही बरती और सन्ध्या में ही सो गई।

लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः ।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—पाकर; तत्-अन्तरम्—तत्पश्चात्; शक्रः—इन्द्र; निद्रा—नींद से; अपहृत-चेतसः—अचेत; दितेः—दिति के; प्रविष्टः—घुस गया; उदरम्—गर्भ में; योग-ईशः—योग के स्वामी, योगेश्वर; योग—योग-सिद्धियों की; मायया—शक्ति से।

इस त्रुटि को पाकर समस्त योगशक्तियों (योग सिद्धियाँ यथा अणिमा, लघिमा) का स्वामी इन्द्र घोर निद्रा में अचेत दिति के गर्भ में प्रविष्ट हो गया।

**तात्पर्य :** परम सफल योगी को आठ सिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं। इनमें से एक के द्वारा, जिसे अणिमा सिद्धि कहते हैं, वह परमाणु से भी लघु बन सकता है। उस अवस्था में वह कहीं भी प्रविष्ट हो सकता है। इन्द्र इसी शक्ति से गर्भिणी दिति के भीतर प्रविष्ट हो गया।

**चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम् ।**
**रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान्पुनः ॥ ६२ ॥**

शब्दार्थ

चकर्त—काट दिया; सप्त-धा—सात खंडों में; गर्भम्—गर्भ को; वज्रेण—अपने वज्र से; कनक—स्वर्ण की; प्रभम्—ज्योति वाले; रुदन्तम्—रोते हुए; सप्त-धा—सात खंडों में; एक-एकम्—प्रत्येकों; मा रोदीः—मत रोओ; इति—इस प्रकार; तान्—उनको; पुनः—फिर।

**दिति के गर्भ में प्रविष्ट होकर इन्द्र ने अपने वज्र से चमकते हुए सोने के समान गर्भ ( भ्रूण ) को सात खण्डों में काट डाला। सात स्थानों में सात विभिन्न जीव रोने लगे। इन्द्र ने ''मत रो'' ऐसा कहकर प्रत्येक को पुनः सातखण्डों में काट डाला।**

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर लिखते हैं कि इन्द्र ने अपनी योगशक्ति से पहले एक मरुत के शरीर को सात भागों में बढ़ा दिया और फिर मूल शरीर के सात भागों में से प्रत्येक को काटकर कुल उनचास भाग कर दिये। जब प्रत्येक शरीर के सात खण्ड किये गये तो अन्य जीवात्माएँ इन शरीरों में प्रविष्ट कर गईं। इस प्रकार वे उन वृक्षों के तुल्य बन गईं जिन्हें विभिन्न हिस्सों में काटकर पर्वत के ऊपर लगा दिया जाता है और वे पृथक् सत्ता प्राप्त कर लेते हैं। पहला शरीर एक ही था और जब उसे कई खण्डों में काटा गया तो अन्य जीवात्माएँ इन नवीन शरीरों में प्रवेश कर गईं।

**तमूचुः पाट्यमानास्ते सर्वे प्राञ्जलयो नृप ।**
**किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ॥ ६३ ॥**

शब्दार्थ

तम्—उसकी; ऊचुः—कहा; पाट्यमानाः—संतप्त होकर; ते—वे; सर्वे—समस्त; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; नृप—हे राजा; किम्—क्यों; नः—हमको; इन्द्र—हे इन्द्र; जिघांससि—मारना चाहते हो; भ्रातरः—भाइयों को; मरुतः—मरुद्गण; तव—तुम्हारे।

अत्यन्त संतप्त होकर, हाथ जोड़कर उन्होंने इन्द्र से कहा—"हे राजन्! हे इन्द्र! हम तुम्हारे भाई मरुद्गण हैं। तुम हमें क्यों मार रहे हो?"

मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः ।
अनन्यभावान्पार्षदानात्मनो मरुतां गणान् ॥ ६४॥

### शब्दार्थ

मा भैष्ट—मत डरो; भ्रातरः—भाई; मह्यम्—मेरे; यूयम्—तुम सब; इति—इस प्रकार; आह—कहा; कौशिकः—इन्द्र; अनन्य-भावान्—भक्तिपूर्ण; पार्षदान्—अनुयायीगण; आत्मनः—अपने; मरुताम् गणान्—मरुद्गणों से।

जब इन्द्र ने देखा कि वे वास्तव में उसके भक्त-अनुयायी हैं, तो उसने उनसे कहा कि यदि तुम सचमुच मेरे भाई हो तो तुम्हें मुझसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया ।
बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान् ॥ ६५ ॥

### शब्दार्थ

न—नहीं; ममार—मरा; दितेः—दिति का; गर्भः—गर्भ ( भ्रूण ); श्रीनिवास—लक्ष्मी के निवास स्थान, भगवान् विष्णु के; अनुकम्पया—अनुग्रह से; बहु-धा—अनेक खण्डों में; कुलिश—वज्र से; क्षुण्णः—कटा हुआ; द्रौणि—अश्वत्थामा के; अस्त्रेण—अस्त्र से; यथा—जिस प्रकार; भवान्—आप।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजा परीक्षित! आप अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जला दिये गये थे, किन्तु जब श्रीकृष्ण आपकी माता के गर्भ में प्रविष्ट हुए तो आप बच गए। इसी प्रकार यद्यपि इन्द्र ने एक गर्भ को वज्र द्वारा उनचास खण्डों में काट डाला था, किन्तु वे सभी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अनुग्रह से बच गये।

सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम् ।
संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः ॥ ६६ ॥
सजूरिन्द्रेण पञ्चाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन् ।
व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः ॥ ६७॥

### शब्दार्थ

सकृत्—एक बार; इष्ट्वा—पूजा करके; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष को; पुरुषः—एक व्यक्ति; याति—जाता है; साम्यताम्—भगवान् जैसा शरीर धारण किये हुए; संवत्सरम्—एक वर्ष; किञ्चित् ऊनम्—कुछ कम; दित्या—दिति के द्वारा; यत्—क्योंकि; हरिः—भगवान् हरि; अर्चितः—पूजित; सजूः—के साथ; इन्द्रेण—इन्द्र; पञ्चाशत्—पचास; देवाः—देवता; ते—वे; मरुतः—मरुद्गण; अभवन्—हुए; व्यपोह्य—हटाकर; मातृ-दोषम्—अपनी माता का दोष; ते—वे; हरिणा—भगवान् हरि द्वारा; सोम-पाः—सोमरस पीने वाले; कृताः—बनाये गये थे।

यदि कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा एक बार भी करता है, तो वह वैकुण्ठ मे प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है तथा भगवान् विष्णु के रूप को प्राप्त करता है। संकल्पपूर्वक कड़ाई से नियमों का पालन करते हुए दिति ने लगभग एक वर्ष तक भगवान् विष्णु की पूजा की। आध्यात्मिक जीवन की इस शक्ति के कारण उनचास मरुद्रगण पैदा हुए। यद्यपि मरुद्रगण दिति के गर्भ से पैदा हुए, किन्तु परम भगवान् की कृपा से वे देवताओं की बराबरी पर आ गये, यह कैसा आश्चर्य है?

दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान् ।
इन्द्रेण सहितान्देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता ॥ ६८ ॥

### शब्दार्थ

दितिः—दिति ने; उत्थाय—उठकर; ददृशे—देखा; कुमारान्—बालकों को; अनल-प्रभान्—अग्नि के समान तेजस्वी; इन्द्रेण सहितान्—इन्द्र के साथ; देवी—देवी; पर्यतुष्यत्—प्रसन्न थी; अनिन्दिता—शुद्ध हुई।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करने से दिति पूर्णतया शुद्ध हो गई थी। जब वह बिस्तर से उठी तो उसने इन्द समेत अपने उनचास पुत्रों को देखा। ये उनचासों पुत्र अग्नि के समान तेजवान थे और इन्द्र के मित्र थे अतः वह अतीव प्रसन्न थी।

अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम् ।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत्सुदुष्करम् ॥ ६९ ॥

### शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; इन्द्रम्—इन्द्र से; आह—बोली; तात—प्यारे बेटे; अहम्—मैं; आदित्यानाम्—आदित्यों से; भय-आवहम्—भयभीत करने वाली; अपत्यम्—पुत्र; इच्छन्ती—इच्छा करती हुई; अचरम्—पालन किया; व्रतम्—व्रत; एतत्—यह; सु-दुष्करम्—जो कर पाना अत्यन्त कठिन है।

तदनन्तर, दिति ने इन्द्र से कहा—हे पुत्र! मैं इस कठोर व्रत का इसलिए पालन कर रही

**थी कि तुम बारहों आदित्यों को मारने के लिए एक पुत्र प्राप्त कर सकूँ।**

**एकः सङ्कल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन्कथम् ।**
**यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा ॥ ७० ॥**

शब्दार्थ

एकः—एक; सङ्कल्पितः—प्रार्थना की थी; पुत्रः—पुत्र; सप्त सप्त—उनचास; अभवन्—हो गये; कथम्—किस प्रकार; यदि—यदि; ते—तुम्हारे द्वारा; विदितम्—ज्ञात; पुत्र—हे पुत्र!; सत्यम्—सच सच; कथय—कहो; मा—मत ( बोलना ); मृषा—झूठ।

**मैंने केवल एक पुत्र के लिए प्रार्थना की थी, किन्तु मैं देखती हूँ कि ये तो उनचास हैं। यह किस तरह सम्भव हो सका? मेरे पुत्र इन्द्र! यदि तुम जानते हो तो मुझसे सच सच कहो। झूठ बोलने का प्रयास मत करना।**

इन्द्र उवाच

**अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्यागतोऽन्तिकम् ।**
**लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मदृक् ॥ ७१ ॥**

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—इन्द्र ने कहा; अम्ब—हे माता; ते—तुम्हारा; अहम्—मैं; व्यवसितम्—व्रत; उपधार्य—समझकर; आगतः—आया; अन्तिकम्—पास ही; लब्ध—पाकर; अन्तरः—त्रुटि, दोष; अच्छिदम्—मैंने काट दिया; गर्भम्—गर्भ; अर्थ-बुद्धिः—स्वार्थवश; न—नहीं; धर्म-दृक्—धर्म-दृष्टि वाला।

**इन्द्र ने उत्तर दिया—हे माता! स्वार्थ से अंधा होने के कारण मैंने धर्म से मुँह मोड़ लिया था। जब मुझे ज्ञात हुआ कि आप आध्यात्मिक जीवन का महान् व्रत धारण कर रही हैं, तो मैं उसमें कोई त्रुटि निकालना चाहता था। और जब मुझे त्रुटि मिल गई तो मैं आपके गर्भ में प्रविष्ट हो गया और मैंने गर्भ को खंड खंड कर दिया।**

**तात्पर्य :** जब इन्द्र की मौसी दिति ने बिना हिचक के इन्द्र को अपना मन्तव्य कह सुनाया तो इन्द्र ने अपना मन्तव्य बताया। इस प्रकार दोनों परस्पर शत्रु न रहकर एक दूसरे से सत्य बोलने लगे। विष्णु की संगति के प्रभाव से ही ऐसा होता है। *श्रीमद्भागवत*(५.१८.१२) में कहा गया है—*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैः गुणैस्तत्र समासते सुराः*—यदि किसी में भक्ति की प्रवृत्ति

जागृत होती है और वह परमेश्वर की पूजा करके शुद्ध बन जाता है, तो उसके शरीर में निश्चय ही समस्त श्रेष्ठ गुण प्रकट होते हैं। विष्णु की पूजा के स्पर्श से दिति तथा इन्द्र दोनों शुद्ध हो गये।

**कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन्सप्त कुमारकाः ।**
**तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मम्रिरे ॥ ७२ ॥**

### शब्दार्थ

कृत्तः—काटा गया; मे—मेरे द्वारा; सप्त-धा—सात खण्डों में; गर्भः—गर्भ ( भ्रूण ); आसन्—हो गया; सप्त—सात; कुमारकाः—शिशु; ते—वे; अपि—यद्यपि; च—भी; एक-एकशः—प्रत्येक; वृक्णाः—काटे गये; सप्त-धा—सप्त खण्डों में; न—नहीं; अपि—अब तक; मम्रिरे—मरे।.

**सर्वप्रथम मैंने गर्भस्थ शिशु को सात खण्डों में काट डाला जिससे सात शिशु बन गये। तब फिर मैंने प्रत्येक शिशु के भी सात सात खण्ड कर दिये। किन्तु परमेश्वर के अनुग्रह से इनमें से कोई भी मरा नहीं।**

**ततस्तत्परमाश्चर्यं वीक्ष्य व्यवसितं मया ।**
**महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यानुषङ्गिणी ॥ ७३ ॥**

### शब्दार्थ

ततः—तब; तत्—वह; परम-आश्चर्यम्—महान् आश्चर्य; वीक्ष्य—देखकर; व्यवसितम्—यह निश्चय किया गया; मया—मेरे द्वारा; महा-पुरुष—भगवान् विष्णु की; पूजायाः—पूजा का; सिद्धिः—फल; कापि—कुछ; आनुषङ्गिणी—आनुसंगिक, गौण।.

**हे माता! जब मैंने देखा कि उनचासों पुत्र जीवित हैं, तो निश्चित ही मुझे आश्चर्य हुआ। मुझे विश्वास हो गया कि यह आपके द्वारा विष्णु-उपासना के लिए की गई नियमित भक्तिपूर्ण सेवा का ही आनुषंगिक फल है।**

**तात्पर्य :** भगवान् विष्णु की सेवा में संलग्न व्यक्ति के लिए कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। यह वास्तविकता है। *भगवद्गीता* ( १८.७८ ) में कहा गया है—

*यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।*

*तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥*

''जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुषधारी अर्जुन है, वहीं शाश्वत राजलक्ष्मी,

समस्त ऐश्वर्य, विजय, विलक्षण शक्ति तथा नीति है, ऐसा मेरा मत है।'' योगेश्वर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो अपनी इच्छानुसार जो भी चाहें कर सकते हैं। यह प्राप्ति परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता है। ईश्वर को प्रसन्न कर लेने वाले के लिए कोई भी उपलब्धि आश्चर्यजनक नहीं। उसके लिए सब कुछ सम्भव है।

**आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।**
**ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥ ७४॥**

**शब्दार्थ**

आराधनम्—उपासना; भगवतः—श्रीभगवान् की; ईहमानाः—वांछित; निराशिषः—भौतिक इच्छाओं से रहित, निष्काम; ये—जो; तु—निस्सन्देह; न इच्छन्ति—कामना नहीं करते; अपि—भी; परम्—मुक्ति; ते—वे; स्व-अर्थ—अपने हित में; कुशलाः—कुशल, दक्ष; स्मृताः—माने हुए।

**यद्यपि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना में ही निरत रहने वालों को भगवान् से किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा, यहाँ तक कि मुक्ति की भी कामना नहीं रहती, तो भी भगवान् कृष्ण उनकी समस्त कामनाओं को परिपूर्ण करते हैं।**

**तात्पर्य :** जब ध्रुव महाराज को भगवान् विष्णु के दर्शन हुए तो उन्होंने भगवान् से कोई वर नहीं माँगा क्योंकि वे भगवान् के दर्शन से ही पूर्णतः तुष्ट थे। तो भी भगवान् इतने दयालु हैं कि उन्होंने महाराज ध्रुव को ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ लोक, ध्रुवलोक, भेज दिया क्योंकि प्रारम्भ में उन्होंने अपने पिता के राज्य से भी बड़े राज्य की कामना की थी। अतः शास्त्र का कथन है—

*अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।*

*तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

''उदार बुद्धि वाला व्यक्ति, चाहे सकाम हो, निष्काम हो या मुक्ति का इच्छुक हो, उसे सब प्रकार से परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।'' (*भागवत २.३.१०*)। मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्णभक्ति में निरत हो। तब, भले ही वह निष्काम क्यों न हो, उसकी पूर्व इच्छित कामनाओं की पूर्ति भगवान् की उपासना मात्र से हो जाती है। वास्तविक भक्त मुक्ति की भी कामना नहीं करता

(*अन्याभिलाषिता शून्यम्*)। किन्तु भगवान् अपने भक्त को अक्षय ऐश्वर्य प्रदान करके उसकी कामना पूरी करते हैं। कर्मी का ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु भक्त का ऐश्वर्य अविनश्वर है। भक्त ज्यों ज्यों अधिक भक्ति करता है त्यों त्यों उसका ऐश्वर्य बढ़ता जाता है।

**आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम् ।**
**को वृणीत गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत् ॥ ७५ ॥**

**शब्दार्थ**

आराध्य—उपासना के बाद; आत्म-प्रदम्—जो अपने आपको अर्पित करता है; देवम्—भगवान् को; स्व-आत्मानम्—परम-प्रिय; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; कः—क्या; वृणीत—चुनेगा; गुण-स्पर्शम्—भौतिक सुख; बुधः—बुद्धिमान मनुष्य; स्यात्—है; नरके—नरक में; अपि—भी; यत्—जो।

**समस्त आकांक्षाओं का अन्तिम लक्ष्य भगवान् का दास बनना है। यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य अपने भक्तों को आत्मसमर्पित करने वाले परम प्रिय भगवान् की सेवा करता है, तो वह भौतिक सुख की कामना कैसे कर सकता है, जो नरक में भी प्राप्य है?**

**तात्पर्य :** कोई बुद्धिमान व्यक्ति मात्र भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए भक्त बनना नहीं चाहेगा। यही भक्त की परीक्षा है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है—

*न धनं न जनं न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये।*
*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥*

"हे परम शक्तिमान ईश्वर! मुझे न तो धनसंचय की इच्छा है, न मैं सुन्दर स्त्रियों की कामना करता हूँ, न ही मुझे अनेक अनुयायी चाहिए। मैं तो जन्म-जन्मांतर आपकी अहैतुकी भक्ति की कामना करता हूँ।" शुद्ध भक्त ईश्वर से धन, दास, सुन्दर पत्नी, यहाँ तक कि मुक्ति की भी कभी कामना नहीं करता। किन्तु भगवान् वचन देते हैं—*योगक्षेमं वहाम्यहम्*—"मैं स्वेच्छा से अपनी सेवा के लिए प्रत्येक आवश्यक वस्तु लाता हूँ।"

**तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि ।**
**क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भो मृतोत्थितः ॥ ७६ ॥**

### शब्दार्थ

तत्—वह; इदम्—यह; मम—मुझ; दौर्जन्यम्—कुकृत्य; बालिशस्य—मूर्ख का; महीयसि—हे श्रेष्ठ स्त्री; क्षन्तुम् अर्हसि—कृपा करके क्षमा करें; मातः—हे माता; त्वम्—तुम; दिष्ट्या—सौभाग्य से; गर्भः—गर्भस्थ शिशु; मृत—मारा हुआ; उत्थितः—जीवित हो उठा।

हे माता, हे महीयसी! मैं मूर्ख हूँ। मैंने जो भी पाप किये हैं उसके लिए आप मुझे क्षमा प्रदान करें। आपके उनचासों पुत्र बिना किसी क्षति के आपकी भक्ति के कारण ही उत्पन्न हुए हैं। मैंने शत्रु होने के नाते उनको खण्ड खण्ड कर दिया था, किन्तु आपकी परम भक्ति के कारण वे मरे नहीं।

श्रीशुक उवाच
इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया ।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ ७७ ॥

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रः—इन्द्र; तया—उस (दिति) से; अभ्यनुज्ञातः—अनुमति पाकर; शुद्ध-भावेन—शुद्ध आचरण से; तुष्टया—संतुष्ट होकर; मरुद्भिः सह—मरुतों के साथ; ताम्—उसको; नत्वा—नमस्कार करके; जगाम—चला गया; त्रि-दिवम्—स्वर्गलोक को; प्रभुः—भगवान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—दिति इन्द्र के इस उत्तम आचरण से अत्यन्त प्रसन्न हुई। तब इन्द्र ने अपनी मौसी को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया और उसकी आज्ञा से अपने मरुद्गण भाइयों सहित स्वर्गलोक को चला गया।

एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते ॥ ७८ ॥

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ते—तुमको; सर्वम्—सब कुछ; आख्यातम्—कह सुनाया; यत्—जो; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृच्छसि—पूछा; मङ्गलम्—शुभ, कल्याणकारी; मरुताम्—मरुतों का; जन्म—उत्पत्ति; किम्—क्या; भूयः—आगे; कथयामि—कहूँगा; ते—तुम से।

हे राजा परीक्षित! मैंने यथासम्भव तुम्हारे द्वारा पूछे गये प्रश्नों, विशेष रूप से मरुतों के इस शुद्ध मंगलकारी वर्णन, का उत्तर दिया। अब तुम आगे जो पूछना चाहते हो पूछो, मैं उसे भी विस्तार से बताऊँगा।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध के अन्तर्गत ''राजा इन्द्र का वध करने के लिए दिति का व्रत'' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

## Chapter उन्नीस

# पुंसवन व्रत का अनुष्ठान

इस अध्याय में बताया गया है कि कश्यप की पत्नी दिति ने किस प्रकार कश्यप मुनि के भक्ति सम्बन्धी उपदेशों को कार्यरूप में परिणत किया। अग्रहायण (नवम्बर-दिसम्बर) मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि वह दिति के चरणचिह्नों का अनुसरण करती हुई और अपने पति के उपदेशों का पालन करती हुई इस पुंसवन व्रत को प्रारम्भ करे। प्रात:काल हाथ-मुँह धोकर, पवित्र होकर, वह मरूतों के जन्म रहस्य के बारे में सुने, फिर श्वेत वस्त्र धारण करके और समुचित अलंकरणों से आभूषित होकर कलेवा करने के पूर्व भगवान् विष्णु तथा उनकी पत्नी लक्ष्मीजी की पूजा करे और भगवान् विष्णु की कृपा, धैर्य, शक्ति, महानता तथा अन्य गुणों की महिमा तथा साथ ही समस्त वरों को देने के लिए स्तुति करे। वे सभी वर प्रदान कर सकते हैं। पूजा की समस्त सामग्रियाँ—यथा आभूषण, यज्ञोपवीत, सुगंधि, पुष्प, अगुर तथा भगवान् के पाँव, हाथ तथा मुख के प्रक्षालन के लिए जल आदि भेंट करने के बाद भगवान् का इस मंत्र के द्वारा आवाहन करे—*ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिम् उपहरामि॥* तब अग्नि को बारह बार आहुतियाँ दे और इस मंत्र का उच्चारण करे *ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा।* इस मंत्र का दस बार उच्चारण करते हुए नमस्कार करे। तब लक्ष्मीनारायण मंत्र का जप करे।

यदि गर्भवती स्त्री या उसका पति इस भक्तिपूर्ण व्रत को नियमपूर्वक सम्पन्न करता है, तो दोनों को फल प्राप्त होगा। इस विधि को एक वर्ष तक चालू रखकर संयमशील पत्नी को चाहिए कि कार्तिक पूर्णिमा को उपवास रखे। दूसरे दिन पति पूर्ववत् भगवान् की पूजा करे और फिर अच्छा-

अच्छा भोजन पकाकर ब्राह्मणों को प्रसाद वितरण करके उत्सव मनाए। तब ब्राह्मणों की अनुमति से पति-पत्नी प्रसाद ग्रहण करें। पुंसवन व्रत के फल की महिमा बताने के बाद यह अध्याय समाप्त हो जाता है।

श्रीराजोवाच
**व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन्भवता यदुदीरितम् ।**
**तस्य वेदितुमिच्छामि येन विष्णुः प्रसीदति ॥ १ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; व्रतम्—व्रत; पुंसवनम्—पुंसवन नामक; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भवता—आपके द्वारा; यत्—जो; उदीरितम्—कहा गया है; तस्य—उसका; वेदितुम्—जानना; इच्छामि—चाहता हूँ; येन—जिससे; विष्णुः—भगवान् विष्णु; प्रसीदति—प्रसन्न होते हैं।

**महाराज परीक्षित ने कहा—हे प्रभो! आप पुंसवन व्रत के सम्बन्ध में पहले ही बता चुके हैं। अब मैं इसके विषय में विस्तार से सुनना चाहता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि इस व्रत का पालन करके भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया जा सकता है।**

श्रीशुक उवाच
**शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया ।**
**आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ॥ २ ॥**

**निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च ।**
**स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालङ्कृताम्बरे ।**
**पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्भगवन्तं श्रिया सह ॥ ३ ॥**

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; शुक्ले—शुक्ल पक्ष के; मार्गशिरे—अगहन (नवम्बर-दिसम्बर) मास में; पक्षे—पक्ष (पखवारे) में; योषित्—स्त्री; भर्तुः—पति की; अनुज्ञया—अनुमति से; आरभेत—प्रारम्भ करे; व्रतम्—व्रत; इदम्—यह; सार्व-कामिकम्—समस्त कामनाओं को पूरा करने वाले; आदितः—पहले दिन से; निशम्य—सुनकर; मरुताम्—मरुतों के; जन्म—जन्म, उत्पत्ति; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों से; अनुमन्त्र्य—उपदेश लेकर; च—तथा; स्नात्वा—नहा कर; शुक्ल-दती—साफ किये गये दाँतों से; शुक्ले—श्वेत; वसीत—धारण करे; अलङ्कृता—आभूषण; अम्बरे—वस्त्र; पूजयेत्—पूजा करे; प्रातः-आशात् प्राक्—कलेवा से पहले; भगवन्तम्—श्रीभगवान् की; श्रिया सह—लक्ष्मी सहित।

**शुकदेव गोस्वामी ने कहा—स्त्री को चाहिए कि अगहन मास (नवम्बर-दिसम्बर) के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को अपने पति की अनुमति से इस नैमित्यिक भक्ति को तप के व्रत**

**सहित प्रारम्भ करे क्योंकि इससे सभी मनोकामनाएँ पूरी हो सकती हैं। भगवान् विष्णु की उपासना करने के पूर्व स्त्री को चाहिए कि वह मरुतों के जन्म की कथा को सुने। योग्य ब्राह्मणों के निर्देशानुसार वह प्रातःकाल अपने दाँत साफ करे, नहाए, श्वेत साड़ी पहने और आभूषण धारण करे और फिर कलेवा करने के पूर्व भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी की पूजा करे।**

**अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते ।**
**महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये ॥ ४॥**

### शब्दार्थ

अलम्—पर्याप्त; ते—तुम्हारे लिए; निरपेक्षाय—उदासीन; पूर्ण-काम—जिसकी कामना सदैव पूर्ण होती है, ऐसे भगवान्; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; ते—तुमको; महा-विभूति—लक्ष्मी के; पतये—पति को; नमः—नमस्कार; सकल-सिद्धये—समस्त सिद्धियों के स्वामी को।.

**[ तब वह भगवान् की इस प्रकार से प्रार्थना करे ]—हे भगवन्! आप समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं किन्तु मैं ऐश्वर्य की कामना नहीं करती हूँ। मैं आपको सहज भाव से सादर नमस्कार करती हूँ। आप उन सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी देवी के पति और स्वामी हैं, जो समस्त ऐश्वर्यों से युक्त हैं। आप समस्त योग के स्वामी हैं। मैं आपको केवल नमस्कार करती हूँ।**

**तात्पर्य :** भक्त जानता है कि भगवान् की प्रशंसा किस प्रकार की जाए—

*ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।*

*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥*

"श्रीभगवान् परम पूर्ण हैं अतः उनके समस्त उद्गम या उनका व्यवहार-जगत समग्रतः पूर्ण से युक्त है। जो कुछ पूर्ण से उत्पन्न होता है, वह भी स्वयं में पूर्ण होता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं इसलिए उनसे अनेक पूर्ण इकाइयाँ उद्गत होने पर भी वे पूर्ण शेष बचे रहते हैं।" इसलिए परमेश्वर की शरण में जाने की आवश्यकता होती है। भक्त की जो भी आवश्यकताएँ होती हैं पूर्ण श्रीभगवान् उसकी पूर्ति करते हैं ( *तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्*)। इसलिए शुद्ध भक्त

भगवान् से किसी वस्तु की याचना नहीं करेगा। वह केवल उन्हें नमस्कार करता है और भक्त द्वारा जो भी अर्पित किया जाता है भले ही *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्* ही क्यों न हो, भगवान् उसे स्वीकार करते हैं। किसी बनावटी प्रयास को करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उत्तम यही होता है कि सीधे-सादे ढंग से जो भी प्राप्त हो सके उसे भगवान् को आदरभाव से नमस्कारपूर्वक अर्पित किया जाये। भगवान् अपने भक्तों को समस्त ऐश्वर्य प्रदान करने में पूर्णतया सक्षम हैं।

**यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिमौजसा ।**
**जुष्ट ईश गुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान्प्रभुः ॥५॥**

### शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; त्वम्—तुम; कृपया—कृपा से; भूत्या—ऐश्वर्य से; तेजसा—तेज से; महिम-ओजसा—महिमा तथा बल से; जुष्टः—युक्त; ईश—हे ईश्वर; गुणैः—दिव्य गुणों से; सर्वैः—समस्त; ततः—अतः; असि—हो; भगवान्—श्रीभगवान्; प्रभुः—स्वामी।

**हे भगवन्! आप अहैतुकी कृपा, समस्त ऐश्वर्य, समस्त तेज तथा समस्त महिमा, बल एवं दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण हर एक के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।**

**तात्पर्य :** इस श्लोक में आगत *ततोऽसि भगवान् प्रभुः* शब्दों का अर्थ इस प्रकार है, ''अतः आप प्रत्येक के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।'' श्रीभगवान् छह प्रकार के ऐश्वर्यों से पूर्ण होने के साथ-साथ अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। यद्यपि वे पूर्ण हैं, किन्तु फिर भी वे चाहते हैं कि सभी जीवात्माएँ उनकी शरण में आकर उनकी सेवा करें। इस प्रकार से वे प्रसन्न होते हैं। यद्यपि वे स्वयं में पूर्ण हैं, तो भी अपने भक्तों द्वारा *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्* भक्तिपूर्वक अर्पित किये जाने पर प्रसन्न होते हैं। कभी-कभी भगवान् अपने भक्त से भोजन माँगते हैं जैसे कि वे भूखे हों जिस प्रकार माता यशोदा से भगवान् कृष्ण। कभी-कभी वे अपने भक्तों को स्वप्न में बता देते हैं कि उनका मन्दिर तथा उनका बगीचा अब जीर्ण हो चुके हैं जिससे वे उनका उपयोग अच्छी तरह से नहीं कर सकते। इस प्रकार वे भक्तों से उनकी मरम्मत के लिए कहते हैं। कभी-कभी वे पृथ्वी के अन्दर गाड़ दिये जाने पर स्वयं बाहर आने में असमर्थ बताकर अपने भक्तों से उनकी रक्षा करने को कहते

हैं। कभी-कभी अपने भक्तों से पूरे विश्व में घूमकर उनके यश का प्रचार करने के लिए कहते हैं यद्यपि वे अकेले इस कार्य को करने में सक्षम हैं। यद्यपि श्रीभगवान् सभी धन-धान्य से सम्पन्न और आत्म-निर्भर हैं, किन्तु फिर भी वे अपने भक्तों पर आश्रित रहते हैं। अत: भगवान् तथा उनके भक्तों का सम्बन्ध अत्यन्त गुह्य है। केवल भक्त ही जान पाते हैं कि सम्पूर्ण होकर भी भगवान् किसी विशेष कार्य के लिए किस प्रकार भक्तों पर आश्रित रहते हैं। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (११.३३) में की गई है जहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं—*निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*—हे अर्जुन! तुम केवल युद्ध के निमित्त (कारण) बनो।'' यद्यपि श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध में अकेले जीत सकने की क्षमता रखते थे, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने भक्त अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया और जीत का कारण बनने के लिए कहा। श्री चैतन्य महाप्रभु अपने नाम तथा सन्देश को सारे विश्व में प्रसारित करने में पूर्ण सक्षम थे, किन्तु फिर भी इसके लिए वे अपने भक्तों पर निर्भर रहे। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की आत्मनिर्भरता का सब से महत्त्वपर्ण पक्ष यह है कि वे अपने भक्तों पर निर्भर हैं। यही उनकी अहैतुकी कृपा कहलाती है। जिस भक्त ने भगवान् की इस अहैतुकी कृपा को अनुभव द्वारा देखा है, वही स्वामी तथा दास को समझ सकता है।

**विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे ।**
**प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥**

### शब्दार्थ

**विष्णु-पत्नि**—हे भगवान् विष्ण की पत्नी; **महा-माये**—हे भगवान् विष्णु की शक्ति; **महा-पुरुष-लक्षणे**—भगवान् विष्णु के गुणों एवं ऐश्वर्यों से युक्त; **प्रीयेथा:**—कृपापूर्वक प्रसन्न हों; **मे**—मुझ पर; **महा-भागे**—हे लक्ष्मी की देवी; **लोक-मात:**—हे संसार की माता; **नम:**—नमस्कार; **अस्तु**—हो; **ते**—तुमको।

**[ भगवान् विष्णु को समुचित नमस्कार करने के बाद भक्तों को चाहिए कि वे धन-धान्य की देवी लक्ष्मी माता को सादर नमस्कार करें और इस प्रकार से प्रार्थना करें— ] हे विष्णु-पत्नी, हे भगवान् विष्णु की अंतरंगा शक्ति! आप विष्णु के ही समान श्रेष्ठ हैं क्योंकि आपमें भी उनके सारे गुण तथा ऐश्वर्य निहित हैं। हे धन-धान्य की देवी! आप मुझ पर**

**कृपालु हों। हे जगन्माता! मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।**

**तात्पर्य :** भगवान् नाना शक्तियों से पूर्ण हैं ( *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। चूँकि माता लक्ष्मी भगवान् की बहुमूल्य शक्ति हैं इसलिए उन्हें यहाँ पर *महा-माये* कहकर सम्बोधित किया गया है। *माया* शब्द का अर्थ है शक्ति। भगवान् विष्णु अपनी प्रमुख शक्ति के बिना सर्वत्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं कर पाते। कहा गया है *शक्ति शक्तिमान् अभेद*—शक्ति तथा शक्तिमान एक ही हैं अत: माता लक्ष्मी भगवान् विष्णु की नित्य संगिनी हैं, वे दोनों निरन्तर साथ रहते हैं कोई भी भगवान् विष्णु के बिना लक्ष्मी को अपने घर में नहीं रख सकता। यदि कोई ऐसा सोचे तो उसके लिए यह घातक होगा क्योंकि भगवान् की सेवा के बिना लक्ष्मी माया बन जाती है। किन्तु भगवान् विष्णु के संग वे निस्सन्देह परा शक्ति हैं।

**ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहरामीति;**
**अनेनाहरहर्मन्त्रेण**
**विष्णोरावाहनार्घ्यपाद्योपस्पर्शनस्नानवासउपवीतविभूषणगन्धपुष्पधूप ।दीपोपहाराद्युपचारान्सुसमाहितोपाहरेत्. ॥ ७॥**

### शब्दार्थ

ॐ—हे भगवान्; नम:—नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को, जो छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं; महा-पुरुषाय—श्रेष्ठ भोक्ता; महा-अनुभावाय—सर्वशक्तिमान; महा-विभूति—धन की देवी के; पतये—पति; सह—साथ; महा-विभूतिभि:—पार्षद; बलिम्—भेंट; उपहरामि—अर्पित कर रहा हूँ; इति—इस प्रकार; अनेन—इस; अह:-अह:—प्रतिदिन; मन्त्रेण—मंत्र से; विष्णो:—भगवान् विष्णु का; आवाहन—आवाहन; अर्घ्य-पाद्य-उपस्पर्शन—हाथ, पाँवों तथा मुँह को प्रक्षालित करने के लिए जल; स्नान—नहाने के लिए जल; वास—वस्त्र; उपवीत—यज्ञोपवीत, जनेऊ; विभूषण—गहने; गन्ध—सुगन्धित द्रव्य; पुष्प—फूल; धूप—धूप; दीप—दीपक; उपहार—भेंट; आदि—इत्यादि; उपचारान्—निवेदन, भेंट; सु-समाहिता—मनोयोग से; उपाहरेत्—अर्पित करे।

**''हे छ: ऐश्वर्यों से युक्त भगवान् विष्णु! आप सर्वश्रेष्ठ भोक्ता एवं सर्व-शक्तिमान हैं। हे माता लक्ष्मी के पति! मैं विश्वक्सेन जैसे पार्षदों की संगति में रहने वाले आपको सादर नमस्कार करता हूँ। मैं आपको समस्त पूजा-सामग्री अर्पित करता हूँ।'' मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन अत्यन्त मनोयोग से भगवान् विष्णु की पूजा-यथा उनके हाथ, पाँव तथा मुख धोने के लिए और स्नान के लिए जल इत्यादि पूजा सामग्रियों से पूजा करते हुए इस मंत्र का**

**उच्चारण करे। उसे चाहिए कि उन्हें वस्त्र, उपवीत, आभूषण, सुगंधि, पुष्प, अगुरु तथा दीपक अर्पित करे।**

**तात्पर्य :** यह मंत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीविग्रह की पूजा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उपर्युक्त मंत्र का जप करना चाहिए।

**हवि:शेषं च जुहुयादनले द्वादशाहुती ।**
**ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहेति ॥ ८ ॥**

### शब्दार्थ

हवि:-शेषम्—शेष नैवेद्य; च—तथा; जुहुयात्—अर्पित करे; अनले—अग्नि में; द्वादश—बारह; आहुती:—आहुतियाँ; ॐ—हे भगवान्; नम:—नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को; महा-पुरुषाय—परम भोक्ता; महा-विभूति—धन की देवी के; पतये—पति को; स्वाहा—आहुति; इति—इस प्रकार।

**शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—उपर्युक्त समस्त पूजा सामग्री से भगवान् की पूजा करने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह ''ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा'' इस मंत्र का जप करे और पवित्र अग्नि में बारह बार घी की आहुतियाँ दे।**

**श्रियं विष्णुं च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ ।**
**भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत्सर्वसम्पद: ॥ ९ ॥**

### शब्दार्थ

श्रियम्—सौभाग्य की देवी को; विष्णुम्—भगवान् विष्णु को; च—तथा; वर-दौ—वरों को देने वाली; आशिषाम्—आशीर्वादों का; प्रभवौ—साधन; उभौ—दोनों; भक्त्या—भक्ति से; सम्पूजयेत्—पूजे; नित्यम्—प्रतिदिन; यदि—यदि; इच्छेत्—चाहता है; सर्व—समस्त; सम्पद:—ऐश्वर्य।

**यदि किसी को समस्त ऐश्वर्यों की चाहत है, तो उसका कर्तव्य है कि प्रतिदिन भगवान् विष्णु की पूजा उनकी पत्नी लक्ष्मी सहित करे। उसे परम आदर से उपर्युक्त विधि से उनकी पूजा करनी चाहिए। भगवान् विष्णु तथा ऐश्वर्य की देवी का अत्यन्त शक्तिशाली संयोग है। वे समस्त वरों को देने वाले हैं तथा समस्त सौभाग्य के स्त्रोत हैं। अत: हर एक का कर्तव्य है कि लक्ष्मी-नारायण की पूजा करे।**

**तात्पर्य :** लक्ष्मी-नारायण अर्थात् भगवान् विष्णु तथा माता लक्ष्मी सबों के हृदय में सदैव

विराजमान रहते हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। किन्तु अभक्त लोग यह नहीं समझते कि भगवान् विष्णु अपनी प्रेयसी लक्ष्मी के साथ सबों के हृदयों में स्थित हैं, अत: उन्हें विष्णु का ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता। पाखंडी लोग कभी-कभी दरिद्र मनुष्य को दरिद्रनारायण कहकर पुकारते हैं। यह अत्यन्त अवैज्ञानिक है। भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी सदैव प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित रहते हैं, विशेष रूप से उनके हृदय में जो दरिद्र नहीं हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति नारायण है। नारायण के प्रसंग में इस शब्द का व्यवहार अत्यन्त कुत्सित हैं। भगवान् कभी दरिद्र नहीं बनते, अत: वे कभी दरिद्रनारायण नहीं कहे जा सकते। वे तो सबों के हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु वे न तो दरिद्र हैं न धनी। केवल ऐसे धूर्त लोग जो नारायण के ऐश्वर्य को नहीं जानते उन पर दरिद्रता का आघात पहुंचाने का प्रयास करते हैं।

**प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।**
**दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत् ॥ १० ॥**

### शब्दार्थ

प्रणमेत्—नमस्कार करना चाहिए; दण्ड-वत्—दण्ड के समान; भूमौ—भूमि पर; भक्ति—भक्ति से; प्रह्वेण—विनीत; चेतसा—भाव से; दश-वारम्—दस बार; जपेत्—उच्चारण करना चाहिए; मन्त्रम्—मंत्र; ततः—तब; स्तोत्रम्—प्रार्थना; उदीरयेत्—जप करे।

**भक्ति के साथ विनीत भाव से भगवान् को नमस्कार करना चाहिए। भूमि पर दण्ड के समान गिरते समय (दण्डवत करते हुए) उपर्युक्त मंत्र का दस बार उच्चारण करना चाहिए। तब उसे निम्नानुसार प्रार्थना करनी चाहिए।**

**युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम् ।**
**इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया ॥ ११ ॥**

### शब्दार्थ

युवाम्—तुम दोनों; तु—निस्सन्देह; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड के; विभू—स्वामी; जगतः—जगत के; कारणम्—कारण; परम्—सर्वश्रेष्ठ; इयम्—यह; हि—निश्चय ही; प्रकृतिः—शक्ति; सूक्ष्मा—समझने में कठिन; माया-शक्तिः—अन्तरंगा शक्ति; दुरत्यया—पार पाना कठिन है।

**हे भगवान् विष्णु तथा माता लक्ष्मी! आप दोनों समस्त सृष्टि के स्वामी हैं। वास्तव में इस**

सृष्टि के कारण आप ही हैं। माता लक्ष्मी को समझ पाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि वे इतनी शक्तिशाली हैं कि उनकी शक्ति की सीमा का पार पाना कठिन है। माता लक्ष्मी को भौतिक जगत में बहिरंगा शक्ति के रूप में अंकित किया जाता है, परन्तु वास्तव में वे सदैव ईश्वर की अन्तरंगा शक्ति हैं।

तस्या अधीश्वरः साक्षात्त्वमेव पुरुषः परः ।
त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग्भवान् ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

तस्याः—उसका; अधीश्वरः—स्वामी; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; पुरुषः—पुरुष; परः—परम; त्वम्—तुम; सर्व-यज्ञः—साक्षात् यज्ञ; इज्या—पूजा; इयम्—यह ( लक्ष्मी ); क्रिया—कार्यकलाप; इयम्—यह; फल-भुक्—फलों के भोक्ता; भवान्—आप।

हे ईश्वर, आप शक्ति के स्वामी हैं, अतः आप परम पुरुष हैं। आप साक्षात् यज्ञ हैं। आत्मक्रिया की प्रतिरूप लक्ष्मी आपको अर्पित उपासना की आदि रूपा हैं, जबकि आप समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग्भवान् ।
त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशयाः ।
नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

गुण-व्यक्तिः—गुणों का आगार; इयम्—यह; देवी—देवी; व्यञ्जकः—प्रकाशक, प्रकट करने वाले; गुण-भुक्—गुणों के भोक्ता; भवान्—आप; त्वम्—तुम; हि—निस्सन्देह; सर्व-शरीरी आत्मा—समस्त जीवात्माओं की परम आत्मा; श्रीः—ऐश्वर्य की देवी; शरीर—शरीर, देह; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशयाः—तथा मन; नाम—नाम; रूपे—तथा रूप; भगवती—लक्ष्मी; प्रत्ययः—प्रकाशक; त्वम्—तुम; अपाश्रयः—आधार।

यहाँ पर उपस्थित माता लक्ष्मी समस्त गुणों की आगार हैं जबकि आप इन गुणों के प्रकाशक तथा भोक्ता हैं। दरअसल, आपही प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं। आप समस्त जीवात्माओं के परमात्मा के रूप में रहते हैं और लक्ष्मी देवी उनके शरीर, इन्द्रिय तथा मन का रूप हैं। उनके भी पवित्र नाम तथा रूप हैं और आप समस्त नामों तथा रूपों के आधार हैं। आप उनके प्रकाशन का कारण हैं।

**तात्पर्य :** तत्त्ववादियों के आचार्य, मध्वाचार्य ने इस श्लोक का वर्णन इस प्रकार किया हैं, ''विष्णु को साक्षात् यज्ञ के रूप में और माता लक्ष्मी को आध्यात्मिक कार्य तथा उपासना के आद्य रूप में वर्णित किया जाता है। निस्सन्देह, वे आध्यात्मिक कार्य तथा समस्त यज्ञों के परम-आत्मा रूप को बताने वाले हैं। भगवान् विष्णु लक्ष्मी देवी के भी परमात्मा रूप हैं किन्तु भगवान् विष्णु का परमात्मा नहीं हो सकता क्योंकि विष्णु भगवान् स्वयं ही सब जीवों के दिव्य परमात्मा हैं।''

मध्वाचार्य के अनुसार दो प्रकार के कारक या तत्त्व हैं—एक स्वतंत्र और दूसरा आश्रित। पहला तत्त्व परमेश्वर विष्णु है और तत्त्व दूसरा जीव है। लक्ष्मी देवी की गणना कभी-कभी जीवों में की जाती है क्योंकि वे भगवान् विष्णु पर आश्रित हैं। किन्तु गौड़ीय वैष्णव लक्ष्मी देवी को निम्न रूप से वर्णित करते हैं, जो बलदेव विद्याभूषणकृत *प्रमेयरत्नावली* के दो श्लोकों में दिया हुआ है। इनमें से पहला श्लोक *विष्णुपुराण* से उद्‌धृत है

*नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरपायिनी।*

*यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥*

*विष्णो स्युः शक्तयस्तिस्रस्तासु या कीर्तिता परा।*

*सैव श्रीस्तदभिन्नेति प्राह शिष्यान् प्रभुर्महान्॥*

''हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! लक्ष्मी जी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु की चिरसंगिनी हैं इसलिए उन्हें अनपायिनी कहा जाता है। वे समस्त सृष्टि की माता हैं। जिस प्रकार भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं उसी प्रकार उनकी आत्मपराशक्ति माता लक्ष्मी जी भी सर्वव्यापी हैं। भगवान् विष्णु की तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था। श्री चैतन्य महाप्रभु ने पराशक्ति को भगवान् से अभिन्न माना है। इस प्रकार (लक्ष्मी) भी स्वतंत्र विष्णु तत्त्व में सम्मिलित हैं।''

प्रमेयरत्नावली की कान्तिमाला टीका में यह कथन है—*ननु क्वचित् नित्य-मुक्त-जीवात्वं लक्ष्म्याः स्वीकृतं, तत्राह—प्राहेति। नित्यैवेति पद्ये सर्व-व्याप्ति-कथनेन कला-काष्ठेत्यादि-पद्य-द्वये, शुद्धोऽपीत्युक्त च महाप्रभुना स्वशिष्यान् प्रतिक्ष्मा भगवदद्वैतम् उपदिष्टम्। क्वचित् यत् तस्यास्तु द्वैतम्*

*उक्तं, तत् तु तदाविष्ट-नित्य-मुक्त-जीवम् आदाय संगतमस्तु*। यद्यपि कुछ अधिकारिक वैष्णवशिष्य-परम्पराएँ लक्ष्मी देवी को वैकुण्ठ की शाश्वत मुक्तात्माओं (जीवों) में परिगणित करती हैं, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने विष्ण पुराण के कथननुसार लक्ष्मी को विष्णुतत्त्व से अभिन्न माना है। इसका सही निष्कर्ष यह है कि विष्णु से भिन्न होने का लक्ष्मी का वर्णन तब किया जाता है जब शाश्वत मुक्त जीवात्मा में लक्ष्मी के गुण पाये जाते हैं, उस वर्णन का अभिप्राय भगवान् विष्णु की प्रेयसी लक्ष्मी से कदापि नहीं है।''

**यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ ।**
**तथा म उत्तमश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः ॥ १४॥**

### शब्दार्थ

यथा—चूँकि; युवाम्—तुम दोनों; त्रि-लोकस्य—तीनों लोकों में; वर-दौ—वर देने वाले, वरदानी; परमे-ष्ठिनौ—परम शासक; तथा—अतः; मे—मेरा; उत्तम-श्लोक—उत्तम श्लोकों से वन्दित, हे भगवान्; सन्तु—हों; सत्याः—पूर्ण; महा-आशिषः—बड़ी बड़ी अभिलाषाएँ।

**आप दोनों ही तीनों लोकों के परम अधिष्ठाता एवं वरदाता हैं, अतः हे उत्तमश्लोक भगवान्! आपके अनुग्रह से मेरी अभिलाषाएँ पूर्ण हों।**

**इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह ।**
**तन्निःसार्योपहरणं दत्त्वाचमनमर्चयेत् ॥ १५॥**

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अभिष्टूय—स्तुति करके; वर-दम्—वर देने वाले को; श्री-निवासम्—ऐश्वर्य की देवी के धाम, भगवान् विष्णु को; श्रिया सह—लक्ष्मी सहित; तत्—तब; निःसार्य—हटाकर; उपहरणम्—पूजा की सामग्री; दत्त्वा—अर्पित करके; आचमनम्—हाथ तथा मुँह धोने का जल; अर्चयेत्—पूजा करे।

**श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार श्रीनिवास भगवान् विष्णु की पूजा ऐश्वर्य की देवी माता लक्ष्मी जी के साथ साथ उपर्युक्त विधि से स्तुतियों द्वारा की जाये। फिर पूजा की सारी सामग्री हटाकर उनका हाथ-मुंह धुलाने के लिये जल अर्पित करे और फिर से उनकी पूजा करे।**

**ततः स्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।
यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम् ॥ १६ ॥**

### शब्दार्थ

ततः—तब; स्तुवीत—स्तुति करे; स्तोत्रेण—प्रार्थना से; भक्ति—भक्ति से; प्रह्वेण—विनम्र; चेतसा—मन से; यज्ञ-उच्छिष्टम्—यज्ञावशेष; अवघ्राय—सूँघकर; पुनः—फिर; अभ्यर्चयेत्—पूजा करे; हरिम्—भगवान् विष्णु की।

**तत्पश्चात् अत्यन्त भक्ति एवं विनीत भाव से मनुष्य भगवान् तथा लक्ष्मी की स्तुति करे। तब यज्ञावशेष को सूँघकर विष्णु तथा लक्ष्मी की पुनः पूजा करे।**

**पतिं च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा ।
प्रियैस्तैस्तैरुपनमेत्प्रेमशीलः स्वयं पतिः ।
बिभृयात्सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च ॥ १७ ॥**

### शब्दार्थ

पतिम्—पति; च—तथा; परया—परम; भक्त्या—भक्ति से; महा-पुरुष-चेतसा—परम पुरुष मानकर; प्रियैः—प्रिय; तैः तैः—उन उन ( भेंटों ) से; उपनमेत्—उपासना करे; प्रेम-शीलः—प्रेमपूर्वक; स्वयम्—स्वयं; पतिः—पति; बिभृयात्—सम्पन्न करे; सर्व-कर्माणि—सारे कार्य; पत्न्याः—पत्नी के; उच्च-अवचानि—उच्च तथा निम्न, छोटे बड़े; च—तथा।

**पत्नी अपने पति को परमेश्वर का प्रतिनिधि मानकर और उसे प्रसाद देकर विशुद्ध भक्ति से उसकी पूजा करे। पति भी अपनी पत्नी से परम प्रमुदित होकर अपने परिवार के कार्यों में लग जाए।**

**तात्पर्य :** उपर्युक्त विधि से पति तथा पत्नी के पारिवारिक सम्बन्ध आध्यात्मिक रूप में स्थापित होने चाहिए।

**कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि ।
पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत्समाहितः ॥ १८ ॥**

### शब्दार्थ

कृतम्—किया गया; एकतरेण—एक के द्वारा; अपि—भी; दम्-पत्योः—पति तथा पत्नी का; उभयोः—दोनों; अपि—तो भी; पत्न्याम्—जब पत्नी; कुर्यात्—उसे करना चाहिए, वह करे; अनर्हायाम्—अक्षम; पतिः—पति; एतत्—यह; समाहितः—मनोयोग से।

**पति-पत्नी दोनों में से कोई एक इस भक्ति को निष्पादित कर सकता है। उनके मधुर सम्बन्धों के कारण दोनों को फल मिलता है। अतः यदि पत्नी इस व्रत को करने में असमर्थ**

**हो तो पति सावधानी से इसे करे। इससे उसकी आज्ञाकारिणी पत्नी को भी उसका फल मिलेगा।**

**तात्पर्य :** जब पत्नी आज्ञाकारिणी और पति एकनिष्ठ होता है, तो उनके बीच मधुर सम्बन्ध दृढ़ता से स्थापित हो जाते हैं। तब, यदि पत्नी दुर्बल होने के कारण पति के साथ भक्ति नहीं भी कर सकती, तो भी उसके पति के कार्यों में उसका आधा हिस्सा रहता है यदि वह पतिव्रता और पवित्र हो।

**विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात्कथञ्चन ।**
**विप्रान्स्त्रियो वीरवतीः स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।**
**अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थिता ॥ १९ ॥**
**उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः ।**
**अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामसमृद्धये ॥ २० ॥**

**शब्दार्थ**

विष्णोः—विष्णु का; व्रतम्—व्रत; इदम्—यह; बिभ्रत्—करते हुए; न—नहीं; विहन्यात्—भंग करे; कथञ्चन—किसी कारण से; विप्रान्—ब्राह्मण; स्त्रियः—स्त्रियाँ; वीर-वतीः—पतियों तथा पुत्रों से युक्त; स्रक्—मालाओं; गन्ध—चंदन; बलि—भोजन की भेंट; मण्डनैः—तथा आभूषणों से; अर्चेत्—पूजा करे; अहः-अहः—नित्यप्रति; भक्त्या—भक्ति से; देवम्—भगवान् विष्णु; नियमम्—विधि-विधान; आस्थिता—पालन करते हुए; उद्वास्य—रखकर; देवम्—भगवान् को; स्वे—उनके अपने; धाम्नि—घर में; तत्—उसको; निवेदितम्—अर्पित; अग्रतः—दूसरों को बाँट कर; अद्यात्—खाए; आत्म-विशुद्धि-अर्थम्—आत्मशुद्धि के लिए; सर्व-काम—समस्त अभिलाषाएँ; समृद्धये—पूर्ण करने के लिए।.

**मनुष्य को चाहिए कि इस भक्तिपूर्ण विष्णु-व्रत को माने और किसी अन्य कार्य में व्यस्त होने के लिए इसके पालन से विचलित न हो। उसे चाहिए कि नित्यप्रति ब्राह्मणों तथा उन सौभाग्यवती स्त्रियों अर्थात् अपने पतियों के साथ शान्तिपूर्वक रहने वाली स्त्रियों को बचा हुआ प्रसाद, पुष्प माला, चन्दन तथा आभूषण अर्पित करके उनकी पूजा करे। पत्नी को चाहिए कि अत्यन्त भक्तिपूर्वक विधि-विधानों के अनुसार भगवान् विष्णु की पूजा करे। तत्पश्चात् भगवान् विष्णु को शयन कराए और इसके बाद प्रसाद ग्रहण करे। इस प्रकार पति तथा पत्नी परिशुद्ध हो जाएंगे और उनकी समस्त कामनाएँ पूरी होंगी।**

**एतेन पूजाविधिना मासान्द्वादश हायनम् ।**
**नीत्वाथोपरमेत्साध्वी कार्तिके चरमेऽहनि ॥ २१ ॥**

### शब्दार्थ

एतेन—इससे; पूजा-विधिना—पूजा की विधि से; मासान् द्वादश—बारह मास; हायनम्—एक वर्ष; नीत्वा—बिताकर; अथ—फिर; उपरमेत्—उपवास करे; साध्वी—एकनिष्ठ पत्नी; कार्तिके—कार्तिक मास में; चरमे अहनि—अन्तिम दिन।

**साध्वी स्त्री को चाहिए कि एक वर्ष के लिए इस भक्तिमय सेवा को निरन्तर करे। जब एक वर्ष बीत जाये तो उसे चाहिए कि कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) की पूर्णिमा को उपवास करे।**

**श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत् ।**
**पयःशृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा ।**
**पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः ॥ २२ ॥**

### शब्दार्थ

श्वः-भूते—उसके दूसरे दिन प्रातःकाल; अपः—जल; उपस्पृश्य—छू कर; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; अभ्यर्च्य—पूज कर; पूर्व-वत्—पहले की तरह; पयः-शृतेन—उबाले हुए दूध से; जुहुयात्—अर्पित करे; चरुणा—खीर; सह—सहित; सर्पिषा—घी; पाक-यज्ञ-विधानेन—'गृह्य सूत्रों' के आदेशानुसार; द्वादश—बारह; एव—निश्चय ही; आहुतीः—आहुतियाँ; पतिः—पति।

**दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान करके और भगवान् कृष्ण की पूर्ववत् पूजा करके गुह्य-सूत्रों के निर्देशानुसार वर्णित भोजन बनाए जैसा उत्सवों पर बनाया जाता है। घी से खीर तैयार करे और पति को चाहिए कि वह इस सामग्री से अग्नि में बारह बार आहुति दे।**

**आशिषः शिरसादाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः ।**
**प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया ॥ २३ ॥**

### शब्दार्थ

आशिषः—आशीर्वाद; शिरसा—सिर से; आदाय—स्वीकार करके; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा; प्रीतैः—प्रसन्न; समीरिताः—उच्चरित; प्रणम्य—प्रणाम करके; शिरसा—शिर के बल; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; भुञ्जीत—भोजन ग्रहण करे; तत्-अनुज्ञया—उनकी अनुमति से।

**तत्पश्चात् वह (पति) ब्राह्मणों को संतुष्ट करे और जब ब्राह्मण प्रसन्न होकर आशीर्वाद दें तो अपने शिर के द्वारा उन्हें सादर प्रणाम करे और उनकी अनुमति लेकर प्रसाद ग्रहण करे।**

आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः ।
दद्यात्पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजास्त्वं सुसौभगम् ॥ २४॥

### शब्दार्थ

आचार्यम्—आचार्य को; अग्रतः—सर्वप्रथम; कृत्वा—समुचित स्वागत करके; वाक्-यतः—वाणी को वश में करते हुए; सह—साथ; बन्धुभिः—मित्रों तथा स्वजनों के साथ; दद्यात्—प्रदान करे; पत्न्यै—पत्नी को; चरोः—खीर की आहुति का; शेषम्—शेष भाग; सु-प्रजास्त्वम्—जिससे अच्छी सन्तान निश्चित हो; सु-सौभगम्—जिससे सौभाग्य प्राप्त हो।

**पति को चाहिए कि भोजन करने के पूर्व सर्वप्रथम आचार्य को सुखद आसन दे और अपने मित्रों तथा स्वजनों के साथ, वाणी को वश में रखते हुए गुरु को प्रसाद भेंट करे। तब पत्नी को चाहिए कि घी में पकाई गई खीर की आहुति से बचे भाग को खाए। इस अवशेष को खाने से विद्वान तथा भक्त पुत्र की और समस्त सौभाग्य की प्राप्ति निश्चित हो जाती है।**

एतच्चरित्वा विधिवद्व्रतं विभो-
रभीप्सितार्थं लभते पुमानिह ।
स्त्री चैतदास्थाय लभेत सौभगं
श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम् ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

एतत्—यह; चरित्वा—करके; विधि-वत्—शास्त्रानुमोदित विधि से; व्रतम्—व्रत; विभोः—भगवान् से; अभीप्सित—वांछित; अर्थम्—वस्तु; लभते—प्राप्त करता है; पुमान्—पुरुष; इह—इस जीवन में; स्त्री—स्त्री; च—तथा; एतत्—यह; आस्थाय—करके; लभेत—प्राप्त कर सकती है; सौभगम्—सौभाग्य; श्रियम्—ऐश्वर्य; प्रजाम्—संतति; जीव-पतिम्—दीर्घजीवी पति; यशः—ख्याति; गृहम्—घर।

**यदि इस व्रत या अनुष्ठान को शास्त्र सम्मत विधि के अनुसार किया जाये तो इसी जीवन में मनुष्य को ईश्वर से मनवांछित आशीष ( वर ) प्राप्त हो सकते हैं। जो पत्नी इस अनुष्ठान को करती है उसे अवश्य ही सौभाग्य, ऐश्वर्य, पुत्र, दीर्घजीवी पति, ख्याति तथा अच्छा घरबार प्राप्त होता है।**

**तात्पर्य :** आज भी बंगाल में यदि कोई स्त्री दीर्घकाल तक अपने पति के साथ-साथ जीवित रहती है, तो उसे अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है। एक स्त्री सामान्यत: अच्छा पति, अच्छी संतान, अच्छा घर, धन, ऐश्वर्य इत्यादि की कामना करती है। इस श्लोक में की गई संस्तुति के अनुसार स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से मनवांछित वर प्राप्त होंगे। इस

विशेष प्रकार का व्रत रखकर कृष्णभक्ति से पुरुष तथा स्त्री दोनों इस संसार में सुखी रहेंगे और कृष्ण भावनाभावित होने के कारण वैकुण्ठ जगत में भेजे जाएँगे।

**कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं**
**पतिं त्ववीरा हतकिल्बिषां गतिम् ।**
**मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी**
**सुदुर्भगा सुभगा रूपमछ्यम् ॥ २६ ॥**
**विन्देद्विरूपा विरुजा विमुच्यते**
**य आमयावीन्द्रियकल्यदेहम् ।**
**एतत्पठन्नभ्युदये च कर्म-**
**ण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम् ॥ २७॥**
**तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान्**
**होमावसाने हुतभुक्श्रीहरिश्च ।**
**राजन्महन्मरुतां जन्म पुण्यं**
**दितेर्व्रतं चाभिहितं महत्ते ॥ २८ ॥**

### शब्दार्थ

कन्या—अविवाहित लड़की; च—तथा; विन्देत—प्राप्त कर सकती है; समग्रलक्षणम्—समस्त अच्छे गुणों वाला; पतिम्—पति को; तु—और; अवीरा—पति या पुत्र रहित स्त्री; हत-किल्बिषाम्—दोषरहित; गतिम्—गन्तव्य; मृत-प्रजा—स्त्री जिसके पुत्र मर चुके हैं; जीव-सुता—दीर्घजीवी पुत्रों वाली; धन-ईश्वरी—धनवान; सु-दुर्भगा—अभागी; सु-भगा—भाग्यवान्; रूपम्—सुन्दरता; अछ्यम्—श्रेष्ठ; विन्देत्—प्राप्त कर सकती है; विरूपा—कुरुप स्त्री; विरुजा—रोग से; विमुच्यते—मुक्त हो जाती है; यः—जो; आमया-वी—रुग्ण पुरुष; इन्द्रिय-कल्य-देहम्—हृष्ट पुष्ट देह; एतत्—यह; पठन्—सुनाना; अभ्युदये च कर्मणि—तथा यज्ञ में जिसमें पितरों तथा देवों को आहुति दी जाती है; अनन्त—अपार; तृप्तिः—तुष्टि; पितृ-देवतानाम्—पितरों तथा देवताओं के; तुष्टाः—प्रसन्न होकर; प्रयच्छन्ति—प्रदान करते हैं; समस्त—सभी; कामान्—इच्छाएँ; होम-अवसाने—इस अनुष्ठान के पूर्ण हो जाने पर; हुत-भुक्—यज्ञ का भोक्ता; श्री-हरिः—भगवान् विष्णु; च—तथा; राजन्—हे राजा; महत्—महान्; मरुताम्—मरुतों का; जन्म—जन्म; पुण्यम्—पवित्र; दितेः—दिति का; व्रतम्—व्रत; च—भी; अभिहितम्—कहा गया; महत्—महान्; ते—तुमसे।

**यदि अविवाहित कन्या इस व्रत को रखती है, तो उसे सुन्दर पति मिल सकता है। यदि अवीरा स्त्री ( जिसका कोई पति या पुत्र नहीं है ) इस अनुष्ठान को करती है, तो उसे वैकुण्ठ जगत को भेजा जा सकता है। जिस स्त्री की संतानें जन्म लेने के बाद मर चुकी हों, उसे दीर्घजीवी सन्तान के साथ ही साथ सम्पत्ति भी प्राप्त होती है। अभागी स्त्री का भाग्य खुल जाता है और कुरूपा स्त्री सुन्दर हो जाती है। इस व्रत को रखने से रोगी पुरुष को रोग से**

**मुक्ति मिल सकती है और कार्य करने के लिए स्वस्थ शरीर प्राप्त हो सकता है। यदि इस कथा को कोई अपने पितरों तथा देवों को आहुति देते समय विशेषतया श्राद्ध-पक्ष में सुनाता तो देवता तथा पितृलोक के वासी उससे अत्यन्त प्रसन्न होंगे और उसकी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। इस अनुष्ठान के करने से भगवान् विष्णु तथा माता लक्ष्मी उस पर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। हे राजा परीक्षित! मैंने पूरी तरह से बता दिया है कि दिति ने किस प्रकार इस व्रत को किया और उसे श्रेष्ठ पुत्र—मरुत्गण तथा सुखी जीवन—प्राप्त हुए। मैंने तुम्हें यथाशक्ति विस्तार से सुनाने का प्रयत्न किया है।**

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कंन्ध के अन्तर्गत ''पुंसवन व्रत का अनुष्ठान'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

॥ इति षष्ठः स्कन्धः समाप्तः ॥